भारतीय इतिहास–लेखन परंपरा तथा मध्यकालीन हिन्दी वार्ता–साहित्य

पी–एच.डी. हिंदी की उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध–प्रबंध

शोध निर्देशक

डॉ. राहुल सिद्धार्थ

विभागाध्यक्ष एवं सहायक प्राध्यापक

हिंदी विभाग

शोधार्थी

रजत शर्मा

नामांकन सं. En17-00048

भाषा, साहित्य एवं कला संकाय

साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय

साँची (म.प्र.)

2021

शोधार्थी द्वारा घोषणा पत्र

मैं एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि यह शोध कार्य **"भारतीय इतिहास–लेखन परंपरा तथा मध्यकालीन हिंदी वार्ता–साहित्य" डॉ. राहुल सिद्धार्थ** (शोध–प्रबंध निर्देशक) भाषा, साहित्य और कला संकाय के अंतर्गत हिंदी विभाग, साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, साँची, मध्यप्रदेश के अधीन किया गया है। यह मेरा मौलिक शोधकार्य है, जिसे विभागीय शोध समिति द्वारा अनुमोदित किया गया है।

मैं यह भी घोषणा करता हूँ कि मेरी जानकारी के अनुसार इस शोध–प्रबंध में किसी प्रकार का कोई ऐसा तथ्य उद्धृत नहीं किया गया है, जो इस विश्वविद्यालय या किसी अन्य विश्वविद्यालय के समक्ष किसी भी उपाधि हेतु प्रस्तुत किया गया हो।

साथ ही मैं यह भी घोषणा करता हूँ कि –

1. मैंने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम 2009 के मापदंडों के अनुसार एक सत्र का कोर्स वर्क सफलतापूर्वक पूर्ण कर लिया है।
2. मैंने शोध–प्रबंध अंतिम रूप से जमा करने के पूर्व विभागीय शोध समिति के समक्ष प्रस्तुति भी दी है और दिये गये निर्देशों/सुझावों के आधार पर संशोधनों को सफलतापूर्वक शामिल किया है।
3. मैंने शोध–प्रबंध से संबंधित दो शोध–पत्र ISSN/रेफर्ड जर्नल में प्रकाशित कराया है, जिसकी छायाप्रति शोध–प्रबंध के अंत में संलग्न है। मैंने शोध विषय से संबंधित राष्ट्रीय संगोष्ठी में शोध–पत्र भी प्रस्तुत किया है।
4. मेरे द्वारा प्रस्तुत शोध–प्रबंध में कोई भी कंटेंट, किसी अन्य शोध या किसी प्रकाशित सामग्री का हिस्सा नहीं है। यदि साहित्यिक चोरी के अंतर्गत कोई भी कंटेंट पाया जाता है, तो उसके लिए मैं स्वयं उत्तरदायी रहूँगा।

स्थान – .....

दिनाँक – .....

हस्ताक्षर

रजत शर्मा

पी–एच.डी. (हिंदी)

साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय

प्रमाण–पत्र

यह प्रमाणित किया जाता है कि शोध–प्रबंध जिसका विषय **"भारतीय इतिहास–लेखन परंपरा तथा मध्यकालीन हिंदी वार्ता–साहित्य" श्री रजत शर्मा** द्वारा किया गया शोध–कार्य है, जिसे साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय में पी–एच.डी. उपाधि हेतु मेरे निर्देशन में पूर्ण किया गया।

मेरी जानकारी के अनुसार –

1. यह शोधार्थी का मौलिक कार्य प्रतीत होता है।
2. यह शोध–कार्य विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के मापदंडों/निर्देशों को पूरा करता है।
3. विश्वविद्यालय की पी–एच.डी. उपाधि से संबंधित अध्यादेश की आवश्यकताओं को पूरा करता है।

स्थान – ..... हस्ताक्षर

दिनाँक – .....

एष धर्मः सनातनः

सर्वाधिकार

मैं, **रजत शर्मा** एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, साँची, मध्यप्रदेश द्वारा इस शोध–प्रबंध **''भारतीय इतिहास–लेखन परंपरा तथा मध्यकालीन हिंदी वार्ता–साहित्य''** को शैक्षणिक/अनुसंधान उद्देश्य से इलेक्ट्रॉनिक या प्रिंट प्रारूप में उपयोग करने के अधिकार होंगे।

नोट :– शोधार्थी अथवा अन्य द्वारा शोध–प्रबंध के आँकड़ों/निष्कर्षों का प्रयोग व्यक्तिगत रूप से किया जा सकेगा। बशर्ते कि यथा स्थान विश्वविद्यालय के सर्वाधिकार का उल्लेख किया जाए।

स्थान – .....

दिनाँक – .....

हस्ताक्षर

रजत शर्मा

पी–एच.डी., (हिंदी)

साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय

एष धर्मः सनातनः

साहित्यिक प्रतिबद्धता/नकल का प्रमाण–पत्र

यह प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत शोध–प्रबंध **"भारतीय इतिहास–लेखन परंपरा तथा मध्यकालीन हिंदी वार्ता–साहित्य"** की साहित्यिक प्रतिबद्धता की जाँच निम्नलिखित उपकरण से की गई है। मैं यह घोषणा करता हूँ कि :

1. शोध–प्रबंध ज्ञान के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण कार्य है। यह शोध–प्रबंध इस विषय में अब तक किए गए कार्य/प्रकाशित/प्रकाशित होने वाले कार्यों से भिन्न है। किसी भी प्रकार का वाक्य, चित्र, आरेख, अनुच्छेद कहीं से भी नकल नहीं है तथा जहाँ भी किसी पूर्व के कार्यों का उल्लेख शोध–प्रबंध में किया गया है उसे उद्धरण चिह्न के अंतर्गत रखा गया है।
2. यह शोधार्थी का मौलिक कार्य है (किसी भी कार्य का नकल नहीं है)। शोधार्थी द्वारा किसी अन्य के कार्यों, संकल्पना, प्रक्रिया, परिणाम को अपने शोध–कार्य का दावा नहीं किया गया है।
3. शोध–कार्य के परिणाम एवं विश्लेषण में किसी भी प्रकार की मिथ्या का सहारा नहीं लिया गया है।
4. शोध–कार्य में किसी भी अनुसंधान सामग्री, उपकरण या प्रक्रियाओं या परिणामों की अदला–बदली के माध्यम से गलत परिणाम आते हैं। शोध–कार्य में ऐसा कोई भी प्रयास नहीं है।
5. "विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (उच्चतर शिक्षा संस्थानों में अकादमिक सत्यनिष्ठा एवं साहित्यिक चोरी की रोकथाम को प्रोत्साहन) विनियम, 2018" के दिशा–निर्देश के अनुसार शोध–प्रबंध की जाच URKUND के द्वारा की गई है।

धर्मः सनातनः

रजत शर्मा

पी–एच.डी. (हिंदी)

साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय

अनुक्रमणिका

भूमिका 1

प्रथम अध्याय : इतिहास : परिभाषा, स्वरूप, तत्व एवं परंपरा (समकालीन इतिहास–चिंतन) 6

1.1 इतिहास की परिभाषा एवं स्वरूप 8

1.2 इतिहास–लेखन के तत्व 18

1.2.1 सामान्यीकरण 18

1.2.2 इतिहासकार और उसके तथ्य 21

1.2.3 कार्य–कारण–संबंध 26

1.2.4 वस्तुपरकता और व्याख्या 32

1.3 पाश्चात्य इतिहास–लेखन की परंपरा 42

1.3.1 यूनान और रोम का इतिहास–दर्शन 42

1.3.2 सिकन्द्रिया के इतिहासकार 55

1.3.3 रिपब्लिक के अंत तक का रोमन इतिहास–लेखन 58

1.3.4 साम्राज्यकालीन इतिहासकार 58

1.3.5 ईसाई इतिहास–लेखन 61

1.3.6 पुनरुत्थान युग 70

1.3.7 बुद्धिवाद का युग 77

द्वितीय अध्याय : भारतीय इतिहास : परंपरा, स्वरूप एवं समस्याएँ 87

2.1 भारतीय इतिहास–लेखन परंपरा 87

2.2 भारतीय इतिहास का स्वरूप 113

2.2.1 प्रामाण्यवाद 113

2.2.2 काल गणना 120

2.2.3 पौराणिक भूगोल 123

2.3 भारतीय इतिहास–लेखन की समस्याएँ 129

2.3.1 इतिहास–लेखन की पाश्चात्य कसौटियाँ 129

2.3.2 ए.बी.कीथ का पर्यावरण या परिवेश के बिन्दु पर आलोचना का प्रत्याख्यान 131

2.3.3 ए.बी.कीथ के आलोचना बिन्दु कर्म और पुनर्जन्म पर विचार 133

2.3.4 सार्वभौमिक इतिहास का लेखन 135

2.3.5 भारतीय इतिहास का प्रयोजन 136

2.3.6 भारतीय इतिहास की विषयवस्तु 137
2.3.7 भारतीय इतिहास में साहित्य एवं इतिहास की प्रवृत्तिगत संश्लिष्टता 138
2.3.8 मौखिक परंपरा में इतिहास का लेखन 139
2.3.9 आलोचनात्मकता के स्थान पर आदर्शात्मक–लेखन को प्रश्रय 140
तृतीय अध्याय : मध्यकाल और वार्ता–साहित्य : स्वरूप एवं विविधता 142
3.1 साहित्य, इतिहास एवं समाज 142
3.2 मध्यकालीन साहित्य एवं इतिहास का स्वरूपगत संबंध 156
3.3 वार्ता–साहित्य का परिचय, स्वरूप एवं परंपरा 176
3.4 वार्ता–साहित्य की समस्याएँ 202
चतुर्थ अध्याय : वार्ता–रूप 'भक्तमाल' का विश्लेषणात्मक अध्ययन 209
4.1 नाभादास कृत 'भक्तमाल' का सामान्य परिचय 209
4.2 नाभादास कृत 'भक्तमाल' का विश्लेपणात्मक अध्ययन 218
4.3 उत्तरार्द्ध भक्तमाल : सामान्य परिचय 252
4.4 भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' का विश्लेपणात्मक अध्ययन 256
पंचम अध्याय : वार्ता–रूप 'पुष्टिमार्गीय वार्ता' का विश्लेषणात्मक अध्ययन 278
5.1 गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' का सामान्य परिचय 278
5.2 गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' का विश्लेपणात्मक अध्ययन 283
5.3 गोकुलनाथ कृत 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' का विश्लेपणात्मक अध्ययन 308
षष्ठ अध्याय : वार्ता–रूप 'भक्तनामावली' का विश्लेषणात्मक अध्ययन 324
6.1 ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' का सामान्य परिचय 324
6.2 ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' का विश्लेपणात्मक अध्ययन 329
6.3 देवकीनन्दन ठाकुर कृत 'वैष्णववंदना' का वृंदावनदास अनुदित 'भक्तनामावली का सामान्य परिचय 352
6.4 देवकीनंदनदास ठाकुर कृत 'वैष्णव वन्दना' का वृंदावनदास द्वारा अनुदित 'भक्तनामावली' का विश्लेपणात्मक अध्ययन 355
उपसंहार 368
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची 374
संगोष्ठी प्रमाण–पत्र : 1 387
संगोष्ठी प्रमाण–पत्र : 2 387
शोध पत्र – 1 388
शोध पत्र – 2 392
उरकुण्ड प्रमाण–पत्र 396

भूमिका

प्रस्तुत शोध 'भारतीय इतिहास–लेखन परंपरा तथा मध्यकालीन हिंदी वार्ता–साहित्य' का उद्देश्य वार्ता–साहित्य को 'इतिहास–ग्रन्थ' स्वीकारते हुए उसके स्वरूप की पहचान करना है। वार्ता–साहित्य की पृष्ठभूमि इतिहास–पुराण परंपरा से जुड़ती है। इसीलिए वार्ता–साहित्य भारतीय–इतिहास से जुड़े द्वंद्वों का भी हिस्सा बनता है। भारतीय वाङ्ग्मय में इतिहास–अवधारणा की अनुपस्थिति को लेकर इतिहासकार सदा से मुक्तकण्ठ रहे हैं। परन्तु इतिहास–लेखन के ना होते हुए भी इतिहास–चेतना को वह स्वीकार करते आये हैं। वार्ता–साहित्य को इतिहास रूप में ना देख पाने के पीछे यह दृष्टि भी एक कारण है। वहीं दूसरी ओर प्रस्तुत शोध की पृष्ठभूमि साहित्य तथा इतिहास के बीच द्वंद्व से आरम्भ होती है। इस द्वंद्व का कारण मध्यकाल का साहित्यिक–रूप 'वार्ता' है। दरअसल वार्ता–साहित्य अपने बाह्य कलेवर में तो साहित्यिक है, परन्तु आंतरिक रूप से वह इतिहास की ठोस भूमि पर खड़ी है। इसीलिए उसे 'साहित्य' कहा जाये अथवा 'इतिहास' – इन दो विपरीत छोरों में वार्ता–साहित्य का निर्धारण मुश्किल हो जाता है। जबकि इन दो विपरीत छोरों के बीच वार्ता–साहित्य का स्वरूप संश्लिष्ट है। इसीलिए आधुनिक काल की 'साहित्य' और 'इतिहास' को विरोधी रूप में देखने की दृष्टि से इतर वार्ता–साहित्य का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

'इतिहास–लेखन' अंग्रेजी शब्द 'हिस्टॉरियोग्राफी' के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'हिस्टॉरियोग्राफी' इतिहास के तात्विक–चिंतन के साथ–साथ उसके लेखन–तत्वों को भी परिभाषित करता है। अर्थात् पश्चिम में विकसित इतिहास की अवधारणा ऐतिहासिक विषयवस्तु के लेखन–तत्वों को निश्चित करते हुए 'इतिहास–लेखन' (हिस्टॉरियोग्राफी) पर चिंतन प्रस्तुत करती है। अतः ऐसा करते हुए वह 'इतिहास–लेखन' (हिस्टॉरियोग्राफी) की कसौटी पर भारतीय इतिहास को भी मूल्यांकित करने का कार्य करता है। वहीं भारतीय वाङ्ग्मय का मूल स्वरूप ही मौखिक प्रक्रियाओं का परिणाम है। मौखिकी की प्रवृत्तिगत विशेषताएँ 'साहित्य' के आंतरिक स्वरूप के निकट पड़ती है। इसीलिए 'साहित्य' भारतीय–इतिहास में प्रवृत्तिगत रूप से संश्लिष्ट होते हुए बाह्य स्वरूप को निर्मित करता है। साहित्यिक–विशिष्टता भी भारतीय–इतिहास को सृजनात्मक कर्म में परिणत कर देती है। सृजनात्मकता की विशेषता नित–नूतन होना है। साहित्य की नित–नूतन होने की प्रवृत्ति भारतीय इतिहास–लेखन (अर्थात् इतिहास की लेखन–कला) के तात्विक–निर्धारण में बाँधा उत्पन्न करती है। इसीलिए भारत में इतिहास के आंतरिक–तत्व का निर्धारण संभव है, लेकिन इतिहास की लेखन–कला की तात्विक–विशेषताओं का निर्देश असंभव। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो 'भारत में 'इतिहास–लेखन' (हिस्टॉरियोग्राफी) की कोई परंपरा नहीं दिखाई देती परन्तु इतिहास के आंतरिक–तत्वों के साथ लेखन की एक परंपरा जरूर मिलती है।'

दरअसल भारतीय इतिहास–लेखन की समस्या दो भिन्न जीवन–दृष्टियों की समस्या भी है। इसे पाश्चात्य एवं भारतीय इतिहास की विकास परंपरा के आधार पर रेखांकित किया जा सकता है। इसीलिए भारतीय एवं पाश्चात्य इतिहास की अवधारणात्मक–दृष्टि, तत्व एवं परंपराओं का अध्ययन प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में किया गया है। पाश्चात्य इतिहास–परंपरा 'हैलिस संस्कृति' की वस्तुवादी दृष्टि की भूमि पर आलोचनात्मक, तथ्यपूर्ण एवं राजनीतिक संघर्षों का इतिहास प्रस्तुत करती है। वहीं भारतीय इतिहास–परंपरा अध्यात्मिक–विकास को केन्द्र में रखते हुए इतिहास को सामाजिक एवं व्यक्तिगत उत्थान की लोक–मंगलकारी दृष्टि से संवलित करती है। यह मूलभूत दृष्टिगत–भिन्नता इतिहास को आंतरिक तथा बाह्य दोनों स्तरों पर विविधता तथा देशज–वैशिष्ट्ता (राष्ट्रीय इतिहास–धारा का विकास) प्रदान करती है, जिससे भारतीय इतिहास की पहचान में आने वाली समस्याओं के बिन्दुओं की पहचान संभव होती है। दोनों धाराओं की यह भिन्नता द्रष्टव्य है। पश्चिम की वस्तुवादी दृष्टि के प्रतिकूल आध्यात्मिक–दृष्टि की आधारभूमि पर भारतीय इतिहास खड़ा होता है। इसीलिए भारतीय–इतिहास अतीत के स्थूल वस्तुमूलक–चित्रण के स्थान पर सूक्ष्म आध्यात्मिक–आदर्श का निरूपण करता है। समकालीन इतिहास–चिंतन अतीत को पुनर्निर्मित करने की उत्कण्ठा से यथावत् चित्रण पर जोर देता है। यथार्थ के प्रति आग्रह इसी का परिणाम है जबकि भारतीय आध्यात्मिक–उत्थान को लक्षित कर अतीत के आदर्शात्मक–स्थापन करता है। स्थूल चित्रण पर जोर होने के कारण लेखन–कला का तात्विक निर्देशन (स्थान, काल, नाम, घटना आदि) समकालीन इतिहास में दिखाई देता है। जबकि सूक्ष्म–चिंतन (अर्थात् दर्शन) पर जोर होने के कारण कथ्य के सार्वभौमिक प्रयोजन को प्रस्तुत करना ही भारतीय इतिहास की विशेषता हो जाता है। इसी कारण लेखन–कला की तात्विक विशेषताएँ भारतीय–इतिहास में नहीं पनपती। जबकि इतिहास की चेतना का विकास समकालीन–इतिहास से भिन्न रूप में होता है।

वार्ता–साहित्य, इतिहास–पुराण परंपरा का अनुकरणीय तथा मध्यकाल की विशेष परिस्थितियों (मध्कालीन राजीनितिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिस्थिति) का विकास है। 'भक्ति–दर्शन' की भूमि पर मध्यकालीन हिंदी इतिहास–लेखन का विकास होता है। इसे ठेठ मध्यकालीन–इतिहास की परंपरा कहा जाये तो गलत नहीं होगा। वर्तमान में मध्यकालीन इतिहास–लेखन पर चर्चा करते हुए मुगलिया इतिहास–लेखन या अंग्रेजी इतिहास–लेखन को ही स्वीकार किया गया है। परन्तु हिंदी में विकसित वार्ता–साहित्य की परंपरा से मुँह मोड़ लिया जाता है। जबकि मध्यकालीन–परिस्थितियाँ हिंदी की इतिहास–परंपरा को अस्तित्वपूर्ण–वैशिष्ट्य प्रदान करती है। तृतीय अध्याय मध्यकाल की इन्हीं परिस्थितियों को समझते हुए 'साहित्य, समाज और इतिहास' के संबंधों पर विचार करता है। मध्यकाल की धार्मिक–चेतना लोकोन्मुख होते हुए भगवद्–भक्ति का समान अधिकार सभी को प्रदान करती है। मध्यकालीन हिंदी इतिहास–लेखन को समझने के लिए युगीन परिस्थितियों के आलोक में युग–बोध को समझना आवश्यक हो

जाता है। तृतीय अध्याय में मध्यकालीन युगीन–चेतना के साथ–साथ सामाजिक–मानस को समझने की दिशा में बढ़ता है। ताकि तत्कालीन लोकमानस को समझते हुए इतिहास की महत्ता का भी अंदाजा लगाया जा सके।

मध्यकालीन–चेतना का ही परिणाम 'वार्ता–साहित्य' है। हिंदी साहित्येतिहास के निर्माण में वार्ता–साहित्य की निर्णायक भूमिका है। वार्ताओं का स्वरूप भारतीय–इतिहास की दृष्टि की भूमि पर मध्यकालीन युग–बोध में खड़ा होता है। अतः 'वार्ता–साहित्य' का ऐतिहासिक–स्वरूप ही प्रस्तुत शोध का केन्द्र है। ताकि उस स्वरूप को समझते हुए 'मध्यकालीन हिंदी इतिहास–लेखन' के वैशिष्ट्य को चिंह्ति किया जा सके। तृतीय अध्याय के अंतर्गत वार्ता–साहित्य के स्वरूप, उसकी परंपरा तथा वार्ता–साहित्य को इतिहास–रूप में स्वीकारने में आनी वाली समस्याओं पर विचार किया गया है। दरअसल एक ओर वार्ता–साहित्य भारतीय–इतिहास की अध्ययन समस्याओं को विरासत में पाता है। वहीं दूसरी ओर वार्ता–साहित्य में मध्यकाल का प्रवृत्तिगत विकास भी कई तरह की समस्याएँ खड़ा करता है। तृतीय अध्याय में इन्हीं दो धाराओं में वार्ता–साहित्य का शोधपरक अध्ययन किया गया है।

प्रस्तुत शोध का उद्देश्य वार्ता–साहित्य के ऐतिहासिक स्वरूप एवं उसकी लेखन पद्धति का संधान करना है। इसी उद्देश्य से वार्ता के तीन रूपों को शोध में सम्मिलित किया गया है। इनमें वार्ता रूप 'भक्तमाल', 'पुष्टिमार्गीय वार्ताएँ' तथा 'भक्तनामावली' का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। तीनों रूपों के लिए दो–दो आधार ग्रन्थों का चयन किया गया है। इनमें कमशः नाभादास कृत 'भक्तमाल' तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल'; गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता'; ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' तथा वृंदावनदास अनुदित 'भक्तनामावली' को सम्मिलित किया गया है। दरअसल यह तीनों रूप वृहत्, लघु तथा लघुत्तम इकाई को प्रदर्शित करते हैं। वृहत् ईकाई में पुष्टिमार्गीय वार्ताओं को सम्मिलित किया गया है। यह गद्यात्मक होने के कारण इनमें विवेचनात्मक वर्णन की स्वतंत्रता कहीं अधिक होती है। 'कहन' की सीमा ना होने के कारण ऐतिहासिक तथ्यों की उपस्थिति पुष्टिमार्गीय वार्ताओं में अधिक दिखाई देती है। लेकिन इस प्रकार के गद्य का प्रयोग केवल पुष्टि–संप्रदाय में ही दृष्टिगोचर होता है। बल्कि यह वार्ता–रूप पुष्टि–संप्रदाय में विशेष सम्मान पाता है। पुष्टिमार्गीय वैष्णव इन वार्ताओं को सत्संग के विषय–रूप में स्वीकार करते हैं। यहाँ तक कि दैनंदिन जीवन में भी यह वार्ताएँ सहज रूप से कही जाती थी। इसका संकेत शोध के दौरान किया गया है। लघु इकाई के अंतर्गत 'भक्तमाल' को देखा जा सकता है। वार्ता–साहित्य में 'भक्तमाल' सर्वाधिक लोक–प्रशस्ति पाता है। इसका कारण नाभादास कृत 'भक्तमाल' है। नाभादास के बाद ही 'भक्तमाल' लिखने की एक सुस्पष्ट परंपरा का आरम्भ होता है। भक्तमाल का प्रभाव वार्ता–रूप 'भक्तनामावली' पर भी दिखाई देता है। ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' पर नाभादास का सीधा प्रभाव पड़ा है। ध्रुवदास बहुतांश में कथ्य का आश्रय नाभादास कृत 'भक्तमाल' से पाते हैं। लेकिन वार्ता–रूप भिन्नता

तथा रचनाकार की सृजनात्मक दोनों रूपों में भिन्नता प्रदान करती है। भक्तमाल लघु रूप कहा गया है, क्योंकि यह अधिकतर छप्पयों में लिखा गया है। अतः छंद का मात्रात्मक क्रम मुक्तकों को बाँधता है। रचनाकार को छंद नियमबद्धता के साथ–साथ कथ्य को कहना भी होता है। इसी बंधन के साथ भक्तमाल सीमित होता है। अतः इसी सीमा के साथ भक्तमाल में भक्त–वर्णन किया गया है। जबकि 'भक्तनामावली' को लघुत्तम ईकाई कहा गया है। इसका कारण उसका दोहों में लिखा जाना है। ध्रुवदास तथा देवकीनंदन की कृति दोहा–सोरठा में कही गई है। यह दोनों लघु छंद है इसीलिए इनकी सीमा 'भक्तमाल' से और अधिक हो जाती है। रचनाकार को दोहे जैसे छोटे छंद में चरित्र–वर्णन करना होता है। सीमित होने से ऐतिहासिक–सूचनाओं की उपस्थिति 'भक्तनामावली' में कम दिखाई देती है। केवल प्रमुख प्रसंगों या फिर उनकी भक्ति–रीति का उल्लेख कर रचनाकार अपना कार्य पूर्ण मानता है। इन वृहत्, लघु और लघुत्तम इकाई में ऐतिहासिक–वर्णन क्रमशः सीमित होता जाता है तथा भक्ति–रीति एवं भावमूलक वर्णन अधिक होता है। अतः इन कृतियों का शोधपरक अध्ययन करते हुए वार्ता–साहित्य के इतिहास स्वरूप पर शोध पंचम, षष्ठ तथा सप्तम अध्याय में किया गया है।

'भारतीय इतिहास–लेखन परंपरा तथा मध्यकालीन हिंदी वार्ता–साहित्य' – शोध की पूर्णता कई सहयोगों के बिना असंभव थी। सर्वप्रथम मैं शोध–निर्देशक डॉ. राहुल सिद्धार्थ जी को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने मेरी शोध–दृष्टि को पहचानते हुए उपर्युक्त विषय पर अनुमति प्रदान की। शोध के दौरान मेरी जिज्ञासाओं एवं विचार–बिन्दुओं पर मेरा मार्गदर्शन किया। इसके अतिरिक्त मैं विश्वविद्यालय के संस्कृत–विभाग, बौद्ध–विभाग तथा दर्शन–विभाग का भी धन्यवाद करना चाहता हूँ, जिन्होंने समय–समय पर शोध–संबंधित सामग्री एवं शोध–दिशा में सहायता प्रदान की। मैं विभागीय–शोध–समीति तथा केन्द्रीय–पुस्तकालय को भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। इनके अतिरिक्त मैं डॉ. राजकुमार (श्यामलाल कॉलेज, दिल्ली) तथा डॉ. भीमसिंह (हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, हैदराबाद) का भी धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने शोध–दिशा को समझते हुए मुझे सामग्री–संकलन में सहायता प्रदान की। साथ–ही–साथ मैं माता–पिता जी का चरणस्पर्श कर यही कामना करता हूँ कि मुझे उनका आशीष आजीवन मिले, जिनके बिना अकादमिक जगत में इतना आगे आ पाना संभव नहीं था। धन्यवाद कर मैं उनके आशीष को समाप्त नहीं करना चाहूँगा।

रजत शर्मा

प्रथम अध्याय

इतिहास : परिभाषा, स्वरूप, तत्व एवं परंपरा (समकालीन इतिहास–चिंतन)

1.1 इतिहास की परिभाषा एवं स्वरूप

1.2 इतिहास–लेखन के तत्व

1.2.1 सामान्यीकरण

1.2.2 इतिहासकार और उसके तथ्य

1.2.3 कार्य–कारण–संबंध

1.2.4 वस्तुपरकता और व्याख्या

1.3 इतिहास–लेखन की परंपरा

1.3.1 यूनान और रोम का इतिहास–दर्शन

1.3.2 सिकन्द्रिया के इतिहासकार

1.3.3 रिपब्लिक के अंत तक का रोमन इतिहास–लेखन

1.3.4 साम्राज्यकालीन इतिहासकार

1.3.5 ईसाई इतिहास–लेखन

1.3.6 पुनरुत्थान युग

1.3.7 बुद्धिवाद का युग

प्रथम अध्याय : इतिहास : परिभाषा, स्वरूप, तत्व एवं परंपरा (समकालीन इतिहास–चिंतन)

'इतिहास' शब्द अंग्रेजी भाषा के 'हिस्ट्री' के समानार्थक प्रयोग किया जाता है। अंग्रेजी भाषा का 'हिस्ट्री' शब्द यूनानी भाषा के 'हिस्टोरिया' शब्द से निकला है, जिसका अर्थ अन्वेषण, शोध, खोज या जानकारी है। भारतीय साहित्य के अंतर्गत 'इतिहास' शब्द का प्रयोग वेदों से लेकर मध्यकालीन साहित्य तक में दिखाई देता है। परन्तु इसका अर्थ एवं स्वरूप वैसा नहीं जैसा कि 'हिस्ट्री' से लिया जाता है। 'इतिहास' शब्द की व्युत्पत्ति 'इति–ह–आस' है जिसका अर्थ है – 'निश्चित रूप से ऐसा हुआ'। आचार्य दुर्ग ने अपनी 'निरुक्त भाष्य वृत्ति' (निरुक्त 2/3/1 पर दुर्गाचार्य की वृत्ति) में इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है –

''निदानभूतः 'इति ह एवमासीत्' इति य उच्यते स इतिहासः।''[1]

अर्थात् 'यह निश्चित रूप से इस प्रकार हुआ था'। सामान्यतः इतिहास का मूलार्थ 'ऐसा ही हुआ है।

समकालीन समय में इतिहास एक अवधारणा है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो एक पारिभाषिक शब्दावली। इतिहास का अवधारणात्मक चिंतन विस्तृत है, जो भिन्न दृष्टियों के आलोक में विस्तृत होता है। यह दृष्टि इतिहास को 'मुनष्य' के उद्‌गम और विकास का लेखा–जोखा मानती है। ऐसा लेखा–जोखा जो मनुष्य को अतीत की गलतियों से सीख ग्रहण कर वर्तमान एवं भविष्य को उज्ज्वल करने में सहायक होता है। इसका केन्द्र मनुष्य तथा उसकी सभ्यता है। यही कारण है कि मानव जाति के जीवन की अनूठी घटनाओं और आलोड़नों के दस्तावेज के रूप में इतिहास को परिभाषित किया गया है। मध्यकाल में यह केन्द्र ईश्वर था। इसीलिए आधुनिक काल के उदय के साथ मनुष्य केन्द्र में स्थापित होता है। परन्तु इतिहास की अवधारणा आधुनिक काल से सुदूर पूर्व विकास करती दिखती है। यह विकास ई.पू. में हेरोडोटस से आरम्भ होता है, जो विकसित होते हुए आधुनिक काल तक विकासमान होता है। इस पूरी परंपरा में पश्चिम की वस्तुवादी दृष्टि के अनुरूप इतिहास का केन्द्र 'मनुष्य' ही रहता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समूह में रहना पसंद करता है इसीलिए समाज बनाता है। समाज की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक व्यवस्था को निर्मित करता है। यह व्यवस्था मनुष्य की बाह्य एवं आंतरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। बाह्य जरूरतें उसे भौतिक जगत में क्रियाशील रूप में खड़ा करती हैं तो आंतरिक जरूरतें बाह्य जगत द्वारा पुष्ट एवं समस्याग्रस्त करते हुए उसकी चेतना को निर्मित

[1] उपाध्याय, आचार्य बलदेव; पुराण–विमर्श; चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी; पुनर्मुद्रित संस्करण 2015; पृ.सं. 5

करती हैं। बाह्य जगत एवं आंतरिक चेतना के संघर्ष में ही मानवी–चेतना निरंतर विकासमान होती है। मनुष्य का सामूहिक प्रयास जिस प्रकार सभ्यता के पक्ष को निर्मित करता है उसी प्रकार उसकी सामूहिक चेतना सभ्यता एवं संस्कृति की आत्मा को पुष्ट करती है। सभ्यता यदि उसका शरीर है तो संस्कृति उसकी आत्मा। शरीरात्मा का अविभाज्य गुण ही सभ्यता एवं संस्कृति का भी गुण है। मनुष्य का अपना परिवेश तथा साथी मनुष्यों के साथ परस्पर क्रीड़ा ही इन दोनों को पुष्ट करती है। इस सांस्कृतिक चेतना को स्पष्ट करते हुए ई. श्रीधरन लिखते है :–

> ''मनुष्य ने हमेशा अपने आपको कुछ मौलिक आवश्यकताओं के रूप में अभिव्यक्त किया है, जैसे भोजन, वस्त्र और आवास, सामाजिक और राजनैतिक संगठन, अपने परिवेश का ज्ञान और उस ज्ञान का संप्रेषण तथा धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताएँ। ये गतिविधियाँ मिलकर सार्वभौमिक सांस्कृतिक रूपाकृति बनाती है।''[1]

यह भिन्न सांस्कृतिक रूपाकृतियाँ अलग–अलग समूहों की पहचान बनती हैं। इसी पर आश्रित होकर वैश्विक सभ्यताओं का विकास हुआ है। जिसे श्रीधरन इन शब्दों में कहते हैं –

> ''लोक बहुत जटिल सांस्कृतिक रूपाकृति बुन लेता है, जो जटिल सामाजिक संगठन पर निर्भर होती है और प्रकृति पर जिसका व्यापक नियंत्रण होता है, तो कह सकते हैं कि वे 'सभ्यता' का दर्जा पा लेता है।''[2]

श्रीधरन इस सभ्यता को ही इतिहास का विषय स्वीकारते हैं। सभ्यता तथा संस्कृति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, परन्तु इतिहास का संबंध सभ्यता से अधिक है। इसके पीछे पश्चिम की वस्तुवादी दृष्टि को स्वीकार किया जाये तो गलत नहीं होगा। 'इतिहास मनुष्य का सभ्यतामूलक अतीत है'। यही वस्तुवादी दृष्टि लौकिकता को महत्व देती है। घटनाओं का स्थूल–चित्रण इसी लौकिकता का परिणाम है। यही कारण है कि इतिवृत्तात्मकता का गुण इतिहास की विशेषता के रूप में स्थान पाता है।

इतिहास की वस्तुवादी दृष्टि का ही परिणाम है कि इतिहासकार अतीत से होते हुए भविष्य को अच्छा करना चाहता है। वह अतीत की घटनाओं को कालक्रम के अनुसार क्रमबद्ध कर उसे अर्थपूर्ण बनाने का कार्य करता है। अतीत की घटनाएँ ही इतिहास के तथ्य हैं। इतिहासकार तथ्यों का चयन, उसका क्रम, उसकी निरंतरता को बनाये रखने का प्रयास करता है। ताकि कार्य–कारण–संबंध की तार्किकता में सत्य का पुनर्निर्माण कर सके। इसके लिए वह तथ्यों को क्रमबद्ध करने के साथ–साथ उसमें तारतम्यता स्थापित करता है। यह

---

[1] ई.श्रीधरन, इतिहास–लेख एक पाठ्यपुस्तक, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, प्रथम प्रकाशन 2011, पृ.सं. 1

[2] वही, पृ.सं. 1

तारतम्यता तथ्यों का कार्य–कारण–संबंध पर आश्रित व्याख्या द्वारा निर्मित होती है। इस क्रम में इतिहासकार अतीत के सत्य का संधान करने का प्रयास करता है। यह संधान इतिहास की पुनर्निर्मिति द्वारा ही संभव है। इसीलिए इतिहास अतीत का पुनर्निर्माण है। इस क्रम में 'इतिहास' मनुष्य एवं उसके जगत का आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, भाषिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक आदि अध्ययन है।

1.1 इतिहास की परिभाषा एवं स्वरूप

आधुनिक युग में 'इतिहास' ज्ञान के एक विशेष क्षेत्र के रूप में ग्राह्य है। परन्तु इतिहास की आदिकालीन दृष्टि समकालीन दृष्टि के रूप में ग्राह्य नहीं थी। आदिकालीन मनुष्य के समक्ष सम्पूर्ण जड़–चेतन जगत् अज्ञेय था। अतः वह जिससे भी परिचय प्राप्त करता था उसे अगली पीढ़ी के लिए संरक्षित करता था और जिनसे परिचित नहीं था उसका परिचय अन्यों से लेता था। इस प्रकार आदिकालीन दृष्टि के अनुसार इतिहास का तात्पर्य केवल परिचय करने अथवा कराने से था।

मनुष्य जड़–चेतन जगत् का परिचयात्मक इतिहास निर्मित करता गया। परन्तु कालांतर में कुछ प्रश्न उत्पन्न हुए कि उन सबका इतिहास अपने आपमें क्या है, कैसा है और क्यों है? इन्हीं प्रश्नों के साथ 'इतिहास' विषय के रूप में अध्ययन का केन्द्र बनता है। इन प्रश्नों से एक ओर इतिहास की अवधारणा का विकास हुआ तो दूसरी ओर मनुष्य की इतिहास के संबंध में धारणा भी पुष्ट हुई। मनुष्य की धारणा पुष्ट होने से यह चिंतन व्यक्तिगत, समूहगत तथा देशगत भिन्नता के साथ रूपाकार ग्रहण करता गया। कहने का तात्पर्य यह है कि देश, काल, संस्कृति के कारण इतिहास के अवधारणात्मक विकास में वैश्विक एकरूपता निर्मित नहीं होती। इतिहास की व्युत्पत्ति, अर्थ तथा परिभाषाएँ भिन्न–भिन्न रूप में विकसित होती हैं। यही कारण है कि पूर्वी देशों में मौजूद इतिहास–धारणा पश्चिम देशों से भिन्न प्राप्त होती है।

इतिहास–चिंतन के विकास के साथ ही पश्चिमी विद्वान उसके शिल्प विधान को इतिहास की पहचान की मूलभूत कसौटी के रूप में निश्चित करते हैं। डॉ. परमानंद सिंह लिखते हैं –

> ''उनकी (पाश्चात्य विद्वान) मान्यता थी कि इतिहासकार एक निश्चित शिल्प–विधान के अंतर्गत ही इतिहास की रचना कर सकता है। पुराणादि ग्रंथों को उन्होंने उन्हीं आधारों पर अनैतिहासिक ग्रंथ सिद्ध किया है।''[1]

इतिहास–लेखन का तात्विक निर्धारण मानकीकरण की मांग का परिणाम था। जिस प्रकार ज्ञान–धाराओं को एक परिभाषा में बाँधते हुए उसे स्थायी रूप प्रदान किया गया। उसी प्रकार लेखन–भूमि पर भी तात्विक–निर्धारण

[1] सिंह, परमानंद, इतिहास–दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ.सं. 1

करते हुए ज्ञान–धाराओं के लेखन को भी मानकीकृत किया गया। यह मानकीकरण ही मूल्यांकन तथा पहचान की कसौटी भी बनी। 'इतिहास' तथा 'इतिहास–लेखन' का विस्तृत चिंतन इसी दृष्टि का विकास है।

इतिहास को विभिन्न विद्वानों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है। यह परिभाषाएँ इतिहास की विस्तृतता का संकेत करती है। व्यक्ति से लेकर समाज, क्षेत्र से लेकर देश, भूगोल इत्यादि इतिहास के विषय हैं। वर्तमान में यह विस्तृति ज्ञान–विज्ञान की सभी धाराओं का अंग बन गई है। लेकिन यदि इतिहास को उसके सीमित अर्थ में ग्रहण करें तब भी इतिहास का क्षेत्र अपनी विस्तृति में दिखाई देता है। परमानन्द सिंह लिखते हैं –

> ''कई अवधारणाओं ने इतिहास को मिश्रित रूप से मानव–समाज के जीवन का संकलन, व्यक्ति समूह की परिस्थितयों का अध्ययन, महान् व्यक्तियों की आत्मकथा, मानव जीवन के महान कार्यों एवं असाधारण सफलताओं का संकलन, मानवीय आदर्शों एवं महत्वकांक्षाओं द्वारा निर्मित मनुष्य के सामाजिक (भौतिक एवं सांस्कृतिक) जीवन का अध्ययन माना है।''[1]

उपर्युक्त कथन इतिहास के संदर्भ में विभिन्न अवधारणाओं को समग्रता में प्रस्तुत करता है। इन अवधारणाओं को विभिन्न शीर्षकों में विभाजित कर अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

इतिहास की विषयगत अवधारणा : कुछ विद्वान समय (काल), व्यक्ति, स्थान और घटना को इतिहास के महत्वपूर्ण अंग के रूप में देखते हैं। इसीलिए इन्हें ही इतिहास की विषयवस्तु के रूप में स्वीकार करते हैं। लेकिन वही इसके विपरीत कुछ विद्वान इतिहास में विज्ञान और कला का समावेश पाते हैं, जिसे वह इतिहास कहते हैं। वही कुछ इतिहासकार इतिहास को राजनीतिक–अर्थ में ही सीमित करते हैं। इतिहास का अभिप्राय राजनीतिक–इतिहास से लेने की दृष्टि आरम्भिक इतिहास–लेखन में नजर आती है। बल्कि वर्तमान में भी इतिहास की सामान्यकृत धारणा उसे 'राजनीतिक इतिहास' के रूप में स्वीकार करती है। लेकिन कुछ विद्वान इतिहास को निष्पक्ष एवं सम्पूर्ण अध्ययन मानते हैं। उनकी दृष्टि इतिहास के राजनीतिक अर्थ तक सीमित नहीं होती।

इतिहास के साथ धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, मानवशास्त्र, राजनयिकशास्त्र, सैनिकशास्त्र, विधिशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, सामाजिक विज्ञान आदि को भी जोड़ते हैं, जिससे इतिहास के वृहत् फलक का भी परिचय मिलता है। इसी आधार पर इतिहास एक ऐसे विषय के रूप में दिखाई देता है, जिसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। दरअसल यह पारिभाषिक भिन्नता दृष्टिगत भिन्नता का परिणाम है। समकालीन दृष्टि में इतिहास

[1] सिंह, परमानंद, इतिहास–दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ.सं. 2

केवल सामाजिक–सांस्कृतिक अध्ययन का ही विषय नहीं रह गया है बल्कि वह एक ऐसा सामाजिक विज्ञान बन गया है जिसमें दर्शन की तलाश भी संभव है। अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि जैसे–जैसे ज्ञान–विज्ञान का विकास होता जायेगा इतिहास की विषयगत अवधारणा का भी स्वरूप परिवर्तित होगा।

इतिहास की देश एवं धर्मगत अवधारणा : राजनीतिक–इतिहास के समान इतिहास की देश तथा धर्मगत अवधारणा भी विकसित होती है। पश्चिमी विद्वान इतिहास को एक विषय के रूप में अध्ययन का विषय बनाते हैं। इतिहास–चिंतन के मूल में पाश्चात्य जगत की चिंतन–दृष्टि गतिमान होती है। इसी चिंतन–दृष्टि की भूमि पर इतिहास का अवधारणात्मक विकास होता है। इतिहास के अवधारणात्मक–विकास के साथ–साथ उसका मानक रूप सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित होता है, जो कि सर्वग्राह्य होता है। इसी प्रकार भारत में इतिहास की भिन्न अवधारणा का विकास होता है, जिसका परिचय अग्रिम अध्ययाय में दिया गया है। वही पाश्चात्य अवधारणा के आलोक में भारत में एक भ्रांति उत्पन्न होती है। इस भ्रांति के अनुसार 'भारत के पास कोई ऐतिहासिक दृष्टिकोण नहीं है।' लोएस डिकिंसन 'ऐन एसे आन दि सिविलाइजेशन आफ इंडिया, चाइना एण्ड जापान' में हिन्दुओं को इतिहासकार के रूप में मानते ही नहीं। उनका समर्थन डॉ. हीरानन्द शास्त्री तथा उनका विरोध गोविंदचन्द्र पाण्डेय करते हैं। वही समर्थन में डॉ. चौबे के चिंतन पर विचार करते हुए डॉ. परमानंद सिंह लिखते हैं –

> ''प्राचीनकाल से वर्तमान तक भारतीयों में इतिहास की एक अवधारणा रही है, जिसके अनुसार प्रकृति से प्रभावित तथा दुःखों से विक्षिप्त लोगों के लिए चार आश्रम और पुरूषार्थ के चार स्थान नियत किये गये थे ताकि वे जीवन के अंतिम लक्ष्य 'मोक्ष' को प्राप्त कर सकें। इस तरह भारतीय इतिहास का स्वरूप व्यक्तिवादी है।''

देश एवं धर्मगत भिन्नता इतिहास की अवधारणा को भी भिन्न रूप प्रदान करता है। बहरहाल पाश्चात्य अवधारणा की व्यापक–स्वीकृति का एक कारण एकरूपता को बनाने की तीव्र इच्छा थी। इस एकरूपता को स्थापित करने का परिणाम विभिन्न देशगत इतिहास–चिंतनों के लुप्त होने में परिणत हुआ। देखा जाये तो वैश्विक परिदृश्य में इसी प्रकार की भिन्नता अन्य धर्मों में भी मिलती है। पारसी अवधारणा, यहुदी अवधारणा, इस्लामी अवधारणा, ईसाइयत अवधारणा भिन्न–भिन्न रूप से इतिहास को परिभाषित करते हैं।

पारसी अवधारणा : ''धर्म द्वारा प्रेरित विश्व निंरतर प्रगति पथ पर अग्रसरित होता रहेगा।''[1]

[1] सिंह, परमानंद, इतिहास–दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ.सं. 4

यहुदी अवारणा : ''यहूदी अवधारणा में भी इतिहास को दैवी इच्छा की अभिव्यक्ति कहा गया है जिसे अन्य शब्दों में 'धर्म के सन्निकट' भी कहा जा सकता है। वे अपने शासक और ईश्वर में अंतर नहीं मानते।''[1]

इस्लामी अवधारणा : ''इतिहास प्रकाश की ज्योति तथा अंधकार की गहनता के बीच निरंतर संघर्ष है।''[2]

इसाई अवाारणा : ''ईसाइयत अवधारणा सम्पूर्ण जगत् को इश्वर की लीला कहकर धर्म के प्रति ही अपनी आस्था व्यक्त करती है। इतिहास में ईश्वर प्रधान है, जिसका प्रमुख उद्देश्य है – सामाजिक एकता के रूप में मानव–कल्याण। यह अवधारणा अतीतकालिक इतिहास के उद्देश्य ईसाई धर्म की स्थापना तथा वर्तमान एवं भावी इतिहास के उद्देश्य सम्पूर्ण विश्व में ईसाई धर्म के प्रचार एवं प्रसार को मान्यता प्रदान करती है।''[3]

कहने का अभिप्राय यह है कि देश, संस्कृति एवं धर्म के विशिष्ट दृष्टिकोण में इतिहास की भिन्न अवधारणाएँ प्राप्त होती हैं।

इतिहास की कालगत अवधारणा : देश एवं धर्मगत चिंतन के समान इतिहास की कालगत अवधारणा नित–परिवर्तनशील रही है। कहने का तात्पर्य यह है कि समय (काल) के अनुसार भी इतिहास की अवधारणा भिन्न–भिन्न मिलती है। दरअसल इतिहास की कालगत अवधारणा के अनुसार प्रत्येक युग में इतिहास–चिंतन परिवर्तित होता रहा है। यह परिवर्तन युगीन–परिस्थितियों एवं दृष्टिकोणों का परिणाम है। यूनानी–रोमन अवधारणा के उपरांत पश्चिम में धर्म का प्रभाव प्रबल होता है। इतिहास की धार्मिक अवधारणाओं को मध्यकाल में देखा जा सकता है। लम्बे समय तक ईसाई धर्म के प्रभाव के प्रतिफल पश्चिम में पुनर्जागरण काल आता है। इस दौरान इतिहास की धार्मिक दृष्टि से भिन्न मानवपरक विचार पर आश्रित अवधारणा का परिचय प्राप्त होता है। इस दृष्टि के परिणामस्वरूप धार्मिक इतिहास से इतर नगरों तथा राज्यों के इतिहास लिखे जाते हैं। मध्यकाल से भिन्न पुनर्जागरणकालीन अवधारणा को स्पष्ट करते हुए डॉ. चौबे लिखते हैं –

''वह प्रवृत्तिमूलक न होकर व्यक्तिमूलक बन गयी। उसका स्वरूप व्याख्यापरक न होकर घटनाप्रधान हो गया। इतिहास धर्म–प्रधान न होकर राजनीतिपरक होने लगा। मानववाद आधुनिक युग में बुद्धिवाद, इतिवृत्तात्मक, विद्वतापूर्ण तथा दर्शनप्रधान रूप में पल्लवित हुआ। मानसिक क्षितिज विकसित एवं

[1] सिंह, परमानंद, इतिहास–दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ.सं. 4
[2] वही, पृ.सं. 4
[3] वही, पृ.सं. 4

विस्तृत हुआ। मध्ययुगीन आदर्शों की नीरसता तथा तपश्चर्या की शुष्कता के स्थान पर मानव जीवन की रागात्मक सरसता और उसकी बहुमुखी प्रगति का उल्लास इतिहास और संस्कृति को नयी प्रेरणा तथा स्फूर्ति से अभिसिंचित करने लगा। मनुष्य की जीवन लीला के प्रति एक नूतन अभिरुचि उमड़ पड़ी।''[1]

बुद्धिवादी युग (17–18वीं सदी) में विज्ञान के प्रादुर्भाव का प्रभाव इतिहास की अवधारणा पर भी पड़ा। इतिहास में प्रगति एवं विकास की अवधारणा विकसित हुई। इतिहास को यांत्रिक रूप से व्याख्यायित किया जाने लगा। इतिहास–चिंतन तर्कप्रधान हुआ जो कि रोमांतिक युग में भावना तथा कल्पना प्रधान था। इस युग के इतिहासकार समष्टि–प्रधान थे, व्यक्ति–प्रधान नहीं। इसके अनुसाार मनुष्य इतिहास का कर्त्ता नहीं, अपितु उपकरण और उपज होता है। 19वीं सदी में इतिहास को विज्ञान स्वीकारते हुए जर्मन दार्शनिकों ने इसके स्वरूप को ओर आधुनिक बना दिया। 20वीं सदी में इतिहास की अवधारणा संकुचित राष्ट्रीयता, धर्म, जाति, क्षेत्रीयता आदि की भावना से ऊपर उठकर विश्व–बंधुत्व के सार्वभौमिक स्वरूप को ग्रहण करती है। अतः युगीन–चेतना इतिहास की भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। वहीं इतिहास का प्रयोजन भी परिवर्तित होता हुआ दिखाई देता है। आरम्भिक इतिहास एक ओर जहाँ 'समकालीन इतिहास' ही थे वहीं ईसा के बाद इतिहासकार अतीत के इतिहास भी समय–विशेष की सूचना के साथ लिखते हैं। इस प्रकार दो युगों के बीच का अंतर इतिहास को तात्विक–भिन्नता भी प्रदान करता है। अतः इन कालगत–भिन्नता में इतिहास–चिंतन की भिन्न परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं।

उपर्युक्त शीर्षकान्तर्गत विवेचन से एक बात स्पष्ट है कि इतिहास विषय, देश, धर्म तथा काल द्वारा प्रभावित होता रहा है। इसी आधार पर इतिहास की परिभाषाओं में इतना वैविध्य दिखाई देता है। अतः उपर्युक्त संकेतन के अतिरिक्त इतिहास के स्वरूप के संबंध में विद्वानों की दृष्टि को समझना भी आवश्यक है। 'इतिहास' की भिन्न–भिन्न दृष्टि से अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई है। इन परिभाषाओं के आधार पर इतिहास के स्वरूप को समझा जा सकता है। डॉ. परमानंद सिंह लिखते है –

''कुछ लोगों ने इतिहास को एक कहानी, एक ज्ञान, राजनीतिशास्त्र, सामाजिक विज्ञान, विशुद्ध विज्ञान, चिंतन विद्या, अतीत–वर्तमान का संलाप, भूत–भविष्य कहा है तो कुछ ने सभ्यता, संस्कृति, सत्यान्वेषण, उत्पादन, प्रगति आदि से सम्बोधन करके उसे परिभाषित करने का प्रयास किया है।''[2]

[1] सिंह, परमानंद, इतिहास–दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ.सं. 5
[2] वही, पृ.सं. 14

पृथक–पृथक दृष्टि से विद्वानों द्वारा इतिहास की भिन्न–भिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई। यह भिन्न दृष्टियाँ युगीन परिस्थितियों के प्रभाव में निर्मित होती है। वही इतिहास के क्षेत्र को विस्तृत आयाम देने के उद्देश्य से भी यह प्रयास किये गये। सामान्यतः यह दृष्टिभेद इतिहास के किसी एक पक्ष पर जोर देने के कारण ही अपना अस्तित्व बनाती है। इन परिभाषाओं के अध्ययन से इतिहास के मूल स्वरूप की पहचान करना सम्भव है।

'इतिहास' एक कहानी : इतिहास को 'कहानी' कहकर परिभाषित करने वाले मनीषियों में रेनियर, ट्रैवेलियन, पेरिने, तुइजिंगा, औलिवर और फ्रेंच अकादमी के साथ–साथ कार्लाइल और राममनोहर–लोहिया का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन विद्वानों की परिभाषाएँ निम्नतः उल्लिखित है :–

रेनियर कहते है :– ''इतिहास सभ्य समाज में सन्निवासित मानवीय अनुभवों की कहानी है।''[1]

जी.एम.ट्रैवेलियन की दृष्टि में :– ''इतिहास अपरिवर्तनीय रूप से एक कहानी है।''[2]

हेनरी पेरिने के अनुसार :– ''समाज में रहने वाले मनुष्यों के कार्यों एवं उपलब्धियों की कहानी ही इतिहास है।''[3]

तुइजिंगा इतिहास के संदर्भ में लिखते है :– ''इतिहास अतीत की कथात्मक घटनाओं का उल्लेख है। यह स्मरणीय वस्तुओं की कहानी है, अतएव इतिहासकार को चाहिए कि वह इसकी कहानी को बतला दें, कोई उपदेश अथवा नैतिक विचार व्यक्त न करें।''[4]

उपर्युक्त परिभाषाएँ इतिहास के कथात्मक तत्व के मद्देनजर उसको परिभाषित करती हैं। परन्तु इतिहास केवल कहानी नहीं होता अपितु वह इससे कुछ ऊपर है। यह कहा जा सकता है कि घटनाओं के बीच संगति दिखाकर इतिहासकार उसकी व्याख्या करता है, जिस कारण एक निरंतरता का निर्वाह संभव होता है। इतिहासकार तथ्यों के बीच संबंध स्थापित करके उनमें अर्थ भरता है। परन्तु इस आधार पर इतिहास को कहानी कहना न्यायसंगत नहीं। लेकिन यह अवश्य है कि वर्तमान चिंतन का एक पक्ष साहित्य सृजन में मौजूद मनौवैज्ञानिक सत्य को भी इतिहास की सीमा में स्वीकारने लगा है। लेकिन उपर्युक्त दृष्टि इस संदर्भ से इतर

[1] सिंह, परमानंद, इतिहास–दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ.सं. 14
[2] वही, पृ.सं. 14
[3] वही, पृ.सं. 14
[4] वही, पृ.सं. 14

इतिहास की प्रवृत्ति पर आश्रित है, जिस कारण उसे 'कहानी' रूप में स्वीकार कर विद्वानों ने अपनी दृष्टि प्रस्तुत की है।

'इतिहास' एक ज्ञान : इतिहास को कहानी रूप में परिभाषित करने से इतर 'ज्ञान' के रूप में भी देखा गया है। इस दृष्टि को पुष्ट करने वाले विद्वानों में चार्ल्स फर्थ, सर वाल्टर रेले, ए.एल.राउज, कालिंगवुड, क्रोचे आदि प्रमुख है। इतिहास को 'ज्ञान' कहते हुए विद्वानों की परिभाषाएँ निम्न उल्लिखित है :–

चार्ल्स फर्थ की दृष्टि में :– ''इतिहास अनेक प्रकार के उदाहरणों द्वारा ज्ञान सम्प्रेषित करता है।''[1]

सर वाल्टर रेले के अनुसार :– ''इतिहास का मूल उद्देश्य अतीत की घटनाओं से हमें शिक्षा देना होता है ताकि हमारा पथ–प्रदर्शक हो सके।''[2]

ए.एल.राउज के विचारानुसार :– ''इतिहास ज्ञान पर आधृत एक क्रिया है।''[3]

कॉलिंगवुड तथा क्रोचे के अनुसार :– ''ऐतिहासिक ज्ञान मानवीय ज्ञान का स्रोत है।''[4]

गोविन्दचन्द्र पाण्डेय इस संदर्भ में लिखते है :– ''ऐतिहासिक ज्ञान सापेक्षतावाद तथा इससे वैज्ञानिक ज्ञान के यथार्थवादी स्वरूप के पार्थक्य पर बल देकर वह ऐतिहासिक ज्ञान की विशेषताओं पर प्रकाश डालता है। अतएव इतिहास एक अद्वितीय प्रकार का ज्ञान है तथा यह मानव के सम्पूर्ण ज्ञान का स्रोत है।''[5]

इतिहास को 'कहानी' से अधिक 'ज्ञान' कहना अधिक सार्थक प्रतीत होता है। परन्तु उसे सबकुछ का ज्ञान न कहकर एक विशेष प्रकार का ज्ञान अथवा ज्ञान की एक शाखा कहना सही रहेगा। परन्तु इतिहास में मौजूद 'कहानी' के कथात्मक गुण को भी नकारा नहीं जा सकता। परमानन्द लिखते हैं – 'साथ ही उसे 'ज्ञान' कहकर उसे सीमित करना भी सही नहीं।'[6]

'इतिहास' राजनीति की कला का ज्ञान : ज्ञान के सातत्य से ही इतिहास को राजनीति की कला का ज्ञान भी कहा जाने लगा। न्यूसीडिड्स तथा पोलीवियस के अनुसार – ''राजनीतिज्ञों को शिक्षित करने वाला शास्त्र इतिहास है। यह ज्ञान का वह संग्रह है।''[7] इसके पीछे यूनान तथा रोम में लिखे गये आरम्भिक इतिहास

---

[1] सिंह, परमानंद, इतिहास–दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ.सं. 15
[2] वही, पृ.सं. 15
[3] वही, पृ.सं. 15
[4] वही, पृ.सं. 15
[5] वही, पृ.सं. 15
[6] वही, पृ.सं. 15
[7] वही, पृ.सं. 15

भी एक कारण है। इन इतिहासों की मूल विषयवस्तु राजनीतिक घटनाओं पर आधारित है। पश्चिम में अधिकतर इतिहास 'राजनीतिक' ही थे। यही कारण है कि इतिहास का एक अर्थ राजनीतिक इतिहास से लिया जाने लगा। वर्तमान समय में यह दृष्टि अस्वीकार्य है। इतिहास का अर्थ इससे विस्तृत रूप में दिखाई देता है।

'इतिहास' एक विज्ञान – इतिहास को 'सामाजिक विज्ञान' के रूप में भी परिभाषित किया गया है। इनमें पावेल, राउज, चार्ल्स फर्थ, पिरने आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन विद्वानों की इतिहास संबंधी परिभाषाएँ निम्नलिखित है :–

याक्र पावेल के अनुसार :– ''इतिहास में उन प्रभावी प्रवृत्तियों का विवरण होना चाहिए, जिन्होंने विभिन्न युगों की परिस्थितियों को परिवर्तित किया है।''[1]

ए.एल.राउज विचार करते है :– ''इतिहास अपने पर्यावरण के परिवेश में समाज में रहने वाले लोगों का विवरण है।''[2]

चार्ल्स फर्थ की दृष्टि में :– ''इतिहास मनुष्य–समाज के जीवन का संकलन है। यह उन समाजों के परिवर्तन का, उन विचारों का, जिन्होंने उन समाजों के कार्य को प्रभावित किया है और उन भौतिक परिस्थितियों का, जिन्होंने उन समाजों के विकास में सहायता या बाधा उपस्थित की है, संकलन है।''[3]

हेनरी पिरेन के विचार में :– ''इतिहास अतीत में व्यतीत मानवीय समाज के विकास का विवेचन है।''[4]

इतिहास का सीधा संबंध समाज से है। अतः उसे सामाजिक विज्ञान स्वीकारना गलत नहीं। परन्तु कुछेक विद्वान इतिहास को विशुद्ध विज्ञान के रूप में भी परिभषित करते है। इन विद्वानों में वाल्टेयर, वूल्फ, रानके, सीले, डार्विन, ब्यूरी आदि का नाम दिया जा सकता है। ब्यूरी ने तो इतिहास के संदर्भ में यह तक कह दिया कि 'इतिहास साहित्य की एक शाखा नहीं अपितु वह एक विज्ञान है, न कम और न अधिक।'[5] इतिहास की यह दृष्टि विज्ञान के बढ़ते प्रभाव के कारण ग्रहित हुई। यह दृष्टि तथ्यों को एक साथ रख देना ही इतिहास समझती थी। इनका मानना था कि तथ्य स्वयं अर्थ अभिव्यक्त करते है। इस दृष्टि से इतिहासकार का कार्य केवल तथ्यों का संकलन एवं उनका सही क्रम में संयोजन करना ही माना गया। विज्ञान के बढ़ते प्रभाव में वैज्ञानिकता को ही सत्य की कसौटी स्वीकार किया जाने लगा। इसीलिए ज्ञान के सभी विषयों ने अपनी

---

[1] सिंह, परमानंद, इतिहास–दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ.सं. 15
[2] वही, पृ.सं. 15
[3] वही, पृ.सं. 15
[4] वही, पृ.सं. 15
[5] वही, पृ.सं. 16

सत्यता प्रामाणित करने के लिए वैज्ञानिकता से जोड़ना प्रमुख माना। इतिहास को भी विज्ञान के रूप में परिभाषित करने का कार्य इसी दृष्टि का प्रतिफल है।

'इतिहास' चिंतन विद्या का इतिहास : इन दृष्टियों से इतर इतिहास को चिंतन विद्या का इतिहास भी कहा गया। इनमें कॉलिंगवुड, डॉ. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, वाल्स, हीगल, मार्क्स आदि प्रमुख है। इनके मत निम्नलिखित हैं :–

कॉलिंगवुड के अनुसार :– ''मनुष्य का जीवन ऐतिहासिक है, क्योंकि वह मानसिक तथा आध्यात्मिक है। जब हम इतिहास का अध्ययन करते हैं तो हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि मनुष्य ने क्या किया? अपितु उसके विचारों पर सोचना चाहिए। इतिहास कार्यप्रधान नहीं, अपितु विचारप्रधान है तथा इतिहास प्राचीन विचारों का पुनः प्रदर्शन है।''

गोविन्दचन्द्र पाण्डेय :– ''विचार ही मानवीय कार्य–व्यापार का मूल स्रोत तथा उद्‌गम स्थल है। मानवीय कार्यों के लिए विचार प्रेरक शक्ति है।''[1]

प्रो. वाल्स (एन इंट्रोडक्शन टू फिलासफी ऑफ हिस्ट्री) :– ''इतिहास केवल चिंतनप्रधान अथवा विचारप्रधान ही नहीं होता है, अपितु मानवीय चिंतन के विपरीत दैवी प्रकोप, बाढ़, भूकम्प, अनावृष्टि एवं अतिवृष्टि आदि अपना परिणाम देते हैं।''[2]

'मनुष्य' के मनुष्य होने में मस्तिष्क एक महत्वपूर्ण तत्व है। यह चिंतन करता है। विचार एवं संवेदना को पोषित कर आगे बढ़ाता है। यही कारण है कि इतिहास के केन्द्र में मनुष्य के चिंतन तत्व को महत्वपूर्ण माना गया। इसी कारण उपर्युक्त मत इतिहास के संबंध में उद्धृत किये गये हैं।

'इतिहास' एक समसामयिक अतीत : एक अन्य दृष्टि के अनुसार इतिहास समसामयिक होता है। क्रोचे की उक्ति 'ऑल हिस्ट्री इज कंटेम्पोरेरी हिस्ट्री' को कालिंगवुड भी उद्धृत करते हैं। इसका समर्थन अनेक विद्वानों ने किया है।

[1] सिंह, परमानंद, इतिहास–दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ.सं. 16
[2] वही, पृ.सं. 16

आकशाट के अनुसार :– ''इतिहास में अतीत की उन्हीं उपलब्धियों तथा कार्यों का उल्लेख होता है जो हमारे वर्तमान के आधार होते हैं तथा वह हमारे भविष्य को प्रभावित करते हैं।''[1]

गालब्रेथ के मतानुसार :– ''विगत घटनाओं के वर्णन में इतिहासकार वर्तमान को दृष्टि में रखकर यह भूमिका प्रस्तुत करता है।''[2]

प्रो. ई. एच. कार :– ''इतिहास वस्तुतः इतिहासकार तथा तथ्यों के मध्य अंतःक्रिया की एक अविच्छिन्न प्रक्रिया है तथा अतीत एवं वर्तमान के मध्य एक अनन्त–संलाप है। इस तरह वह एक सेतु है जो अतीत और वर्तमान के मध्य स्थित है।''[3]

इतिहास को समसामयिक मानने के पीछे का कारण यह है कि अतीत सदा वर्तमान को प्रभावित करता है। तो दूसरी ओर वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता है। इतिहासकार समकाल में जीता है। इसीलिए समकालीन दृष्टि के अनुरूप अतीत को परिभाषित करता है। यही कारण है कि इतिहास को समसामयिक इतिहास के रूप में भी देखा गया।

देखा जाये तो इतिहास का स्वरूप आरम्भिक काल से वर्तमान तक परिवर्तित होता रहा है। आरम्भ में ईसा से पूर्व इतिहास से अभिप्राय समकालीन इतिहास से लिया जाता था। यही धारणा क्रोचे में भी दिखाई देती है। पूर्व में काल की कोई निश्चित धुरी नहीं थी, इसीलिए समकालीन इतिहास ही लिखे गये। परन्तु क्रोचे के इस प्रकार के चिंतन के पीछे वर्तमान की व्यवस्थित अवधारणा है। क्रोचे इतिहास की वर्तमान प्रासंगिकता के संदर्भ में उसे समसामयिक इतिहास मानते हैं। वहीं प्रत्येक युग की चिंतन–भूमि भी इतिहास के स्वरूप को प्रभावित करती रही है। मध्यकालीन धार्मिक–चेतना इतिहास की धर्मप्रधान व्याख्या प्रस्तुत करती है। ईसाई धर्म के प्रभाव में धार्मिक–इतिहास दिखाई देते हैं। वही ईसाई धर्म की दृष्टि इतिहास की धार्मिक–व्याख्या प्रस्तुत करती है। तब इतिहास का प्रयोजन धर्म का प्रचार–प्रसार तथा धर्म का इतिहास कहना हो जाता है। इसी प्रकार भारत में इतिहास का प्रयोजन धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की उपदेशात्मक कथा कहना था। अतः समय के प्रवाह में धर्म एवं देशगत दर्शन इतिहास के स्वरूप को विशिष्टता प्रदान करती है। इन स्वरूपगत–वैविध्य के बाद भी इतिहास से अभिप्राय अतीत की पुनर्प्रस्तुति है। इतिहासकार अतीत के तथ्यों को कार्य–कारण–संबंध के साथ व्याख्यायित करता है। कार्य–कारण–संबंध को निर्दिष्ट करने के लिए वह कथा–तत्व का भी प्रयोग करता है। इसीलिए कुछ विद्वान इतिहास को कहानी भी कहते हैं। परन्तु यह कहानी

[1] सिंह, परमानंद, इतिहास–दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ.सं. 16
[2] वही, पृ.सं. 16
[3] वही, पृ.सं. 17

ललित–साहित्य के समान रचनात्मक नहीं होती अपितु अतीत में हुई घटनाओं की ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत करती है। इन ऐतिहासिक व्याख्याओं के आलोक में तथ्य प्रकाशित होते हैं। इन्हीं वैविध्यपूर्ण दृष्टिकोण से गुजरते हुए इतिहास के तथ्यों को भी निश्चित किया गया है।

अतः इतिहास को विविध दृष्टि से परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। यह दृष्टियाँ इतिहास के स्वरूपगत विशेषताओं के कारण केन्द्र में आती है। या कहा जाये कि इन विविध परिभाषाओं के मूल में इतिहास का स्वरूप ही है। अंतर केवल किसी एक पक्ष पर जोर देने के कारण खड़ा होता है। परन्तु इस विस्तारित परिभाषाओं के साथ इतिहास–लेखन के स्वरूप को भी बखूबी समझा जा सकता है।

1.2 इतिहास–लेखन के तत्व

पाश्चात्य वस्तुवादी दृष्टि इतिहास के निर्धारण की कसौटी में लेखन–कला को महत्ता देती है। यह लेखन–कला कुछ निश्चित तत्वों द्वारा आकार ग्रहण करती है। इतिहास की लेखन–कला पर भी पाश्चात्य विद्वान विचार करते हैं। यह विचार 'इतिहास–लेखन' को स्वतंत्र विषय–बिन्दु के रूप में अस्तित्ववान करते हैं। इतिहास–लेखन का अध्ययन करते हुए कुछ मानक निर्धारित किये गये हैं। इन्हें ही इतिहास के तत्व की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इन्हीं तत्वों के आधार पर इतिहास–लेखन निश्चित प्रारूप ग्रहण करता है। कहा जाये तो यह तत्व इतिहास–लेखन की आधारभूत सैद्धांतिकी प्रस्तुत करते हैं। इन्हीं तत्वों का विवेचन निम्न किया गया है।

1.2.1 सामान्यीकरण

इतिहास की प्रक्रिया दो स्तरों पर काम करती है। पहला, वह अद्वितीय घटनाओं को चरणबद्ध रूप में प्रस्तुत करते हुए युगीन चेतना को स्पष्ट करता है। दूसरा, इतिहास इन अद्वितीय घटनाओं में सामान्य की पहचान करता है। सामान्य की यही पहचान इतिहास के स्वरूप का महत्वपूर्ण पक्ष है। माक्र ब्लॉक इसे 'व्यापार की रीति' कहते हैं। यह वह प्रक्रिया है जिसका अनुसरण इतिहासकार इतिहास–लेखन के दौरान प्रत्येक चरण पर करता है। इसे परिभाषा में बाँधते हुए कहा जाये तो ''सामान्यीकरण' असंबद्ध और अस्पष्ट तर्कों का काल और दिक् में आपस में जुड़ना है।''[1] सरल शब्दों में कहा जाये तो अलग–अलग समय एवं देश से संबंधित परिस्थिति तथा तर्कों का आपस में जुड़ना ही 'सामान्यीकरण' है। तथ्यों में अवस्थित सूत्रों के मध्य समानता, संबंध अथवा संपर्क का निर्धारण इतिहासकार सामान्यीकरण की प्रक्रिया के अनुगमन द्वारा करता है। इस प्रक्रिया में इतिहासकार की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है, जिसे हेरोडोटस से आधुनिक काल तक स्वीकार

[1] चंद्र, बिपन, सामान्यीकरण (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 8

किया गया है। बहरहाल सामान्यीकरण एक प्रकार से तथ्यों के बीच से किसी नियम को खोजने का प्रयास है। इस प्राप्त नियम के द्वारा आगामी संभावनाओं तथा अतीत के समान तथ्यों पर उसे लागू कर उनकी प्रामाणिकता का निर्धारण भी इसी क्रम का अग्रिम चरण है।

सामान्यीकरण की प्रक्रिया का चरम ही निष्कर्ष है। यह निष्कर्ष इतिहासकार की समस्याओं का निदान भी है। अतः तथ्यों का विश्लेषण करते हुए बीच–बीच में निष्कर्ष तथा तथ्यों को समझने में सहायक नियमों का वर्णन इतिहास–लेखन का एक पक्ष है। माक्र ब्लॉक के अनुसार ''यह प्रक्रियाओं के बीच उदाहरण प्रस्तुत करने वाला संबंध है।''[1] इतिहासकार घटनाओं का विश्लेषण एवं व्याख्याएँ सामान्यीकरण की मदद से करता है। कई बार इतिहासकार पूर्व की किसी घटना अथवा तथ्य को सापेक्ष रूप से दूसरी घटना के समक्ष समस्या के समाधान रूप में प्रस्तुत करता है। तथ्यों, आँकड़ों अथवा प्रक्रियाओं को वर्गीकृत करते हुए तुलना करना, समानता एवं असमानता को खोजना तथा उन पर आधारित निष्कर्षों को प्रस्तुत करना इसी का लेखन में रूपांतरण है।

> ''अधिक व्यापकता से देखें तो सामान्यीकरण तब होता है जब हम तथ्यों को समझने या आँकड़ों, वस्तुओं, घटनाओं और अतीत के दस्तावेजों के बीच किन्हीं अवधारणाओं की मदद से संबंध स्थापित करते हैं और उन्हें दूसरों तक संप्रेषित करते हैं।''[2]

सामान्यीकरण विशिष्ट घटनाओं पर आधारित होता है तथा प्रत्येक घटना एक विशिष्ट संदर्भ से जुड़ी होती है। ऐसे में किसी निश्चित प्रक्रिया को खोजना कठिन है। परन्तु 'सामान्यीकरण' को समझने के लिए उसे स्तरीय विभाजन के रूप में समझने का प्रयास किया जाता है। इन स्तरों में निम्न स्तरीय[3], मध्य स्तरीय[4], व्यापक सामान्यीकरण[5] तथा मेटा हिस्ट्री[6] है। इन स्तरों के संदर्भ में यह अवश्य कहा जा सकता है कि 'सामान्यीकरण' के अध्ययन का यह स्वरूप प्रमुख रूप से इतिहासकार के विश्लेषणात्मक दृष्टि पर अधिक आधारित है। इतिहासकार किस प्रक्रिया का अनुगमन कौन–सी घटनाओं के संदर्भ में करेगा? यह कहना मुश्किल है। परन्तु सामान्य रूप से वह उपर्युक्त स्तरों का प्रयोग सामान्यीकरण करने के लिए करता है।

---

[1] चंद्र, बिपन, सामान्यीकरण (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 8

[2] वही, पृ.सं. 8

[3] ''निम्न स्तरीय सामान्यीकरण तब होता है जब हम किसी तथ्य या घटना को किसी खाँचे में डालते हैं, उसका वर्गीकरण करते हैं या उसे कालबद्ध करते है।'' वही, पृ.सं. 8

[4] ''मध्य स्तरीय सामान्यीकरण तब होता है जब कोई इतिहासकार किसी विषय के अध्ययन के लिए उसके विभिन्न तत्वों के बीच अन्तर्सम्बन्ध खोजने का प्रयास करता है।'' वही, पृ.सं. 8

[5] ''यह (व्यापक सामान्यीकरण) तब होता है जब इतिहासकार समाज को बाँधने वाले संभावी व्यापक सूत्रों और महत्वपूर्ण संबंधों तक पहुँचते हैं। यह इतिहासकार किसी पूरे युग में समाज के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं पारिस्थितिकीय सूत्रों का अध्ययन करने का प्रयत्न करते हैं।'' चंद्र, बिपन, सामान्यीकरण (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 8

[6] ''मेटा हिस्ट्री अक्सर अनैतिहासिक होती है क्योंकि वह इतिहास पर इतिहास से बाहर का कोई सिद्धांत लादना चाहती है – यह सिद्धांत इतिहास के ठोस अध्ययन से उभर कर सामने नहीं आता।'' वही, पृ.सं. 9

सामान्यतः इतिहास तथा इतिहासकार की भूमिका के संदर्भ में दो दृष्टियाँ दिखाई देती हैं। पहली दृष्टि के अनुसार इतिहासकार का कर्तव्य अतीत की जानकारियों को एकत्रित करना तथा उन्हें तिथिवार क्रम में प्रस्तुत कर देना है। क्रमानुक्रम में व्यवस्थित जानकारियाँ अतीत को एक अर्थ देती हैं या स्वयं को प्रकट करती है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो इतिहासकार का दायित्व जानकारियों की वैधता परखना तथा उनकी सत्यता को प्रमाणित करना है न कि उनकी व्याख्या करना अर्थात् सामान्यीकरण करना। वहीं दूसरी दृष्टि इसके विपरीत मानती है कि स्रोत स्वयं कोई अर्थ प्रकट नहीं करते। इस स्थिति में इतिहासकार किसी सिद्धांत के आलोक में इन जानकारियों को व्याख्यायित करता है। साथ ही तथ्यों के चयन में भी वह किसी सिद्धांत का अनुसरण करता है।

यह अवश्य है कि तथ्य बहुत सारे हैं। इतिहासकार इन बिखरे तथ्यों में से चयन करता है। अतः इतिहासकार यह चयन कैसे करता है? यह प्रश्न केवल चयन का प्रश्न नहीं है। यह प्रश्न भ्रम भी पैदा करता है कि तथ्य इतिहासकार के समक्ष प्रस्तुत होते हैं तथा वह उनमें से चयन करता है। जबकि इतिहासकार इन तथ्यों को खोजता है जिसमें यह निहित होता है कि चयन के कुछ सिद्धांत होते हैं। इतिहासकार इन चयनित तथ्यों को क्रमवार और समूहबद्ध रूप में प्रस्तुत करता है। तथ्यों को क्रमवार तथा समूहबद्ध करने के लिए स्पष्टीकरण, कार्य–कारण, उत्प्रेरण एवं आवश्यक की आवश्यकता होती है। क्रम में उपस्थित होकर ही तथ्य अपना ऐतिहासिक अर्थ ग्रहण करते हैं। अर्थात् तथ्य बिना ऐतिहासिक अर्थ प्राप्त करें 'तथ्य' नहीं होते। अतः इतिहासकार इन्हें (तथ्य) वह ऐतिहासिक अर्थ सामान्यीकरण द्वारा देता है। इससे उस आपत्ति का उत्तर भी मिलता है जिसमें कहा जाता है कि 'तथ्यों को सामान्यीकरण से अलग करने की आवश्यकता है और सामान्यीकरणों को तथ्यों से निकलना चाहिए।' दूसरे शब्दों में कहा जाये तो तथ्य तथा सामान्यीकरण संश्लिष्ट है। इन्हें अलग करके नहीं देखा जा सकता। क्योंकि सामान्यीकरण ही तथ्यों को 'तथ्य' बनाते है। नाम, तिथि और गणना इतिहास के अंग हैं। परन्तु जैसे ही इनसे बाहर निकलते हैं 'सामान्यीकरण' की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है।

> ''सामान्यीकरण के अभाव में हम आँकड़े एकत्रित करने वाले भर रह जाते हैं। सामान्यीकरण के बिना कोई जटिल विश्लेषण या व्याख्या ही नहीं, वर्णन भी संभव नहीं है।''[1]

इतिहासकार विश्लेषण या कारण–कार्य संबंध स्थापित करने के लिए कारण–कार्य संबंध के सिद्धांत का प्रयोग करता है। दार्शनिक सिडनी हुक के अनुसार ''हर वह तथ्य जो इतिहासकार स्थापित करता है किसी सैद्धांतिक संरचना पर आधारित होता है।''[2] सामान्यीकरण से जुड़ी हुई कुछ आपत्तियाँ भी सामने आती हैं। एक आपत्ति

[1] चंद्र, बिपन, सामान्यीकरण (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 10
[2] वही, पृ.सं. 10

के अनुसार घटना अद्वितीय होती है और उसका अलग स्वरूप होता है। अतः इस स्थिति में सामान्यीकरण सत्य से दूर होना है। इस अद्वितीयत्व में एकरूपता खोजना एक धोखा देना ही है। विद्वानों का मत है कि अनोखेपन की भी तुलना आवश्यक है क्योंकि अनोखापन सापेक्षता में ही सिद्ध होता है। अतः 'हम किसी के अनोखेपन को तब तक नहीं समझ सकते जब तक हम उसकी तुलना किसी ऐसी चीज से न करें जिसे हम जानते हैं।'[1]

सामान्यीकरण के स्वरूप के साथ उसके स्रोतों का भी ज्ञान आवश्यक है। पूर्व में उपस्थित लेखन–सामग्री एक प्रमुख स्रोत है। यह सामग्री पूर्व में किए गए कई सामान्यीकरणों को आगामी चिंतन में सहायक होती है। वहीं कुछ अन्य स्रोतों में विभिन्न समाज विज्ञान के विषय आते है। जैसे – व्यक्तियों के व्यवहार और उत्प्रेरण, जन व्यवहार या भीड़ का व्यवहार, परंपरा की भूमिका, परिवार की भूमिका, जातीय दृष्टिकोण और व्यवहार संबंधी सामान्यीकरण; आर्थिक सिद्धांत एवं इतिहास; राजनीतिक व्यवस्था की कार्य प्रणाली; सामाजिक नृ–विज्ञान; भाषा–विज्ञान; आदि। इसके अतिरिक्त कुछ प्रमुख चिंतक जैसे मार्क्स, वेबर एवं फ्रायड के सिद्धांत भी सामान्यीकरण के स्रोतों के रूप में देखे जाते हैं। कई बार इतिहासकार वर्तमान के अध्ययन द्वारा सामान्यीकरण प्राप्त करते हैं। तो कई बार यह सामान्यीकरण जीवनानुभव से भी प्राप्त होते हैं।

निष्कर्षतः कहा जाये तो 'सामान्यीकरण' इतिहास का वह आंतरिक गुण है, जो तथ्यों को सूत्रबद्ध करता है। यह सूत्रबद्धता तथ्यों के ऐतिहासिक अर्थ के प्रकाश्य में सहायक होता है। तथ्यों के बीच अनुपस्थित संबंध तक पहुँच सामान्यीकरण का अनुगमन करते हुए इतिहासकार निश्चित करता है। वह प्रस्तुत तथ्यों में सामान्य नियम को निश्चित कर उस नियम के आलोक में तथ्यों की व्याख्या करता है। अतः कहा जाये तो सामान्यीकरण इतिहास–लेखन की अनिवार्य प्रक्रिया है, जिसके अभाव में संगठित इतिहास–लेखन असम्भव है।

1.2.2 इतिहासकार और उसके तथ्य

इतिहास क्या है? – यह प्रश्न जितना सरल है उतना ही जटिल भी। अपनी मूल चेतना में यह प्रश्न 'इतिहास के स्वरूप' की खोज है और इतिहास के स्वरूप की खोज का मतलब इतिहास के व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक विकास की खोज। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो यह प्रश्न एक ओर जहाँ 'इतिहास के इतिहास' की जिज्ञासा है वहीं दूसरी ओर 'इतिहास के स्वरूप के विकास' को जानने की इच्छा भी है। इतिहास की

[1] चंद्र, बिपन, सामान्यीकरण (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 11

विकासात्मक प्रकृति के समान यह दोनों दृष्टियाँ भी विकासमान है। स्वरूप का अर्थ केवल मूलभूत तत्वों का संकेत भर नहीं है। अपितु उन तत्वों के निर्माण की विकासात्मक प्रक्रिया की समझ भी है।

इतिहास के स्वरूप में 'तथ्य' महत्वपूर्ण तत्व है। कहा जाये तो 'तथ्य' इतिहास का मूलभूत आधार है। इतिहास की परिकल्पना ही तथ्यों पर आधारित है। तथ्यों की खोज, उनके प्रमाणित–अप्रमाणित का प्रश्न, मूल्यांकन एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन तथा निष्कर्ष – यह इतिहास की एक सामान्य प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के अंतर्गत प्रत्येक चरण में तथ्यों की अवस्थिति को सहज ही देखा जा सकता है। 'तथ्य' का विमर्श इतिहास–लेखन का प्रमुख बिन्दु रहा है। यह विमर्श 'इतिहास–तथ्य–संबंध' तथा 'इतिहासकार–तथ्य–संबंध' को केन्द्र में रखकर आगे बढ़ा है। इन दो दृष्टियों को समझने के लिए ई. एच. कार द्वारा उद्धृत 'कैंब्रिज माडर्न हिस्ट्री' के दो भिन्न संस्करणों के अंश द्रष्टव्य है। प्रथम संस्करण का निम्न अंश एक्टन द्वारा कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस सिंडीकेट के सदस्यों के समक्ष अक्टूबर, 1896 में अपनी रिपोर्ट में प्रस्तुत किया था –

> ''19वीं शताब्दी ने हमें ज्ञान की जो संपूर्णता दी है, उसको बहुसंख्यक पाठकों के लिए लाभदायक बनाने का हमको यह अद्वितीय अवसर मिला है... श्रम के न्यायपूर्ण बँटवारे से हम इसे संपन्न करने में सफल होंगे और हम हर पाठक के लिए अंतर्राष्ट्रीय शोध के परिपक्व परिणाम तथा सभी दस्तावेज सुलभ कर सकेंगे।
>
> हम अपनी पीढ़ी में अंतिम इतिहास नहीं लिख सकते लेकिन हम परंपरागत इतिहास को रद्द कर सकते हैं और इन दोनों के बीच प्रगति के उस बिंदु को दिखा सकते हैं जहाँ हम पहुँचे हैं। सभी सूचनाएँ हमारी मुट्ठी में हैं और हर समस्या समाधान के लिए पक चुकी है।''[1]

अंतिम इतिहास लिखे जाने की दृष्टि उपर्युक्त अंश में स्पष्ट दिखाई देती है। 19वीं शताब्दी में इतिहास को 'विज्ञान' के रूप में स्थापित करने के लिए 'तथ्य संप्रदाय' को समर्थन दिया गया। अतः इतिहास में तथ्यों के यथावत् अवस्थिति पर बल दिया गया और माना गया कि पाठक उन तथ्यों से स्वयं के निष्कर्ष प्राप्त करे। वही दूसरा अंश साठ साल बाद लिखी द्वितीय संस्करण की भूमिका में प्रो. सर जार्ज क्लार्क का मत है। वह एक्टन तथा उसके सहयोगी द्वारा अंतिम इतिहास लिखे जाने की संभावना पर अपना मंतव्य व्यक्त करते हुए कहते हैं कि –

> ''बाद की पीढ़ी के इतिहासकार इस तरह की किसी संभावना की आशा नहीं रखते। उन्हें उम्मीद है कि उनकी कृतियों को पीछे छोड़ जाने वाली कृतियाँ बार–बार लिखी जाऐंगी। वे मानते हैं कि अतीत

[1] ई. एच. कार, इतिहास क्या है?, अनुवादक : अशोक चक्रधर, प्रकाशन – दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम हिंदी संस्करण 1976, पृ.स. 3

का ज्ञान उन्हें एक या अधिक मानव मस्तिष्कों के माध्यम से प्राप्त हुआ है, उनके द्वारा समायोजित है और इसलिए उसमें इस तरह के अवैयक्तिक तथा आधारभूत अणु नहीं हो सकते जो बदले न जा सकें... यह खोज सीमातीत लगती है और कुछ धैर्यहीन विद्वान संशयवाद से ग्रस्त हो जाते हैं कि चूँकि सभी ऐतिहासिक अवधारणाएँ व्यक्तियों तथा दृष्टिकोणों के माध्यम से बनती हैं इसलिए उनमें कोई गुणात्मक अंतर नहीं होता और 'वस्तुगत' ऐतिहासिक सत्य जैसी कोई चीज नहीं होती।''[1]

जार्ज क्लार्क 19वीं शताब्दी के उस विचार को पूर्णतः खण्डित पाते हैं जिसके अनुसार अंतिम इतिहास लिखा जा सकता है। 'तथ्य को क्रमबद्ध प्रस्तुत करने के बाद इतिहास की पुर्नप्रस्तुति या पुर्नलेखन अनावश्यक है' 19वीं शती के इस मत पर विचार करते हुए वह ऐक्टन के अंतिम इतिहास लिखे जाने की दृष्टि को नकार देते हैं। बहरहाल ऐक्टन तथा सर जार्ज क्लार्क दोनों 'तथ्य–इतिहास–इतिहासकार–संबंध' से जूझते नजर आते हैं। उपर्युक्त विवाद मूलतः दो युग–दृष्टियों का विवाद है। दरअसल यह दोनों अपने समय को ध्वनित करते हैं। ऐक्टन के यहाँ उत्तर–विक्टोरिया काल की निश्चयात्मकता है, तो क्लार्क अपने युग की 'बीट' पीढ़ी के संशयवाद और उद्विग्नता को व्यक्त कर रहे हैं। ऐक्टन के युगबोध को समझने के लिए तत्कालीन विद्वानों के मतों पर दृष्टिपात जरूरी हो जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के मि. ग्राडग्रिंड के लिए 'तथ्य जीवन का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है।' ग्राडग्रिंड सीधे सरल रूप में तथ्यों को महत्व देते हैं। वहीं रैंक इतिहासकार के दायित्वों पर बात करते हुए तथ्यों की महत्वपूर्ण उपस्थिति को स्वीकार करते हैं। वह कहते हैं – 'इतिहासकार का दायित्व इतिहास को सिर्फ उस रूप में दिखाना है जैसा कि वह सचमुच है।'[2] दूसरे शब्दों में कहा जाये तो तथ्यों से प्राप्त निरपेक्ष सत्य को प्रस्तुत कर देना ही इतिहासकार का काम है। इस दृष्टि से इतिहास मात्र तथ्यों का एक संकलन भर रह जाता है। इस दृष्टि का परिणाम यह हुआ कि इतिहास के अंतर्गत तथ्य तथा इतिहासकार की दो सत्ताओं की अवस्थिति को स्वीकार किया जाने लगा। अर्थात् तथ्य सभी के लिए वस्तुनिष्ठ रूप में ग्राह्य होंगे, जिनसे इतिहासकार स्वयं के निष्कर्ष प्रस्तुत करेगा। ऐसे में इतिहासकार की भूमिका ओझल होती है।

उन्नीसवीं सदी में निर्मित 'तथ्य संप्रदाय' को प्रत्यक्षवादियों का भी समर्थन प्राप्त हुआ। प्रत्यक्षवादी इतिहास को एक 'विज्ञान' के रूप में देखते हैं। उनका कहना हैं कि 'पहले तथ्यों की जाँच करो और फिर उनसे अपने नतीजे निकालो।' इस प्रकार वह तथ्य तथा उनसे प्राप्त व्यक्तिगत निष्कर्ष को अलग–अलग करके देखते हैं। उनकी यह दृष्टि अनुभववादी दार्शनिक विचारधारा से मेल खाती दिखाई पड़ती है। ई. एच. कार लिखते हैं कि

[1] ई. एच. कार, इतिहास क्या है?, अनुवादक : अशोक चक्रधर, प्रकाशन – दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम हिंदी संस्करण 1976, पृ.स. 4

[2] वही, पृ.स. 5

''ज्ञान का अनुभववादी सिद्धांत विषय और वस्तु को पूर्णतया विच्छिन्न मानता है। इंद्रियों के अनुभव की तरह तथ्य अध्ययन करने वाले पर बाहर से प्रभाव डालते हैं और उसकी चेतना से स्वतंत्र होते हैं।''[1]

अनुभववादियों की दृष्टि में 'तथ्य' की परिभाषा इस प्रकार है – 'अनुभव के वे आँकड़े जो निष्कर्ष से भिन्न होते है।' तथ्य और निष्कर्ष के बीच का यह द्वैत इतिहासकार की महत्ता को कम करता है। इसे ई. एच. कार इतिहास का 'सामान्य दृष्टिकोण' कहते हैं। वह लिखते हैं –

''इतिहास में हमें जाँचे परखे तथ्यों का एक संग्रहीत रूप मिलता है। इतिहासकार को ये तथ्य दस्तावेजों, हस्तलेखों आदि से मिलते हैं। ये तथ्य मछुआरे की पटिया पर पड़ी मछलियों की तरह होते हैं। इतिहासकार उन्हें इकट्ठा करता है, घर ले जाता है, पकाता है और अपनी पसंद की शैली में परोस देता है।''[2]

उपर्युक्त विमर्श इतिहास को एक ओर वस्तुगत तथ्य के रूप में प्रस्तुत करने की बात कहता है तो दूसरी ओर इतिहासकार की दृष्टि के अनुरूप निष्कर्ष की ओर भी संकेत करती हैं। देखा जाये तो दो दृष्टियाँ स्पष्ट तौर पर दिखाई देती है। पहली जो तथ्य एवं इतिहासकार के बीच द्वैत स्वीकारती है तथा दूसरी तथ्य एवं इतिहासकार को अलगाती है। दूसरी दृष्टि में तथ्य इतिहासकार की व्याख्या की मांग रखते हैं। उस व्याख्या के आलोक में तथ्य ऐतिहासिक अर्थ प्राप्त करते हैं।

तथ्यों के साथ इतिहासकार के दायित्वों की चर्चा कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों को जन्म देती है। इन दायित्वों में इतिहासकार की दृष्टि महत्वपूर्ण है। उन्नीसवीं सदी के विद्वान इस दृष्टि को इतिहास से अलग विचार का केन्द्र मानते हैं। जबकि तथ्यों के चयन में इतिहासकार की दृष्टि का प्रभाव स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होता है। इतिहासकार तथ्यों का चयन कर उसे एक निश्चित दिशा देने का प्रयास करता है। तब यह प्रश्न खड़ा होना लाजमी है कि व्यक्तिगत दृष्टि के अनुरूप तथ्यों का चयन भी क्या व्यक्तिगत नहीं होता? यहीं से 'ऐतिहासिक तथ्य' का बिन्दु खड़ा होता है। कुछ तथ्य सार्वजनिक होते है। भारत की आजादी 1947 में हुई। यह एक सर्वकालिक, सर्वजनिन तथ्य है। जबकि कुछ तथ्य ऐसे होते हैं जो इतिहासकार की दृष्टि के अनुरूप स्वीकार किये जाते है।

तथ्य एवं इतिहासकार को लेकर बनी दो दृष्टियों पर ई. एच. कार निष्कर्षात्मक विचार प्रस्तुत करते हैं। वह क्लार्क की उस दृष्टि से भी असहमत होते हैं जो तथ्यों के इर्द–गिर्द की विवादास्पद व्याख्या को

[1] ई. एच. कार, इतिहास क्या है?, अनुवादक : अशोक चक्रधर, प्रकाशन – दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम हिंदी संस्करण 1976, पृ.स. 5

[2] वही, पृ.स. 5

अस्वीकार करती है। उनका मानना है कि 'इतिहासकार का दायित्व है कि वह तथ्यों की सही जानकारी रखे। इस रूप में तथ्यों की यथावत् प्रस्तुति इतिहासकार का दायित्व हो जाता है ना कि कोई गुण।' वह हाउसमैन की एक उक्ति भी उद्धृत करते हैं – ''यथातथ्य होना एक दायित्व है, कोई गुण नहीं।''[1] ऐसा कहते हुए वह इतिहासकार की भूमिका को ओर ऊँचा मानते हैं। उनकी दृष्टि में तथ्य इतिहास का कच्चा माल नहीं होता बल्कि इतिहासकार का होता है। अर्थात् यह मूलभूत तथ्य स्वतः स्थापित नहीं होते अपितु इनकी स्थापना इतिहासकार के पूर्वनिर्धारित निर्णयों में होती है। इतिहासकार द्वारा तथ्यों की व्याख्या भी उस बँधन से भी मुक्त है, जिसमें तथ्यों की सर्वांग स्थिति अनिवार्य हो। बल्कि इतिहासकार उन सभी उपस्थित तथ्यों में से चयन करता है तथा उसकी व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस प्रकार 19वीं शती में तथ्यों के प्रति अंधश्रद्धा दूर हुई। तत्कालीन परिवेश को दिखाते हुए ई. एच. कार लिखते हैं –

> ''19वीं शताब्दी में तथ्यों के प्रति पूज्य भाव प्रतिफलित हुआ। तथ्यों के मन्दिर में दस्तावेज मूर्ति के समान स्थापित थे। पूजनीय इतिहासकार सिर झुकाए उनका अभिवादन करते थे और उनके बारे में भयमिश्रित आदरभाव से बात करते थे।''[2]

इस प्रकार के परिवेश में तथ्यों की एक श्रृंखला ही प्रस्तुत की जा सकती थी। जबकि वही आगे चलकर इतिहास की भूमिका पर अलग से चर्चाएँ हुई। इन चर्चाओं में इतिहासकार द्वारा तथ्यों का अध्ययन, उनकी जाँच–पड़ताल करना स्वीकार किया गया। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो उन तथ्यों का उपयोग जो इतिहासकार करता है उसे पड़ताल की प्रक्रिया कहना सही होगा। तथ्य एवं इतिहासकार के संबंध पर कालिंगवुड का दृष्टिकोण भी द्रष्टव्य है –

> ''इतिहास–दर्शन का संबंध न तो 'अपने आप में अतीत से' होता है न ही 'अपने आप में अतीत के बारे में इतिहासकार के विचारों से' बल्कि इसका संबंध 'इन दोनों के पारस्परिक संबंध' से होता है।''[3]

अतः तथ्य इतिहास का अनिवार्य तत्व है, जिसे इतिहास का जामा इतिहासकार पहनाता है। वह तथ्यों का चयन, उसकी जाँच तथा पूर्वानुभवों के आलोक में उनकी व्याख्या करता है। यह सुव्यवस्थित, संगठित व्याख्या ही बिखरे तथ्यों को एकजुट कर खड़ा करता है।

---

[1] ई. एच. कार, इतिहास क्या है?, अनुवादक : अशोक चक्रधर, प्रकाशन – दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम हिंदी संस्करण 1976, पृ. स. 7

[2] वही, पृ.स. 12

[3] ई. एच. कार, इतिहास क्या है?, अनुवादक : अशोक चक्रधर, प्रकाशन – दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम हिंदी संस्करण 1976, पृ. स. 18

''इतिहासकार के मन में अतीत का पुनर्निर्माण उसके अनुभूत प्रमाणों पर आधारित होता है मगर अपने आप में यह एक अनुभवाश्रयी प्रक्रिया नहीं है और केवल तथ्यों के वर्णन तक सीमित नहीं हो सकती। इसके विपरीत पुनर्निर्माण की यह प्रक्रिया तथ्यों के चुनाव और व्याख्या को निर्धारित करती है और सचमुच यही उन्हें ऐतिहासिक तथ्य बनाते हैं।''[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि इतिहासकार की व्याख्या में 'तथ्य' ऐतिहासिकता को प्राप्त करते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो तथ्य इतिहासकार की दृष्टि में प्रकाशित होते हैं।

1.2.3 कार्य–कारण–संबंध

'इतिहास' शब्द विशेषतः विगतकाल के लिए प्रयुक्त होता है। इतिहास का विषय अतीत है। यह अतीत स्थिर न होकर गतिमान है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो विकासशील है। अतः 'इतिहास' अतीत की घटनाओं का विकासात्मक क्रम है, जिसे इतिहासकार कालक्रमिक रूप में तथ्यों के साथ प्रस्तुत करता है, ताकि उसकी वस्तुनिष्ठता की रक्षा हो सके। इतिहास को प्रगतिमूलक रूप में देखने की दृष्टि आधुनिक काल की देन है। खासतौर से डार्विन के 'विकासवाद' का इस प्रगतिमूलक दृष्टि पर गहरा प्रभाव है।

प्रगतिमूलकता के साथ–साथ वस्तुनिष्ठ यथार्थ को अभिव्यक्त करना 'इतिहासकार' का कर्तव्य है। इस वस्तुनिष्ठ विकास को दिखाने के लिए 'कार्य–कारण–संबंध' का प्रश्न इतिहास में महत्वपूर्ण हो जाता है। वस्तुतः 'कार्य–कारण–संबंध' की अवधारणा इतिहास की मूलभूत प्रवृत्ति 'अतीत को जानने की जिज्ञासा' तथा विशुद्ध सत्य तक पहुँचने की इच्छा से संबंधित है। इतिहासकार अतीत की सामान्य घटना से इतर विशिष्ट घटना को केन्द्र में रखता है तथा उसकी व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस व्याख्या में वह घटना के पीछे के कारणों को मूलभूत प्रश्नों के आलोक में देखने का प्रयास करता है।

''वह उन आयामों पर ध्यान केन्द्रित करता है जो किसी घटना से विशेषकर जुड़े हों और एक ऐसा विवरण प्रस्तुत करता है, जो यह दर्शाता है कि कोई घटना उस समय क्यों घटी जब वह घटी।''[2]

घटनाओं के कार्य–कारण–संबंध को लेकर आरम्भिक (अठारहवीं शती) विद्वान इसे क्रमानुक्रम में देखा करते थे। उनकी दृष्टि में कारण पूर्व तथा कार्य उपरांत की स्थिति थी।

---

[1] ई. एच. कार, इतिहास क्या है?, अनुवादक : अशोक चक्रधर, प्रकाशन – दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम हिंदी संस्करण 1976, पृ. स. 18

[2] महाजन, गुरप्रीत, कारण–कार्य–संबंध (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 20

''कारण घटना से पहले घटित कोई घटना होनी चाहिए अर्थात् जिस घटना की व्याख्या की जा रही है उससे पहले हुई कोई घटना की व्याख्या की जा रही है उससे पहले हुई कोई घटना ओर पहले हुई घटना को नियमित रूप से प्रभाव के साथ जोड़कर देखना चाहिए।''[1]

जबकि जॉन एस. मिल का अध्ययन कारण को पूर्वानुक्रम की स्थिति न स्वीकारकर ऐसी परिस्थिति या परिस्थितियों के समूह के रूप में देखता है जो घटना के समय उपस्थित थी।[2] जॉन एस. मिल कारण को दो भागों में विभाजित करते देखते हैं – अनिवार्य तथा पर्याप्त। 'अनिवार्य कारण' जो किसी घटना के होने के पीछे अनिवार्य रूप से उपस्थित थे तथा जिसकी अनुपस्थिति में घटना का होना असंभव है। जबकि 'पर्याप्त कारण' की उपस्थिति अनिवार्यता के विपरीत आधारभूत महत्व रखती है। इन कारणों की अनुपस्थिति में भी घटना सम्भव है। अतः उपर्युक्त विश्लेषण से तीन स्थितियाँ स्पष्ट होती है –

1. अनिवार्यता का संबंध महत्वपूर्ण रूप से पर्याप्तता के संबंध से अलग है।
2. कारण एक ऐसी परिस्थिति है जो अनिवार्य और पर्याप्त दोनों है।
3. स्थिर संयोग कार्य–कारण–संबंध का पर्याप्त सूचक नहीं होता।

कारण एक अनिवार्य और पर्याप्त परिस्थिति है। अतः इसका संबंध हर बार प्रभाव से संबद्ध है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब प्रभाव 'क' होगा तो कारण भी उपस्थित होगा और प्रभाव 'क' न होने पर अनुपस्थित। इस तरह स्थिर संयोग कारण–कार्य–संबंध की स्पष्ट रूप से दिखने वाली विशेषता है। कारण–परिस्थिति प्रभाव की पूर्ववर्ती अवश्य है परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि कोई परिस्थिति जो घटना से पहले देखी जाए वह उसका कारण ही हो।

''स्थायी–संयोग और स्थानिक निकटता किसी भी कारण–कार्य–संबंध की विशेषताएँ जरूर है लेकिन कारण को केवल इसी आधार पर नही पहचाना जा सकता है।''[3]

अतः कारण तथा घटना के क्रमानुक्रम में 'नियमित संबंध' ही स्थायी क्रम को दिखाते हैं।

''नियमित संबंध ही अपने आप में यह दावा करने के लिए पर्याप्त है कि जो परिस्थिति पहले पाई गई वह उसके बाद आने वाली परिस्थिति का कारण है।''[4]

---

[1] महाजन, गुरप्रीत, कारण–कार्य–संबंध (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 21

[2] ''कारण को अब इस प्रकार नहीं देखा जाता बल्कि उसे किसी ऐसी परिस्थिति या परिस्थितियों के समूह के तौर पर देखा जाता है जो उस समय थी जब घटना 'क' घटी और उस समय सदैव अनुपस्थित थी जब 'क' नहीं घटित हुई।'' वही, पृ.सं. 21

[3] वही, पृ.सं. 21

[4] वही, पृ.सं. 22

इतिहासकार का दायित्व तब और महत्वपूर्ण हो जाता है जब यह कहा जाता है कि घटनाओं का सिलसिलेवार संकलन किसी घटना को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं है। स्पष्टीकरण अथवा 'क्यों' प्रश्न के उत्तर के लिए इतिहासकार की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। इतिहासकार विशेष घटना अथवा चयनित घटना के पीछे की परिस्थिति को ढूँढता है तथा उस परिस्थिति द्वारा निर्मित प्रभाव को संकेत करता है, जिसके कारण वह घटना घटित हुई। यदि वह परिस्थिति न होती तो घटना भी नहीं घटती।

प्राकृतिक विज्ञानी अनिवार्य अथवा पर्याप्त परिस्थिति को पता लगाने के लिए नियंत्रित प्रयोग करते हैं। यह प्रयोग वह कुछ इस प्रकार करते हैं –

> ''एक परिस्थिति को नियंत्रित और साधकर जबकि अन्य सभी परिस्थितियाँ वैसी ही रहें, वे उस असर का पता लगाते हैं जो उस परिस्थिति का घटना पर होता है।''[1]

जबकि समाज विज्ञान में उपर्युक्त प्रक्रिया का अनुगमन संभव नहीं है। पहला, किसी घटना का पुनःसर्जन सम्भव नहीं है। अतः उसके प्राकृतिक माहौल में प्रयोग संचालित नहीं किया जा सकता। दूसरा, प्रयोग कृत्रिम परिस्थिति तथा प्रयोगशाला में ही सम्भव है। इसीलिए समाजविज्ञानी 'जॉन स्टुअर्ट मिल' द्वारा प्रतिपादित 'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक प्रणाली' का उपयोग करते हैं। 'अन्वय प्रणाली' में समाज विज्ञानी उन सभी परिस्थितियों की एक सूची बनाता है जो घटना 'क' के घटित होने से पहले उपस्थित थी। यह प्रणाली उस परिस्थिति की पहचान करती है जो 'क' के होने के सभी उदाहरणों में उपस्थित थी। जबकि 'व्यतिरेक प्रणाली' उस परिस्थिति को खोजती है, जिसके सन्दर्भ में अन्य परिस्थितियों और प्रक्रियाओं में अन्तर होता है। अर्थात् वह उस परिस्थिति को ढूँढती है जिसकी उपस्थिति में घटना सम्भव थी और अनुपस्थिति में असम्भव। सामान्यतः समाज विज्ञानी दोनों प्रणालियों का प्रयोग किसी घटना के पीछे के कारणों को जानने के लिए करता है। साथ ही उसे यह भी स्मरण रखना जरूरी है कि

> ''तुलना की गई स्थितियों में अन्य सभी परिस्थितियों को बराबर होना चाहिए। यदि तुलना की गई स्थितियों में काफी अंतर हो तो किसी भी प्रकार की निश्चितता के साथ यह निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है कि कार्य–कारण–संबंध क्या है।''[2]

सारांशतः कहा जा सकता है कि समाजविज्ञान कारण की पहचान ऐसी स्थितियों के अध्ययन से करता है जो पूर्ववर्ती परिस्थितियों के संदर्भ में समान होती हैं परन्तु परिणाम या हो रही प्रक्रिया के संबंध में भिन्न होती हैं।

---

[1] महाजन, गुरप्रीत, कारण–कार्य–संबंध (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 22

[2] वही, पृ.सं. 23

कारण की खोज का एक पक्ष किसी घटना के संदर्भ में किए गए प्रश्न 'क्यों' का उत्तर देता है जबकि इसका दूसरा पक्ष भविष्य में घटित होने वाली सम्भावनाओं के प्रति सजगता को व्याख्यायित करता है।

> ''कारण केवल यह स्पष्ट करने के लिए ही नहीं खोजे जाते कि कोई घटना क्यों घटी बल्कि उन परिस्थितियों का अनुमान लगाने के लिए भी खोजे जाते हैं जिनमें सदृश्य घटनाओं के होने की हम उम्मीद कर सके और जो यह सुनिश्चित करने के लिए नियंत्रित या बनाई जा सकें या बदली जा सकें कि उक्त घटना न घटे।''[1]

भविष्यवाणी, पूर्वानुक्रम की नियमितता और पुनरावृत्ति को मानता है। इतिहासकार की दृष्टि इस पुनरावृत्ति को कुछ भिन्न रूप से देखती है। दरअसल इतिहासकार पूर्व में निर्मित परिस्थितियों को उदाहरण के रूप में दृष्टिगत रखता है तथा भविष्य में होने वाली समान परिस्थितियों को पहचान कर होने वाली घटनाओं का अनुमान लगाता है। परिस्थितियों की पुनरावृत्ति से अभिप्राय उन निश्चित घटनाओं से नहीं है जो पूर्व नियत है। जैसे – सूर्य का उदय–अस्त होना। इतिहास का विषय अद्वितीय विशिष्ट घटनाएँ होती हैं।

> ''हम तब भी उचित परिशुद्धता से मालूम कर सकते हैं कि घटना 'घ' के घटने का क्या कारण था, जब घटना 'घ' एक ही बार घटी हो या अद्वितीय विशिष्ट हो। किसी ऐसी पूर्वकल्पना की अनुपस्थिति में कि सामाजिक यथार्थ अपरिवर्तित रहेगा और मौजूदा संरचनाएँ बार–बार बनेंगी, हम यह दावा नहीं कर सकते कि जब भी 'क' घटेगा 'घ' भी उसके बाद घटित होगा।''[2]

अतः इतिहासकार भविष्यवाणी नहीं करता अपितु भविष्य में निर्मित परिस्थितियों का अनुमान करता है। विज्ञान में अनुमान और भविष्यवाणी एक ही सिक्के के दो पहलू होते हैं। जबकि इतिहास इस संबंध पर प्रश्नचिंह्न लगाता है। इतिहास दृष्टि के अनुसार

> ''सम्पूर्ण व्याख्या भी किसी सफल अनुमान को जन्म नहीं देती और इसके विपरीत कोई सफल अनुमान दी गई व्याख्या के सत्य और सटीक होने का सूचक नहीं होता।''[3]

विज्ञान की एक निश्चित निष्कर्ष की प्राप्ति इतिहास में संभव नहीं होती। व्याख्या और अनुमान को अलग दिखाकर इतिहासकार प्रत्यक्षवादियों के 'सामान्य नियम प्रतिदर्श' को चुनौती देते हैं। वह (प्रत्यक्षवादी) कारण को अनिवार्य और पर्याप्त परिस्थिति के रूप में न देखकर ऐसी परिस्थिति के रूप में देखते हैं जो दी हुई स्थितियों में अनिवार्य हो। इसका परिणाम यह हुआ कि ऐतिहासिक घटनाओं को नियत मान लिया जाने लगा

---

[1] महाजन, गुरप्रीत, कारण–कार्य–संबंध (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 24
[2] वही, पृ.सं. 24
[3] वही, पृ.सं. 25

तथा इसी दृष्टि को जोर देकर प्रेषित भी किया गया। जबकि ऐतिहासिक परिस्थिति एक से अधिक कारणात्मक स्थितियों के संदर्भ में व्याख्यायित होती है।

> ''कहने का तात्पर्य यह कि वह एक से अधिक कारणात्मक परिस्थितियों की उपस्थितियों से जानी जाती हैं। क्योंकि इनमें से हरेक परिस्थिति अकेले ही वही परिणाम प्राप्त कर सकती थी, विश्लेषक किसी एक परिस्थिति को पूर्णता के साथ आवश्यक नहीं बतला सकते। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह परिस्थिति दी गई स्थितियों में आवश्यक थी।''[1]

अतः दो कारणात्मक स्थिति जो समान परिणाम देती है। इतिहासकार उन दो स्थितियों में से उस स्थिति को बताता है जिसने किसी विशिष्ट अद्वितीय घटना पर पहले असर डाला।[2]

इतिहास सामान्यतः घटना के भीतर से प्राप्त प्रमाणों का प्रयोग करता है। इतिहासकार पूर्व में घटित समान घटना की सापेक्षता में विश्लेषण की जा रही घटना को रखता हैं और उन स्थितियों की तुलना करता है। वह विभिन्न कर्ताओं के कार्यों और विचारों का इस्तेमाल परिस्थितियों के सापेक्ष महत्व का मूल्यांकन करने के लिए करता है। इस क्रम में इतिहासकार वस्तुगत तथ्यों तथा मनोगत तर्कों का ताना–बाना बुनता है। जिससे वह उस विशेष परिस्थिति को जानने का प्रयास करता है जिसका प्रभाव सबसे अधिक पड़ा। अतः वह घटना को उस क्रम में रखता है जैसी वह घटित हुई।

> ''इतिहासकार जो हुआ और जैसे हुआ उसका विश्लेषण करके 'क्यों हुआ' का उत्तर खोजने का प्रयास करते हैं।... इतिहासकार को चाहिए कि वह उन बाह्य भौतिक संरचनाओं के मेल की पहचान करे जिनके भीतर किसी विशेष गतिविधि का जन्म होता है, वह घटित होती है और जिनके भीतर ही विशेष नतीजे भी निकलते हैं।''[3]

इतिहास केवल घटनाओं को एक धागे में पिरोने का काम नहीं करता ताकि एक अर्थ निकल सके। अपितु वह उससे आगे जाकर उस स्थिति का पता लगाता है जिसका प्रभाव सबसे अधिक रहा। दूसरे शब्दों में वह आवश्यक क्षणों की पहचान करता है। यह क्षण एक परिस्थिति भी हो सकती है और कई परिस्थितियों का समूह भी। जब इतिहासकार परिस्थितियों के समूह को चयनित करता है तो वह कारण को 'अ आ अ प' परिस्थिति के तौर पर प्रभावित करता है।

---

[1] महाजन, गुरप्रीत, कारण–कार्य–संबंध (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 25

[2] ''ऐसी स्थितियों में, जो दो या दो से ज्यादा परिस्थितियों की उपस्थिति, जो एक से ही परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं, उनमें हम आवश्यक क्षण की पहचान नहीं कर सकते। जो कुछ हम कर सकते है वह यह बताना है कि किस परिस्थिति ने पहले असर किया।'' वही, पृ.सं. 25

[3] वही, पृ.सं. 26

''अर्थात् उस कारण को ऐसी परिस्थिति माना जाता है जो 'अपर्याप्त' (अ) है लेकिन 'आवश्यक' (आ) क्षण है, उन परिस्थितियों की श्रृंखला में जो 'अनावश्यक' (अ) तो है लेकिन घटना को जन्म देने के लिए 'पर्याप्त' (प) है।''[1]

कहा जाये तो इतिहासकार कारण–कार्य को पुनःपरिभाषित करता है। वह कारण को आवश्यक और पर्याप्त के स्थान पर 'अआअप' परिस्थिति या ऐसी परिस्थिति मानता है जो उस समय में आवश्यक हो। कारण को इस रूप में देखने का कारण यह है जिन घटनाओं से उसका संबंध होता है वह अद्वितीय घटनाएँ होती हैं तथा वह उन संयोगों से उत्पन्न जान पड़ती है जो उस संदर्भ के लिए विशिष्ट हो। यह संदर्भ भी घटना की सापेक्षमूलक परिस्थिति की उपस्थिति से निर्मित होते हैं। परन्तु इतिहास को विज्ञान के समान एक निश्चित प्रक्रिया का अनुगमन करते हुए निश्चित निष्कर्ष के रूप में नहीं देखा जा सकता। न ही इतिहासकार उस भावी परिस्थितियों में निश्चित घटनाओं के घटने की भविष्यवाणी करता है। अतः कारण का संबंध कुछ इस प्रकार बनता है –

''भले ही कारण की परिस्थिति उस हालत में या अन्य परिस्थितियों से मिलकर आवश्यक ही मानी जाती है फिर भी वह यह तो स्पष्ट करती है कि क्या घटित हुआ और वह क्यों घटित हुआ। लेकिन वह हमें यह अनुमान लगाने में मदद नहीं करती कि वैसी ही परिस्थितियों में कुछ अंश तक क्या घटित हो सकता है, लेकिन वह उस घटना को समझाने में हमारी मदद करती है जो घटित हो चुकी हो।''[2]

विज्ञान सामान्यतः निश्चित नियमों के संधान द्वारा एक निश्चित लक्ष्य को संकेत करता है। जबकि इतिहास किसी नियम का संधान नहीं करता ताकि भविष्यवाणी कर सके। यह अवश्य हो सकता है कि कार्य–कारण संबंधों में कुछ नियम निहित हों। इतिहासकार का कार्य इन नियमों को खोज निकालना नहीं है और न ही ऐतिहासिक विवरण किन्हीं सामान्य नियमों को खोज करने का लक्ष्य रखते हैं। अतः कार्य–कारण संबंध को भविष्यवाणियों से भिन्न समझना चाहिए।

इतिहासकार घटनाओं का अध्ययन करते हुए सामान्यतः कर्ताओं के इरादों और प्रेरणाओं को केन्द्र में रखता है। क्योंकि 'जिन कारणों को वह स्वीकार करते हैं वह कई बार वह होते हैं जो कर्ता स्वयं घोषित करते हैं या फिर वह होते हैं जो या तो उन उद्देश्यों से निकाले जा सकते हैं जो कर्ता घोषित करते हैं या जो उद्देश्य कर्ताओं के साथ तर्कसंगत तरीकें से जोड़े जा सकते हैं।'[3] इस दृष्टि से घटनाओं को बाहरी विश्व

[1] महाजन, गुरप्रीत, कारण–कार्य–संबंध (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 26
[2] वही, पृ.सं. 27
[3] वही, पृ.सं. 28

में घटित घटना के रूप में नहीं देखा जाता। बल्कि उन्हें किन्हीं विशेष कर्ताओं की कार्यवाहियों के रूप में देखता है, जिन्हें उनके उद्देश्यों, प्रेरणाओं और तर्कों को स्पष्ट करते हुए समझाया जा सकता है। यह तर्क अक्सर कारण व्याख्याओं के रूप में देखे जाते हैं। अतः यह स्मरण रखना आवश्यक है कि 'तर्क सही प्रकार के कारण नहीं होते।' विद्वानों के अनुसार

> ''कार्य–कारण स्पष्टीकरण में कारण वह बाह्य स्थितियाँ होती हैं जो भौतिक जगत में काम करती हैं और कारण का प्रभाव के साथ सतत् संबंध होता है। इसकी तुलना में तर्क आंतरिक रूप से जुड़े होते हैं तथा तर्कों और कार्यों का संबंध तार्किक होता है।''[1]

कार्य–कारण विश्लेषण की प्रकृति उद्देश्यपरक होती है। जिस इच्छित अंतिम अवस्था तक कार्य द्वारा पहुँचा गया है, वही उद्देश्य या कारण भी होता है। इसलिए यह तार्किक रूप से कार्यवाही के पहले होता है। दूसरी ओर कार्य–कारण संबंध में प्रभाव कारण के बाद आता है अर्थात् वह कारण–परिस्थिति के बाद आता है और कुछ संबद्ध परिस्थितियों की वजह से उसका अनुकरण करता है। अतः इतिहासकार विश्लेषण देते हुए परिस्थितियों के समूह की पहचान करता है जो संयुक्त रूप से वांछित प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इस सामूहिकता में वह उस परिस्थिति की पहचान करता है जिसने निर्णायक प्रभाव डाला।

1.2.4 वस्तुपरकता और व्याख्या

वस्तुपरकता पाश्चात्य इतिहास–लेखन परंपरा का आधारभूत सिद्धांत है। पीटर नोविक लिखते है – ''यह वह चट्टान थी जिस पर इतिहास लेखन का साहसिक कार्य संस्थापित किया गया।''[2] इतिहास को लिखते हुए इतिहासकार को विश्वास होता है कि वह अतीत का वस्तुनिष्ठ चित्र प्रस्तुत कर रहा है। यह दृष्टि आरम्भ से ही इतिहासकारों को वस्तुनिष्ठता को बनाये रखने के लिए प्रेरित करती थी। हेरोडोटस तथा उससे पूर्व 'लोगोग्राफी' में गतिमान इतिहास–परंपरा के मूल में तथ्यों को प्रस्तुत करना महत्वपूर्ण माना जाता था। तथ्य प्रस्तुत करने की यह प्रवृत्ति वस्तुनिष्ठता के आधारभूत चिंतन के अंतर प्रवाह में विकास करती है। लोगोग्राफी के अंतर्गत तथ्यों को व्याख्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता था। सामान्यतः लोगोग्राफी रचनाकार वकालत से जुड़े थे, जिनका कार्य तथ्यों को तर्क द्वारा क्रमबद्ध कर उसकी व्याख्यात्मक प्रस्तुति करना था। वकालत प्रमुख होने के कारण रचना और रचनाकार के बीच की सीमा ओझल थी। अतः इतिहास–लेखन के विकास में हेरोडोटस से युग–परिवर्तन होता है। हेरोडोटस के साथ ही लेखक और विषय के विभाजन, ज्ञाता एवं ज्ञात के बीच भेद और अतीत को एक अर्थ में पुनर्जीवित किये जाने की संभावनाओं को स्वीकार किया

[1] महाजन, गुरप्रीत, कारण–कार्य–संबंध (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 28
[2] उपाध्याय, शशिभूषण, वस्तुपरकता और व्याख्या (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 31

जाता है। तथ्यों की प्रस्तुति तथा इतिहासकार की भूमिका पर विचार होते ही वस्तुनिष्ठता का प्रश्न गरिमामय गम्भीरता के साथ चिंतन का विषय बनता है। इतिहासकार तथा विषय–वस्तु के बीच इस तटस्थता को इतिहास के वस्तुनिष्ठ नियम के रूप में देखा जाना वैज्ञानिक इतिहास–लेखन के साथ आरम्भ होता है। इस ओर इतिहासकारों की सजग दृष्टि आरम्भ से ही दिखाई देती है, जहाँ वह स्वयं के इतिहास को अन्य इतिहासकारों से अधिक यथार्थ तथा अधिक वस्तुनिष्ठ स्वीकार करता है। आधुनिक युग वस्तुपरकता को सिद्धांत के रूप में विकसित करता है। अतः इतिहास–लेखन में वस्तुनिष्ठता के सिद्धांत के आधारभूत चिंतन, वाद–विवाद का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

वस्तुपरकता क्या है? इतिहास के स्वरूप को समझने तथा लेखन में इसकी भूमिका को समझने के लिए उपर्युक्त प्रश्न को समझना जरूरी हो जाता है। वस्तुपरकता सिद्धांत के आलोचक पीटर नोविक अपनी पुस्तक 'दैट नोबल ड्रीम : द ऑबजेक्टविटी क्वेश्चन एंड द अमेरिकन हिस्टोरिकल प्रोफेशन' के अंतर्गत 'वस्तुपरकता' को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

> ''वस्तुपरकता के आदर्श के मुख्य तत्वों को सब अच्छी तरह से जानते हैं ओर इन्हें संक्षेप में दोहराया जा सकता है। जिन पूर्वधारणाओं पर यह टिकी हुई है उनमें अतीत के यथार्थ से प्रतिबद्धता उस यथार्थ के सादृश्य सत्यता, ज्ञाता और ज्ञात तथा तथ्य और मूल्य के बीच और सबसे पहले इतिहास और कथा साहित्य के बीच एक सुस्पष्ट विभाजन शामिल है।''[1]

पीटर नोविक वस्तुपरकता को उन धारणाओं से जोड़कर देखते हैं जो इतिहास के वस्तुनिष्ठ सिद्धांत के मूल में गतिमान है तथा पूर्व से ही विद्यमान रहे हैं। अतीत के यथार्थ से प्रतिबद्धता, यथार्थ के सादृश्य सत्यता का प्रेषण, ज्ञाता और ज्ञात के मध्य विभाजन, तथ्य और मूल्य के बीच विभाजन तथा इतिहास और कथा साहित्य के बीच सुस्पष्ट विभाजन – इन धारणाओं के संदर्भ में वस्तुनिष्ठता को इतिहास–लेखन में समझा जा सकता है। इतिहास का मूल ध्येय बीते हुए सत्य को पुनः पूर्णरूपेण प्रेषित करना माना गया है। वह सत्य कितना पूर्ण है अथवा कितना नहीं – यह अलग प्रश्न है। परन्तु इतिहासकार का दायित्व तथा उसकी व्याख्या पूर्ण सत्य की सापेक्षता में महत्वपूर्ण हो जाती है। व्याख्या को ऐतिहासिक तथ्यों से अलग रखते हुए उनके बीच के संबंध पर पीटर नोविक लिखते हैं –

> ''ऐतिहासिक तथ्यों को व्याख्या से पहले से मौजूद और स्वतंत्र माना गया है; किसी व्याख्या का मूल्य इस आधार पर आँका जाता है कि उसमें तथ्यों को कितनी अच्छी तरह से रखा गया है। यदि वह

[1] उपाध्याय, शशिभूषण, वस्तुपरकता और व्याख्या (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 32

तथ्यों के प्रतिकूल है तो उसे छोड़ दिया जाना चाहिए। यथार्थ एक ही होता है वह किसी परिप्रेक्ष्य में नहीं होता। इतिहास में जो भी उदाहरण हैं वे ढूँढे गये हैं, बनाए नहीं गए हैं।''[1]

अतः इतिहासकार की व्याख्या और निष्कर्ष उसे एक तटस्थ न्यायाधीश की भूमिका में लाकर खड़ा कर देती है। जहाँ उसका दायित्व पूर्व धारणात्मक निष्कर्षों से बचते हुए तथ्य केन्द्रित व्याख्या द्वारा निष्कर्ष तक पहुँचना होता है।

वस्तुनिष्ठता तथा तटस्थता के संबंध को सामान्यतः स्वीकारा जाता है। जबकि इतिहासकार थॉमस हास्केल वस्तुपरकता और तटस्थता को एक–दूसरे का पर्याय नहीं समझते। वह लिखते हैं –

''वस्तुपरकता और तटस्थता दो विभिन्न बातें हैं। हालाँकि उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकतर इतिहास लेखन में इन्हें एक–दूसरे के समान माना गया था। फिलहाल इतिहास के क्षेत्र से जुड़े प्रभावी लोगों के बीच से यह शब्द बहुत पहले ही खो चुका है भले ही कभी इसका भावतिरेकता, उदासीनता और तटस्थता से कैसा भी संबंध रहा होगा।''[2]

अपनी बात को पुष्ट करते हुए वह इतिहासकार यूजीन जीनोवीज का उदाहरण देते हैं, जिन्होंने गुलामी पर लिखा और जिनका इतिहास लेखन तटस्थ नहीं, पर वस्तुपरक था। वह इतिहास में वस्तुपरकता पर अपना अलग चिंतन प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार –

''वस्तुपरकता की मेरी अवधारणा..... दृढ़ राजनीतिक प्रतिबद्धता के अनुरूप है। बीच राह में पड़े रहने से इसे कोई लाभ नहीं पहुँचता और यह इस बात की पहचान कराती है कि विद्वान लोग उतने ही भावप्रवण हैं और किसी स्वार्थ से उतना ही प्रभावित होने की उनमें संभावना होती है जितनी कि उनमें जिनके बारे में वे लिखते हैं।''[3]

इस रूप में वस्तुपरकता के संदर्भ में दो दृष्टियाँ दिखाई देती है। यह दृष्टिगत विवाद भले ही वस्तुपरकता तथा तटस्थता के आपसी संबंध पर प्रश्नचिह्न लगाता हो। पर कहीं–न–कहीं आंशिक रूप में ही सही यह संबंध आरम्भ से वर्तमान रहा है। इतिहास में वस्तुपरकता की आधारभूत स्थिति, पूर्ण सत्य की प्राप्ति का ध्येय, सत्य को निर्मित करने से इतर ढूँढ़े जाने की चाह, तथ्य आधारित प्रमाणिकता तथा न्यूनतम स्तर की तटस्थता – वस्तुनिष्ठता की सभी परिभाषाओं में समान रूप से दिखाई देती है।

[1] उपाध्याय, शशिभूषण, वस्तुपरकता और व्याख्या (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 32
[2] वही, पृ.सं. 32
[3] वही, पृ.सं. 33

वस्तुनिष्ठतावादी परंपरा का अतीत की यथार्थता तथा यथार्थ के प्रतिरूपित चित्रण में पूर्ण विश्वास था। उनके अनुसार लोगों के व्यवहार और इरादों में अनुरूपता होती है तथा इसी अनुरूपता द्वारा अतीत के लोगों के मनोगत संसार को समझा जा सकता है। आधुनिक विज्ञान के विकास के साथ इस धारणा में नया आयाम जुड़ गया। विज्ञान में प्रयुक्त पद्धतियों को मानव ज्ञान के अध्ययन में भी प्रयोग किये जाने की संभावनाओं को स्वीकारा जाने लगा। प्रत्यक्षवादियों ने इस दावे को दृढ़ता से रखा। उन्नीसवीं शताब्दी में यह धारणा आम हो चली। अगस्त कोंत का मानना था कि

> ''प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयुक्त आगमनात्मक प्रणाली को सामान्यतः इतिहास और मानविकी में भी प्रयोग में लाये जाने की आवश्यकता है।... सभी समाज कुछ सामान्य नियमों द्वारा संचालित होते हैं जिन्हें खोजना आवश्यक है।''[1]

अगस्त कोंत सम्पूर्ण समाज के ऐतिहासिक विकास को तीन अवस्थाओं में विकसित मानते है। यह अवस्थाएँ ईश्वरपरक या कल्पित अवस्था, पराभौतिक या अमूर्त अवस्था तथा सकारात्मक अवस्था है। ईश्वरपरक या कल्पित अवस्था में मानव मन अपने शैशव काल में था, जो प्राकृतिक घटनाओं को किसी दैवीय अथवा अलौकिक घटना का परिणाम मानता था। पराभौतिक अवस्था में मानव मन किशोरावस्था से गुजरता है। इस अवस्था में वह प्रकृति की प्रक्रियाएँ रहस्यवादी शक्तियों द्वारा पैदा मानता है। तीसरी अर्थात् सकारात्मक अवस्था में मानव मन अपनी पूर्णावस्था और मानव ज्ञान का पूर्ण साक्षी होता है। इस अवस्था में वह प्रकृति के मूल में गतिमान नियमों की खोज करता है। इसमें अवलोकन, तर्क और प्रयोग साधन के रूप में काम करते हैं। यह विज्ञान युग था, जहाँ मानव मन अपनी अंतिम अवस्था पर होता है। कोंत की दृष्टि सार्वभौमिक नियमों के प्रतिपादन की थी। अतः उनके अनुयायियों ने जिन्हें प्रत्यक्षवादी भी कहा जाता है, मानव ज्ञान की सभी शाखाओं के लिए सार्वभौमिक नियमों के अस्तित्व पर बार–बार जोर दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी में प्रत्यक्षवादियों से अलग एक अन्य परंपरा वस्तुपरक इतिहास का आधार प्रस्तुत करती है। यह परंपरा जर्मनी में नाइबर और रानके ने आरम्भ की। नाइबर ने विवेचनात्मक पद्धति का प्रयोग इतिहास–लेखन में किया तो रानके ने इसे वास्तविक वस्तुपरक इतिहास का आधार बनाया। इसी के साथ रानके ने साहित्य और दर्शन से इतिहास को अलग रखा, जिससे इतिहास में कल्पना तथा पराभौतिक स्थितियों से निजात सम्भव हुआ। रानके के अनुसार

[1] उपाध्याय, शशिभूषण, वस्तुपरकता और व्याख्या (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 33

''इतिहासकार का काम अतीत की जाँच–पड़ताल उसी की शर्तों पर करना था और पाठकों को यह भी बताना था कि 'तत्वतः अतीत कैसा था।''[1]

इसमें वह इतिहासकार की भूमिका को महत्वपूर्ण मानते है। वह मानते थे कि इतिहासकार स्रोतों की पड़ताल कर उनमें आंतरिक सामंजस्य ढूँढ़े। जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि वह सही है या बाद में कुछ जोड़ा गया है। इस प्रकार वह स्रोतों पर विश्वास करने से पूर्व उसकी समालोचनात्मक दृष्टि से पड़ताल करने को इतिहासकार के कर्तव्य से जोड़ते है। समालोचनात्मक दृष्टि से प्रमाणित हो चुके दस्तावेजों को वह प्राथमिक स्रोत की श्रेणी में रखते है। वह प्रकाशित दस्तावेजों से इतर अभिलेखागार के दस्तावेजों को अधिक विश्वसनीय मानते है। उनके अनुसार प्रकाशित दस्तावेज में पूर्वाग्रह और पक्षपात की संभावना अधिक होती है। अतः एक बात पर जोर दिया गया कि 'तथ्य दस्तावेजों में ही थे जिन्हें इतिहासकारों को ढूँढ निकालने की आवयश्कता थी।'[2] इसी के साथ परम इतिहास लिखे जाने की संभावनाओं को भी स्वीकार किया गया। तथ्य अपने आप में पूर्ण है तथा पूर्ण तथ्यों का ज्ञान परम इतिहास का आधार है – यह दृष्टि उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में प्रचारित हुई। लॉर्ड एक्टन लिखते हैं –

''इस पीढ़ी में तो हम परम इतिहास नहीं पा सकते लेकिन परंपरागत इतिहास का निपटारा कर हम वह जगह दिखा सकते हैं जिस पर हम पहुँच गए हैं और अब सभी सूचनाएँ हमारी पहुँच के दायरे में हैं और हर समस्या सुलझाने लायक हो गई हैं।''[3]

परम इतिहास लिखे जाने की यह दृष्टि विज्ञान के स्तर पर इतिहास को स्थापित करने से भी प्रेरित थी। इसीलिए जे.बी.बरी इतिहास को विज्ञान के रूप में स्वीकारते हुए लिखते हैं –

''हालाँकि इतिहास साहित्य, कला या दार्शनिक अनुमानों के लिए सामग्री उपलब्ध करा सकता है, लेकिन वह स्वयं केवल एक विज्ञान है न उससे कम, न ज्यादा।''[4]

जॉर्ज क्लार्क परम इतिहास लिखे जाने की संभावना पर अविश्वास करते हैं। लेकिन वह 'तथ्यों के पुख्तापन' और 'विवादग्रस्त व्याख्याओं से घिरे आवरण' के बीच अंतर को स्पष्ट करते हैं। अतः वह युग दस्तावेजों को प्रमुखता देते हुए विवेचनपरक व्याख्या की भूमिका को कमतर स्वीकारता है। प्रमाणिक दस्तावेजों की उपलब्धता होने से इतिहासकार की भूमिका कमतर हो जाती है।

---

[1] उपाध्याय, शशिभूषण, वस्तुपरकता और व्याख्या (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 34
[2] वही, पृ.सं. 34
[3] वही, पृ.सं. 34
[4] वही, पृ.सं. 35

उन्नीसवीं शताब्दी तथा बीसवीं शताब्दी में इतिहास की धाराएँ नई दिशाओं में अग्रसर होती है। पुरातत्व तथा अन्य क्षेत्रों में नई तकनीकों का प्रयोग बढ़ता है, जिससे प्राचीन समाज के संदर्भ में नवीन सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। वहीं इतिहास–लेखन के केन्द्र में राजनीतिक प्रवृत्ति थोड़ी धूमिल होती है। सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक इतिहास लिखे जाने आरम्भ होते हैं। इतिहासकार पुराने दस्तावेजों को नए परिप्रेक्ष्य तथा विभिन्न उद्देश्य से देखना आरम्भ करते हैं। इस युग के इतिहासकारों ने रानके तथा उनके समकालीन इतिहासकारों की आलोचना की। उनकी दृष्टि में रानकेवादी इतिहासकारों के लेखन, जो पूर्ण वस्तुपरकता में विश्वास रखते थे और प्राथमिक स्रोतों के इस्तेमाल की वकालत करते थे, आलंकारिक तत्वों से भरे पड़े और मुद्रित गौण स्रोतों पर आधारित थे। बीसवीं शताब्दी में राजनीतिक तथा संभ्रात वर्ग की अपेक्षा सामान्य लोगों पर ध्यान केंद्रित होता है। इस प्रवृत्ति का विकास मार्क्सवादी विचारधारा तथा इतिहास–लेखन के अनाल स्कूल में होता है। हालाँकि यह रानकेवादी परंपरा की इतिहास को वस्तुपरक और वैज्ञानिक दृष्टि से लिखे जाने को स्वीकार करते हैं। देखा जाये तो 1820 के दशक में रानके से लेकर 1970 के दशक में रॉबर्ट फोगेल तक वस्तुपरकता के प्रस्तावकों ने इतिहास के वैज्ञानिक दर्जे में विश्वास किया है।

बीसवीं शताब्दी के अंत तक इतिहास को वस्तुपरक तथा वैज्ञानिक मानने की कई विद्वानों ने आलोचना की। मानव विज्ञानी क्लॉद लेवी स्ट्रॉस ने इस बात को नकारा कि तार्किकता तथा विज्ञान पर आधारित आधुनिक सभ्यता पूर्व–आधुनिक असभ्य समाजों से श्रेष्ठ थी। साथ ही यह भी स्वीकार किया जाने लगा कि 'इतिहास' विज्ञान से इतर साहित्य के अधिक सन्निकट है। वहीं सास्यूर ने नए भाषायी सिद्धांतों के आधार पर माना कि –

> ''भाषा की भूमिका यथार्थ को प्रकट के लिए नहीं बल्कि उसका निर्माण करने में है। इस प्रकार भाषा के माध्यम से जो संसार हम तक पहुँचाया गया वह वास्तविक संसार नहीं था। इसी तरह इतिहासकारों द्वारा दिया गया अतीत का विवरण वास्तविक यथार्थ से संबद्ध न होकर उस संसार से संबद्ध है जिसका कल्पना इतिहासकारों ने की।''[1]

लुइस मिंक ने भी इतिहास को बहुत कुछ एक कहानी जैसा स्वीकारा है।[2] ऐतिहासिक वस्तुपरकता की धारणा पर की गई आलोचनाओं को तीन धाराओं में विभाजित किया जाता है – प्रमाण और व्यक्तिगत पूर्वग्रह की सीमा, सांस्कृतिक सापेक्षतावाद और उत्तर आधुनिक तथा भाषाई मोड़। पहली धारा 'प्रमाण और व्यक्तिगत पूर्वग्रह की सीमा' के प्रमुख आलोचकों में कांट, विलहाइम डिल्थे, बेनेदेत्तो क्रोचे तथा ओकशॉट प्रमुख हैं।

---

[1] उपाध्याय, शशिभूषण, वस्तुपरकता और व्याख्या (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 36

[2] ''जीवन का कोई आरंभ, मध्य या अंत नहीं होता। ऐसे क्रम केवल कहानियों में और इतिहास में भी होते हैं। और इसलिए इतिहास बहुत कुछ एक कहानी जैसा होता है।'' वही, पृ.सं. 36

कांट वास्तविक संसार तथा उसे सार्थक ठहराने वाले के बीच एक विभाजन को स्वीकारते हैं। यह दृष्टि एक विचार को रखती है कि 'वास्तविकता का पुनर्निमाण संभव नहीं था और सत्यता का संवाद सिद्धांत तर्कसंगत नहीं था।' यही दृष्टिकोण इतिहास को विज्ञान रूप में देखने वाली धारणा को चुनौती देताा है। वहीं जर्मन दार्शनिक विलहाइम डिल्थे (1833 ई.–1911ई.) वैज्ञानिक ज्ञान और सांस्कृतिक ज्ञान के बीच एक सीमा तय करते हैं। उनके अनुसार

> ''जहाँ वैज्ञानिक प्रकृति में यथार्थता को पूर्व रूप में देखता है वहीं इतिहासकार यथार्थ की निर्माण प्रक्रिया में लगा रहता है। इसलिए इतिहास लेखन में वस्तुपरकता लाना असंभव है।''[1]

इस तरह वह विज्ञान तथा इतिहास के बीच भेद स्पष्ट करते हैं, जिसका अनुसरण बेनेदेत्तो क्रोचे (1886 ई. –1952 ई.) करते हैं। वह मानते हैं कि

> ''अतीत केवल इतिहासकार के मानस के माध्यम से ही अस्तित्व में रहता है।... इसीलिए सारा इतिहास समकालीन इतिहास है।''[2]

इतिहासकार वर्तमान संदर्भों से प्रत्यक्षतः जुड़ा होता है। अतः उसके वर्तमान का प्रभाव अतीत चिंतन पर भी पड़ता है। सरल शब्दों में कहा जाये तो इतिहासकार अतीत को वर्तमान संदर्भों में देखता तथा विश्लेषित करता है। इसीलिए परम इतिहास की धारणा गलत है। आर. जी. कॉलिंगवुड 'द आइडिया ऑफ हिस्ट्री' में इस धारा का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं। ऐतिहासिक सापेक्षतावाद पर विचार करते हुए वह अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार

> ''अतीत केवल अतीत के रूप में पूरी तरह से अज्ञेय है।..... इतिहास में चिंतन का अर्थ और कुछ नहीं बल्कि सभी उपलब्ध प्रमाणों की अधिकतम विवेचनात्मक दक्षता के साथ व्याख्या करना है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जो वास्तव में घटा उसे खोजा जाए।..... क्योंकि अतीत अपने आप में कुछ नहीं है, इसलिए अतीत का अपने आप में ज्ञान इतिहासकार का लक्ष्य नहीं है और न हो सकता है। एक चिंतक की तरह उसका लक्ष्य वर्तमान का ज्ञान है जहाँ सभी बातों को लौट कर आना है और उन्हीं के इर्द–गिर्द विचार करना है।''[3]

इसीलिए इतिहास को पूर्ण वस्तुनिष्ठ अर्थात् अतीत का पुनः पूर्ण निर्माण सम्भव नहीं है, जिस ओर रानकेवादी जोर दे रहे थे। प्रस्तुत धारा इतिहास के साथ–साथ इतिहासकार की भूमिका को महत्वपूर्ण मानती है, जिस

---

[1] उपाध्याय, शशिभूषण, वस्तुपरकता और व्याख्या (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 37
[2] वही, पृ.सं. 37
[3] वही, पृ.सं. 37

आधार पर वह इतिहास को अतीत के संदर्भ में इतिहासकार का विचार मानती है। ई. एच. कार भी इस दृष्टि का समर्थन करते हैं। वह इतिहास को समसामयिक विषयों से प्रेरित मानते हैं और अतीत को वर्तमान की आँखों से देखते हैं। वह लिखते हैं –

> ''कोई भी दस्तावेज हमें उससे अधिक नहीं बताते जितना कि उस दस्तावेज के लेखक ने सोचा था – उसने जो सोचा था वह घटित हुआ, उसने जो सोचा वह घटित होकर ही रहेगा या शायद उसने केवल वही सोचा जो वह चाहता था कि दूसरे भी सोचें या उसने जो स्वयं सोचा केवल उसी ने सोचा।''[1]

इस प्रकार इतिहास–लेखन करते हुए दो पक्ष सामने आते हैं पहला, इतिहास का पक्ष तथा दूसरा, इतिहासकार का पक्ष। दोनों ही इतिहास–लेखन में महत्वूपर्ण भूमिका अदा करते हैं तथा दोनों ही अपने संदर्भ से जटिल रूप से जुड़े होते हैं। वस्तुनिष्ठ इतिहास के द्वारा जिस परम इतिहास की बात कही गयी उस संदर्भ में यही कहा जा सकता है कि इतिहासकार अतीत के अधिक–से–अधिक निकट पहुँचने का प्रयास तथ्यों के माध्यम से करता है। इसी रूप में इतिहास को वस्तुनिष्ठ कहा जा सकता है। अतीत के यथार्थ का पूर्ण चित्रण सम्भव है – ऐसा नहीं कहा जा सकता।

वस्तुपरकता के आलोचकों की दूसरी धारा 'सांस्कृतिक सापेक्षवाद' है। यह धारा सांस्कृतिक मानव–विज्ञानी क्लिफोर्ड गीर्त्ज से प्रेरित है। इतिहास–चिंतकों द्वारा किया गया यह दावा कि इतिहासकारों का अतीत–वर्णन उनका अपना है – इस धारा को पुष्ट करता है। वह मानते हैं कि इतिहासकार अपने युग के सांस्कृतिक तथा सामाजिक पूर्वाग्रहों से प्रभावित होता है। वही सभी संस्कृतियाँ भिन्न–भिन्न रूप से विकास करती दिखती हैं। पॉल ए. रॉथ सुझाव देते हैं कि ऐतिहासिक सत्यता की धारणा से अपने आपको मुक्त करना आवश्यक है क्योंकि ''अतीत की घटनाएँ विद्यमान रहती हैं घटनाओं के रूप में, केवल ऐतिहासिक धारणाओं के संदर्भ में। घटनाओं की ऐतिहासिक सत्यता की धारणा अर्थात् मानव बोध और वर्गीकरण से अप्रभावित घटनाओं का सापेक्ष महत्व, असंबद्ध साबित होता है। एक संसार है जो हमारा बनाया हुआ नहीं है लेकिन उसका विशिष्ट घटनाओं में किया गया कोई भी विभाजन प्राकृतिक नहीं बल्कि हमारा बनाया हुआ है।''[2] वर्तमान तथा अतीत के बीच इतिहासकार कड़ी के रूप में काम करता है। वह समकाल में जीता हुआ इतिहास का पुनर्निर्माण करता है। वही अतीत की घटनाएँ ऐतिहासिक धारणाओं के संदर्भ में अर्थवान होती है। अतीत का पुनः यथावत् चित्रण ऐतिहासिक धारणाओं के संदर्भ में ही सम्भव हो सकता है। जबकि इतिहास–लेखन इतिहासकार के समकालीन–बोध से जुड़ा कर्म है। यदि अतीत की ऐतिहासिक धारणाओं का इतिहासकार में

---

[1] उपाध्याय, शशिभूषण, वस्तुपरकता और व्याख्या (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 38
[2] वही, पृ.सं. 38

पुनः सृजन सम्भव है तभी इतिहास को वस्तुनिष्ठ कहा जा सकता है। जो होना असम्भव है। गीर्त्ज भी 'अर्थपूर्ण संकेतों की गुथी हुई व्यवस्था' की तरह संस्कृति की अपनी धारणा में नए भाषाई सिद्धांतों से परिणाम निकालते है। वह संस्कृति को एक पाठ के रूप में देखते है, जो सामाजिक विषयों से बनाई गई कल्पना संपन्न रचनाएँ है। वह लिखते हैं

> ''समाज भी प्रतीकों के संदर्भ में व्यवस्थित किया गया है.... इन प्रतीकों का अर्थ हम तब समझ सकते हैं जब उस व्यवस्था को समझें और इसके सिद्धांतों को सूत्रबद्ध करें।''[1]

वस्तुपरकता के आलोचकों की तीसरी धारा 'भाषाई तथा उत्तर आधुनिक मोड़' यथार्थ के बजाय भाषा को सामाजिक अर्थ और मानकीय चेतना का संघटक घोषित करती है। इसकी शुरूआत स्वीडिश भाषाविज्ञानी फर्डिनाड द सोस्युर के संरचनात्मक भाषाविज्ञान के सिद्धांत से होती है। वह अपनी पुस्तक 'कोर्स इन जनरल लिंगविस्टिक्स' में भाषा के निर्देशात्मक प्रकार्य पर संदेह प्रकट करते है। वह मानते हैं कि भाषा का संबंध भौतिक वस्तुओं से न होकर धारणाओं से होता है। उनके अनुसार

> ''भाषा एक संवृत स्वायत्त व्यवस्था है ओर किसी भी भाषा में शब्द (जिन्हें संकेतक कहा जा सकता है) सांसारिक भौतिक वस्तुओं से नहीं बल्कि धारणाओं से जुड़े होते हैं (जिन्हें संकेतिक कहा जा सकता है)।''[2]

भाषा की सामान्य परिभाषा इसे यादृच्छिक रूप में स्वीकार करती है। अर्थात् शब्द और अर्थ का संबंध मनमाना होता है। इसके पीछे किसी प्रकार का तर्क अथवा प्रक्रिया नहीं होती तथा भाषा अपने आप अर्थ गढ़ती है और मानव विचार भाषा के मध्य से रूप ग्रहण करते हैं। अर्थात् प्रत्येक युग नये संदर्भों में नई भाषा गढ़ता है। जो नई धारणाओं से संबद्ध होती है। अतः पूर्व में उपस्थित भाषिक धारणाओं का ज्ञान वर्तमान में उतना सम्भव नहीं होता। इतिहास का ज्ञान भी भाषा पर अवलम्बित है। इसी रूप में यह धारा वस्तुनिष्ठ इतिहास के समक्ष चुनौती खड़ा करती है। फ्रांसीसी भाषाविज्ञानी और चिंतक रोलाँ बार्थ इन तर्कों को आगे बढ़ाते हैं। उनके अनुसार –

> ''अतीत की यथार्थता लिखने का इतिहासकारों का दावा धोखा है। उनके द्वारा लिखा गया इतिहास अतीत के बारे में नहीं बल्कि 'अतीत पर लिखा गया एक अभिलेख है जो उसके सादृश्य होने का दावा करता है और यह संकेतकों का प्रदर्शन है जो तथ्यों का संग्रह होने का भ्रम पैदा करता है।...

[1] उपाध्याय, शशिभूषण, वस्तुपरकता और व्याख्या (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 38
[2] वही, पृ.सं. 39

इतिहासकारों का अतीत का वर्णन मूलतः अतीत के बारे में कई धारणाओं से संबद्ध है और अतीत का यथार्थ नहीं है।''[1]

वह वस्तुपरकता को 'निर्देशात्मक भ्रांति' का परिणाम मानती है। वह वस्तुनिष्ठ इतिहास–लेखन को एक भ्रांति मानते हैं जिसे पाठक यथार्थ या वास्तविक समझते हैं। इस धारा में सबसे बड़ी चुनौती जाक देरिदा द्वारा प्रतिपादित 'विखण्डनवाद' (डिकंस्ट्रक्शन थ्योरी) ने रखी। देरिदा भाषा को विचार का साधन मानते हुए मनुष्य की भाषा व्यवस्था से बाहर यथार्थ को समझने की सभी संभावनाओं को नकार देते हैं। उनकी दृष्टि में भाषा तथा बाह्य व्यवस्था का कोई संबंध नहीं है। भाषा अपने में स्वयं एक व्यवस्था है, जिसका यथार्थ से कोई संबंध नहीं है। भाषा का अपना कोई सुव्यवस्थित तार्किक ढ़ाँचा नहीं है। अपितु यह निश्चित अर्थ के यादृच्छिक संकेतीकरण की व्यवस्था है। वह लिखते हैं –

''कोई पाठ लेखन का अंतिम स्वरूप, पुस्तक या उसके हाशिए में दर्ज कथ्य नहीं रह जाता बल्कि वह एक विभेदक संजाल, चिह्नों का एक ताना–बाना होता है जो निरंतर अपने से इतर किसी और चीज की ओर अर्थात् किसी अन्य विभेदक चिह्न की ओर इशारा करता है। इस तरह पाठ अब तक उसके लिए तय की गई सभी सीमाओं से बाहर चला जाता है।''[2]

जब भाषा का निश्चित अर्थ नहीं है, न ही उसका यथार्थ से कोई संबंध है और डिकंस्ट्रक्शन से पाठ के कई अर्थ निकलते हैं तो वस्तुनिष्ठ इतिहास की संभावनाओं को कैसे स्वीकार किया जा सकता है। यही कारण है कि विखण्डनवादी इतिहास–लेखन के वस्तुनिष्ठ होने को नकार देते है। रिचर्ड एवान्स[3] मानते है यह नहीं कहा जा सकता कि इतिहासकार का नियंत्रण अर्थ पर नहीं है। पाठ में अर्थ भरने का कार्य पाठक करता है तथा वह अर्थ सिद्धांततः समान रूप से मान्य होते हैं। वहीं इतिहास के अर्थ को इतिहासकार सृजित करता है जिसे अतीत में ढूँढा नहीं जा सकता। यह अर्थ प्रत्येक इतिहासकार द्वारा अलग तरीके से तथा समान औचित्य रखता है। लारेंस स्टोन[4] की दृष्टि में पाठ से बाहर कुछ नहीं है। इस तरह वह इतिहास के अस्तित्व पर ही प्रश्न खड़ा कर देते हैं। वह तथ्य एवं काल्पनिकता के बीच की सीमा को पाठ के संदर्भ में समाप्त

---

[1] उपाध्याय, शशिभूषण, वस्तुपरकता और व्याख्या (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 39

[2] वही, पृ.सं. 40

[3] ''इससे अर्थ निकलता है कि यह नहीं माना जा सकता कि लेखक जो कुछ लिखते हैं उसके अर्थ पर उनका नियंत्रण रहता है। अर्थ के इस अंतहीन खेल मे, जिससे भाषा बनती है, किसी पाठ का अर्थ, जितनी बार उसे पढ़ा जाए, अलग निकलता है। पाठक उसमें अर्थ भरता है और सभी अर्थ सिद्धांततः समान रूप से मान्य होते हैं। इतिहास के अर्थ को अतीत में नहीं ढूँढा जा सकता, वह विभिन्न इतिहासकारों द्वारा हर बार अलग तरीके से और समान औचित्य से केवल पाठ में डाला जाता है। इतिहास के पाठ और इतिहासकारों के पाठों के बीच कोई आवश्यक या सुसंगत संबंध नहीं होता। जो पाठ अतीत से हमें प्राप्त होते हैं वे अपने अर्थ को लेकर उतने ही यादृच्छिक होते हैं जितने कि अन्य पाठ और ऐसे ही वह पाठ होते हैं जो इनका इस्तेमाल करते हैं।'' वही, पृ.सं. 40

[4] ''यदि पाठ से बाहर कुछ भी नहीं है तो हमारे द्वारा स्वीकृत इतिहास एकदम ही समाप्त हो जाता है और तथ्य तथा काल्पनिकता में भेद नहीं रह जाता।'' वही, पृ.सं. 40

मानते हैं। तो गाब्रिएल स्पीगल साहित्यिक अध्ययन तथा इतिहास के अध्ययन को एक ही धरातल पर लाकर देखते हैं। वह लिखते हैं –

> ''यदि पाठ अर्थात् दस्तावेज साहित्यिक रचनाएँ आदि पारदर्शिता से यथार्थ नहीं दिखाते हैं बल्कि सिर्फ अन्य पाठों को प्रतिबिम्बित करते हैं, तो इतिहास के अध्ययन और साहित्यिक अध्ययन में भेद करना कठिन हो सकता है और अतीत काल्पनिकता में घुलमिल जाता है।''[1]

इस प्रकार उन्नीसवीं शती के आरम्भ में इतिहास को विज्ञान के समान वस्तुनिष्ठ मानने की धारणा टूटती है।

अतः इतिहास की निर्मिति इन्हीं तत्वों द्वारा होती है। या कहा जाये तो यह तत्व ही इतिहास निर्माण की आंतरिक प्रक्रिया हैं। इन्हीं तात्विक स्तम्भों पर समकालीन इतिहास–लेखन खड़ा होता है। इन्हीं कसौटियों पर भारतीय इतिहास को भी कसा जाता है। इन तत्वों से च्युत होने के कारण भारतीय इतिहास–लेखन को नकार दिया जाता है। इसीलिए इन तत्वों का गहराई से अध्ययन आवश्यक हो जाता है। ताकि वस्तुनिष्ठ इतिहास–लेखन की मांग के अनुरूप भारतीय इतिहास के स्वरूप को स्पष्ट किया जा सके।

1.3 पाश्चात्य इतिहास–लेखन की परंपरा

समकालीन इतिहास–लेखन पश्चिमी इतिहास–चिंतन का विकास है, जो कि विकास के अनेक चरणों से होती हुई आधुनिक काल तक आती है। विकास के यह चरण समय के विस्तृत प्रवाह में होते हुए इतिहास का तात्विक विकास करते हैं। इसी समयांतराल में इतिहास का स्वरूप एवं उसकी दृष्टियाँ विकसित होती हुई वैविध्यपूर्ण रूप में दृष्टिगोचर होती है। इन्हीं दृष्टियों एवं उन दृष्टियों पर आश्रित इतिहास–लेखन का निदर्शन समकालीन इतिहास–लेखन को समझने के लिए आवश्यक है। इसीलिए पाश्चात्य इतिहास–लेखन की विस्तृत परंपरा का विवेचनात्मक अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

1.3.1 यूनान और रोम का इतिहास–दर्शन

यूरोपीय संस्कृति का उद्‌गम **'हेंल्लास'** से हुआ है।[2] जैसा कि फिशर लिखते हैं – 'हम यूरोपीय हेल्लास की सन्तान हैं।' अतः हेंल्लास संस्कृति की मूलभूत प्रवृत्तियों का प्रभाव यूरोपीय इतिहास पर पड़ा है। हेंल्लास संस्कृति का मूल लक्षण 'स्थायित्व का अन्वेषण'[3] है। अतः इस चिंतन–पद्धति का विकास यूनान में

---

[1] उपाध्याय, शशिभूषण, वस्तुपरकता और व्याख्या (इतिहास का परिचय), एम.एच.ई – 03, ब्लॉक – 01, इग्नू, दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.सं. 41

[2] "Greece as a whole, as an alternative name." en.m.wikipedia.org/wiki/Hellas, 19 august 2018

[3] "They were quite sure that anything which can be an object of genuine knowledge must be permanent; For it must have some definite character of its own, and therefore cannot contain in itself the seeds of its own destruction… If it is to be knowable it must be determinate if it is determinate, it must be so completely and exclusively what it is

होता है। यह दृष्टि मनुष्य के मस्तिष्क द्वारा अधिगम्य वस्तुओं को ही स्वीकारती है। अतः स्थायी, मूर्त और साकार तत्व ही यूनानी परंपरा में महत्व पाते हैं। जबकि परिवर्तनशील तथा गतिमान तत्व गौण हो जाते हैं। इसी कारण यूनान की प्रतिभा गणितशास्त्र में विकसित होती है। 'पाइथागोरस' की दृष्टि में अंक सकल सृष्टि का सार है। क्योंकि यह मूर्त, साकार और निश्चित है। इस दृष्टिकोण का एक प्रभाव यह रहा कि 'देश की अनन्तता' तथा 'काल की तरलता' का भाव यूनानी संस्कृति में प्रवेश न कर सका। जिस कारण यूनानियों में ज्योतिष विद्या का चलन कभी नहीं हो पाया।

> ''पेरीक्लीज के शासनकाल के अंतिम वर्षों में एथेन्स के नागरिकों ने यह कानून बनाया कि जो कोई व्यक्ति ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन–अध्यापन करे उस पर मुकद्दमा चलाया जाय और उसे समुचित दण्ड दिया जाय।''[1]

अतः यह स्पष्ट था कि यूनानी संस्कृति वस्तुवादी अथवा पदार्थवादी दृष्टि (सब्स्टेन्शियलिज्म) को स्वीकारती है।

> ''पदार्थवाद मुख्यतः ज्ञान का विषय ज्ञाता के बाहर स्वीकारता है। वह मानता है कि ज्ञात होने से उसकी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता। ज्ञाता उसे उसके वास्तवरिक रूप में देखता है।''[2]

रोमन कानून के अनुसार भूमि का क्रय–विक्रय तब पूर्ण होता था जब उस व्यक्ति के नाम का पत्थर गाड़ दिया जाता था। यह स्पष्ट है कि यूनानी संस्कृति ठोस, साकार, मूर्त और स्थायी वस्तुओं पर केन्द्रित थी। एक लम्बी समयावधि के उपरांत छठीं शती ई.पू. में यूनानी मस्तिष्क कल्पना–प्रधानता से चिंतन–प्रधान होता है। पुरोहितों, न्यायाधीशों और उच्च अधिकारियों की तालिकाओं, राजाओं की वंशावलियों, संधि–विग्रह के लेखों आदि के संरक्षण की सतर्कता बढ़ती है। आयोनिया[3] के बहुत से लेखक नगरों, निगमों, जातियों, राजवंशों और मन्दिरों की उत्पत्ति की परंपराओं और किवदन्तियों को सरल गद्य में लिपिबद्ध करते हैं। यह परंपरा सामूहिक रूप में **'लोगोग्राफी'** नाम से अभिहित की जाती है। ब्रिटेनिका एनसाइक्लोपीडिया 'लोगोग्राफी' को शहरी लोगों तथा स्थान से संबंद्ध करते हुए इसे मानव के सांस्कृतिक ज्ञान की प्राप्ति की सामग्री के रूप में देखती है।[4]

---

that no internal change and no external force can ever set about making it into something else." Collingwood, R.G., The Idea of History, Oxford, Clarendon Press, edition 1946, page no. 20

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 65

[2] hi.m.wikipedia.org/wiki/पदार्थवाद, 19 august 2018

[3] आयोनिया शब्द एड्रियाटिक सागर के दक्षिण में स्थित आयोनियन सागर, जो कि भूमध्य सागर की एक ईकाई है – के समीप स्थित ग्रीक राष्ट्र से लिया जाता है। यूनानी को संकेतित करने वाला यह शब्द भूगोल से अधिक संपृक्त है।

[4] "Greek historiography originated in the activities of a group of writers whom the Greek called *Logographoi* (Logoraphers). Logography was the prose compilation of oral tradition relating to the origins of towns, peoples and places. It combined geographical with cultural information and might be seen as an early form of cultural anthropology." www.britannica.com/print/article/267436, 29 july 2018

इन इतिहासों में आरगोस का 'अकूसिलौस' (500 ई.पू.), मिलेतस का 'कादमस' (550 ई.पू.), लेसबोस का 'हिलेनिकस' (482–397 ई.पू.), मिलेतस का 'हिकेतियस' (550–478 ई.पू.), मिलेतस का 'दायोनिसस', लेम्पसेकस का 'चारोन' (470 ई.पू) और लेरोस का 'फेरेसिदेस' (450 ई.पू.) आदि प्रसिद्ध है। 'मिलेतस' लोगोग्राफी परंपरा में प्रमुख स्थान रखते है। वह 'जेनेलोगिया' (490 ई.पू.) में लिखते है –

> "I write what I consider the truth, for the things the Greeks tell us are in my opinion full of contradiction and worthy to be laughed out of court."[1]

लोगोग्राफर्स मूलतः तथ्यों का संकलन कर उन्हें वृत्तान्त रूप में लिखा करते थे। वह न्यायालय में वकालत का कार्य भी किया करते थे। अतः वह अपने स्वयं के मतों को न्यायालय में लिखित वृत्तान्तों द्वारा पुष्ट करते थे।

अतः यूनानी इतिहास–लेखन से पूर्व चली आ रही परंपरा कुछ सामान्य प्रवृत्तियों का संकेत करती है –

- इतिहास में वस्तुवाद को प्रमुखता दी गई। इसी कारण वंशावलियों, तालिकाओं, लेखों आदि का संग्रह लोगोग्राफी में किया गया।
- इतिहास की वस्तु के प्रमुख केन्द्र राजशाही अथवा समृद्ध जन ही रहे।
- इन इतिहासों की रचना नगरों के इर्द–गिर्द हुई।

'लोगोग्राफी' की परंपरा पाश्चात्य इतिहास की आधारशिला है। यह परंपरा इतिहास के कुछ मूल मानकों का भी निर्धारण करती है। यह अवश्य था कि सूचनाओं का संकलन ही लोगोग्राफी में हुआ। लेकिन यही प्रवृत्ति आगे की परंपरा में तथ्यों के प्रति सजग दृष्टि निर्मित करने में सहायक होती है। वस्तुवाद की प्रमुखता तथा देश की अनन्तता की अस्वीकृति कुछ निश्चित विषयों की ओर इतिहास का निर्धारण करती है। जैसे :– राष्ट्र की सीमाओं को स्वीकारते हुए राजशाही को केन्द्र में रखना। इसी क्रम में राजनीति को इतिहास के केन्द्रीय विषय के रूप में स्थान मिलता है, जिसका विकास हेरोडोटस, थूसीदाइदीस से होते हुए आधुनिक काल तक देखा जा सकता है। राजनीतिक शासन की केन्द्रीय स्थिति इतिहास में भी केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को बल देती है। अतः इतिहास के विभिन्न विषय शासन की सूचनाओं के साथ अभिव्यक्ति पाते हैं। देश की अनन्तता के स्थान पर निश्चित सीमाओं में राष्ट्र को स्वीकार किया गया। इसीलिए राष्ट्र की सीमाओं में इतिहास निर्मित

[1] www.britannica.com/print/article/267436, 29 july 2018

हुए। इससे राजनीतिक इतिहास लिखने की प्रेरणा बलवती हुई। गतिमान तत्वों की अस्वीकृति के परिणामस्वरूप सामयिक इतिहास–लेखन को बढ़ावा दिया गया।

काल की अवधारणा न होने के कारण समसामयिक इतिहास–लेखन व्यापक रूप से निर्मित होते हैं। स्वयं की देखी घटनाओं को प्राथमिक तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त सूचनाओं को गौण रूप में स्थान मिलता है। शासकीय संरक्षण में इतिहास का विकास होता है। इस क्रम में राष्ट्रीय इतिहास का स्वरूप तो निर्मित होता है परन्तु क्षेत्रीय अथवा लोक इतिहास दरकिनार हो जाता हैं। अलग–अलग क्षेत्रीय इतिहास निर्मित अवश्य होते है परन्तु यह इतिहास शहरों में विकसित होते हैं। अतः इनका केन्द्र भी राष्ट्रीय प्रभाव की घटनाएँ बनती हैं। वहीं दूसरी ओर इतिहास का निर्माणकर्ता समूह न होकर व्यक्ति है। प्रत्येक इतिहास–ग्रन्थ के साथ उसके इतिहासकार का नाम सूचनार्थ दिखाई देता है। अतः इस रूप में इतिहास–ग्रन्थों का संरक्षण दो भिन्न–भिन्न स्थानों पर संरक्षित होता है। पहला राजशाही दरबारों में तथा स्वयं इतिहासकार द्वारा। इस क्रम में लोगोग्राफी यूनानी इतिहास–लेखन की नींव का काम करती हुई पाश्चात्य इतिहास–चिंतन की आधारशिला बनती है। इसी पृष्ठभूमि में हेरोडोटस इतिहास–लेखन की शुरूआत करते हैं।

हेरोडोटस (रचनाकाल 456–445 ई.पू.) प्रथम इतिहासकार माने जाते हैं। इन्होंने पहली बार सुव्यवस्थित इतिहास का स्वरूप प्रस्तुत किया। इसीलिए इन्हें 'इतिहास के जनक' के रूप में भी स्मरण किया जाता है। हेरोडोटस पर आयोनियन इतिहासकारों का सीधा प्रभाव रहा है। इनके समय को देखा जाये तो वह पूर्व इतिहासकारों के समीप अथवा समकालीन ही ठहरता है। जिस कारण उनपर पूर्व परंपराओं का सीधा प्रभाव है। पूर्व प्रवृत्तियों में शासकीय इतिहास लिखे जाने की परंपरा हेरोडोटस के इतिहास–लेखन में भी दिखाई देती है। डॉ. बुद्धप्रकाश हेरोडोटस के इतिहास के विषयों की ओर संकेत करते हुए लिखते है कि –

> ''उन्होंने यूनान और ईरान के संघर्ष का सांगोपांग वर्णन किया। एशिया का सबसे पहला नरपति जिसने यूनान पर आक्रमण किया था, क्रोसस् था। अतः हेरोडोटस ने उसकी वंशावली का वर्णन किया और उसके उत्थान और पतन का इतिहास लिखा। इसके पश्चात् मीदिया पर साइरस् (कुरूष) का आधिपत्य जम गया था। हेरोडोटस ने मीदिया के साम्राज्य और कुरूष के कथानक का विस्तृत विवेचन किया। कुरूष के उत्तराधिकारी केम्बीसस् (कम्बुजीय) ने एशिया और मिस्त्र पर अधिकार किया। अतः हेरोडोटस को मिस्त्र के इतिहास और जीवन का निरूपण करना पड़ा। कम्बुजीय के उत्तरवर्ती देरियस (दारयवइश्) और जेर्कसंस (ख्यार्श) ने यूनान पर विजय प्राप्त करने का भागीरथ प्रयत्न किया।''[1]

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 67

उपर्युक्त अंश से स्पष्ट है कि यह इतिहास अतीतोन्मुख कम समसामयिक अधिक थे। हेरोडोटस की विषयवस्तु उनके समसामयिक घटनाओं को आधार बनाती है। साथ–ही–साथ राष्ट्रीय प्रभाव की घटनाएँ उनमें स्थान पाती हैं। शासकीय व्यक्तित्व में राजा अथवा शासन से जुड़े व्यक्ति ही स्थान पाते हैं। इन इतिहासों का दूसरा पक्ष भी देखे जाने की आवश्यकता है। मूलतः यह इतिहास–लेखन समकालीन राजनीतिक परिवर्तनों को उचित ठहराने, गुणगान करने तथा उन्हें वैध करार देने के लिए लिखे गये। हेरोडोटस इतिहास–लेखन के द्वारा एथेंस के प्रति अपनी श्रद्धा ही प्रकट करते हैं। वह अपने इतिहास में फारस पर एथेंस की ऐतिहासिक विजय को बर्बरता पर सभ्यता की जीत मानते हैं। यह दृष्टि वस्तुनिष्ठ न होकर स्वबोध–विमर्श को लेकर अधिक चलती है। और जैसा कि हेगेल यूनान की मूलभूत प्रवृत्तियों में वैयक्तिकता को स्वीकारते हैं और लिखते हैं :–

> "It is here first that advancing spirit makes itself the content of its volition and its knowledge; but in such a way that State, Family, Law, Religion, are at the same time objects aimed at by individuality, while the latter is individual only in virtue of those aims. The (Full-grown) man, on the other hand devotes his life to labor for an objective aim; which he pursues consistently, even at the cost of his individulality."[1]

स्वबोध की यह प्रवृत्ति इतिहासकार के कार्य को महत्वपूर्ण बना देती है। इसीलिए वह इतिहास के प्रति स्वयं की दृष्टि को स्पष्ट करते हैं। इतिहास–लेखन के प्रति हेरोडोटस की दृष्टि उनके स्वकथन में स्पष्ट देखी जा सकती है :–

> 'यह शोध हैलीकारनासस के हेरोडोटस द्वारा की गई है जिसे उसने इस उम्मीद के साथ प्रकाशित कराया है कि मनुष्यों ने जो कुछ किया है उसकी स्मृति को नष्ट होने से वह बचा सके और ग्रीक ओर बर्बर लोगों के महान और अद्‌भुत कार्यों को उनकी महिमा खोने से रोक सकें ; और यह दर्ज कर सकें कि उनके झगड़ों के कारण क्या थे।'[2]

लोगोग्राफी की सामान्य प्रवृत्तियाँ इनके इतिहास में विकास करती हैं। परन्तु हेरोडोटस पहली बार इतिहास को वैज्ञानिक बनाते हैं। इतिहास की मूलभूत चार प्रवृत्तियों[3] की ओर संकेत करते हुए आर.जी. कॉलिंगवुड तीन प्रवृत्तियों को हेरोडोटस में स्वीकार करते हैं। यह तीन प्रवृत्तियाँ वैज्ञानिकता, मानववादी तथा आत्मज्ञापन

---

[1] Hegel, G.W.F, The Philosophy of History, Translated by J.Sibree, Batoche Books Kitchener, Ontario, Edition 2001, Page no.

[2] राय, कुमकुम, यूनानी–रोमन परंपरा (पूर्व आधुनिक परंपराएँ – 1), ईकाई – 5, इग्नू, दिल्ली, पृ.स. 7

[3] "The Four characteristic of history is Scientific, Humanistic, Rational and Self-revelatory." Collingwood, R.G., The Idea of History, Oxfor Press, Edition 1946, page no. 18

हैं। इतिहास की पूर्व परंपरा से अलग वस्तुनिष्ठ होने की दिशा में यह पहला प्रयास था। कॉलिंगवुड लिखते हैं –

> "Herodotus does not confine his attention to bare events; he considers these events in a thoroughly humanistic manner as actions of human being who had reasons for actions of human being who had reasons for acting as they did: and the historia is concerned with these reasons."[1]

कॉलिंगवुड का यह कथन हेरोडोटस के आत्मकथन पर आधारित है जिसे वह अपने इतिहास के आरम्भ में कहते है। हेरोडोटस ही 'हिस्ट्री' शब्द का प्रथम बार प्रयोग 'खोज' तथा 'अनुसंधान' के अर्थ में करते हैं। पाश्चात्य इतिहास–लेखन में हेरोडोटस का महत्व अक्षुण्ण है। इसका प्रमाण उनकी इतिहास संबंधी दृष्टि है। उनका मानना था कि

> ''इतिहास में एकता और अक्षुण्णता का सूत्र गतिमान रहता है। यूनान और ईरान, यूरोप और एशिया इतिहास की श्रृंखला की कड़ियाँ हैं। समस्त परिज्ञात और संस्कृत जगत् इतिहास के सूत्र में ग्रथित है।''[2]

विश्व इतिहास की पृष्ठभूमि उनके चिंतन में दिखाई देती है। वस्तुतः यह चिंतन तत्कालीन शासकीय सीमाओं के अस्थायित्व के कारण भी विकसित हुई हो, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। तत्कालीन इतिहास–लेखन कुछ निश्चित विषयों को लेकर ही किया जाता था जिनका उद्देश्य महान और भव्य मानी जाने वाली स्मृतियों को संजोना और महत्वपूर्ण घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करना था। युद्ध और वृत्तांतों का वर्णन तत्कालीन इतिहास–लेखन की प्रमुख विशेषता के रूप में भी दिखाई देता है। आपसी संघर्षों के बीच शासन का स्थानांतरण हेरोडोटस के लेखन में देखा जा सकता है। इस क्रम में युद्धों तथा राजवंशों का महत्व इतिहास की मूलभूत सामग्री बनती है।

हेरोडोटस की आलोचनात्मक दृष्टि इतिहास के 'अनुसंधान' अर्थ के अनुरूप तथ्यात्मक सत्य को खोजने का प्रयास करती है। इसका प्रमाण है उनकी वस्तुवादी दृष्टि जो अभिलेखों को महत्व देती है। इतिहास में वह एक ऐसे स्तम्भ का उल्लेख करते हैं जिसे यूनानियों ने देल्फी में प्लातिया के युद्ध के पश्चात् बनाया था। इसमें प्राचीन लिपि में 31 राज्यों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने इस युद्ध में भाग लिया था। उनकी यह दृष्टि इतिहास के निर्माण की तात्विक पृष्ठभूमि को निर्मित करने के प्रयास के रूप में दिखाई पड़ती है। इस

[1] Collingwood, R.G., The Idea of History, Oxfor Press, Edition 1946, page no. 19

[2] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 68

प्रकार साक्ष्यों की मदद से इतिहास लिखने की कोशिश हेरोडोटस की आलोचनात्मक दृष्टि तथा इतिहास की समझ का संकेत करती है। अलोचनात्मक दृष्टि की जो कमी लोगोग्राफी में थी, वह हेरोडोटस के यहाँ कम है। एथेंस के प्रति हेरोडोटस की श्रद्धा इतिहास–लेखन में समानांतर बनी रही। प्रत्यक्षदर्शी अवलोकनों को महत्व दिया गया लेकिन साथ–ही–साथ अन्य स्रोतों जैसे धार्मिक केन्द्रों, साक्षात्कारों, इतिवृत्तों, परंपराओं और विभिन्न दस्तावेजों से भी इतिहास–लेखन में सहायता ली गई। इन संदर्भों में भी सजगता हेरोडोटस के इतिहास–लेखन का एक गुण है। उदाहरण के लिए फारसी शासक सायरस के इतिहास पर चर्चा करते हुए वह लिखते हैं –

> 'और यहाँ मैं उन फारसी विद्वानों का अनुसरण करूँगा जिन्होने सायरस के कारनामों को अतिरंजित करना नहीं बल्कि मात्र सत्य को वर्णित करना है। इसके अलावा मैं तीन और तरीके जानता हूँ जिनमें सायरस की कहानी सुनाई गई है पर यह सभी मेरे किए गए वर्णन से अलग हैं।'[1]

मकबरों के इर्द–गिर्द मिले अभिलेख और परंपराएँ भी इतिहास के महत्वपूर्ण स्रोत थे। इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण डेल्फी का मकबरा था जिसके दिव्य वाक्यों या वचनों का युद्ध में जाने से पूर्व शासक और राज्य द्वारा अनुसरण किया जाता था। हेरोडोटस ने इन दिव्य वाक्यों में से कुछ की भविष्यवाणियाँ तथा कार्य के सफल होने पर मकबरे पर चढ़ाई गई भेंट का विवरण प्रस्तुत किया है। कई स्थानों पर हेरोडोटस ने अपनी यात्राओं का आखों देखा वर्णन भी किया है।[2] ऐसा ही एक वर्णन फारसियों के अभिवादन के जीवंत चित्रण में दिखता है –

> 'जब गलियों में एक–दूसरे से मिलते हैं तो आगे दिए गए संकेत से आप जान जाएंगे कि मिलने वाले क्या समान हैसियत के हैं; यदि वे समान हैसियत के हैं तो बजाए बातचीत करने के वे एक–दूसरे के होठों का चुँबन लेते हैं। यदि एक व्यक्ति दूसरे से जरा कम हैसियत वाला है तो चुंबन गालों पर दिया जाता है; जहाँ हैसियत का अंतर ज्यादा है वहाँ कम हैसियत वाला भूमि पर साष्टांग दंडवत करता है।'[3]

---

[1] राय, कुमकुम, यूनानी–रोमन परंपरा (पूर्व आधुनिक परंपराएँ – 1), ईकाई – 5, इग्नू, दिल्ली, पृ.स. 9

[2] हेरोदेतस का मेसापोटामिया में कृषि का विवरण –

''हम जितने भी देशों के बारे में जानते हैं उनमें से कोई भी इतना अन्न उपजाऊ देश नहीं है। यह देश अंजीर, जैतून, अंगूर या इसी प्रकार की अन्य किसी पौध को उगाने का बेशक दावा नहीं करता लेकिन अनाज के मामले में यह इतना उपजाऊ है कि यहाँ सामान्य पैदावार दो सौ और कभी–कभी तीन सौ गुना होती है। गेहूँ और जौ के पौधों का फलक चौड़ाई में अक्सर चार अंगुल होता है। जहाँ तक बाजरे और तिल का प्रश्न है तो मैं यह नहीं कहूँगा कि वे किस ऊँचाई तक बढते हैं हाँलाकि यह मेरी जानकारी में है ; क्योंकि मैं इस बात से अनजान नहीं हूँ कि मैं बेबीलोनिया के उपजाऊपन के बारे में जो कुछ लिख चुका हूँ वह उनको अविश्वसनीय लगे जो कभी इस देश में गए ही नहीं।''

[3] राय, कुमकुम, यूनानी–रोमन परंपरा (पूर्व आधुनिक परंपराएँ – 1), ईकाई – 5, इग्नू, दिल्ली, पृ.स. 10

इसके अलावा हेरोडोटस लोक परंपराओं को भी यदा–कदा स्रोतों की तरह इस्तेमाल करते हैं। लोक में प्रचलित क्रोएशस और एथेंस के एक सोलोन के बीच की वार्ता को उन्होंने अपने इतिहास में उद्धृत किया है। हेरोडोटस के इतिहास की एक विशेषता उनके द्वारा प्रस्तुत वृत्तांत है। यह वृत्तांत पूर्ण, रोचक और आकर्षक है। वे अपने वृत्तांतों में ऐसे नृविज्ञानी हवाले देते थे जो अंधिकांशतः फैंटसी के निकट ठहरते हैं। यह प्रवृत्ति बाद के इतिहासकारों में भी दिखाई पड़ती है। घटनाओं के काल तथा स्थान का सावधानीपूर्वक ध्यान रखा गया है परन्तु इन घटनाओं के पीछे के कारणों की खोज इन इतिहास–ग्रन्थों में कम ही दिखाई पड़ती है। यह इतिहास मुख्यतः शिक्षित वर्गों के लिए लिखे गये। अतः तात्कालिक वातावरण और राजनीतिक दृष्टि से इतर उन विचारों को भी महत्व दिया गया जो उस समय के शिक्षित वर्गों में प्रचलित थे। कुछ उदाहरणों में शकुन–अपशकुन की मान्यता से जोड़कर भाग्य को भी स्वीकार किया गया है। हेरोडोटस लिखते हैं –

> 'जो शहर पहले महान थे उनमें से अधिकांश महत्वहीन हो गए हैं; और जो अब शक्तिशाली हैं, प्राचीन काल में कमजोर थे। इसलिए मैं इस बात से आश्वस्त हो कर कि मानव का सौभाग्य देर तक कभी एक जैसा नहीं बना रह सकता, दोनों पर ही निबंध लिखूँगा।'[1]

एक अन्य स्थान पर वह लिखते हैं –

> 'ऐसा अक्सर होता है जब किसी देश या राष्ट्र पर कोई बड़ा संकट आने वाला होता है तो कोई–न–कोई चेतावनी मिल जाती है...।'[2]

लेकिन भाग्य, नियति, दैवीयता आदि के होते हुए भी मानवीय कारण को हेरोडोटस तथा अन्य इतिहासकारों ने स्वीकार किया है। इसका सफल उदाहरण उनके एथेंस और फारस के युद्धों के संबंध में देखा जा सकता है। वह मानते थे कि फारस के आक्रमण का सामना एथेंस के लिए संकटपूर्ण था। यदि एथेंसवासी युद्ध के बजाय शांति को चुनते तो यूनान का बाकी हिस्सा कभी–न–कभी फारस के नियंत्रण में आ जाता। इसलिए वह लिखते हैं –

> 'इसलिए अगर कोई अब यह कहे कि एथेंसवासी यूनान के मुक्तिदाता थे तो वह सत्य से दूर नहीं होगा क्योंकि वास्तव में उनके पास न्याय का तराजू था और वह जिसकी तरफ भी झुकते उसी की जीत होती... और इसलिए देवताओं के बाद वहीं थे जिन्होंने आक्रमणकारियों को खदेड़ भगाया।'[3]

---

[1] राय, कुमकुम, यूनानी–रोमन परंपरा (पूर्व आधुनिक परंपराएँ – 1), ईकाई – 5, इग्नू, दिल्ली, पृ.स. 12
[2] वही, पृ.स. 13
[3] वही, पृ.स. 13

उपर्युक्त उदाहरण हेरोडोटस के मानवीय कारणों को स्थान देने के साथ–साथ उनकी आलोचनात्मक दृष्टि को भी दिखाता है। जो घटना की अन्य संभावनाओं पर भी विचार करती है। हेरोडोटस द्वारा इतिहास के लक्षण के रूप में आलोचनात्मकता को स्थान देना – इसी दृष्टि को और पुष्ट करता है। वह इतिहास के चार लक्षण मानते हैं, जो निम्न हैं –

1. यह वैज्ञानिक विद्या है अर्थात् इसकी पद्धति आलोचनात्मक है।
2. यह मानवीय विद्या है अर्थात् इसका उद्देश्य मानव कार्य–कलाप का अध्ययन करना है।
3. यह तर्कसंगत विद्या है अर्थात् इसके निष्कर्ष और तथ्य साक्ष्य पर आधारित होते हैं।
4. यह शिक्षाप्रद विद्या है अर्थात् इसका कार्य अतीत के आलोक में भविष्य की खोज करना है और मनुष्य को मार्ग दिखाना है।

कहा जाये तो हेरोडोटस के समय तक इतिहास की सुव्यवस्थित अवधारणा मौजूद थी जो उनके लेखन में भी दिखाई पड़ती है। हेरोडोटस का मानना था कि 'इतिहास में एकता और अक्षुण्णता के साथ–साथ गति और प्रवाह का भी गुण होता है। प्राकृतिक परिवर्तन ही दैवगति का द्योतक है।' वह इतिहास को भी दैवगति का द्योतक मानते हैं। कहा जा सकता है कि पश्चिम के दार्शनिक तथा धार्मिक चिंतन का प्रभाव इतिहास पर है। पश्चिम की गतिमूलक दृष्टि इतिहास को परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में विकसित करती है। हेरोडोटस इस परिवर्तन में आंतरिक गतिमानता तथा प्रवाह अर्थात् क्रम दोनों को स्वीकारते है। इतिहास को गति और प्रवाह के रूप में देखना एक प्रकार से इतिहास में समय को महत्व देना भी है। वह इस प्रवाह को उत्थान और पतन के रूप में ही संकेत करते हैं। या कहा जाये तो प्रकृति की सन्निकटता इतिहास को सनातन नियम जन्म तथा मरण के रूप में ही देखती है। डॉ. बुद्धप्रकाश हेरोडोटस की दृष्टि पर विचार करते हुए लिखते हैं कि

> ''हिस्ट्री का संदेश है कि किसी बात का उत्कर्ष क्रमशः अपकर्ष में परिवर्तित हो जाता है। प्रत्येक तथ्य चरम सीमा पर पहुँच कर अपने विरोधी तथ्यों को जन्म देता है।''[1]

यह चिंतन भारतीय संस्कृति में समय की चक्रीय अवधारणा के समान ही दिखाई पड़ता है। जैसे भारतीय संस्कृति में समय की धुरी सतयुग की उज्ज्वलता से आरम्भ होकर त्रेता और द्वापरयुग से होते हुए कलयुग की कलुषिकता में पूर्ण होती है। दूसरे शब्दों में यह उत्थान–पतन की एक पूर्ण प्रक्रिया है जो अपनी पूर्णता के उपरांत पूर्नावृत्त होती है। उत्थान–पतन का यह चिंतन ज्ञान के आरम्भिक विकास में पश्चिम तथा भारत

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 69

दोनों में दार्शनिक भिन्नता के साथ देखा जा सकता है। हेरोडोटस के उत्थान–पतन की यह दृष्टि इसी प्रकार के चिंतन को प्रश्रय देती है।

'इतिहास' स्थूल साक्ष्यों द्वारा प्राप्त सूचनाओं पर आधारित होने के कारण एक सीमा का निर्माण भी करता है। सामान्यतः इतिहासकार 'वस्तुनिष्ठता' को स्थूल साक्ष्यों के चयन से जोड़ते हैं। परन्तु उत्तर–आधुनिकता ने इस वस्तुनिष्ठता पर भी प्रश्न खड़ा कर दिया है। उत्तर–आधुनिकता का मानना है कि इतिहास तथ्यों का क्रमबद्ध संकलन न होकर इतिहासकार की दृष्टि से व्याख्यायित होता है तथा जिन तथ्यों का इतिहासकार चयन करता है वह भी पूर्व में किसी व्यक्ति विशेष की दृष्टि को केन्द्र में रखकर संकलित किये गये होते हैं। इस प्रकार वह इतिहास की वस्तुनिष्ठता पर भी प्रश्न चिह्न खड़ा करते हैं। इन वाद–विवादों के बाद भी इतिहास तथ्यात्मक चिंतन को महत्व देते हुए वास्तविक सत्य के सर्वाधिक निकट जाने का प्रयास जरूर करता है। तथ्य चयन की यह प्रक्रिया हेरोडोटस के यहाँ स्पष्ट दिखाई देती है।

इसी युग के एक अन्य इतिहासकार थूसीदाइदीस (454–399 ई.पू.) का परिचय इतिहास–लेखन परंपरा में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह हेरोडोटस से चौदह वर्ष ही छोटे थे। इनकी इतिहास–दृष्टि घटनाओं के वृत्तान्त के साथ–साथ उनके पीछे के कारणों की ओर भी जाती है। समकालीन घटनाओं का प्रभाव उनकी इतिहास–दृष्टि में स्पष्ट दिखता है।[1] एथेनो–पेलोपोनेसियन युद्ध में सम्मिलित होना, परास्त होना, देश निकाला मिलना – यह परिस्थितियाँ उनके राजशाही से जुड़ाव को दिखाती है। शासन से सीधे संबंध होने के कारण आर्थिक प्रतिक्रियाओं के प्रति सजगता, नगरों का विकास, युद्धों का शास्त्रीय चित्रण आदि उनके इतिहास में दिखता है। थूसीदाइदीस के इतिहास में सैन्यवादी गतिविधियों पर अधिक जोर है। अपने आरम्भिक आत्मकथन में वह लिखते हैं –

> 'एथेंसवासी थूसीदाइदीस ने पेलोपोनिशयनों और एथेंसवासियों के बीच हुए युद्ध का इतिहास लिखा जो उस पल से आरंभ होता है जब युद्ध छिड़ा और जो इस विश्वास के साथ लिखा गया कि यह एक महान युद्ध होगा और इससे पहले हुए युद्धों की तुलना में कहीं अधिक महत्वपूर्ण होगा।'[2]

साम्राज्य विस्तार के लिए युद्ध एक अनिवार्य स्थिति रही। जिस कारण इतिहास की अवधारणा निश्चित विषयों के इर्द–गिर्द संकुचित होती है। थूसीदाइदीस और हेरोडोटस समकालीन होते हुए भी अलग–अलग दृष्टि से

---

[1] ''वे उस काल में जन्मे थे जब 431–404 पू.ई. का सत्ताईस वर्षीय युद्ध यूनानी सभ्यता को निर्बल बना रहा था। युद्ध के आठवें वर्ष में वे एथेन्स के दस सेनापतियों के मण्डल के सदस्य नियुक्त हुए थे। उनको सैनिक कार्यों के अतिरिक्त नागरिक शासन का भी संचालन करना पड़ता था। 424–423 की शरद ऋतु में वे थासोस में एथेन्स के जंगी बेड़े के अधिनायक थे। इस वर्ष ब्रासिदस के नेतृत्व में एक लेकेदेमोनी सेना ने उनके बेड़े को परास्त करके एम्फीपोलिस पर अधिकार कर लिया। इस पर एथेन्स के नागरिक बिगड़ गये और उन्होंने थूसीदाइदीस को अपराधी घोषित करके निर्वासित कर दिया। इस निर्वासनकाल में उन्होंने इस युद्ध के विविध पक्षों का अध्ययन करके इसका वृत्तान्त लिपिबद्ध किया।'' (डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 70)

[2] राय, कुमकुम, यूनानी–रोमन परंपरा (पूर्व आधुनिक परंपराएँ – 1), ईकाई – 5, इग्नू, दिल्ली, पृ.स. 7

इतिहास को समृद्ध करते हैं। हेरोडोटस जहाँ अपनी बात की पुष्टि के लिए कल्पना को भी तर्क के रूप में इस्तेमाल करते हैं, वहाँ थूसीदाइदीस अतीत के प्रति अपने रवैये तथा स्रोतों के प्रति अधिक सतर्क दिखाई पड़ते हैं। वह लिखते हैं –

> 'जिस तरह से अधिकांश लोग परंपराओं को, यहाँ तक कि अपने देश की परंपराओं को भी इस तरह लेते हैं जैसे वह उन तक पहुँचती हैं, उनका तनिक भी आलोचनात्मक परीक्षण किए बिना... गवाँर लोग बिना हिचकिचाहट के उस पहली कहानी को आसानी से स्वीकार कर लेते हैं जो उन्हें सुनाई देती है।'[1]

यह सचेतनता उनकी अपनी पद्धति के प्रति भी है।

> 'जो निष्कर्ष मैंने उद्धृत प्रमाणों के आधार पर निकाले हैं उन पर मैं सोचता हूँ कि निर्भर किया जा सकता है।'[2]

यह सजगता इतिहास–लेखन में गंभीरता को निर्मित करती है। वहीं शिक्षित वर्ग केन्द्र में होने से वाक्यों को उत्कृष्ट कौशल के साथ रचा गया।

> 'निश्चय ही वे न तो अपने कौशल की अति युक्तियाँ प्रदर्शित करने वाले कवि की गाथाओं से और न ही इतिहासकारों की ऐसी रचनाओं से व्याकुल होंगे जो यथार्थ की कीमत पर आकर्षक हैं।'[3]

यह गांभीर्यता अनुकरणीय सुस्पष्टता के साथ प्रस्तुत होती है। उदाहरण के रूप में प्लेग का चित्रण देखना चाहिए। वह लिखते हैं –

> 'अच्छे भले लोग अचानक ही सिर में भयंकर दर्द और आँखों में सुर्खी और जलन के शिकार होने लगे तथा जीभ और गले जैसे अंदरुनी अंग रुधिराक्त हो गए जिनसे अस्वाभाविक और दुर्गंधयुक्त साँस आने लगी।'[4]

वहीं लंबे समय तक चले युद्ध का वर्णन भी तीक्ष्णता लिए है।

> 'जब शांति और समृद्धि होती है तो देशों और लोगों के मनोभाव अच्छे रहते हैं क्योंकि वे अपने आपको अत्यावश्यक जरूरतों का सामना करते हुए नहीं पाते हैं ; लेकिन युद्ध रोजमर्रा की जरूरतों की सहज

---

[1] राय, कुमकुम, यूनानी–रोमन परंपरा (पूर्व आधुनिक परंपराएँ – 1), ईकाई – 5, इग्नू, दिल्ली, पृ.स. 10
[2] वही, पृ.स. 10
[3] वही, पृ.स. 11
[4] वही, पृ.स. 11

आपूर्ति को छीन लेता है इसलिए एक कठोर नियंता सिद्ध होता है जो अधिकांश लोगों के आचरण को उनकी नियति के समकक्ष ला खड़ा करता है।'[1]

थूसीदाइदीस के इतिहास की एक अन्य विशेषता भाषणों को सुनियोजित स्थान देना है। थूसीदाइदीस इन भाषणों के प्रति लिखते हैं –

'इस इतिहास में भाषणों के संबंध में देंखे तो कुछ भाषण युद्ध शुरू होने के पहले दिए गए थे और अन्य युद्ध के दौरान ; कुछ को मैंने स्वयं सुना और कुछ अन्य भाषणों के बारे में विभिन्न सूत्रों से ज्ञात हुआ ; इन सभी भाषणों में उन्हें शब्दशः स्मृति में रखना कठिन कार्य था इसलिए मेरी आदत रही है कि मैं वक्ताओं से उन कथनों को बुलवाता हूँ जो मेरी राय में विभिन्न अवसरों पर उनसे अपेक्षित होता था भले ही यह वास्तविक भाषण के सामान्य अर्थ से जितना निकट हो सकता था उतना ही होता था।'[2]

उपर्युक्त अंश थूसीदाइदीस के इतिहास–लेखन का एक प्रारूप प्रस्तुत करते हैं। यही अंश उनकी इतिहास–दृष्टि को भी स्पष्ट करते हैं। हेरोडोटस के समान 'राष्ट्र' ही थूसीदाइदीस के केन्द्र में रहा है। शासन के प्रति इतिहास की केन्द्रीय पश्चिमी इतिहास का महत्वपूर्ण गुण है, जिसे इतिहासकार अपनी दृष्टि से निर्मित करता है। थूसीदाइदीस राष्ट्र के निर्माण में नैतिक परिस्थितियों को महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार ''सबल राष्ट्र की शक्ति नैतिक उत्थान में निहित है। यह सभ्यता का अभिन्न अंग है।''[3] अतः यह उक्ति राष्ट्र के प्रति उनकी परिपक्व दृष्टि का भी संकेत करती है। वह राष्ट्र के लिए अधिनायकशाही और अभिजात–दल के शासन की अपेक्षा जनतंत्र को श्रेष्ठ मानते थे। उनके मतानुसार ''यद्यपि जनतंत्र भी संकटपूर्ण है तथापि यह अन्य शासन–पद्धतियों से उत्तम है।''[4] जनतंत्र को महत्व दिये जाने के पीछे भी एथेन्स उनकी दृष्टि के केन्द्र में है। अतः एथेंस की जनतंत्रप्रियता थूसीदाइदीस की भी दृष्टि बन जाती है। उपर्युक्त विषय पर चिंतन करते हुए पश्चिमी इतिहास–लेखन की एक प्रमुख विशेषता दृष्टिगोचर होती है, जो इतिहास की अवधारणा में महत्वपूर्ण है और वह है इतिहासकार की दृष्टि। इतिहास–लेखन में इतिहासकार की भूमिका पश्चिमी इतिहास की अवधारणा को पुष्ट करती है। इतिहासकार सामूहिकता में निर्मित सामग्री को अपनी दृष्टि से छानकर प्रस्तुत करता है। इस क्रम में वह समाज से आत्मसात होता है तथा सामाजिक मनोविज्ञान को समझता और

[1] राय, कुमकुम, यूनानी–रोमन परंपरा (पूर्व आधुनिक परंपराएँ – 1), ईकाई – 5, इग्नू, दिल्ली, पृ.स. 11
[2] वही, पृ.स. 12
[3] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 71
[4] वही, पृ.स. 71

कहता है। यह सामाजिक मनोविज्ञान थूसीदाइदीस के इतिहास की विशेषता भी है। इस संदर्भ में सी.एन. कोकरेन अपनी कृति 'थूसीदाइदीस एण्ड दि साइन्स ऑव हिस्ट्री' में लिखते हैं कि

> ''थूसीदाइदीस पर हिप्पोक्रेतिक चिकित्सा–शास्त्र का गम्भीर प्रभाव है। हिप्पोक्रेतीस औषधिशास्त्र के ही जन्मदाता नहीं थे, वरन् मनोविज्ञान के भी प्रथम आचार्य थे। थूसीदाइदीस ने सामाजिक मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं का जो विश्लेषणात्मक अध्ययन किया है वह बहुत कुछ हिप्पोक्रेतीस की मान्यताओं पर आधारित है। उदाहरण के लिए उनका प्लेग का वर्णन, युद्ध की उत्तेजना का विवेचन, कोर्सीश की क्रान्ति के आवेग और आवेश का पर्यवेक्षण इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति से ओत–प्रोत हैं।''[1]

जैसा कि कहा गया है कि वह घटनाओं से इतर उनके पीछे के कारणों की खोज करते हैं। उनका सामाजिक मनोविज्ञान इन्हीं घटनाओं के पीछे की पड़ताल है। उनकी दृष्टि में 'प्रकट के पीछे के सूत्रों की खोज' यूनानी विज्ञान के 'स्थायी नियमों के अन्वेषण' को ही पुष्ट करती है। वह यूनान की आलोचनात्मक दर्शन का उपयोग ऐतिहासिक सत्य के समीप पहुँचने के लिए करते हैं। उनकी यह बौद्धिकता दैवीय प्रभाव को अस्वीकार करती है। उनका इतिहास–लेखन बौद्धिक आलोचना से पुष्ट विषयों को ही स्थान देता है। उनकी आलोचनात्मक दृष्टि कथा, व्याख्यान और किवदन्तियों को संशय की दृष्टि से देखती है।

इस परंपरा में आने वाले तीसरे प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार जिनोफोन (430–350 ई.पू.) हैं। इन्होंने दो इतिहास–ग्रन्थ 'हेलेनिका' और 'एनेबेसिस' लिखे। इसके अलावा इन्होंने थूसीदाइदीस के इतिहास–ग्रन्थ को पूरा करने की भी कोशिश की। इनके ग्रन्थ हेरोडोटस और थूसीदाइदीस के इतिहास–लेखन का ही अनुकरण करते हैं। उनकी कृति 'हेलेनिका' में 411 से 363 ई.पू. तक का वृत्तान्त मिलता है। वहीं 'एनेबेसिस' में कुरुष के दस सहस्त्र सैनिकों के 404–401 ई.पू. के दौरान किए गए अभियानों की कथा है। शासन को केन्द्र में रखकर इतिहास लिखने की परंपरा का अनुकरण जिनोफोन भी करते हैं। यह स्पष्ट करता है कि इतिहास–लेखन की परंपरा जिनोफोन के समय में अपनी निश्चित सीमा का निर्माण कर चुकी थी। जिनोफोन के इतिहास–ग्रन्थों की विषय–वस्तु तथा प्रस्तुतिकरण के संदर्भ में डॉ. बुद्धप्रकाश लिखते हैं कि

> ''इसमें सैनिक प्रयाण, कुनाक्सा के युद्ध और साइरस की मृत्यु के ज्वलन्त चित्र मिलते हैं। चित्रमय वर्णन और चरित्र–चित्रण की दृष्टि से यह ग्रन्थ अनूठा है।''[2]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि हेरोडोटस तथा थूसीदाइदीस की वृत्तांत कहने की परंपरा जिनोफोन के इतिहास–ग्रन्थों में मिलती है। अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि आरम्भिक इतिहास–लेखन के प्रारूप को

---

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 71

[2] वही, पृ.स. 73

समझने के लिए हेरोडोटस, थूसीदाइदीस तथा जिनोफोन के इतिहास–ग्रन्थ प्रमाणिक दस्तावेज हैं। इन्हीं का अनुकरण अन्य यूनानी इतिहासकारों ने भी किया है। इन इतिहासकारों का केन्द्र भी समकालीन शासन का इतिहास प्रस्तुत करना रहा। इनका उद्देश्य अतीत के माध्यम से वर्तमान को सँवारना नहीं रहा। इनके ग्रन्थ प्रमुखतः साम्राज्य विस्तार के वृत्तांत, युद्धों का वर्णन, राजाओं का आलंकारिक वर्णन आदि प्रस्तुत करते हैं। इनमें प्रमुख है आयोन और स्तेसिमब्रोतस, जिन्होंने क्रमशः चिओस राज्य का इतिहास और थेमिस्तोक्लीस, थूसीदाइदीस तथा पेरिक्लीस के जीवन–चरित्र लिखे हैं। चौथी शती ई.पू. के दौरान इतिहास–लेखन में आलंकारिक वक्तृता की प्रवृत्ति विकास पाती है। एफोरस (400–336 ई.पू.) जिन्होंने एथेन्स, स्पार्टा, थीबिस आदि राज्यों के इतिहास को संग्रहित कर संपूर्ण इतिहास लिखने की चेष्टा की। साक्ष्यों के आधार पर आलोचनात्मक विवेचन इनकी विशेषता है। थियोपोम्पस ने 'हेलेनिका' में थूसीदाइदीस की कृति को आगे बढ़ाया और 'फिलिपिका' में मकदूनिया के उत्कर्ष का वर्णन किया। इनकी शैली अलंकारिक और श्रृंगारिकता से पूर्ण थी। केलिस्थिनीस ने 387 से 357 तक का यूनान का इतिहास लिखा, ईरान में सिकन्दर के आक्रमण का वृत्तान्त लिपिबद्ध किया ओर फोसियन युद्ध का कथानक तैयार किया। यूनानी इतिहास–लेखन में हेरोडोटस तथा अन्य इतिहासकारों का प्रमुख योगदान साक्ष्यों पर आधारित लेखन को परंपरा रूप में निर्मित करने की रही।

1.3.2 सिकन्द्रिया के इतिहासकार

यूनानी इतिहास परंपरा से इतर 'सिकन्द्रिया के इतिहासकार' लेखन की अलग परंपरा का निर्माण करते हैं। इस परंपरा में आने वाले इतिहासकार मूलतः सिकन्दर के अनुचर थे। जिन्होंने सिकन्दर के जीवन की घटनाओं को क्रमबद्ध प्रस्तुत किया है। इनमें क्लियोमनीस और तोलेमी सोतर के नाम उल्लेखनीय है। इसके अलावा युमनिस और चारेस का भी नाम स्मरण किया जाता है। इनके ग्रन्थ लम्बी अवधि के दौरान काल कवलित हो गये। सिकन्दर के प्रति कटिबद्धता इनके इतिहास–लेखन को प्रभावित ही नहीं अपितु उसको निर्मित भी करती है। इनकी कृतियों में प्रामाणिक और अप्रामाणिक का प्रश्न जटिल रूप से संश्लिष्ट हो गया है। प्रशंसा के भाव ने यथार्थ को दबा लिया है। इन इतिहासकारों ने विश्व इतिहास के मार्ग को प्रशस्त किया। सिकन्दर के विजय अभियानों, भौगोलिक यात्राओं का प्रभाव यह रहा कि प्राकृतिक अनुसंधान और वैज्ञानिक अन्वेषण का क्षेत्र बढ़ गया। इनमें कुछ इतिहासकार ऐसे भी है जिन्होंने भारत जैसे सुदूर देश का भी वर्णन किया है। इनमें प्रमुख है – नियार्कस, मेगस्थनीज, दोइमेकस, दोयोनिसस, बेसिलिस, पेत्रोक्लीस आदि। अरस्तु के शिष्य थियोफ्रेस्तस ने कानूनों का संग्रह किया, धर्म का इतिहास लिखा। इनके शिष्य दूरिस ने 270 से 281 तक का यूनान का इतिहास, अपनी जन्मभूमि सामोस का इतिवृत्त और अगेथोक्लीस का जीवनचरित्र लिखा।

यूनानी चिन्तन–दृष्टि एवं भाषा के विस्तार के साथ स्थानीय इतिहास लिखने की परिपाटी भी बड़ी। इन इतिहासों में मानेथो ने मिस्त्र का इतिहास, बेरोसस ने खल्दिया का इतिहास लिखा, फिलिस्तस और तिमयस ने सिसली का इतिहास, आन्द्रोतियन ने एथेन्स का इतिहास और फिलोकोरस ने अतीका का इतिहास लिपिबद्ध किया। इस युग में प्रदर्शनप्रियता बढ़ी। जीवन की यथार्थ स्थितियाँ गौण तथा अलंकारप्रियता को व्यापक स्वीकृति मिली। वैज्ञानिकता और आलोचनात्मकता धीरे–धीरे इतिहास से विलुप्त होने लगी।

यूनानी इतिहास–लेखन में पोलीबस (205–123 ई.पू.) थूसीदाइदीस के बाद सबसे प्रसिद्ध इतिहासकार हैं। इनके पिता लिकोर्तास अखियन लीग के सेनापति फिलोपो–मेन के मित्र थे। वह स्वयं शासन के संपर्क में रहे। 181 ई.पू. में वह अखियन राष्ट्रमंडल की ओर से सिकन्द्रिया में तोलेमी एपीकानिस की सभा में दूत नियुक्त किये गये। 147 में सिपियों को कार्थेज के विरूद्ध युद्ध का नेतृत्व करने के लिए अफ्रीका भेजा गया। पोलीबस भी उनके साथ मोर्चे पर गये। रोमन राज्य ने यूनानी रियासतों के प्रबन्ध के लिए जो दस प्रशासकों का दल नियुक्त किया उसमें पोलीबस भी सम्मिलित थे। पोलीबस की शासन में प्रत्यक्ष भूमिका उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है। पोलीबस का समय इतिहास के बदलाव का भी समय था। इस युग में क्रमशः रोम का सार्वभौम साम्राज्य स्थापित हुआ।[1] 'ओकेमेनिकल हिस्ट्री' में इन परिस्थितियों का अच्छा वर्णन किया गया है। डॉ. बुद्धप्रकाश लिखते हैं –

> ''इस ग्रन्थ में 221 से 146 ई.पू. तक का लेखक के समय का इतिहास सुरक्षित है किन्तु प्रस्तावना के रूप में 264 से 211 ई.पू. तक के इतिहास की रूपरेखा भी दी गयी है। इसके एक अंश में भूगोल की भी चर्चा थी।''[2]

पोलीबस ने इससे इतर युद्ध–शास्त्र तथा व्याकरण पर ग्रन्थ, फिलोपोमेन की जीवनी और नुमन्तिया के युद्ध के वृत्तान्तों का वर्णन किया है। उनके विचारों पर तत्कालीन परिस्थितियों का सीधा प्रभाव देखा जा सकता है। पोलीबस कहते है कि

> ''नियति सकल संसार और उसके इतिहास को एक लक्ष्य की ओर ले जा रही है और वह है रोम का साम्राज्य। वह वस्तु–स्थिति जिससे विश्व का समस्त कार्य–कलाप एक ही दिशा में अग्रसर हो उठा है और एक ही लक्ष्य की ओर चल पड़ा है, वर्तमान काल का प्रमुख लक्षण है। घटनाओं की एकता

[1] ''पोलीबस के बाल्यकाल से कुछ पहले की पश्चिमी जगत् की आठ प्रधान शक्तियाँ रोम की एकीकृत सार्वभौमता में परिणत हो गयीं। दूसरे और तीसरे प्युनिक युद्ध, दूसरे और तीसरे मकदूनिया के युद्ध, सीरिया के अन्तियोकस तृतीय का युद्ध तथा स्पेन का नुमन्तियन युद्ध जिसके फलस्वरूप स्पेन में रोमन प्रभुत्व जम गया, पोलीबस के देखते–देखते हुए।'' (डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 77)

[2] वही, पृ.स. 78

से इतिहास के सूत्रों में भी एकता आ गयी है। इस एकता को प्रकट करना इतिहासकार का मुख्य कार्य है।''[1]

इतिहास में रोम के साम्राज्य विस्तार के साथ जिस व्यापकता का अनुभव पोलीबस कर रहे थे, वह व्यापकता उनकी इतिहास–दृष्टि को भी निर्मित कर रही थी। इतिहास की प्रक्रिया में एकता, अक्षुण्णता और सार्वभौमता के दर्शन इसी क्रम के चरण हैं। वह कहते हैं –

''सिराक्यूज और स्पेन पर रोम के आधिपत्य का आंशिक कथानक विशेषज्ञों की रचनाओं से भी जाना जा सकता है। किन्तु विश्व–इतिहास के बिना यह समझना कठिन है कि रोम कैसे विश्व–साम्राज्य के सोपान पर चढ़ा।... जब हम यह जानें और देखें कि जब ये युद्ध चल रहे थे उसी समय अनेक क्षेत्रों में इनकी बहुमुखी प्रतिक्रिया हो रही थी। तभी हम इस सर्वतोमुखी विश्वव्यापी ऐतिहासिक प्रक्रिया के आंतरिक मर्म को ठीक से पहचान सकते हैं।''[2]

सिकन्द्रिया के इतिहासकारों की व्यापक दृष्टि विश्व–इतिहास की जिन सम्भावनाओं की ओर गतिमान थी। पोलीबस के यहाँ वह साकार रूप लेती दिखती है। विश्व–इतिहास की यह दृष्टि व्यापक होते हुए भी राजनीतिक केन्द्रीकरण, युद्ध वर्णन, जीवनी आदि परंपराओं से आगे बढ़ती दिखाई नहीं देती। इस क्रम में भूगोल, अर्थव्यवस्था, कानून आदि इतिहास में जुड़ते अवश्य हैं। इस प्रकार इतिहास की दृष्टि व्यापक होती दिखती है। विश्व–इतिहास की व्यापकता लेते हुए भी यह राष्ट्र का इतिहास अधिक था। डॉ. बुद्धप्रकाश लिखते है –

''यह विश्व–इतिहास वास्तव में राष्ट्रीय इतिहास था जिसका नेता सम्पूर्ण राष्ट्र अथवा जाति थी। पोलीबस के इतिहास का वर्ण्य–विषय रोमन जाति का उत्कर्ष है।''[3]

पोलीबस की विशुद्ध बुद्धिवादी दृष्टि, कार्य–कारणवाद का सिद्धान्त, दैवीय कारणों में अविश्वास आदि इतिहास–लेखन की विशिष्ट चिंतन–पद्धति का निर्माण करती है। कहा जाये तो यह इतिहास–दृष्टि के विकास के साथ–साथ थूसीदाइदीस की चिंतन–पद्धति का भी विकास है। वह इतिहास–लेखन में बढ़ रही अलंकारिकता की भी कटु आलोचना करते हैं। उनका कथन है कि ''प्राचीन लेखों की छानबीन मात्र से ही कोई इतिहासकार

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 78
[2] वही, पृ.स. 78
[3] वही, पृ.स. 79

नहीं हो सकता।''[1] इतिहास–दृष्टि को निर्मित करते हुए भी उनके लेखन में दार्शनिक एवं वैज्ञानिक शब्दावली की दुरूहता देखी जा सकती है। अधिक पदत्व दोष भी उनके लेखन को कृत्रिम बना देता है।

1.3.3 रिपब्लिक के अंत तक का रोमन इतिहास–लेखन

रोमन साम्राज्य की स्थापना से शासन में भले ही बदलाव हुआ लेकिन इतिहास–लेखन में यह बदलाव कम ही दिखाई पड़ता है। रोमन इतिहास–लेखन पर यूनानी इतिहास–लेखन का प्रभाव सहज रूप से देखा जा सकता है। प्रारम्भिक रोमन इतिहासकार इतिहास–लेखन के लिए यूनानी भाषा का आश्रय लेते हैं तो वही रोम के प्रथम इतिहासकार *फेबियस पिक्तर* रोमन जाति को यूनानी वीरों से संबंधित करते हैं। इनके बाद के इतिहासकारों में *एल.सिन्सियल एलीमन्तस, सी.एसीलियस, पी.कोर्नेलियस, सिपियो अफ्रीकानस* और *ए. पोस्तूमिनस एलबीनस* इतिहास–कार्य को आगे बढ़ाते है। इस परंपरा को नई दिशा देने का काम *केतो प्रथम* (234–149 ई.पू.) करते है। अपनी कृति 'ओरिजिनीस' में वह पुरातन कथाओं और किंवदन्तियों के अतिरिक्त भौगोलिक, आर्थिक तथा जाति विषयक तथ्यों का संग्रह करते हैं। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि इसमें किसी भी नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। इसके पीछे उनकी दृष्टि है कि 'इतिहास का निर्माण जनता द्वारा होता है, न कि विशेष व्यक्तियों द्वारा।'[2] इस प्रकार वह इतिहास और जनता का सीधा संबंध निर्धारित करते हैं। इसी क्रम में वह इतिहास संबंधी विचार को प्रेक्षित करते हुए कहते हैं कि ''इतिहास व्यावहारिक शिक्षा का साधन है। इससे नैतिक आचार का आदर्श निर्धारित होता है।''[3] इसके साथ–साथ वह इतिहास के अध्ययन में भूगोल, कानून, रीति–रिवाज, भाषा, संस्था, धर्म, साहित्य, सभ्यता आदि को भी महत्वपूर्ण मानते थे। केतो के साथ इतिहासकारों के नये संप्रदाय की शुरूआत हुई। इस परंपरा में आने वाले इतिहासकारों में *केसियस हेमीना, केलपुरनियस पिसो फ्रूगी, कोइलियस एन्तीपेतर, साल्लुस्त* (86–34 ई.पू.), *कोर्नेलियस नीपोस* (99–24 ई.पू.) आदि प्रमुख है। इन इतिहासकारों ने शासन का इतिहास, युद्ध वर्णन, युद्धों पर अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत की। इस युग में दिनचर्याओं और संस्मरणों के लेखन की प्रथा आरम्भ हुई। इस परंपरा में *सेम्प्रोनियस एसेलियो, रूतिलियस रूफस, लूतेतियस केतेलस* आदि का नाम उल्लेखनीय है।

1.3.4 साम्राज्यकालीन इतिहासकार

रोमन साम्राज्य की स्थापना तथा प्रसार ने समकालीन इतिहासकारों को प्रभावित किया। अतः साम्राज्य के विस्तार के साथ इन इतिहास–लेखकों ने रोमन साम्राज्य के विस्तार का इतिहास लिखा। 44 ई.पू. में सीजर

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 79
[2] वही, पृ.स. 80
[3] वही, पृ.स. 80

की हत्या के बाद रोम में गृहयुद्ध की स्थिति बनी। 13 वर्षों के विप्लव के बाद 31 ई.पू. में एकतियस के युद्ध में आगस्तस की विजय हुई। अगस्तस के समय में साहित्य का पुनरूत्थान आरम्भ हुआ। 29 ई.पू. में वरजिल ने 'एनिद' की रचना आरम्भ की। 27 ई.पू. में लिवी के इतिहास का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। इन दोनों लेखकों की श्रद्धा आगस्तस के शासन के प्रति थी। अतः उनका विश्वास था कि 'स्वर्णयुग का दिव्य विहान विश्व को उद्भासित कर रहा है।'[1] उनकी दृष्टि में साम्राज्य का प्रतीक सम्राट एक देवता (दिवस्) था। *लिवी* (59 ई.पू. – 71 ई.) साम्राज्यकाल के इतिहासकारों में प्रमुख हैं। उन्होंने रोमन गणतंत्र का विघटन, रोमन साम्राज्य की स्थापना और ऑगस्तस के युग का चरमोत्कर्ष अपनी आँखों से देखा था। वह वरजिल और होरेस की तरह ऑगस्तस के दरबार के रत्न थे। लिवी के समय में प्रचलित इतिहास–लेखन प्रमुख रूप से समकालीन इतिहास को ही अभिव्यक्त करता है। वैसे अपनी संपूर्णता में यह इतिहास रोम के पौराणिक इतिहास से लेकर 9वीं ई. तक का इतिहास प्रस्तुत करता है। लिवी के इतिहास का प्रमुख केन्द्र रोमन साम्राज्य के युद्ध थे। इन वर्णनों में नैतिकता का स्वर इन्हें विशिष्टता प्रदान करता है। वह रोमन साम्राज्य के युद्धों की गाथाएँ अवश्य लिखते हैं परन्तु एक ओर असहजता का भाव भी प्रकट करते हैं। इसे उनके आत्मकथन में सरलता से देखा जा सकता है –

> ''मैं पाठकों का ध्यान अपने पूर्वजों के जीवन जैसी गंभीर बात और राजनीति और युद्ध में ऐसे व्यक्ति और साधनों की ओर खींचना चाहता हूँ जिनकी मदद से रोम की सत्ता पहले अर्जित की गई और बाद में उसका विस्तार किया गया। इसके बाद मैं उन्हें हमारे नैतिक पतन की प्रक्रिया खोजने को बाध्य करूँगा जिसमें पहले वह देखेंगे कि कैसे पुरानी शिक्षा को नष्ट होने देने की वजह से नैतिकता की नींव धसकने लगी और कैसे अंततः पूरा भवन ही नष्ट हो गया। वह हमारे आधुनिक दिवस की काली ऊषा भी देख पाएँगे जब न तो हम अपनी बुराइयों को जी पा रहे होंगे और न ही उनका इलाज करने वाली दवाओं का सामना कर पा रहे होंगे।''[2]

यह लेखन जनता को शिक्षा देने का एक माध्यम भी था। लीवी का तर्क था कि –

> ''जो मुख्य रूप से इतिहास के अध्ययन को लाभप्रद और हितकर बनाता है वह यह है कि सभी के देखने–समझने के लिए स्पष्ट रूप से इतिहास में हमारे पास मानवीय अनुभवों के असंख्य रूप दर्ज होते हैं और इस दस्तावेज में हम अपने लिए और अपने देश के लिए उदाहरण और चेतावनियाँ ढूँढ़ सकते हैं।''[3]

---

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 82

[2] राय, कुमकुम, यूनानी–रोमन परंपरा (पूर्व आधुनिक परंपराएँ – 1), ईकाई – 5, इग्नू, दिल्ली, पृ.स. 8

[3] वही, पृ.स. 8

तत्कालीन समय में एक प्रचलित मत के अनुसार वह इतिहास ही उत्कृष्ट है जिसे स्वयं इतिहासकार ने जिया है। अतः अपने युग को प्रेक्षित करना ही तत्कालीन इतिहास–लेखकों का मूल उद्देश्य रहा। यह प्रेक्षण संक्षिप्त और सचेतन होने से तत्कालीन परिस्थिति का सजीव चित्र प्रस्तुत करता है। इसका उदाहरण सामान्य लोगों और सिनेटरों के बीच द्वंद्व (494 ई.पू. – 493 ई.पू.) के विवरण में देखा जा सकता है –

> ''शहर में भयंकर आतंक छाया हुआ था और परस्पर भय के कारण सबकुछ अनिश्चित था। शहर में बचे हुए लोग सिनेटरों की हिंसा की आशंका महसूस कर रहे थे और सिनेटर शहर में बचे हुए लोगों से भयभीत हो रहे थे....।''[1]

समकालीन परिस्थितियों के चित्रण की परंपरा का अनुकरण लीवी अपने इतिहास में करते हैं। उनका इतिहास इटली में एनिस के आगमन से 9 ईसा तक के समय का चित्रण करता है। उन्होंने इतिहास को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया है – प्राचीन इतिहास और अर्वाचीन इतिहास। इस विभाजन के मूल में साम्राज्य की स्थापना है। पोम्पे और सीजर के युद्ध से प्रथम काल का अन्त और दूसरे का आविर्भाव होता है। यह युद्ध रोमन साम्राज्य की स्थापना के आरम्भ के रूप में देखा जाता है। इतिहास को नैतिक तथा मूल्यगत शिक्षा का माध्यम बनाना उनकी साम्राज्यवादी दृष्टि का एक अभिन्न पक्ष है। उसका प्रभाव इतिहास–दृष्टि तथा इतिहास–शैली दोनों में देखा जा सकता है। डॉ. बुद्धप्रकाश लिखते हैं –

> ''वे इतिहास को अलंकार–शास्त्र का अंग समझते थे। अतः उनकी शैली पुष्पित, सज्जित और प्रवाहमयी है। उनके मतानुसार इतिहास का उद्देश्य नैतिक आदर्शों की शिक्षा देना और देशप्रेम के भाव को दृढ़ करना है। यद्यपि उनका इतिहास अत्यंत रोचक है, उनकी आलोचनाशक्ति इतनी तीव्र नहीं है।''[2]

इतिहास को अलंकार–शास्त्र का अंग, नैतिक आदर्श तथा देशप्रेम की शिक्षा देने का माध्यम मानने के पीछे लीवी की साम्राज्यवादी दृष्टि को सहज ही देखा जा सकता है। लिवी की यह परंपरा *त्रोगस पोम्पीयस, फेनेस्तेल्ला, हाइजीनियस, कालपुरनियस, वोलुमनियस, मराथस, अकन्तियस* और *लिसिवियस* आदि के इतिहासों में बढ़ती है।

साम्राज्यकालीन इतिहासकारों में *सी. कोर्नेलियस तेसीतस* (55–120 ई.) इस युग के अंत के प्रमुख इतिहासकार है। वह साम्राज्यवादी शासन से निकटता से संबद्ध थे। अतः उनके इतिहास–ग्रन्थ आलोचनात्मक रूप से सम्राटों की समीक्षा करते हैं। 'अग्रीकोला का जीवनचरित्र', 'जर्मानिया', 'हिस्तोरे' और 'अनाल' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। परन्तु उनकी यह आलोचना कई बार प्रवाह में सत्य से दूर ले जाती है। उदाहरण के लिए

---

[1] राय, कुमकुम, यूनानी–रोमन परंपरा (पूर्व आधुनिक परंपराएँ – 1), ईकाई – 5, इग्नू, दिल्ली, पृ.स. 12

[2] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 82

उन्होंने ताइबेरिस को नृशंस, क्रूर और अत्याचारी सिद्ध किया तथा दूसरी ओर क्लादियस उनकी निंदा का पात्र बना। जबकि आधुनिक शोध ने इन दोनों शासकों को श्रेष्ठ सिद्ध किया। तेसीतस का दृष्टिकोण अधिक वैयक्तिकता को दिखाता है। जिस कारण उनका दृष्टिकोण कुछ संकुचित होता दिखता है। डॉ. बुद्धप्रकाश लिखते हैं –

> ''तेसीतस में वह विस्तृत दृष्टिकोण नहीं मिलता जो पोलीबस की विशेषता है। वे रोम के आंतरिक मामलों में ही उलझे रहे। सिनेट के दल के प्रति उन्हें बड़ा पक्षपात था। शांतिपूर्ण व्यवस्था से उन्हें घृणा थी। युद्ध और विजय में उन्हें आनन्द मिलता था।''[1]

युद्धों का वर्णन एक प्रकार से परंपरा के अनुकरण को ही दिखाता है। उनकी वर्णन शैली प्रवक्ता जैसी है। वे अपने विचार पात्रों के माध्यम से कहलवाते हैं। उनका चरित्र–चित्रण भी कृत्रिम और काल्पनिक है।

> ''वे पुण्य और पाप के निदर्शन प्रस्तुत करना चाहते थे। अतः उनके पात्र मूर्तिवत् हो गये हैं। उनमें सजीवता नहीं है। अग्रीकोला ओर दोमीतियन ऐसे ही परिपूर्ण निर्जीव आदर्श हैं जैसे ग्लोकोन ने सुक्रतु के सामने प्रस्तुत किये थे।''[2]

आदर्श चरित्रों के निर्माण ने उन चरित्रों को निर्जीव बना दिया है। व्यावहारिक जीवन से वह काफी दूर हो गये हैं। ऐसे में ऐतिहासिकता के सूत्र भी ओझल हो गये हैं। स्थायी आदर्शात्मकता ऐतिहासिक गतिशीलता को इतिहास में स्थान नहीं दे पाती।

1.3.5 ईसाई इतिहास–लेखन

पाँचवी शताब्दी ईसा में पेगेन इतिहास–लेखन का अन्त हो गया। आगामी 800 वर्ष तक यूरोपीय इतिहास–लेखन ईसाई सन्तों और पुजारियों द्वारा लिखा गया। ईसाई इतिहास–लेखन प्रमुख रूप से बाइबिल को दृष्टिगत–केन्द्र बनाते हुए पूर्व परंपराओं को अपने में संयोजित करता है। डॉ. बुद्धप्रकाश लिखते हैं –

> ''ईसाई धर्म के विकास और प्रसार में एक ओर तो पूर्व की सभी इलहामी परंपराओं का समन्वय हो गया और दूसरी ओर रोमन संस्कृति और साम्राज्य की सभी प्रवृत्तियों का समावेश हो गया।''[3]

---

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 83
[2] वही, पृ.स. 83
[3] वही, पृ.स. 90

इस क्रम में ईसाई इतिहास–लेखन पूर्व परंपरा का अनुसरण करते हुए इतिहास की अवधारणा का विकास करती है। यहूदी चिंतन की विस्तीर्ण और व्यापक दृष्टि ईसाई धर्म के प्रभाव में विश्वजनीन और सार्वभौमिक रूप लेती है। ईसाई धर्म मानता है कि

> ''भगवत्कृपा प्राणिमात्र को अभिसिंचित करती है। जातिगत भेदभाव निरर्थक है। अपनी श्रद्धा, भक्ति और सत्कर्म द्वारा प्रत्येक प्राणी इस कृपा के सागर में अवगाहन करने का अधिकार रखता है।''[1]

इसी के साथ रोमन संस्कृति भी सार्वजनीनता की ओर गतिमान होती है। ईसाई धर्म का प्रभुत्व तेजी से चारों ओर फैलता है। ईसाई धर्म के व्यापक प्रसार को रोम की तत्कालीन परिस्थितियाँ ओर अनुकूल बनाती हैं। यह देखा जाना आवश्यक है। तत्कालीन रोम वैज्ञानिकता और व्यावहारिक विद्याओं के ह्रास तथा रहस्यवादी और मुक्तिमार्गी धर्मों के प्रचलन से ईश्वरोन्मुख हो रहा था। ऐसे में पूर्वी धर्मों का प्रचलन बढ़ा। वहीं दूसरी ओर ईसाई धर्म के आगमन से पूर्व ही ईसिस धर्म[2] का प्रचलन रोम में हो चुका था। एल.फिशर कहते हैं कि

> ''ईसाई होने से पहले ही रोम धार्मिक बन गया था और मन्दिरों तथा प्रतिमाओं, पुजारियों और धार्मिक जुलूसों, मोटी ऊन के लबादे पहिने हुए उदासी दार्शनिकों, ज्योतिषियों और जादूगरों का नगर हो गया था।''[3]

अतः ईसाई धर्म का विकास तथा इतिहास–लेखन पर उसका प्रभाव ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम जान पड़ता है। पूर्व की ऐतिहासिक प्रवृत्तियाँ ईसाई धर्म में समन्वित होती हैं तथा ईसाई इतिहास–दर्शन पहले के सब सूत्रों का केन्द्र बनता है।

यूरोपीय मध्ययुग में 'हिस्टोरिया' और 'क्रोनिका' दो शब्दों का प्रयोग इतिहास के क्रम निर्धारण तथा उत्कीर्णन के लिए किया गया। *डोर ऑ सेविले* (560ई.–636ई.) की परिभाषा के अनुरूप हिस्टोरिया शब्द का अर्थ 'सत्य का कथन' (नरेशिओ रिरम जेस्टारम) के रूप में लिया गया। इस दौरान इसके साथ 'क्रोनिका' (पुराना) शब्द का अर्थ भी जोड़ा गया जिसने इतिहास को 'हिस्टोरियोग्राफी' अर्थात् विगत के व्याख्यात्मक 'क्रोनिकल' का अर्थ दिया। इस प्रकार इतिहास–लेखन में अतीतोन्मुख दृष्टि का विकास हुआ। इसने इतिहास को शब्द–संसर्ग के साथ–साथ वस्तुगत अर्थ प्रदान किया। ईसाई संतों का महत्वपूर्ण योगदान इतिहास को एक निश्चित केन्द्र से देखने तथा मूल्यांकित करने का भी रहा। काल की धुरी को मापने तथा क्रमानुक्रमिक

---

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 90

[2] ''ईसिस धर्म का संविधान ईसाई सम्प्रदाय से मिलता जुलता था। इसमें पोप, पुजारी, सन्त, भजनीक आदि होते थे। देवी की प्रतिमा मन्दिरों में प्रतिष्ठित की जाती थी और नित्य उसकी प्रार्थना और स्तुति की जाती थी। पुजारी और पुरोहितों का मुण्डन किया जाता था। वे श्वेत वस्त्र और चोगे पहिनते थे। सम्राट् मार्कस ओरेलियसस ने मिश्र का मन्दिर स्थापित किया था और सम्राट् ओरेलियन ने सूर्य पूजा को राष्ट्रीय धर्म घोषित कर दिया था।'' वही, पृ.स. 91

[3] वही, पृ.स. 91

विकास के अध्ययन के लिए 'ईसा' का प्रथम प्रयोग ईसाई संतों द्वारा किया गया। इस प्रकार काल की दो दृष्टियाँ विकसित हुई पहली जो संसार को ईश्वरीय लीला के रूप में देखते हुए सार्वभौमिकता में विश्वास करती थी तथा दूसरी, कथाओं के माध्यम से अतीत के संबंध को वर्तमान से बौद्धिक प्रतिनिधित्व के रूप में जोड़ती थी। इस तरह इतिहास–लेखक तथ्यों के सही विभाजन, सतत क्रमबद्धता, दिन, रात आदि से संबद्ध रहे। इसका उदाहरण है ईसाई इतिहास–दर्शन के प्रवर्तक *सन्त पाल*। इनकी 'बुक ऑव ऐक्टस' ईसाइयत के प्रचार और प्रसार पर यथेष्ट प्रकाश डालती है। 'रोमन्स' में पाल ने इतिहास को तीन भागों में बाँटा है जिनके प्रतिनिधि क्रमशः आदम, मूसा और ईसा है। सन्त पाल के विचारानुसार

> ''पतन से पहले का युग ऐतिहासिक नहीं, वरन् आदर्श था। प्रथम ऐतिहासिक युग अज्ञान और बर्बरता का काल था। दूसरे युग का प्रादुर्भाव मूसा के कानूनों से हुआ। यहूदियों को उस रहस्य और चरम सत्य का साक्षात्कार हुआ जो सृष्टि के आरम्भ से ही निगूढ़ था।... तीसरे युग में ईसू ने इस सत्य का पूर्ण प्रकटीकरण और साधारणीकरण किया।''[1]

पाल का काल–विभाजन ईसाईयत को केन्द्र में रखता है। उनकी दृष्टि विश्व को ईश्वर की लीलाओं का केन्द्र मानती है। पाल मानते थे कि रोम के साम्राज्य की स्थापना भी ईश्वर की इच्छा का परिणाम है। दरअसल रोमन साम्राज्य की स्थापना ईसाइयत की पूर्वपीठिका के रूप में भगवान् की एक योजना का अंग है। आर्नोल्ड जे. ट्वायनबी मानते हैं कि

> ''रोमन साम्राज्य का पतन इस उद्देश्य से हुआ कि ईसाई–धर्म की उन्नति हो सके।... प्रत्येक लौकिक साम्राज्य का ही कार्य यह है कि वह धर्म के प्रसार की पूर्वपीठिका बने।''[2]

यह दृष्टिकोण ईसाई इतिहास–दर्शन के मूल में गतिमान होता है।

इन इतिहासों का उद्देश्य बाइबिल के इतिहास (जो कालक्रम गणना में सही नहीं थे) को प्राचीन कालक्रम से जोड़ना था। जिसमें वृहद् ईसा–पूर्व का इतिहास शामिल हो और कई कालों तक फैला हो। ईसाई विचारक संसार को भगवान् की लीला मानते थे। इस दृष्टिकोण से इतिहास विशिष्ट व्यक्तियों अथवा विशिष्ट संस्थाओं के विचारों और कृत्यों का वृत्तान्त न होकर दैवी इच्छा–शक्ति की क्रीड़ा थी। इस दृष्टि पर विचार करते हुए आर.जी.कोलिंगवुड अपनी पुस्तक 'दि आईडिया ऑव हिस्ट्री' में मानव इतिहास के चार लक्षण बताते हैं –

---

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 93

[2] वही, पृ.स. 93

1. यह जातियों और राजवंशों की गतिविधि का निष्पक्ष अध्ययन है।
2. इसमें विभिन्न देशों और जातियों का इतिहास एक सार्वभौम संदर्भ में एकत्रित हो जाता है।
3. इस विश्वव्यापी दृष्टिकोण का प्रतीक ईसू मसीह की जन्म–तिथि पर आधारित एक निश्चित कालक्रम है।
4. ऐतिहासिक घटनाएँ एक आन्तरिक गति की परिचायक हैं जिन्हें धार्मिक परिभाषा में भगवान् की इच्छा की अभिव्यक्ति कहते हैं।[1]

इस प्रकार ईश्वर की इच्छा और कृपा को हेलेनिक युग से विभिन्न नाम दिये जाने लगे थे। इसे शब्द (वर्ड), रक्षक (सेवियर), परमात्मा (स्पिरिट), स्रष्टा (क्रियेटर), स्वामी (लार्ड), दैवी कानून (डिवाइन ला), प्राकृतिक कानून (नेचुरल ला), भगवद्शक्ति (पावर आफ गाड), प्रज्ञा (रीजन), मेधा (विजडम) आदि नामों से अभिहित किया गया है। वहीं इतिहास–लेखकों के समक्ष ईसाई धर्म और धर्मनिरपेक्ष परंपराओं के बीच सामंजस्य स्थापित करने की समस्या खड़ी हुई। *मिस्टर एकहार्ट* (1260ई.–1327ई.) ने ईसा के मोक्षवादी इतिहास को केंद्र–बिंदु निर्धारित करते हुए राजनीतिक सत्ता के नव–निर्माण को भी संदर्भ बिन्दु बनाया।

> 'यद्यपि उन्होंने इतिहास की धार्मिक संकल्पना को स्वीकार किया, उन्होंने प्रत्येक पुस्तक को राजनीतिक बदलाव की कथा के साथ समाप्त किया, और इस तरह उन्होंने विश्व की अस्थिरता को संकेतित किया।'[2]

निर्वाण युग, राज्यों का पंजीकरण तथा शासकों के मध्य इतिहासकारों ने कथात्मक तथा तथ्यात्मक एकता स्थापित करने का प्रयास किया। इससे प्राकृतिक परिवर्तन तथा इतिहास के अल्पकालिक प्रकृति में विश्वास बढ़ा। क्योंकि धरती की सभी वस्तुएँ काल द्वारा निर्देशित थीं। मध्यकालीन इतिहासकारों के लिए ऐतिहासिक परिवर्तन राज्यों तथा शासनों के उत्थान–पतन से ही संबंधित था। अतः ईश्वर की कालातीत दृष्टि तथा वस्तुजगत की सीमाओं में बँधी दृष्टि का संक्रमित विकास इतिहास–लेखन में होता है। *तेतियन* (द्वितीय शताब्दी ईसा) की दृष्टि इतिहास–दर्शन को सार्वभौमिकता प्रदान करती है। वह 'यूनानियों के नाम संदेश' में प्राचीन हिब्रू इतिहास को यूनानी–रोमन इतिहास के साथ जोड़कर देखते हैं। इस प्रकार तेतियन विश्व–इतिहास की परंपरा का सूत्रपात करते है। तेतियन का ही अनुकरण *सेक्सटस जूलियस अफ्रीकानस, यूसेबियस, जीरोम, ऑगस्तीन, इसिदोर* आदि करते है। वहीं दायोक्लीशियन का ईसाई–विरोधी समय ईश्वरीय तत्व से अलग ऐतिहासिक चेतना की ओर बढ़ता है।

---

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 92

[2] दत्त, रजत, इतिहास–लेखन : पूर्व आधुनिक परंपराएँ – 2, ईकाई – 8, मध्यकालीन इतिहास–लेखन – पश्चिमी, इग्नू, दिल्ली,, पृ.स. 5

''अतीत की मध्ययुगीन संकल्पना इस प्रकार पूरी तरह से व्यक्तिगत, संदिग्ध, यहाँ तक कि विरोधाभासी थी जो एक तरफ ऐतिहासिक विकास में मिश्रित विश्वास, और दूसरी तरफ, उसकी अपरिवर्तनीयता युगीन बदलाव और एक ही समय उसकी निरंतरता और ऐतिहासिक परिस्थितियों से संबंधित थी।''[1]

इस प्रकार स्थायी अतीत को विकास के रूप में देखा गया। सार्वभौमिक दृष्टि तथा भौतिक विकासात्मक दृष्टि ने वृहद् प्रयोजन उत्पन्न किये जो विरोधी प्रवृत्ति के विरूद्ध नहीं था और कालक्रम तथा घटनाओं को विषय के साथ जोड़ता था।

ईसाईयत का मूल उद्देश्य ईसाई धर्म की स्थापना और प्रचार–प्रसार का कार्य *लेक्तेन्तियस* और *कोंसतेन्ताइन* के इतिहास–लेखन में दिखाई देता है। लेक्तेन्तियस ईसाई और पेगेन धर्मों की तुलना कर ईसाई धर्म की महत्ता सिद्ध करते हैं तो 313 ई. में कोंसतेन्ताइन ईसाईयत को राजधर्म घोषित कर एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रदान करते हैं। पहले से चला आ रहा शासन केंद्रित इतिहास–लेखन, ईसाईयत के राजधर्म घोषित होने के साथ ईसाई–धर्म को इतिहास–लेखन में धार्मिक तथा राजनीतिक दोनों रूप से केन्द्र में ले आता है।

''बाइबिल में ईसाई परंपरा के बिखरे हुए पाठों को स्वीकरण है जिसने इसे इतिहास–लेखन प्रारूप के संदर्भ में इतिहास के अनुरूप बनाया जो प्रतीकवाद के एकीकृत पद्धति के साथ मिला हुआ था, अतः इतिहास को परंपरा और प्रतिनिधित्व से जोड़ा गया।''[2]

बाइबिल को ऐतिहासिक बनाने के रूप में भी इन इतिहासकारों की भूमिका थी। ईसाई इतिहास–लेखन में *यूसेबियस* (260–340 ई.) का योगदान महत्वपूर्ण है। उनके 'क्रानिकिल', 'इक्लीजियास्टीकल हिस्ट्री', 'लाईब्ज ऑव दि मार्टर्स ऑव पेलेस्टाइन' और 'लाईव्ज ऑव कास्तेन्ताइन्' प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। डॉ. बुद्धप्रकाश यूसेबियस की 'क्रानिकिल' का परिचय देते हुए लिखते है –

''उनकी 'क्रानिकिल' सेक्स्तस अफ्रीकानस के इतिहास पर आधारित है। यह विश्व की समस्त ज्ञात जातियों की तुलनात्मक काल–तालिका है। यह तालिका इब्राहीम से प्रारम्भ होती है। ईसाइयत का प्रादुर्भाव इसका केन्द्र–बिन्दु है। रोमन सम्राटों की परंपरा की कालगणना भी ईसाई संवत्सर के अनुसार की गयी है। यूसेबियस का महत्वपूर्ण कार्य मानव इतिहास को एक काल–क्रमात्मक दृष्टिकोण प्रदान करता था।''[3]

[1] दत्त, रजत, इतिहास–लेखन : पूर्व आधुनिक परंपराएँ – 2, ईकाई – 8, मध्यकालीन इतिहास–लेखन – पश्चिमी, इग्नू, दिल्ली,, पृ.स. 6
[2] वही, पृ.स. 6
[3] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 94

काल–क्रम में इतिहास प्रस्तुत करने का यूसेबियस का कार्य अन्य विद्वानों ने आगे बढ़ाया। सम्पूर्ण विश्व को ईसा की धुरी से निश्चित करना ईसाई धर्म की सार्वभौमिक दृष्टि का ही परिचय देती है। इस क्रम में ऐतिहासिक समानता पर भी बल दिया गया। जिससे सार्वभौमिक नियमों का निर्माण किया गया। विशिष्ट नियमों को बहुत कम स्थान दिया गया।

पाश्चात्य जगत् की सीमित सूचनाओं को *सन्त जीरोम* ने विस्तृत करते हुए काल–तालिका को 378 ई. तक बढ़ा दिया। अलग–अलग क्षेत्रों में इसकी काल–सीमाएँ बढ़ती गई।[1] यूसेबियस का 'ईसाई संप्रदाय का इतिहास' (इक्लीजियास्टिकल हिस्ट्री) उनके ग्रन्थ 'क्रानिकिल' की तरह अनेक विद्वानों ने आगे बढ़ाया। इनमें *सोक्रेतीज, थियोदोरेतस* और *एवाग्रीयस* का नाम उल्लेखनीय है।[2]

ईसाईयत के प्रचार–प्रसार के काल में रोमन साम्राज्य जर्मन जातियों के आक्रमण से त्रस्त था। इस समय में एक धारणा जिसका व्यापक रूप से फैलाव हुआ वह यह थी कि 'चूँकि रोमन लोगों ने अपने प्राचीन आचार–विचार छोड़कर एक विदेशी धर्म को स्वीकार कर लिया है, इसीलिए उन पर यह दैवी प्रकोप अवतीर्ण हुआ है।'[3] इस धारणा के विरोध में *सन्त ऑगस्तीन* और उनके शिष्यों द्वारा इतिहास–लेखन किया गया। ईसाई इतिहास–लेखन में सन्त ऑगस्तीन का व्यापक प्रभाव बाद के इतिहास–लेखन पर दिखाई पड़ता है। सन्त ऑगस्तीन ने लगाये जा रहे आरोपों के खण्डन के लिए 'दि सिवितास दीई' (देव नगर) का प्रणयन किया। इस पुस्तक में उन्होंने सिद्ध किया कि यह सभी आरोप निर्मूल हैं।[4] ऑगस्तीन ने देव–नगर और पाप–नगर के विरोधाभास का प्रतिपादन करते हुए इतिहास की व्याख्या की।[5] संत ऑगस्तीन ईश्वर के काल

---

[1] पूर्व में मार्सेलिनस इसे 534 ई. तक ले आये। स्पेन में इदातियस ने इसे 468 ई. तक पूरा किया। गॉल में प्रोस्पर और मेरियस ने इसे क्रमशः 455 ई. और 581 ई. तक बढ़ाया। अफ्रीका में ल्यूनिस के पादरी विक्तर ने इसे 566 ई. तक लिखा और बाद में इटली के केसियोदोरस, सेविल के इसिदोर और इंग्लैण्ड के बीडी ने इसे क्रमशः 590 ई., 636 ई. और 735 ई. तक पूरा किया। (डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 94)

[2] यूसेबियस ने इसे (इक्लीजियास्टिकल हिस्ट्री) को 309 ई. पर समाप्त कर दिया था क्योंकि अरियन होने के नाते उन्हें कोंस्तेनताइन द्वारा अथेनेसियन सम्प्रदाय का स्वीकार करना रूचिकर नहीं था। किन्तु कुस्तुनतुनिया के एक वकील सोक्रेतीज ने इसे 439 ई. तक बढ़ाया और सोजोमेन ने इसे 429 ई. तक लिखा। पाँचवी शती में थियोदोरेतस ने अपनी स्वतंत्र शैली और भाषा में इसे 439 ई. तक पूरा किया। छठीं शताब्दी में एवाग्रीयस इसे 594 ई. तक ले गये। (वही, पृ.स. 95)

[3] वही, पृ.स. 95

[4] यदि यह आरोप सत्य होता कि ईसाई धर्म ग्रहण करने के कारण रोम पर बर्बर जातियों के आक्रमणों की आपत्ति टूटी तो इन आक्रमणों में ईसाई गिरजाघरों और धर्मस्थानों को सुरक्षित घोषित करके उनमें शरण लेने वाले रोमनों को क्यों अभयदान दिया जाता। यही नहीं, आक्रमणकारियों ने स्वयं बहुत से लोगों को इन स्थानों में धकेल कर अपने शिकार स्वयं अपने हाथों से छोड़ दिये। क्या कभी पहले किसी धर्म के पवित्र स्थानों को इतना महत्व मिला है? यह ईसाईयत का ही प्रभाव था कि इसका अनुयायी गॉथ योद्धा एलेरिक रोम पर अधिकार करने में समर्थ हुआ जब कि यूनानी–रोमन धर्म का कट्टर समर्थक रेदेगायसस और उनकी सेना रास्ते में ही नष्ट–भ्रष्ट हो गयी। यदि इन यूनानी रोमन देवताओं में सचाई होती तो वे त्राय को क्यों नष्ट होने देते और यदि वे इस महान् नगर को नहीं बचा सके तो वे कैसे रोम की रक्षा कर सकते। (वही, पृ.स. 96)

[5] समय की उत्पत्ति से पहले ईश्वर का अमर–अजर अस्तित्व था। उसने देवताओं और मनुष्यों की सृष्टि की। ये देवता (फरिश्ते) स्वतंत्र थे और ईश्वर के आज्ञापालन के लिए बाध्य नहीं थे। अतः कुछ ने अपने–आप से प्रेम करना आरम्भ कर दिया। इनको पापों की श्रृंखलाओं में जकड़ कर अन्धकार में फेंक दिया गया। सर्प के प्रलोभन द्वारा मनुष्य पाप के अधीन हो गया और ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करके वर्जित फल खा बैठा और फलतः जन्म, जरा तथा मृत्यु के कष्टकारी क्रम का बन्दी बन गया। किन्तु ईश्वर ने फिर भी दया करके उसे अपनी पृष्टि से अभिसिंचित किया। ईश्वर के आज्ञाकारी देव और मनुष्य दिव्य नगर के निवासी हो गये और उसके विरोधी अपने–आप को सब कुछ समझने वाले लोग पाप के नगर में बस गये। इन दोनों नगरों की प्रगति समान रूप से चली। पाँच युग बीत चुके हैं और छठा समाप्ति पर है। पहले युग में आदम और उसके वंशज की अभिवृद्धि हुई। केन ने अपने भाई आबल को मार कर प्रथम पार्थिव नगर की स्थापना की। मनुष्य की स्त्रीपरायणता के दण्डस्वरूप ईश्वर ने महाप्रल्य के अभिशाप द्वारा उनका अन्त किया। नोह और उसके पुत्र ही इस संकट से बच पाये। उसकी नौका चर्च की प्रतीक थी, जिसके द्वारा ईश्वर मनुष्य को मुक्ति का वरदान देता है। दूसरे युग में नोह के पुत्रों से जातियों की उत्पत्ति हुई। इनमें यहूदी देव–नगर के निवासी थे। दूसरे युग में नोह के पुत्रों से जातियों की उत्पत्ति

तथा सांसारिक काल के बीच अंतर को समझते थे। इसीलिए उन्होंने ऐतिहासिक परिवर्तन की पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की थी। उनका तर्क था कि ''सिर्फ ईश्वर ही पूर्ण और नश्वर है, जबकि सांसारिक विश्व में परिवर्तन मानवीय अस्तित्व की अपूर्णता का परिणाम था।''[1] ऑगस्तीन इन दो दृष्टियों के अंतर को पहचानते हुए भी दैविक विश्वास तथा ऐतिहासिक विकास का संक्रमित इतिहास लिखते हैं। वह देव–नगर और पाप–नगर पर बात करते हुए युगों का क्रमबद्ध वर्णन करते हैं। इस प्रकार ऑगस्तीन के इतिहास में ईश्वर ही इतिहास का अभिनेता दिखाई देता है। सत्य और पाप के कारण ही इतिहास में परिवर्तन होता है। सृष्टि का निर्माण, प्रलय और ईसू का आगमन आदि सभी ईश्वर की लीलाओं के विषय हैं। इस प्रकार सन्त ऑगस्तीन इतिहास की प्रवृत्ति, दिशा और लक्ष्य निश्चित करते हुए उसे एक दार्शनिक दृष्टिकोण प्रदान करते हैं। आपसी मतभेदों, क्रिया–प्रतिक्रियाओं के क्रम में ऑगस्तीन के शिष्य *ओरोसियस* (415 ई.) रोमन साम्राज्य के पतन के कारण रूप में ईसाईयत के प्रचार के आरोप का खण्डन करते है। इनका ग्रन्थ रोम के पतन और ह्रास की 'ईसाई दृष्टिकोण से व्याख्या' करता है। इनका ग्रन्थ रोमन युग की आपत्तियों, यातनाओं, क्रूरताओं और अत्याचारों का वर्णन और विश्लेषण है। ओरोसियस के लिए रोम के साम्राज्य का पतन ईसाईयत के लिए वरदान था। उनके मतानुसार

> ''भगवान् ने बाबुल, मकदूनिया, कार्थेज और रोम के साम्राज्यों द्वारा ईसाईयत के आगमन का मार्ग बनाया। इस धर्म की स्थापना के पश्चात् मानव कार्यकलाप में अभूतपूर्व मधुरता आ गयी। एतना का ज्वालामुखी पहले से कम फटने लगा और टिड्डियों के दल भी कम नुकसान करने लगे।''[2]

ईसाई–धर्म की स्थापना के लिए रोमन साम्राज्य का पतन एक नियति है। जबकि ओरासियस के विपरीत *सेलवियन* के लिए रोम का पतन उसके आन्तरिक दोषों का कारण है। पाँचवीं शताब्दी में रोम की अवस्था बहुत बिगड़ चुकी थी। प्रशासनिक व्यवस्था भ्रष्टाचार से पूर्ण तथा अनियंत्रित हो गयी थी, सामाजिक अशांति और आर्थिक अव्यवस्था ने रोमन साम्राज्य को आंतरिक रूप से खोखला कर दिया था। यह आंतरिक अव्यवस्था सेलवियन के इतिहास को ईसाई–धर्म के प्रचार–प्रसार के उद्देश्य से प्रेरित होते हुए भी यथार्थोन्मुख बनाती है। इनके इतिहास की एक विशेषता चित्रमयी शैली में इतिहास को कहना भी है। इनकी शैली युगबोध को ज्वलंत और सजीवता प्रदान करती है। वह लिखते हैं –

हुई। इनमें यहूदी देव–नगर के निवासी थे। दूसरे लोगों ने गर्व से सिर उठाया और बाबुल की ऊँची मीनार द्वारा ईश्वर को चुनौती दी। ईश्वर ने इनका दर्प ढीला करने के लिए उनकी भाषाओं को अस्पष्ट कर दिया। तीसरे युग में भगवद्भक्ति इब्राहीम की संतति में ही बची रही। ईश्वर ने उन्हें कनान का देश दिया। सालके साम्राज्य में धर्म–राज्य का पूर्वाभास मिला। तीसरे, चौथे और पाँचवे युग दाऊदसे ईसू के जन्म तक चले। सुलेमान के राज्य का विभाजन आध्यात्मिक और भौतिक तत्वों के पृथक्करण का प्रतीक था। पैगम्बरों के युग के बाद यहूदियों में पाप बढ़ गया। ईसू का आगमन हुआ शब्द ने शरीर ग्रहण किया। देव–नगर चर्च के रूप में प्रकट हो गया। (वही, पृ.स. 96)

[1] दत्त, रजत, इतिहास–लेखन : पूर्व आधुनिक परंपराएँ – 2, ईकाई – 8, मध्यकालीन इतिहास–लेखन – पश्चिमी, इग्नू, दिल्ली,, पृ.स. 6

[2] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 98

''निर्धन को दबाया और खसोटा जाता है, विधवाएँ चीत्कार करती हैं, अनाथों पर अत्याचार किये जाते हैं। फलतः उनमें से बहुत से लोग जो अच्छे कुलों से सम्बन्धित हैं, जर्मन लोगों की शरण ढूँढते हैं जिससे वे भ्रष्ट प्रशासन और क्रूर स्वामित्व की यातना से बच सकें। वे बर्बरों में रोमन मानवता खोजते हैं क्योंकि रोमनों की बर्बर अमानुषिकता नहीं सह सकते।...''[1]

रोम के पतन को आंतरिक ह्रास में देखना – सेलवियन का यह दृष्टिकोण धार्मिक कल्पनाओं से बाहर इतिहास की प्रवृत्ति के अनुरूप स्थूल चिंतन को आगे बढ़ाता है। लेकिन यह सतत् बोध होना भी जरूरी है कि उनके इतिहास का प्रेरणा–स्रोत ईसाईयत का प्रचार ही है। देखा जाये तो ऐतिहासिक तथ्यों का विकास इन इतिहासों में दिखाई पड़ता है। 'काल' की संकल्पना इतिहास–लेखन में पद्धतीय स्थान ग्रहण करती है। *ह्यू ऑफ सेंट विक्टर* (1109ई.–1142ई.) कालक्रम की भूमिका में ऐतिहासिक तथ्यों के तीन पक्षों को बताते हैं – किस व्यक्ति के द्वारा वे कार्य किए गए हैं, स्थान (लोक) वे कहाँ किए गए हैं और काल (टेंपोरा) कब वे किए गए हैं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार चार विशिष्ट ऐतिहासिक काल गणना थी जो ऐतिहासिक विषय को दूसरी शैलियों से अलग करते हैं[2] –

1. इसके तथ्य के चयन द्वारा, अर्थात् किसी लेखक को वे सभी चीजें चयन करना होता था, जो याद हो सकें, और इसने इतिहास–लेखन को अलग बनाया।
2. सत्य (वास्तविक सत्य) के पुनः संग्रह करने का दावा जो कथा–साहित्य से पृथक था।
3. अतीत के इसके परीक्षण से और विशेष रूप से, मूल से, भविष्य के भविष्यवाणी से यह अलग था (जो फिर भी माना जाता था)।
4. अतीत के ज्ञात तथ्य के संग्रह को भावी पीढ़ियों को प्रदान करने के उद्देश्य से यह इतिहास–लेखन के रूप में स्थापित किया गया था।
5. इसके निरूपण की विशिष्ट पद्धति से, कालक्रम से, इसने उपयुक्त चरित्र को ग्रहण किया।

इस अभिनव काल–गणना में *बीदी* (672ई.–735ई.) का योगदान महत्वपूर्ण है। बीदी को अंग्रेजी इतिहास का जन्मदाता भी कहा जाता है। बीदी ने 'क्रोनिका' शब्द तथा अपनी पुस्तक 'इक्लेसिएस्टिकल हिस्ट्री ऑफ द इंग्लिश पीपुल्स' (731 ई.) में 'हिस्टोरिया' शब्द का प्रयोग किया। इस प्रकार वह हिस्टोरिया शब्द के प्रयोग द्वारा पूर्व ईसाई परंपरा को लैटिन से जोड़ते है। जहाँ हिस्टोरिया शब्द का प्रयोग धर्मनिरपेक्ष इतिहास के अर्थ में किया गया है और मानवीय विश्व को दैवीय विश्व से अलग वर्णित किया गया है। वे पहले इतिहासकार

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 98

[2] दत्त, रजत, इतिहास–लेखन : पूर्व आधुनिक परंपराएँ – 2, ईकाई – 8, मध्यकालीन इतिहास–लेखन – पश्चिमी, इग्नू, दिल्ली,, पृ.स. 7

थे जिन्होंने ईस्वी शब्द का प्रयोग किया। इस प्रकार यूरोप के इतिहास–लेखन में काल–गणना का स्तर निर्धारित हुआ।

> ''इससे वह तिथियों के परिवर्तन में सफल हुए जिसमें ब्रिटेन में रोमन सार्वभौमिक सत्ता से स्थानीय शासकों तक का कालक्रम निर्धारित हुआ जो रोमन प्रशासनिक संस्थाओं से गठबंध पर नहीं बल्कि ईसा पर केंद्रित थीं।''[1]

बीदी ने साथ ही विभिन्न स्रोतों के सापेक्षित प्रामाणिक मूल्य का मूल्यांकन किया। इस प्रकार चली आ रही समूह केंद्रित समकालीन मौखिक परंपरा के ऐतिहासिक चिंतन में पद्धतीय बदलाव हुआ। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो वस्तुगत स्रोतों पर आधारित तथ्यात्मक इतिहास–लेखन को बल मिला। इंग्लैण्ड में रोमन साम्राज्य के ह्रास के पश्चात् जूट, आंग्ल और सेक्सन जातियों के आक्रमण हुए। एंग्लो सेक्सन इतिहास–लेखन बीदी के ग्रन्थों में अभिव्यक्त हुआ। उनका इतिहास–ग्रन्थ 'एक्लीजियास्तिकल हिस्ट्री' 597 ई. से 738 ई. तक का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत करता है। डॉ. बुद्धप्रकाश लिखते हैं –

> ''उन्होंने इंग्लैण्ड, गॉल, राम, जर्मनी आदि की ऐतिहासिक सामग्री का पूर्ण उपयोग किया। बीदी का दृष्टिकोण विस्तीर्ण और वैज्ञानिक था। उनके बाद चर्च के इतिहास और इतिवृत्त पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये, किन्तु उनमें से कोई भी बीदी की रचना की टक्कर का नहीं है।''[2]

ईसाई इतिहास–लेखन की लम्बी परंपरा का उत्कर्ष और अन्त फ्रैंच लेखक *जाक बेबिन बोसुए* (1627–1704 ई.) की कृतियों में मिलता है। बोसुए ने ईसाई इतिहास–दर्शन के अनुरूप जगत् के उत्थान–पतन को ईश्वर की लीला द्वारा नियंत्रित माना। बोसुए के मतानुसार

> ''विश्व का सकल कार्यकलाप और इतिहास की सम्पूर्ण गतिविधि ईश्वर की इच्छा और लीला पर निर्भर है। कार्य–कारण की परंपरा जो साम्राज्यों के निर्माण और विघटन में प्रकट होती है ईश्वर की इच्छा को प्रतिबिम्बित करती है।''[3]

उनका इतिहास–लेखन युगीन एकतंत्रात्मक राज्यों की पृष्ठभूमि में विकसित होता है। डॉ. बुद्धप्रकाश के अनुसार ईसाई इतिहास–दर्शन की विशेषताएँ[4] निम्न है :–

---

[1] दत्त, रजत, इतिहास–लेखन : पूर्व आधुनिक परंपराएँ – 2, ईकाई – 8, मध्यकालीन इतिहास–लेखन – पश्चिमी, इग्नू, दिल्ली,, पृ.स. 7

[2] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 99

[3] वही, पृ.स. 99

[4] वही, पृ.स.100

1. ईसाई दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास विश्व–व्यापी, देवप्रधान, चमत्कारपूर्ण और युगपरक है। इतिहास में ईश्वर की एक योजना क्रियाशील है जिसका संदेश ईसा के आगमन द्वारा प्राप्त हुआ।
2. ऐतिहासिक घटनाएँ प्रवृत्तिमूलक सिद्ध होती हैं, व्यक्ति–प्रधान दिखाई नहीं देती।
3. इन इतिहासों में गम्भीर दार्शनिकता तो थी परन्तु तथ्य–निरूपण की दृष्टि से यह इतिहास महत्वपूर्ण नहीं हो सकते।
4. इनकी मान्यताओं में यह गम्भीर रहस्य प्रच्छन्न है कि जातियों और संस्कृतियों का पतन नियमानुसार होता है और यह नियम व्यक्तियों की इच्छाओं से परे समष्टि की गति की परिचायक होती हैं।

ईसाई धर्म का प्रभाव इतिहास की गति को धर्म के दैविक कल्पनाओं से जोड़ता अवश्य है। परन्तु ईसा को केन्द्र मानकर काल के मूल्य को निर्मित भी करता है। इतिहास की पद्धति में बदलाव के गुण दृष्टिगोचर होते है जो इतिहास–लेखन को अधिक वस्तुनिष्ठता की ओर ले जाते हैं। जबकि इतिहास–दर्शन ईसाई धर्म को आधार के रूप में ग्रहण करता है। इस प्रकार ईसाई इतिहास–लेखन ईसा के विचारों की सार्वभौमिकता के साथ सार्वभौमिक होता है। वहीं काल की अभिनव चेतना ईश्वरीय कालातीत विश्व के समक्ष भौतिक गुणों से पूर्ण काल कवलित विश्व को स्वीकारती है। इन दो दृष्टियों के बीच सामंजस्य बैठाते हुए ईसाई इतिहास–लेखक संश्लिष्ट इतिहास प्रस्तुत करते हैं।

मध्यकालीन इतिहास–दर्शन पूर्व प्रवृत्तियों को ही आगे बढ़ाता है। इस युग में इतिहास–लेखकों की संख्या भी अधिक नहीं है। रोम के पतन के समय में हुए बर्बर आक्रमणों का इतिहास अवश्य इस युग में लिखा गया। यह इतिहास मूलतः जाति के इतिहास हैं। इनमें गॉथ जाति, वेंदल जाति, ओस्त्रोगोथ जाति, फ्रेंक राजाओं के इतिहास प्रमुख हैं। बर्बर दृष्टिकोण को सुन्दरता से चरितार्थ करने वाला इतिहास तूर के *पादरी ग्रिगोरी* का 'फ्रेंक राजाओं का इतिहास' है। यह मध्यकाल की सबसे प्रसिद्ध रचना है। इसमें चर्च, प्रशासन, आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक कार्य–कलाप, सांस्कृतिक वातावरण आदि का वर्णन मिलता है। यह ग्रन्थ व्यापार, दासता, आचार, नीति, शिक्षा, अंधविश्वास आदि विषयों की बहुल सूचनाएँ उपलब्ध कराता है। इनकी भाषा में ओज और तेज है। कहीं–कहीं लातिनी भाषा अशुद्ध और असंयत हो गयी है जैसा कि बर्बर साहित्य की भाषा बहुधा होती है।

1.3.6 पुनरुत्थान युग

रेनेसांस के अभ्युदय के साथ ही आधुनिक इतिहास–लेखन का भी अभ्युदय होता है। इसकी शुरूआत फ्लोरेन्स और जिनेवा में इतिहास की नयी शैली के साथ दिखाई देता है। रिनेसाँ (Renaissance) प्राचीन यूनानी–लातीनी संस्कृति का पुनरुत्थान करता है, जिसके फलस्वरूप मानववाद और बुद्धिवाद का जन्म होता

है। यह दृष्टि इतिहास–लेखन को एक नई दिशा की ओर गतिमान करती है। इसी के समानांतर इतिहास–लेखन पर सांप्रदायिकता की जकड़ क्रान्तियों के साथ कुछ ढीली पड़ती है। मानववाद से पूर्ण तथा धर्म से मुक्त इतिहास–लेखन का विकास होता है। इतिहास की यह नयी शैली *सांजानोमे* के 'गेस्ता फलोरन्तीनोरम' तथा एक अज्ञात लेखक की 'क्रोनीका दी ओरीजिने सिवितातिस' में दिखाई देती है। फ्लोरेन्स का *गियोवानी विलानी* अपनी कृति में आर्थिक, सामाजिक और व्यापारिक महत्व के तथ्यों का विस्तृत विवेचन करता है तथा *मार्चिजोने दि काप्पो स्तेफानी* और *जिनो काप्पोनी* इस परंपरा को आगे बढ़ाते हैं। *लियोनार्दी ब्रूनो* इतिहास के मानव तथा मनोवैज्ञानिक पक्ष पर जोर देता है और फ्लोरेन्स के सम्पूर्ण इतिहास को हृदयंगम करता है। अतः व्यक्तियों के कार्यकलाप को इस युग में प्रमुखता मिली। जीवन चरित्र–लेखन इतिहास–लेखन की प्रधान शैली हो गयी। *पेत्रार्क* का 'दि विरिस इलस्त्रीबस' इसी शैली की रचना है।

इतिहास की नयी शैली के विकास के साथ ही पुरातत्व की ओर भी इतिहासकारों की रूचि प्रबल हुई। *योगियो ब्राचियोलिनि* का फ्लोरेन्स का इतिहास पुरातत्व संबंधी अनुसंधान पर जोर देता है। पुरातत्व की ओर रूझान से इतिहास तुलनात्मक, व्याख्यापरक और आलोचना–प्रधान हुआ। प्राचीन आख्यानों और किंवदंतियों के सत्य को पुरातात्विक साक्ष्यों से जोड़कर देखा जाने लगा। *फ्लेवियो बिओन्दो* ने 'दशक' में इस दृष्टिकोण को चरितार्थ किया। *लोरेंजोवाला* ने भाषा–विज्ञान की एक नयी पद्धति का प्रचलन किया और कोस्तेनताइन के दानपात्र की पोल खोली।

पन्द्रहवीं शती की परिस्थितियों ने भी इतिहास–लेखन को विकसित किया। इस दौरान नागरिक गणतंत्र लुप्त होने लगे तथा उनके स्थान पर एकतंत्र स्थापित हुए। अतः इन एकतंत्र राज्यों का उद्देश्य शक्तिसंचय की राजनीति हो गया और धर्मनिरपेक्ष जीवन की भावना पूर्ण रूप से जाग्रत हुई। *निकोली मेकियावली* (1469 ई. – 1527 ई.) का 'प्रिंस' इस परिस्थिति की सर्वांगीण अभिव्यक्ति है। इनके ग्रन्थों में नवीन स्वरलहरी मुखर हुई। व्यक्ति और परिस्थितियों का सुन्दर चित्रण किया जाने लगा। कृतियों में धर्म का वातावरण छूट गया। इटली की पुनरूत्थानवादी दृष्टि का प्रभाव फ्रेंच और अंगेजी इतिहासकारों पर भी पड़ा। ईसाई धर्म के इतिहासकारों के स्थान पर असाम्प्रदायिक इतिहासकारों का प्राधान्य हुआ। ये नवीन इतिहासकार अंग्रेजी लोकभाषा का प्रयोग करते थे। डॉ. बुद्धप्रकाश लिखते हैं –

> ''सर फ्रेंसिस बेकन (1561 ई. – 1626 ई.) की व्याख्या इतनी गम्भीर और सारगर्भित थी कि बाद के इतिहास–लेखन पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। इन लेखकों ने इतिहास–लेखन को ईसाई संप्रदाय के बन्धन से मुक्त करके एक उदात्त मानववाद की आधारशिला पर प्रतिष्ठित किया।''[1]

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 121

सामान्य शब्दों में कहा जाये तो पुनरूत्थान युग मध्यकाल तथा आधुनिक युग की संक्रान्ति का समय था। मध्यकालीन ईश्वर केन्द्रित दृष्टि के स्थान पर मनुष्य केन्द्रित दृष्टि का विकास होता है। विश्व की विशालता तथा विविधता मानसपटल पर अंकित हो रही थी। नियति के ऊपर अभी–भी विश्वास दृढ़ था। किन्तु यह धारणा भी प्रमुख थी कि मनुष्य अपने नियमन और संतुलन से इसे अपने अनुरूप कर सकता है। यह दृष्टि इतिहास–लेखन में भी दिखाई देती है। इतिहासकार संसार को निकृष्ट और अस्थायी न स्वीकार कर उसे ही सत्य के रूप में स्वीकारते हैं। इहलौकिक दृष्टि विज्ञान के आविष्कारों के आलोक में और पुष्ट होती है। सांसारिक अबूझ सत्यों के मूल में ईश्वर की इच्छा स्वीकारने की दृष्टि कमजोर पढ़ती है। अतः 'ईसाई संप्रदाय' के वृतान्त न लिखकर इस युग के इतिहासकार नगरों और राज्यों के इतिवृत्त लिपिबद्ध करते हैं।

> ''उनके द्वारा चित्रित मनुष्य पाप और पुण्य दोनों से भरे हुए यथार्थ व्यक्ति थे। उनकी उन्नति का रहस्य उनके चरित्र की गरिमा थी। वे अपने अध्यवसाय से उत्कर्ष की सीमा पर पहुँचे थे। अतः उनके व्यक्तित्व का सर्वांगीण अनुसंधान इतिहासकर का लक्ष्य था।''[1]

संक्षिप्त रूप में कहा जाये तो पुनरूत्थान युग का इतिहास–दर्शन प्रवृत्तिमूलक न होकर व्यक्तिमूलक था, व्याख्यापरक न होकर घटना प्रधान था, विश्वव्यापी न होकर क्षेत्रीय तथा प्रादेशिक था और धर्मबहुल न होकर राजनीतिमय था। इसका मानववाद आधुनिक युग के बुद्धिवादी, इतिवृत्तात्मक, विद्वतापूर्ण और आलोचनाप्रधान दर्शन के रूप में पल्लवित हुआ।

पुनरुत्थान युग से आधुनिक कालीन संस्कृति का आरम्भ होता है। विज्ञान तथा बुद्धि की प्रमुखता से नयी ऊर्जा का संचार होता है। संसार को देखने की वस्तुवादी, कार्य–कारण–संबंध पर आधारित, तर्कप्रधान तथा वैज्ञानिक दृष्टि का विकास होता है। मुद्रणकला के विकास के साथ अकादमिक अध्ययन के प्रारूप का निर्माण आरम्भ होता है। ज्ञान की सीमा भद्र कुल से निकलकर सामान्य जन तक विस्तार पाती है। 'प्रश्न' करना आधुनिक काल के मूल में गतिमान होता है। आलोचनात्मक दृष्टि से विषयों का अध्ययन आरम्भ होता है। मध्यकालीन आदर्शात्मकता के स्थान पर आधुनिक यथार्थता को प्रमुखता मिलती है। देखा जाये तो यह दृष्टि ज्ञान के सभी क्षेत्रों में गतिमान होती है।[2] इतिहास की पूर्व दृष्टियाँ भी नई ऊर्जा के साथ नवीन दिशाओं में गतिमान होती हैं। इतिहास–लेखन के मानदण्ड बदलते हैं। डॉ. बुद्धप्रकाश लिखते हैं –

---

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 121

[2] मेकियावली और राबले, इराजमस और कोपरनीकस ने चिंतन की गति को नवीन दिशाएँ प्रदान की। दांते और पतरार्क ने साहित्य की प्रवृत्तियों को नयी दिशाओं में मोड़ा, माइकेल एंजेलो, दोनोतेलो, प्रा फिलियो लिप्पि और बोतोसेली ने कलाओं के आदर्शों की कायापलट की, फिसिनों ने नवीन दर्शन का सूत्रपात किया, बोकेचियो ने कुतूहल प्रधान गल्पों की सृष्टि की, मेकियावली ने राजनीति के सिद्धांतों में परिवर्तन किया, पोलितीयन और निकोलो द्

''मध्यकालीन आदर्शों की नीरसता और तपश्चर्या की शुष्कता के स्थान पर मानव–जीवन की रागात्मक सरसता और उसकी बहुमुखी प्रगति का उल्लास इतिहास और संस्कृति को नयी प्रेरणा और स्फूर्ति से अभिसिंचित करता है।''[1]

इतिहास–लेखन आलोचनात्मक दृष्टि से अनुशीलन की नवीन शैली का विकास करता है। *लोरेंजों वाला* अपनी पुस्तक 'डोनेशन ऑव कांसटेण्टाइन' में ऐतिहासिक सामग्री का आलोचनात्मक मूल्यांकन करता है। यह नवीन दृष्टि *गुडच्यार दिनी* के 1525 में प्रकाशित 'फ्लोरेन्स का इतिहास' और 1534 में प्रकाशित 'इटली के इतिहास' में दिखाई पड़ती है। इसी क्रम में इतिहास की अवधारणा का विकास भी होता दिखाई पड़ता है। *बेकन* ज्ञान के क्षेत्र को काव्य, इतिहास और दर्शन में विभाजित कर इतिहास का संबंध स्मृति से करते हैं। वहीं *कामडेन* इस संकीर्ण परिभाषा का अतिक्रमण करते हुए ब्रिटेन के ऐतिहासिक भूगोल और पुरातत्व को अध्ययन का विषय बनाते है। इस प्रकार ऐतिहासिक साक्ष्यों को महत्व प्राप्त होता है। पुनरुत्थान युग में नवीन काल–चेतना भी दृष्टिगोचर होती है। डॉ. बुद्धप्रकाश लिखते हैं कि –

''यह लक्ष्य करने की बात है कि इस काल में घड़ियों का रिवाज काफी बढ़ गया। 1000 ई. के लगभग सम्राट ओतो तृतीय के मित्र अबोत गर्बर्त ने, जो पोप सिल्वेतर द्वितीय ने एक पहिया नुमा घड़ी के यंत्र का आविष्कार किया। इसके बाद 1200 ई. के लगभग जर्मनी में घण्टा–घड़ियों का रिवाज बढ़ा और इसके कुछ बाद जेब की घड़ियाँ बनने लगीं।''[2]

समय की यह नयी चेतना आधुनिक कालीन क्रान्ति के रूप में दिखाई देती है।

मध्यकालीन रूढ़ियों के प्रति रोष तथा पूर्वकालीन उत्कृष्ट संस्कृति का पुनरुत्थान इस युग की मूल प्रवृत्ति रही है। युगीन प्रवृत्तियों के अनुरूप मध्यकालीन धर्मांधता का विरोध भी इतिहास–लेखन को विकसित करता है। ईसाई सुधारवाद (रिफार्मेशन) के साथ वाद–प्रतिवाद का आरम्भ होता है और इतिहास इस प्रक्रिया का एक माध्यम बनता है। *मार्टिन ल्यूथन* 'ईसाई सुधारवाद' का बीज आरोपित कर एक आन्दोलन की शुरूआत करते हैं। इस आन्दोलन का लक्ष्य कैथोलिक चर्च के अंधविश्वासों और भ्रष्टाचारों की पोल खोलना था। अतः इतिहास पोप की सत्ता पर प्रहार करने का अस्त्र बनता है। लोरेंजों वाला कोंस्टेण्टाइन के दानपात्र का साक्ष्य कृत्रिम और अप्रामाणिक सिद्ध करते है। *प्लेसियस, मग्देर्वुग, सेन्चुरीज* (1559–1574) ईसाई संप्रदाय के इतिहास का अनुशीलन करते हुए पोप के अधिकारों का खण्डन करते है। इस क्रम में साक्ष्यों के प्रमाणिक–अप्रमाणिकता

निकोली ने आधुनिक विद्वता की आधारशिला रखी, लियोनार्दी दा विंची, लोरेंजो दे मेडिची और अलबर्ती ने मानव–जीवन के विविध पक्षों में अभिरुचि प्रकट की और लोरेंजों वाला और गुइच्यारदिनी ने नवीन इतिहास का श्रीगणेश किया। (वही, पृ.स.123)

[1] वही, पृ.स. 123

[2] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 124

का प्रश्न पुरातात्विक अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। कैथोलिक संप्रदाय द्वारा भी ऐतिहासिक चुनौती का सबल उत्तर दिया गया। इसे काउण्टर रिफार्मेशन भी कहा जाता है। इस परंपरा में *कार्दीनल बेरोसियस* (1538–1605) का 'आनाल्स एक्लीजियास्ती' महत्वपूर्ण कृति है। इस ग्रन्थ में वेटिकन के पुस्तक–भण्डारों की छानबीन करके बहुत–से ऐतिहासिक तथ्य संग्रहित किये गये है। डॉ. बुद्धप्रकाश लिखते हैं –

> ''यह ऐतिहासिक प्रतियोगिता इतिहास की उन्नति के लिए बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई। हेनरी अष्टम के शासनकाल में इंग्लैण्ड के मठों के विघटन, जर्मनी में कृषक–युद्ध और श्मालकाल्दिक लीग के युद्ध, फ्रांस के हुजेनोट युद्ध और उनके फलस्वरूप मठों और गिरजों के पुस्तकालयों की लूट–खसोट से हस्तलिखित ग्रन्थों और लेखों का समुद्र बाजारों में उमड़ पड़ा।''[1]

इसका प्रभाव यह रहा कि इतिहास के अध्ययन की सामग्री का विस्तार हुआ। *द् थू, पिथू, दुशेन* आदि फ्रेंच विद्वानों ने कोर्बी और फ्लरी के भण्डारों की पाण्डुलिपियों से अपना अध्ययन प्रारम्भ किया। इस क्रम में ऐतिहासिक अध्ययन की नींव भी पड़ी। इतिहास–लेखन तथा चिंतन–पद्धति के निर्धारण की दिशा में *ज्याँ बोदें* का 'मेथोदस अद फासिलम हिस्तोरियारम कोगनीसियोनम' (1566) महत्वपूर्ण है। *स्कालिगर* (1540–1609) ने 'थे सोरस तेम्पोरम' (1583) में ऐतिहासिक आलोचना का आदर्श निश्चित करने के साथ–साथ वैज्ञानिक गवेषणा और साहित्यिक अभिरूचि का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया। इस परंपरा में *फलोसियस* और *बेरोनियस* के अतिरिक्त *पाओलो सर्पी* का 'हिस्ट्री ऑव दि काउन्सिल ऑव ट्रेण्ट' (1619) और *पालाविसिनो* द्वारा दिया गया इसका उत्तर, *द् ओबीने* का हेनरी षष्ठ के राज्यकाल का वृत्तान्त, *जान नौक्स* का 'हिस्ट्री ऑव दि रिफार्मेशन इन स्काटलैंड', *जोज बुचानन* का 'हिस्ट्री ऑव स्काटलैण्ड' और *फोक्स* का 'बुक आव मार्टर्स' इस प्रवृत्ति के सुन्दर निदर्शन हैं। सौलहवीं सदी के यह ग्रन्थ मूलतः प्रचार की दृष्टि से लिखे गये। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रचार–पक्ष गौण होता गया तथा अन्वेषण–पक्ष प्रमुख।

ईसाई सुधारवाद के वाद–विवाद में ईसू के समाज (सोसायटी आव जीजस) तथा बोलान्दिस्त साधुओं द्वारा किया गया इतिहास–लेखन महत्वपूर्ण है। डॉ. बुद्धप्रकाश लिखते हैं –

> ''1540–1590 में ईशू के समाज (सोसायटी आव जीसस) ने भावुक और धार्मिक जीवन का आदर्श प्रस्तुत करके जनता के हृदय को मुग्ध कर लिया था। 1590–1715 के युग में संप्रदाय के साधुओं और पादरियों ने विद्वता के क्षेत्र में अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था।''[2]

---

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 125

[2] वही, पृ.स. 126

इसी क्रम में साधुओं के जीवन–चरित्र लिखकर आदर्श प्रस्तुत करने के प्रयास किये गये। *हर्बर्ट रोजवेड* ने साधुओं और संतों की जीवनी लिखने की योजना बनाई। इस सामग्री का प्रयोग बेल्जियम के जेसुइट पादरी *जोन बोलेन्दस* (1516–1665 ई.), *ज्योफ्रे हेन्शन* (1600–1671 ई.) और *दानिएल पापब्रोश* (1628–1714 ई.) ने किया। ये लेखक सामूहिक रूप से 'बोलान्दिस्त' कहलाये। इनकी प्रसिद्ध रचना 'एकता सन्कतोरम' में आलोचनात्मक पद्धति का उत्कृष्ट प्रतिपादन किया गया है। डॉ. बुद्धप्रकाश इन साधुओं के इतिहास–लेखन पर कहते हैं –

> ''धार्मिक विवाद, उपालम्भ और आलोचना के तीव्र और कटु वातावरण में इन साधुओं की सत्यप्रियता और निष्पक्षता आश्चर्यजनक प्रतीत होती है।''[1]

बोलान्दिस्त साधुओं से इतर *सन्त मावर* के बेनेदिक्ताइन साधुओं ने भी इतिहास–लेखन में योगदान दिया। इन साधुओं का लेखन भी काउण्टर रिफॉर्मेशन की उपज था। इनका उद्देश्य नेदिक्त वर्ग की विद्वता के पुनरुद्धार द्वारा मध्यकालीन महत्व को पुर्नस्थापित करना था। इस परंपरा की शुरूआत *दोम तारिस* ने 1630 में की। सत्रहवीं शताब्दी में इस संप्रदाय के अंतर्गत 105 विद्वान हुए, जिन्होंने इतिहास–लेखन किया। इनमें *दोम ल्युक दाश्रे* (1609–1675 ई.), *ज्यां माबियों* (1632–1707 ई.), *मोफांको* (1655–1741 ई.), *दोम फेलिबियाँ* (1666–1719 ई.) प्रमुख हैं। इनके ग्रन्थों ने मध्यकालीन मौलिक और अप्रकाशित लेखों का संग्रह, साधु–संतों के जीवनवृत, ऐतिहासिक आलोचना के सिद्धांतों की स्थापना, प्राचीन पत्रों और लेखों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के सिद्धांत तथा प्राचीन लिपि, मसि, कागज आदि की परीक्षा के उत्तम उपायों का निरूपण किया।[2] लातिनी प्राचीन लिपियों में माबियों का योगदान महत्वपूर्ण है। उसी प्रकार यूनानी लिपियों के क्षेत्र में मोफांको का कार्य प्रशंसनीय है। डॉ. बुद्धप्रकाश लिखते हैं –

> ''इनका 'लांतिकीते एक्सप्लीके' यूनानी पुरातत्व का एक वृहत् कोश है। इनका 'ले मोन्यूमां द् ला मोनार्शी फ्रांसेज' फ्रेंच पुरातत्व की सामग्री की विस्तृत तालिका है।''[3]

लिपि तथा पुरातत्व को लेकर इन साधुओं का कार्य अकाट्य है।

उपर्युक्त विद्वानों से इतर भी कुछ महत्वपूर्ण इतिहासकार हुए। फ्रांसीसी इतिहासकारों में *लू ने द् तिलमों* (1637–1698 ई.) का 'मेम्वार पूर सर्विर आ लिस्त्वार एक्लेजियासतीक दे सी प्रीमिए सिएक्ल' तथा

---

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 126

[2] ''दाश्रे का स्पीसीलोजियम मध्यकालीन मौलिक तथा अप्रकाशित लेखों का अनुपम संग्रह है। माबियों ने सन्त बेनेदिक्त के सम्प्रदाय के साधुओं और संतों के जीवनवृत्त लिपिबद्ध किये। उनकी यह 'एकता सेंक्तोरम ओर्दिनिस सन्त बेनेदिक्ती' शीर्षक कृति एक महत्वपूर्ण इतिहास–ग्रन्थ है। उनका दूसरा ग्रन्थ 'दि री दिप्लोमेतिका' ऐतिहासिक आलोचना के सिद्धांतों की संहिता है। इसमें प्राचीन पत्रों और लेखों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के सिद्धांत निर्धारित किये गये है तथा प्राचीन लिपि, मसि, कागज आदि की परीक्षा के उत्तम उपायों का निरूपण किया गया है।'' (वही, पृ.स. 127)

[3] वही, पृ.स. 127

'इत्स्वार देजाम्परर ए देजाज प्रिंस की औं रेन्ने द्युरा ले सी प्रीमिए सिएक्ल द् लेगलीज' प्रसिद्ध रचना है। तिलमों से इतर *एतियान बाल्युज* (1630–1718 ई.), *लुई तोमासें* (1619–1695 ई.) और *द्यु गाँज* (1610–1688 ई.) ने इतिहास–लेखन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। फ्रान्सिसकन और दोमिनिकन संप्रदाय के ईसाईयों ने भी अनेक विद्वतापूर्ण इतिहास–ग्रन्थों की रचना की। इनमें *पिएर हलियय्यो* (1660–1716 ई.), *लुई एली द्यु पें* (1657–1719 ई.), *ग्राबी दानिएल* (1649–1728 ई.) के नाम उल्लेखनीय है। इसी संप्रदाय के *मेजरे* (1610–1683 ई.) प्रशस्ति प्राप्त प्रमुख इतिहासकार हैं। इनकी 'इस्त्वार द् फ्रांस' एक रोमांचकारी रचना है। सामान्य जनता द्वारा ज्ञान की पोथियों से अलग रोमांचक शैली में लिखे गए इतिहास ही अधिक स्वीकृत हुए। मेजरे की दृष्टि पर डॉ. बुद्धप्रकाश लिखते हैं कि ''इनके मतानुसार इतिहास साहित्य का अंग था। अतः वह उत्कृष्ट शैली और उदात्त पदावली पर अधिक जोर देता था।''[1] इसी युग के अन्य प्रसिद्ध लेखक *आरदूएँ* (1646–1729 ई.) हैं। इनकी संशयपूर्ण आलोचनाओं ने इतिहास की शुष्क भूमि में हास्य के रंग द्वारा उर्वरता लाने का काम किया। इस संशयवाद को थोम्पसन ने 'विद्वतापूर्ण–प्रमाद' कहा है।

अंग्रेजी इतिहास–लेखन में भी ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। परन्तु फ्रांस जैसी विद्वता यहाँ नहीं पनपी। डॉ. बुद्धप्रकाश लिखते हैं –

> ''इस युग में इंग्लैण्ड में फ्रांस से कम काम हो पाया, क्योंकि रोमन चर्च से पृथकता के कारण मठों का विघटन हो गया और ऑक्सफोर्ड तथा केम्ब्रिज में अध्ययन का स्तर गिर गया। विद्वान लोग साम्प्रदायिक विवादों में फँसकर वास्तविक ऐतिहासिक अध्ययन का महत्व भूल गये।''[2]

देश–काल–वातावरण से प्रभावित होते हुए भी अंग्रेजी इतिहास–लेखन का कार्य धीमी गति से ही सही लेकिन अंग्रेजी इतिहास–लेखन को समृद्ध कर गया। इन इतिहासकारों ने सामग्री–संकलन की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। *मेथ्यू पर्किर* (1504–1575 ई.) ने सेक्सन युग की सामग्री का संकलन किया। *सर हेनरी साविल* ने मध्यकालीन अंग्रेजी वृत्तों का उद्धार किया। *सर हेनरी स्पेलमैन* (1562–1641 ई.) ने कानून के इतिहास पर ग्रन्थ लिखे। *जान सेल्डन* (1584–1654 ई.) ने अंग्रेजी वृत्तों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रकाशित किया। *सर राबर्ट कोटन* (1571–1631 ई.) ने प्राचीन पाण्डुलिपियों और लेखों का अनुपम संग्रह किया।

यूनान के अन्य देशों में भी इतिहास की समृद्धि के लिए प्रयास हुए। यह प्रयास प्रमुख रूप से सामग्री–संकलन की दिशा में गतिमान हुए। सामग्री–संकलन के साथ–साथ विद्वतापूर्ण इतिहास–लेखन का प्रचार भी बढ़ा। स्पेन में *कासतिलो द् बोबादिला* (1597 ई.), *निकोलस एन्तोनिया* (1617–1684 ई.), *एन्द्रियास*

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 128
[2] वही, पृ.स. 128

शोत्तस (1552–1629 ई.) आदि उल्लेखनीय इतिहासकार हैं। तीस वर्षीय युद्ध के परिणामस्वरूप जर्मनी में पुस्तकालयों की क्षति होती है। परन्तु इतिहास की परंपरा को गतिमान रखने में *हरमान कोनरिंग* (1606–1681 ई.), *बर्नाड पेज* (1683–1735 ई.), *जीरोम पेज* (1685–1762 ई.) की भूमिका महत्वपूर्ण है। हंग्री में *स्तेफेन कोतोना* (1732–1811 ई.), डेन्मार्क में *जेकोब लांगबेक* (1710–1775 ई.), इटली में *फर्दिनान्दो उघेल्ली* (1595–1670 ई.) ने ऐतिहासिक सामग्री को संकलित करने का कार्य किया। अतः इस युग में ऐतिहासिक अनुसंधान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य हुआ। अकादमिक अनुशासन के विकास की दिशा में इस युग की भूमिका मील का पत्थर है।

1.3.7 बुद्धिवाद का युग

बुद्धिवादी युग का उदय पुनर्जागरण युग की आधारशिला पर ही विकसित होता है। पूर्व परंपराओं का पुनः चिंतन आलोचनात्मक प्रवृत्ति की दिशा में गतिमान होता है। इसी आधार पर बुद्धिवादी युग विकास करता है। डॉ. बुद्धप्रकाश लिखते हैं –

> ''1700 के आसपास यूरोप पर देकार्त के दर्शन का साम्राज्य था। दालेम्बेर और दिदेरो के सिद्धांत सर्वत्र छा गये थे। ऑसिक्लोपेदी का वातावरण घनीभूत हो रहा था। विद्वता के स्थान पर व्याख्या और चिंतन के स्थान पर आलोचना की प्रधानता हो रही थी।''[1]

इस युग की समय सीमा 1715 में लुई चौदह के निधन से 1789 में फ्रेंच क्रान्ति के प्रादुर्भाव तक है। बुद्धि की प्रमुखता के साथ ही परंपरा के प्रति विरक्ति तथा प्रज्ञा के प्रति झुकाव बढ़ता है। गैलिलियों और न्यूटन के विचार वैज्ञानिक अनुसंधान के साथ विचारों की क्रान्ति को गति प्रदान करते हैं। रेने देकार्त विश्लेषणात्मक पद्धति का विकास करता है। गणित और विज्ञान का प्रचार चारों ओर होता है। फोन्तनल 'यूतीलीते दे माथेमातीक' की भूमिका में सिद्ध करते हैं कि साहित्य तक की समीचीन व्याख्या के लिए गणित अनिवार्य है। भौतिक शास्त्र, राजनीति और अर्थ–व्यवस्था के पारस्परिक सम्बन्धों पर जोर दिया जाता है। यंत्रवाद को भौतिक शास्त्र का व्यावहारिक रूप समझा जाता है। अतः राजनीति, अर्थ–व्यवस्था और इतिहास को भी यांत्रिक रूप में देखा जाता है। हॉब्स शक्ति–संतुलन (बैलेन्स ऑफ पावर) नामक राजनीतिक यंत्रवाद के सिद्धांत का नामकरण करते हैं। इसी प्रकार के सिद्धांत ज्ञान के अलग स्वरूपों में भी विकास पाते हैं।[2]

---

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 130

[2] हॉब्स के 'शक्ति–संतुलन' के अनुकरण पर सत्रहवीं शताब्दी के आर्थिक साहित्य में व्यापार–संतुलन (बैलेन्स ऑफ ट्रेड) की परिभाषा का बारम्बार प्रयोग हुआ। 1628 में हार्वे के रक्त–संचरण के सिद्धान्त के प्रतिपादन के पश्चात् आर्थिक जगत् में धन–संचरण (सरकूलेशन ऑफ मनी) और व्यापार–संचरण (सरकूलेशन ऑफ कामर्स) को समाज के रक्त–वहन (सेंग्वीफिकेशन ऑव दि कॉमनवेल्थ) की परिभाषा प्रदान की गयी। (वही, पृ.स. 131)

देकार्त का चिंतन उपर्युक्त परिवेश में विकसित होता है। विज्ञान की प्रमुखता देकार्त के दृष्टिकोण को निर्मित करती है। वह मानते हैं कि मनुष्य और प्रकृति के कार्यकलाप नियंत्रित नियमों की श्रृंखला है। यह नियम अटल और व्यवस्थित है। कला, काव्य और साहित्य भी मानव भावों की अभिव्यक्ति के यांत्रिक रूप हैं। इस चिंतन पद्धति में कल्पना, भाव और स्वप्न का कोई स्थान नहीं था। देकार्त ने बेकन की तरह ज्ञान को चार भागों में विभाजित किया है – काव्य, इतिहास, दर्शन और देवतत्व। देकार्त के मतानुसार इतिहास यद्यपि जीवन के व्यावहारिक दृष्टिकोण में सहायक होता है, तथापि यह पूर्णतः सत्य पर आधारित नहीं होता क्योंकि यह जिस घटनाओं को प्रस्तुत करता है, उनका वास्तविक रूप इससे विभिन्न होता है।[1] देकार्त इतिहास के ज्ञान को विश्वस्त नहीं मानते थे। उनके अनुसार इतिहास पलायनवाद का मार्ग है, इतिहास के वृत्त सत्य के प्रामाणिक निर्देशन नहीं होते, इतिहास का कोई उपयोग नहीं है क्योंकि यह वर्तमान की अपेक्षा अतीत में उलझा रहता है और इतिहास काल्पनिक चित्रों का अंकन है, क्योंकि इतिहासकार अपने वर्ण्य–विषय को आदर्शों की तूलिका से रंगने की चेष्टा करते हैं। देकार्त के चिंतन ने गवेषणापूर्ण आलोचनात्मक दृष्टिकोण को गति प्रदान की। धार्मिक विश्वासों का भण्डाफोड़ किया जाने लगा।[2] देकार्त के दृष्टिकोण की सर्वोत्तम व्याख्या मोंतस्क्यू द्वारा 'एस्प्री दे लोवा' नामक ग्रन्थ में की गई है। उनके मतानुसार 'जलवायु, धर्म, कानून, राज्य के सिद्धांत, अतीत के आदर्श, रीति–रिवाज, आचार–विचार, मानव जीवन की गति और स्वरूप को निर्धारित करते हैं।'[3] मोंतस्क्यू के संदर्भ में जॉन मोर्ले की टिप्पणी महत्वपूर्ण है –

> ''मोंतस्क्यू ने सामाजिक संस्थाओं का तुलनात्मक पद्धति से अध्ययन किया। उन्होंने किसी देश के कानून पर उसकी प्राकृतिक पृष्ठभूमि में विचार किया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि प्राकृतिक विधान जिसकी चर्चा फिजियोक्रेट्स ने धनोत्पादन के प्रसंग में की थी वस्तुतः राजनीतिक घटनाओं का भी नियमन करता है। उन्होंने विश्व भर के सामाजिक तथ्यों का विभाजन और वर्गीकरण किया और ऐतिहासिक घटनाओं तथा संस्थाओं के नियामक और निर्णायक कारणों की क्रमबद्ध गवेषणा की। यह उस समय प्रचलित उन दोनों विचारधाराओं से, जिनके अनुसार मनुष्य अपनी दशा को या तो

---

[1] देकार्त अपनी पुस्तक 'दिस्कोंस' में लिखते है – ''अन्य मनुष्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना लाभदायक रहता है। इससे हम अपने विषय में निष्पक्षता से विचार और निर्णय कर सकते हैं और हमारे से जो भिन्न हैं उनके प्रति हमारे मन में घृणा और निन्दा का भाव नहीं रहता। लेकिन जो लम्बी यात्राएँ करते हैं वे स्वयं अपने घरों में विदेशी बन जाते हैं और जो अधिक रूचि से अतीत के अध्ययन में संलग्न हो जाते हैं वे वर्तमान की अपनी घटनाओं से अनभिज्ञ रह जाते हैं.....। यद्यपि इतिहास सत्यपरायण होते हैं और घटना–चक्र को न अतिरंजित करते हैं और न परिवर्तित, वे छोटी–मोटी तथा अप्रशस्त बातों पर पर्दा डाल देते हैं, जिससे पाठकों के ध्यान और सुरूचि में बाधा न पड़े। इसलिए उनमें जिन बातों का वर्णन रहता है वे ठीक उस प्रकार नहीं हुई होती जैसे बतायी जाती हैं। जो मनुष्य उनपर अपनी जीवनचर्या अवलम्बित करना चाहते हैं वे रोमांचित और कल्पनाशील व्यक्तियों की तरह उन्मत्त होकर असम्भव तथ्यों के ध्यान में निमग्न हो जाते हैं।'' (डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 131)

[2] पिएर बेल (1647–1706 ई.) ने अपने ग्रन्थ, 'दिक्सयोनेर इस्तोरीक ए क्रीतीक', में बाइबिल सम्बन्धी विश्वासों पर प्रहार किया। पेरीजोनियस (1615–1715 ई.), लेवेस्क द् पूइली (1722 ई.) और बोफोर (1738 ई.) ने यूनानी और लातीनी इतिहासकारों पर आलोचना की शस्त्रवर्षा की। (वही, पृ.स. 132)

[3] वही, पृ.स. 133

अमानुषिक भाग्यविधाता का अज्ञेय प्रज्ञापन समझता था या नेत्रहीन नियति की आकस्मिक लीला मानता था, बहुत समुन्नत मतवाद था।''[1]

आलोचना और विश्लेषण की नवीन पद्धतियों का विकास हुआ। जलवायु, भूगोल, भूगर्भ आदि प्राकृतिक परिस्थितियों का सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं के दृष्टिकोण से गम्भीर अध्ययन हुआ और उनके विषय में इतिहास से संबंधित बहुत–से स्वतंत्र और सहकारी शास्त्र बन गये। विकासवाद की अवधारणा ने इतिहास को निरंतर प्रगति के दृष्टिकोण से देखने का संदर्भ दिया। बोल्तेर (1694–1778 ई.) का विस्तीर्ण दृष्टिकोण प्रगति को इतिहास का निश्चित प्रवृत्ति मानते हैं। वह मानते हैं कि 'प्रत्येक पीढ़ी और युग मानव समृद्धि में कुछ–न–कुछ वृद्धि करता है। काल की गति के साथ मनुष्य उन्नति के पथ पर बढ़ रहा है। देवतत्व की कल्पना निराधार है।' बोल्तेयर का ऐतिहासिक दृष्टिकोण उनकी रचनाओं में पता चलता है। उनका 'ऐसे स्यूर ले मूर' ग्रन्थ सांस्कृतिक इतिहास के सम्पूर्ण प्रवाह का विवेचन करता है। 'सिएकल द् लुई कातोर्जिएम्' में वह उस युग का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करते हैं। इस ग्रन्थ में बोल्तेर कला–कौशल, शिल्प–विज्ञान, युद्ध–राजनीति, आचार–विचार की विशाल भूमिका का सुन्दर चित्रण किया है। सर्वांगीण इतिहास लिखे जाने के पीछे उनका मत इस प्रकार है 'इतिहास मानव–कार्य–कलाप की समग्र अभिव्यंजनाओं का वृत्तान्त है। इसमें जीवन के समस्त पक्षों का सामंजस्य सन्निहित रहता है। अतः इसका लक्ष्य राजनीतिक घटनाओं की तालिका–मात्र प्रस्तुत करना ही नहीं है, वरन् जन–जीवन के विविध पक्षों की चित्रमयी अभिव्यक्ति उपस्थित करना है।'[2]

पाश्चात्य इतिहास–लेखन को स्फूर्ति देकार्त के इतिहास विरोधी दृष्टिकोण से भी मिली। जिसमें वह इतिहास के प्रति संशय और उपेक्षा का भाव रखते हैं। इतिहासकारों ने इन चुनौतियों को स्वीकार कर इतिहास को दार्शनिक आधार प्रदान किया। इन लेखकों में डेविड ह्यूम (1711–1776 ई.) का नाम अग्रगण्य है। ह्यूम पर लॉक के दर्शन का ज्यादा प्रभाव है। लॉक की प्रमुख स्थापना यह है कि ''शाश्वत स्वयम्भू विचारों का कोई अस्तित्व नहीं है और ज्ञान धीरे–धीरे अनुभव से प्राप्त होता है।''[3] इस प्रकार धार्मिक संप्रदायों द्वारा प्रचारित अलौकिक जगत् से अलग वास्तविक जगत् को प्रमुख मानना लॉक के दर्शन की मूल प्रेरणा है। लॉक का यह दर्शन ह्यूम के इतिहास संबंधी दृष्टिकोण को भी विकसित करता है। ह्यूम के मतानुसार

''इतिहास साक्षियों के वर्णनों पर आधारित रहता है। इतिहासकार इन वर्णनों का तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन करके इनकी परंपरा और सम्बन्धों को स्पष्ट कर देता है। साक्षियों के आँखों

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 133
[2] वही, पृ.स. 134
[3] वही, पृ.स. 135

देखे विवरणों पर निर्भर होने के कारण इतिहास का सत्य और ज्ञान के जगत् में एक निश्चित स्थान है।''[1]

लॉक के अनुभव आधारित ज्ञान के साथ–साथ वास्तविक जगतोन्मुख होती दृष्टि भी ह्यूम में विकास पाती है। वह मानते हैं कि

''इतिहास चेतन मस्तिष्क का वृत्तान्त अर्थात् विचारों के निर्माण का कथानक है। वातावरण और परिस्थिति मनुष्य के भौतिक स्वरूप पर प्रभाव डालती है, किन्तु उन सूक्ष्म अवयवों पर इनका कोई असर नहीं होता जो मन और बुद्धि की क्रियाओं का नियमन करते हैं।''[2]

इतिहास के मूल में कार्य–कारण–संबंध की तटस्थता ह्यूम के इतिहास का गुण है। डेविड ह्यूम की 1754 में प्रकाशित 'हिस्ट्री ऑव इंग्लैण्ड फ्राम दि इन्वेजन ऑव जूलियस सीजर टु दि रेवोलूशन ऑव 1688' तथा बोल्तेर की 'सिएक्ल द् दुई कातीर्जिएम' युगीन प्रवृत्तियों में विकसित होती है। यह दोनों ग्रन्थ प्रयोगवादी, बुद्धिवादी तथा परमार्थ तत्व–विरोधी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं। अतः ह्यूम का दृष्टिकोण एक ओर युगीन परिस्थितियों का परिणाम भी है।

इस युग के सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार के रूप में एडवर्ड गिबन (1737–1794 ई.) को माना जाता है। गिबन की 'हिस्ट्री ऑव दि डिक्लाइन एण्ड फाल ऑव दि रोमन एम्पायर' इतिहास की प्रसिद्ध पुस्तक है। इनकी क्लासिकल और ऐतिहासिक साहित्य में विशेष रूचि थी। प्राच्य इतिहास की 'बर्बर भव्यता' ने आरम्भ से ही उनके मन को मुग्ध कर लिया था। इसी कारण इन्होंने धर्म और बर्बरता की विजय का इतिहास लिखा। इसकी पृष्ठभूमि में बुद्धिवाद और संयम के स्वर्णयुग की कल्पना गतिमान थी।[3] वह अठारहवीं शताब्दी के बुद्धिवाद युग को बर्बर सभ्यता की समाप्ति का युग मानते थे। डॉ. बुद्धप्रकाश गिबन की दृष्टि को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

''गिबन की दृष्टि में भविष्य के क्षितिज से निकलता हुआ यह स्वर्णयुग अजर, निश्चल और शाश्वत था क्योंकि बुद्धिहीनता, बर्बरता और धर्म की शक्तियाँ जिन्होंने इसे पहले अभिभूत किया था सदा के लिए काल कवलित हो चुकी थीं।''[4]

---

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 136

[2] वही, पृ.स. 136

[3] 'एन्तोइन युग वह स्वर्णयुग था जब मानव बुद्धि का सर्वत्र साम्राज्य था। चारों ओर सुख, शान्ति और समृद्धि का वातावरण था। किन्तु धीरे–धीरे बुद्धि की शक्ति क्षीण हो गयी। मनुष्य धार्मिक अंधविश्वासों में फँस गये। बर्बर जातियों का जोर बढ़ गया। प्राचीन इतिहास के स्वर्णयुग पर अंधकार का आवरण पड़ गया। मध्ययुग का आविर्भाव हुआ। किन्तु फिर बुद्धि का प्रकाश फैलने लगा। उद्‌बोधन (एनलाइटमेंट) की किरणें धार्मिक अंधकार को विदीर्ण करने लगीं। अठारहवीं शताब्दी इस आगामी स्वर्णयुग का दिव्य विहान था।' वही, पृ.स. 238

[4] वही, पृ.स. 139

यही दृष्टि गिबन द्वारा युरोप के विशाल गणतंत्र को स्वीकार करते हुए उसे शिष्टता और सभ्यता के स्तर पर पहुँचाने में वहाँ के निवासियों की भूमिका को महत्वपूर्ण मानती है।[1] उनका युग बर्बरता के अंत का युग था। गिबन के समय तक यूरोप ने यौद्धिक कला में इतनी प्रगति कर ली थी कि उनको बर्बर आक्रान्ताओं का भय नहीं रहा। उनकी दृष्टि में रोमन साम्राज्य के पतन का एक कारण एकीकरण भी था। यह संकट अठारहवीं शती में शक्ति के विकेंद्रीकरण से टल गया। उनका दर्शन आशापूर्ण था। इस दर्शन का सार मनुष्य का क्रमबद्ध उत्तरोत्तर विकास और उन्नयन था। यह दर्शन उनके इतिहास–लेखन को भी प्रभावित करता है।

इटली पर भी नवीन दर्शन का प्रभाव पड़ा। परन्तु वहाँ का राजनीतिक और बौद्धिक वातावरण इसके अनुकूल नहीं था। राष्ट्रीय एकता का पूर्णतः अभाव था। सर्वत्र धार्मिक कट्टरता का साम्राज्य था। नेपिल्स के एक वकील पीत्रो ग्यान्नोने (1676–1748 ई.) ने 'स्तोरिया सिविले देल रेग्नो दे नापोली' में पोप–संबंधी संस्था के राजनीतिक इतिहास पर प्रहार किया। जिस कारण उसे आजीवन कारावास की सजा सुनाई गई। इसी समय के दूसरे इतिहासकार सेजर बोनेसोना माक्विलस दि बेकारिया (1735–93 ई.) थे। बेकारिया का मुख्य विषय दण्डविधान था। इन्होंने अपने विचारों को रखने के लिए ऐतिहासिक तथ्यों का आश्रय लिया।

इटली के सर्वश्रेष्ठ लेखक ग्याम्बात्तिस्ता विचो (1668–1744 ई.) थे। इनके 'प्रिसिपि दि उना स्याँजां नूबा' (नवीन विज्ञान के सिद्धांत) और 'सेकोन्दा स्यांजा नूबा' (द्वितीय नवीन विज्ञान) इतिहास के विचार को प्रस्तुत करते हैं। इन्होंने देकार्त के दर्शन का खण्डन करते हुए अपना विचार प्रतिपादित किया। वह मानते थे कि सत्य कोई निरपेक्ष भाव नहीं है। इसका संबंध मानव मस्तिष्क से है। अतः ज्ञान का उद्देश्य उस सिद्धांत की खोज करना है जो ज्ञेय और अज्ञेय के बीच के भेद और सीमाओं को स्पष्ट कर सके। वह आगे कहते हैं मानव केवल उन्हीं तथ्यों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है जो उसकी सृष्टि है अर्थात् उसका सृजन है जैसे इतिहास। इस चिंतन पर आश्रित उनकी इतिहास–दृष्टि कुछ इस रूप में प्रस्तुत है –

> ''चूँकि इतिहास वह प्रक्रिया है जो मानव द्वारा, भाषा, रूढ़ि, नियम, शासन आदि के सर्जन और विकास में सन्निहित है, अतः यह भी मानव की निर्माण–कला का परिणाम है और फलतः मस्तिष्क द्वारा पूर्णतः ज्ञेय है। इतिहास मानव की चेष्टा और चिंतन का फल है।''[2]

---

[1] गिबन के शब्दों में – ''शक्ति का संतुलन डगमगाता रहेगा और हमारी या हमारे पड़ोसियों की समृद्धि क्रमशः बढ़ती–घटती रहेगी, किन्तु ये एक–पक्षीय घटनाएँ हमारी सम्पन्नता के सामान्य स्तर को और कलाओं, कानूनों और शिष्टाचारों के उस विधान को जो यूरोप के लोगों को एवं उनके उपनिवेशों के निवासियों को शेष मानवता के ऊँचा उठाता व अलग करता है, कभी भी गम्भीर हानि नहीं पहुँचा सकेंगी। पृथ्वीतल की बर्बर जातियाँ सभ्य समाज की शत्रु रही है और हम सतर्क कुतुहल के साथ प्रश्न कर सकते हैं कि क्या यूरोप उन संकटों की पुनरावृत्ति से शंकित है जिन्होंने प्राचीन काल में रोम की सेनाओं ओर संस्थाओं को आक्रान्त किया था। सम्भवतः वही विचार जो उस महान् साम्राज्य के पतन पर प्रकाश डालते हैं हमारी वास्तविक सुरक्षा के सम्भावित कारणों की व्याख्या करते है।'' डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 139

[2] वही, पृ.स. 149

विचो देकार्त के इतिहास–संबंधी संशयों का निराकरण कर वैज्ञानिकता को प्रतिपादित करते हैं। वह इसे मानव निर्मिति कहकर इसकी मौलिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हैं। इनकी दृष्टि में इतिहास मात्र अतीत का कोरा वर्णन नहीं है। इसका संबंध हमारे समाज के वर्तमान संविधान से है। बल्कि इतिहास की विशेषता उसकी समानता और अक्षुण्णता की प्रवृत्ति है। समानता की स्थिति को वह मनुष्य–निर्मित होने के कारण मानते हैं। 'समानता का आधार यह है कि मनुष्य स्वयं इतिहास का निर्माता है और उसकी प्रकृति में सर्वत्र मौलिक समानता मिलती है।' इतिहास के अक्षुण्णता की प्रवृत्ति को भी वह मानव प्रकृति के कारण मानते है। उनका मानना है कि मानव प्रकृति में आकस्मिक परिवर्तन नहीं होता। इसमें पूर्व स्थिति और स्वरूप के चिह्न अवश्य विद्यमान रहते हैं। अतः इतिहास में अक्षुण्णता का क्रम बना रहता है। इन प्रवृत्तियों के आधार पर विचो इतिहास की उन्नति–अवनति की दिशाओं को निश्चित मानते हैं। उनकी दृष्टि में – 'यह चक्रवत् घूमता रहता है। इसकी गति के दो पक्ष, 'कोर्सो' और 'रिकोर्सो' कहलाते हैं। कोर्सो एकतंत्रात्मक शासन पर समाप्त होता है और फिर रिकोर्सो प्रारम्भ हो जाता है। रिकोर्सो का अर्थ पतन नहीं है, बल्कि एक नूतन गति है।'[1] वह प्राचीन काल को कोर्सो का युग तथा मध्यकाल को रिकोर्सो का युग मानते हैं।

विचो का दर्शन आदिम जातियों के मनोवैज्ञानिक विकास पर अवलम्बित था। वह समाज के विकास को तीन अवस्थाओं – देवयुग, वीरयुग और मानव युग अथवा क्लासिकल युग – से होकर मानते हैं। मानव युग में कल्पना के स्थान पर विचार, पद्य के स्थान पर गद्य, कृषि के स्थान पर उद्योग, युद्ध के स्थान पर शान्ति की प्रमुखता होती है। विचो मानव युग के बाद फिर पतन के युग को स्वीकारते हैं। जिसे उन्होंने नव–बर्बर युग कहा है। वह इस युग में सर्जनहीन विचार तथा चिंतन के प्रवाह को बताते हैं। जिस कारण विचार और चिंतन कृत्रिम और दुरूह भेदोपभेदों के निरर्थक जंजाल में फँसकर निष्फल हो जाता है। परन्तु उनकी यह चक्रीय अवधारणा रेखात्मक भी है। इतिहास की आवृत्ति पूर्णतः वृत्तावत् नहीं होती। प्रत्येक नवीन पक्ष पूर्वपक्ष से कुछ भिन्न होता है।

विचो को तुलनात्मक और वैज्ञानिक इतिहास–दर्शन का भी प्रवर्त्तक कहा जाता है। वह इतिहासकार को पाँच प्रकार की भ्रांतियों से सचेत रहने को कहते है। यह सचेतता प्राचीन काल के संबंध में अतिरंजित भावनाएँ, जातिवाद का अभिमान, विद्वता का भ्रम, सामग्री विषयक भ्रम तथा पुराने लोगों को अपने से अधिक समुन्नत मानने को लेकर है। इससे इतर भी विचो ने इतिहास के कुछ रचनात्मक सिद्धांत प्रस्तुत किये।

- भाषा तथा संस्कृति के बीच गहन संबंध है तथा भाषा वैज्ञानिक तथ्यों से इतिहास पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है।

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 151

- आख्यानिक तथ्य एवं ऐतिहासिक विकास में गठजोड़ है। आख्यानों के आलोचनात्मक विश्लेषण द्वारा सामाजिक व्यवस्था के बहुत–पक्षों का अध्ययन किया जा सकता है।
- परंपराएँ सामाजिक परिस्थितियों की प्रतिबिम्ब होती हैं। इसीलिए प्राचीन परंपराओं के अध्यन से बहुत–सी अज्ञात बातों की समझ विकसित हो सकती है।
- मनुष्य का मस्तिष्क समान परिस्थितियों में समान प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्त करता है।

विचो के चिंतन में 'सामूहिक मन' की धारणा युगान्तकारी है। इनके बहुत–से समसामयिक इतिहासकार ऐतिहासिक परिवर्तन को या तो दैवी शक्ति के हस्तक्षेप से संपन्न मानते थे या किसी महान प्रशासक की प्रभा से निष्पन्न देखते थे। इन्होंने सामूहिक मन को सतत प्रगतिशील सभ्यता के निर्माता के रूप में प्रस्तुत किया। उनके इतिहास–दर्शन का प्रभाव रोमांतिक युग पर भी पड़ा।

पन्द्रहवीं शताब्दी में जर्मनी में जिस बौद्धिक पुनरुत्थान का सूर्योदय हुआ वह तीस वर्षीय युद्ध के मेघ से दबकर फीका पड़ गया। सत्रहवीं शताब्दी में गोतफ्रीद विल्हेल्म लाइपनित्स (1646–1718 ई.) ने जर्मनी के बौद्धिक जीवन को फिर से सक्रियता प्रदान की। लाइपनित्स ड्यूक ऑव ब्रंजविक को 1692 में एक पत्र लिखते हुए इतिहास की चर्चा करते हैं। वह इतिहास को अंस्थिपंजर के रूप में व्याख्यायित करते हुए लिखते है कि

> ''इतिहास को ठीक तरह समझने के लिए हमें इसकी तुलना एक जंतु के शरीर से करनी चाहिए जिसमें अस्थिपंजर समस्त रचना का आधार होता है... इसी प्रकार इतिहास के अंग अपना–अपना काम करते हैं। कालक्रम अस्थिपंजर का कार्य करता है, वंश–परंपरा शिराओं का काम करती है, प्रच्छन्न उद्देश्य अंतरात्मा जैसी क्रिया करते हैं, उपयोगी दृष्टान्त रसों की तरह सक्रिय रहते हैं और परिस्थितियों का वृत्तांत मांस के समान शरीर के आकार को बनाता है।''[1]

लाइपनित्स का प्रभाव जर्मन लेखकों ओर विचारकों पर पड़ा। इसी समय जर्मनी में बड़ी संख्या में विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। जर्मनी का बौद्धिक वातावरण नवीन जाग्रति के साथ फैला। राष्ट्रीय एकीकरण के भाव ने इतिहास के प्रति एक विशेष सतर्कता पैदा कर दी। डीवी अपनी पुस्तक 'जर्मन फिलॉसोफी एण्ड पोलिटिक्स' में कहते हैं कि लगभग एक शताब्दी तक जर्मनी का दर्शन इतिहास–दर्शन रहा। इस दौरान कुछ प्रमुख लेखक लेसिंग, विंकिलमान, वोल्फ, कान्त आदि आते हैं।

कान्त (1724–1804 ई.) इस युग की भावानाओं का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। वह मानते है कि ''बाह्य विकास प्रकृति की सम्पूर्ण आंतरिक विकास प्रक्रिया का प्रतिबिंब होता है। यह प्रक्रिया मनुष्य को नियंत्रित

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 153

रखती है, मनुष्य द्वारा नियंत्रित नहीं रहती।... किसी वस्तु के विविध स्वरूपों के ऐतिहासिक परिवर्तन का अन्वेषण ही वास्तविक दर्शन है।''[1] इसी दर्शन को आधार बनाकर वह इतिहास को तथ्यों का परिगणन नहीं कहते अपितु उसे आंतरिक विकास की प्रक्रिया के रूप में चिन्हित करते हैं जिसमें क्रम, संबंध, संतति, एकता और अवयवित्व है। वह विश्व को एक नियमबद्ध प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार 'विश्व की प्रक्रिया नियमबद्ध है। यह एक प्राकृतिक योजना के अनुसार गतिशील है, मनुष्य इस योजना के अधीन है।' कांत के दर्शन में द्वंद्व भी है। वह इस प्राकृतिक नियम को हृदयंगम करने में मनुष्य को अक्षम मानते है। लेकिन प्रकृति केवल एक पहेली बनकर न रह जाये इसलिए मनुष्य द्वारा प्रकृति को समझने के लिए नियमों को निर्मित करने की बात भी कहते हैं। आगे विचार करते हुए वह इतिहास को स्वतंत्रता की प्रवृत्ति का प्रतिफल मानते है। स्वतंत्रता का उनकी दृष्टि में विशेष अर्थ है। डॉ. बुद्धप्रकाश इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि

> ''वे दृश्य जगत् (फिनेमेना) और अंतर–वस्तु–जगत् (दिंग आन शिश) में भेद मानते हैं। दृश्य जगत् बाह्य दृष्टिकोण से देखा और समझा जा सकता है। किन्तु अंतर–वस्तु–जगत् दृश्य जगत् के भीतर प्रच्छन्न जीवत् के मानसिक अथवा आध्यात्मिक साक्षात्कार से जा सकता है। इस अंर्तजगत के अपने अलग नियम हैं और यह दृश्य जगत् के नियमों के अधीन नहीं है।''[2]

वह इतिहास को दृश्य जगत् से अंर्तजगत् की ओर अग्रसर होने की प्रक्रिया के रूप में देखते है। यह दृष्टि ही मानव स्वतंत्रता की प्रगति है। कांत का चिंतनक्रम आगे बढ़ता है। वह बुद्धि को मनुष्य का आंतरिक तत्व मानते हैं। जिसके विकास और प्रत्यक्षीकरण में प्राकृतिक योजना का सार निहित है। किन्तु इसका पूर्ण उन्मीलन किसी भी व्यक्ति के जीवनकाल में संभव नहीं है।[3] वह इतिहास को बुद्धिमत्ता की प्रगति और उन्नति के रूप में देखते हैं। इसी बौद्धिकता के युग का आदर्श वह अपने सामने रखते है। उनके विचारानुसार इतिहास इसी बौद्धकता के साम्राज्य की ओर गतिशील है।[4] कांत के इतिहास संबंधी विचार बुद्धिवाद के युग को ही प्रतिफलित करते हैं। संक्षिप्त रूप में उनके इतिहास–दर्शन के चार पक्ष दिखाई देते हैं –

- इतिहास सार्वजनिक और विश्वजनीन प्रक्रिया है।
- इसमें प्रगति की एक योजना निहित है।

---

[1] डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 155

[2] वही, पृ.स. 157

[3] ''दूसरे शब्दों में ज्ञान–विज्ञान का विकास, जो बुद्धि के उन्मीलन का प्रतिबिंब होता है, एक कालक्रमागत और परम्परागत प्रक्रिया है अर्थात् एक ऐतिहासिक संतति है। अतः मनुष्य विषयक प्रकृति की योजना व्यक्तिगत जीवन में नहीं, अपितु मानव–इतिहास में पल्लवित होती है।

[4] ''जब पाप और स्वार्थ की भावना नष्ट हो जायेगी, जब व्यष्टि और समष्टि का संतुलन स्थापित हो जायगा, राष्ट्रीय जीवन और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का समन्वय सम्पन्न हो जायगा। इस दृष्टिकोण से इतिहास का जो अध्ययन किया जायगा वह निश्चित रूप से सार्वजनिक और विश्वव्यापी होगा।'' वही, पृ.स. 158

- इसकी मौलिक प्रवृत्ति बौद्धिकता और नैतिकता का विकास है।
- यह विकास अज्ञान, स्वार्थ और वासना आदि पर निर्भर तामसिक वृत्ति की क्रीड़ा का परिणाम है।

जर्मन इतिहासकारों में कुछेक इतिहासकारों का भी नाम उल्लेखनीय है। इनमें जस्तस मोयजेर (1720–94 ई.), योहान याजोखिम, फ्रीडीरिख वोल्फ (1759–1824 ई.) आदि प्रमुख हैं।

पाश्चात्य इतिहास–लेखन का विकास विस्तृत परंपरा का प्रतिफल है। इतिहास–लेखन के तत्वों का निर्माण इसी समयांतराल में होता है। इतिहासकार को महत्व देने, राजनीति का इतिहास का केन्द्र होने, समकालीन इतिहास पर जोर, ईसाई इतिहास–लेखन के साथ काल–धूरी निश्चित होने के साथ–साथ अतीत के माध्यम से प्रगतिशील होने की आधुनिक दृष्टि के उपरांत इतिहास का कलेवर वर्तमान स्वरूप में आता है। इसी विस्तृत परंपरा का अध्ययन परिस्थिति अनुरूप तत्वों के क्रमिक विकास को रेखांकित करता है। इस विश्लेषण से यह तो स्पष्ट है कि वर्तमान इतिहास–लेखन पाश्चात्य परिस्थितियों का परिणाम भी है। देशों की तत्कालीन परिस्थितियाँ इतिहास–लेखन को विकसित करती है। अतः भारतीय इतिहास को भी भारत की परिस्थितियों में देखने की आवश्यकता है। तभी उस स्वरूप की भिन्नता को निर्दिष्ट किया जा सकता है।

द्वितीय अध्याय

भारतीय इतिहास : परंपरा, स्वरूप एवं समस्याएँ

2.1 भारतीय इतिहास–लेखन परंपरा

2.1.1 इतिहास–पुराण परंपरा

2.1.2 बौद्ध–धर्म में इतिहास–लेखन

2.2 भारतीय इतिहास का स्वरूप

2.2.1 प्रामाण्यवाद

2.2.2 काल–गणना

2.2.3 पौराणिक भूगोल

2.3 भारतीय इतिहास–लेखन की समस्याएँ

2.3.1 इतिहास–लेखन की पाश्चात्य कसौटियाँ

2.3.2 ए. बी. कीथ का पर्यावरण एवं परिवेश के बिन्दु पर अलोचना का प्रत्याख्यान

2.3.3 ए. बी. कीथ के आलोचना बिन्दु कर्म और पुनर्जन्म पर विचार

2.3.4 सार्वभौमिक इतिहास का लेखन

2.3.5 भारतीय इतिहास का प्रयोजन

2.3.6 भारतीय इतिहास की विषयवस्तु

2.3.7 भारतीय इतिहास में साहित्य एवं इतिहास की प्रवृत्तिगत संश्लिष्टता

2.3.8 मौखिक परंपरा में इतिहास का लेखन

2.3.9 आलोचनात्मकता के स्थान पर आदर्शात्मक–लेखन को प्रश्रय

द्वितीय अध्याय : भारतीय इतिहास : परंपरा, स्वरूप एवं समस्याएँ

भारत विभिन्न मत–मतान्तरों का चिंतन स्थल रहा है। जीवन, जगत एवं सृष्टि को देखने की विभिन्न दृष्टियों का विकास यहाँ दिखाई पड़ता है। इन्हीं भिन्न दृष्टियों के आलोक में धर्म एवं पंथ का विकास होता है। कहीं यह नियंत्रित विस्तार पाता है तो कहीं इनका विकास संस्थागत रूप में भी हुआ है। इन दृष्टियों के अनुरूप भारत में इतिहास–दर्शन भी प्रभावित हुआ है, जिसका सीधा प्रभाव इतिहास के लेखन पर भी पड़ा है। इन्हीं विविध प्रभावों के परिणामस्वरूप दो प्रमुख धर्मों में मौजूद इतिहास लेखन को समझने का प्रयास किया गया है। इन्हीं विविध इतिहास–लेखनों कह समंवितता को भारतीय इतिहास–लेखन के रूप में समझने की आवश्यकता है।

2.1 भारतीय इतिहास–लेखन परंपरा

इतिहास–पुराण परंपरा : हिन्दू धर्म के अंतर्गत इतिहास–लेखन का विकास 'इतिहास–पुराण' के शास्त्रीय रूप में हुआ है, जो कि काफी प्राचीन है। देखा जाये तो भारतीय वाङ्ग्मय के अंतर्गत 'इतिहासार्थक' शब्दों का परिचय ऋग्वेद से ही प्राप्त होने लगता है। जबकि 'इतिहास' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अथर्ववेद के अंतर्गत हुआ है। वह प्रयोग कुछ इस प्रकार है –

> ''वह व्रात्य वृहती दिशा – वृद्धि की दिशा का लक्ष्य करके चला। उस वृहती दिशा में चलने वाले व्रात्य को सृष्टि–उत्पत्ति आदि का नित्य इतिहास और जगदुत्पत्ति आदि का वर्णनरूप पुराण तथा किसी का दृष्टान्तरूप कथा–प्रसंग कहना रूप गाथाएँ तथा मनुष्य के प्रशंसनीय कर्मों का कहनारूप नाराशंसी अनुकूलता से प्राप्त हुई। इनके द्वारा ही वस्तुतः वह वेद व्याख्यान को सुन्दरता से कर पाया। (15.6.10/11) जो इस प्रकार इतिहास आदि के महत्व को समझता है, वह व्रात्य निश्चय से इतिहास व पूराण का तथा गाथाओं व नाराशंसियों का प्रियधाम होता है। इनके द्वारा वह वेद को खूब व्याख्यात कर पाता है।''[1] (15.6.12)

अतः भारतीय इतिहास को समझने के लिए इतिहास, पुराण, गाथा तथा नाराशंसी का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। लेकिन इसके अतिरिक्त भी उपर्युक्त अंश में 'व्रात्य' शब्द इतिहास की दृष्टि से व्याख्येय है। परन्तु यह भी स्मरण आश्यक है कि उपर्युक्त अंश वैदिक श्लोक की व्याख्या है। लेकिन यदि इस व्याख्या

---

[1] ''स वृहहतीं दिशमनुव्य चलत्।। 15.6.10
''तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्य चलन्।। 15.6.11
इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च
नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।। अथर्ववेद 15.6.12
भाष्यकार – पं. हरिशरण सिद्धांतालंकार, अथर्ववेदभाष्यम् (भाग – 3), श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धमार्थ न्यास, राजस्थान, पृ.सं. 133

को स्वीकार किया जाये तो उपर्युक्त अंश से इतिहास के संबंध में कुछ तथ्य स्पष्ट होंगे। यहाँ 'व्रात्य' सामान्यतः विद्वान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऐसा विद्वान जो कि स्वयं को इतिहासादि (इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी) ज्ञान के अनुकूल बनाकर अर्थात् उसका ज्ञान प्राप्त करते हुए वेद की व्याख्या करता है। अतः वर्तमान दृष्टि से कहा जाये तो 'व्रात्य' का प्रयोग यहाँ इतिहासकार के लिए हुआ है। परन्तु यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि व्रात्य कहते हुए यहाँ समकालीन दृष्टि से 'इतिहासकार' की संज्ञा नहीं दी गई है। बल्कि इतिहासादि का ज्ञान एवं उसका प्रस्तुतिकरण किसी भी विद्वान द्वारा संभव है। वह विद्वान इतिहासादि–ज्ञान अर्थात् अतीत–ज्ञान के माध्यम से वेद की व्याख्या करता है। अतः इतिहासादि के प्रस्तुतिकरण के साथ–साथ उसकी दृष्टि एवं सीमा भी वेद ही ठहरते हैं। दूसरी तरफ व्रात्य अर्थात् इतिहासादि का ज्ञान रखने वाले विद्वान द्वारा वेद की सापेक्ष दृष्टि में इतिहास का लेखन व्याख्या के माध्यम से संभव होता है। यह व्याख्या जितना शास्त्रीय–लेखन में द्रष्टव्य होती है उतना ही लोक में भी प्रचारित होती है। सीधे–सीधे शब्दों में कहा जाये तो वेद की गूढ़ता को सरलीकृत करना ही इतिहासादि का एक प्रयोजन है। इसीलिए इतिहासादि का कार्य शास्त्रीय चिंतन ही करना नहीं बल्कि शास्त्रीय चिंतन को सरलीकृत कर लोकानुकूल बनाना है।

बहरहाल पं. हरिशरण सिद्धांतालंकार व्याख्या करते हुए शब्दों के अर्थ–द्वैत का भी संकेत करते हैं। इन शब्दों के अर्थगत द्वैत को निश्चित अवधारणा में बांधकर इनकी स्पष्ट सीमा का संकेत नहीं किया जा सकता। परन्तु अथर्ववेद में उपलब्ध होने के कारण इतिहास–चेतना की प्राचीनता को अवश्य महसूस किया जा सकता है। इस सीमा को निश्चित सीमा के रूप में न स्वीकारे जाने के कई कारण हैं। जैसा कि उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि इतिहास शब्द से अभिप्राय सृष्टि–उत्पत्ति के इतिहास से है। परन्तु पुराणों के वर्ण्यविषय में सर्ग अर्थात् सृष्टि–वर्णन 'पंचलक्षणों' में से एक है। दूसरी तरफ पं. हरिशरण सिद्धांतालंकार बाद की परंपरा के आधार पर इन शब्दों के बीच अर्थ–द्वैत को व्याख्यायित करते हैं। अतः विषयवस्तु के आधार पर स्थूल भेद करना संभव नहीं है। बल्कि इतिहासादि रूप संश्लिष्ट रूप में विकास करते हैं। लेकिन इतिहास की प्राचीनता तथा उसके आगामी विकास की मूल चेतना का आभास अथर्ववेद के उल्लेख में हो जाता है। भारत में इतिहास–लेखन की प्राचीनता का परिचय यास्क के निरूक्त में भी मिलता है। यास्क निरूक्त में वेदार्थ व्याख्या के अवसर पर विभिन्न संप्रदायों में से ऐतिहासिकों के एक स्वतंत्र संप्रदाय का भी उल्लेख करते हैं जिसका स्पष्ट परिचय 'इति ऐतिहासिकाः' के निर्देश से मिलता है। अतः स्पष्ट है कि भारत में इतिहास का लेखन कोई निर्जीव धारा या अचेतन रूप में विकास नहीं करती है। बल्कि भारतीय आचार्य इतिहास के ज्ञान के संबंध में सचेतन रूप से प्रयासरत थे। इसके प्रमाण काल के विकास के साथ दिखाई देते हैं, जिनका उल्लेख आगे किया गया है।

अथर्ववेद में प्राप्त इतिहास समानार्थ शब्दों के साक्ष्य भारत में इतिहास–ज्ञान के होने को प्रमाणित करते हैं। हरिशरण सिद्धांतालंकार की व्याख्या से कुछ सामान्य दृष्टियाँ स्पष्ट होती हैं। देखा जाये तो इतिहास–पुराण का संबंध क्रमशः सृष्टि एवं जगत से जोड़कर दिखाया गया है। जबकि गाथा एवं नाराशंसी

का केन्द्र व्यक्ति–चरित्र है। अतः स्पष्ट होना चाहिए कि 'सृष्टि' के इतिहास से अभिप्राय प्रकृति अर्थात् ब्रह्माण्ड के इतिहास से है तथा 'जगत्' का संबंध मानवीय सभ्यता के इतिहास से। यदि प्रकृति को ब्रह्माण्ड से सीमित करते हुए पृथ्वी के इतिहास तक भी सीमित किया जाये तो गलत नहीं होगा। दरअसल सृष्टि का प्रकृत–विकास 'भारतीय–दर्शन' की भी मूल समस्या रही है। विभिन्न दार्शनिक–चिंतन इसी विकास को समझने का प्रयास करते हैं। यही दार्शनिक भूमि संहिता–रूप 'पुराणों' द्वारा भी गृहीत होती है। इसी प्रकृत–विकास को समझने के साथ–साथ काल का भी मानव–निरपेक्ष चिंतन विकसित होता है। मन्वन्तरों की गणना इसी मानव–निरपेक्षता को दिखाती है। लेकिन मानव–निरपेक्ष चिंतन के साथ–साथ मनुष्य–सापेक्ष दृष्टि भी भारतीय इतिहास में स्थान पाती है। पुराण के स्वरूपगत वैशिष्ट्य को निर्दिष्ट करता हुआ 'जगत का इतिहास' जैसा विशेषणात्मक कथन मनुष्य–सापेक्ष दृष्टि को ही इंगित करता है। वहीं गाथा एवं नाराशंसी भी इसी का अनुकरण करते हैं। 'पुराण' राजवंशों, ऋषि–मुनियों, वंशानुचरित आदि से समृद्ध दिखाई देते हैं। जबकि गाथा तथा नाराशंसी किसी एक चरित्र को केन्द्र में रखकर स्वरूप ग्रहण करते हैं। अतः इन चारों स्वरूपों से एक बात स्पष्ट है कि भारतीय इतिहास सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों रूपों में विकसित होता है। बल्कि स्थूल–तथ्यात्मक वर्णनों के मूल में सूक्ष्म–चिंतन (दार्शनिक चिंतन) सदा वर्तमान रहता है और सूक्ष्म चिंतन की व्याख्या में स्थूल–रूप क्रियांवित होता है।

पं. हरिशरण सिद्धांतालंकार द्वारा किये गये उपर्युक्त अर्थ को इतिहासादि शब्दों के विशेषण के रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है। वैदिक काल में पुराण का उल्लेख विद्या के रूप में किया गया है। जबकि 'पुराण' का संहिता के रूप में निश्चित प्रारूप कालांतर में निर्मित होता है। इसीलिए वेदों में यह प्रयोग विशेषणात्मक ही है, जिस कारण इन शब्दावलियों के बीच अर्थ–द्वैत को निश्चित करना ओर कठिन हो जाता है। इतिहास–पुराण परंपरा स्वयं में स्वतंत्र रूप से विकास नहीं करती, अपितु संश्लिष्टता में विकास करती है। कई बार यह एक दूसरे की विशेषताओं का अतिक्रमण भी करती है। आचार्य बलदेव उपाध्याय लिखते हैं –

> ''प्राचीन ग्रन्थों में पुराण का संबंध 'इतिहास' से इतना घनिष्ठ है कि दोनों सम्मिलित रूप से 'इतिहास–पुराण' नाम से अनेक स्थानों पर उल्लिखित किये गये हैं।''[1]

इसी रूप में इतिहास–पुराण का संयुक्त रूप से प्रयोग जगह–जगह दिखाई देता है। छान्दोग्योपनिषद् में सनत्कुमार से ब्रह्मविद्या सीखने के अवसर पर नारद मुनि अपनी अधीत विद्याओं के अंतर्गत 'इतिहास–पुराण' को 'पंचम वेद' बतलाते हैं।[2] वहीं महाभारत जो स्वयं को इतिहास स्वीकारता है कई स्थानों पर अपने लिए 'पुराण' शब्द का भी व्यवहार करता है।[3] तो वायुपुराण स्वयं को 'पुरातन इतिहास' के रूप में परिचित

---

[1] उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण – 2015 ई., पृ.सं. 4

[2] ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्।। (छा. उप. 7.1)
वही, पृ.सं. 4

[3] द्वैपायनेन यत् प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा।
सुरैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव श्रुत्वा यदभिपूजितम्।। आदि पर्व 1.17

करवाता है।[1] अतः यह स्पष्ट है कि इतिहास–पुराण में घनिष्ठ संबंध था। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो यह संबंध इतना प्रगाढ़ था कि इनकी सीमाएँ बहुत धुँधली थीं। 'शंकर' इस धुँधली सीमा को साफ करने का प्रयास करते हैं। उनकी दृष्टि में 'प्राचीन आख्यान' तथा 'आख्यायिका' का सूचक भाग इतिहास है तथा सृष्टि–प्रक्रिया का वर्णन 'पुराण' है।'[2] इसी आधार पर वह उर्वशी तथा पुरूरवा के संवाद को इतिहास कहते हैं। इसीलिए आचार्य बलदेव उपाध्याय मानते हैं कि आरम्भ में यह भेद धुँधला अवश्य था परन्तु आगामी समय में यह भेद स्पष्ट हो गया था।[3] शंकर सातवीं शताब्दी में वर्तमान थे और वहीं इनसे पूर्व पाँचवी शताब्दी में अमरकोश 'पुराण' की पंचलक्षणात्मक व्याख्या करता है। कहा जाये तो इतिहास–पुराण की धुँधली सीमा बाद में स्पष्ट होती है, जब 'पुराण' संहिता का रूप ले चुका होता है। अमरकोश के समक्ष प्रस्तुत पुराण–संहिता ही पुराण की पंचलक्षणात्मक व्याख्या का आधार बनती है। अतः यह स्पष्ट है कि अथर्ववेद तथा कतिपय पुराणों में पुराण तथा इतिहास एक–दूसरे के अर्थ को ग्रहण करते हैं। जबकि इनका पृथक प्रयोग अवान्तरकालीन वैदिक ग्रन्थों तथा पुराणों में उपलब्ध होता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय कहते हैं – ''अंतिम समय में 'पुराण' इतिहास को ही नहीं, प्रत्युत समस्त वाङ्ग्मय को गतार्थ करता है जो मानव के कल्याण तथा हित के साधन है।''[4] अतः इस विश्लेषणात्मक दृष्टि से इतर इतिहास, पुराण, गाथा तथा नाराशंसी के व्युत्पत्तिगत अर्थ के माध्यम से इतिहास के स्वरूप को समझना आवश्यक हो जाता है।

'पुराण' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अनेक मंत्रों में उपलब्ध होता है।[5] यहाँ यह प्राचीनता का ही बोधक है। अन्यत्र 'पुराणी' शब्द का प्रयोग 'गाथा' शब्द के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में पुराण का प्रयोग इतिहासादि शब्दों के साथ ही दिखाई देता है, जहाँ यह विशिष्ट विद्या के रूप में प्रयुक्त है। पुराण का उदय 'उच्छिष्ट' संज्ञक ब्रह्म से बताया गया है।

> ''अथर्व (11.7.24) मंत्र का अर्थ है – ऋक्, साम, छंद (अथर्व) और यजुर्वेद के साथ ही पुराण भी उस उच्छिष्ट से – यज्ञ के अवशेष से अथवा जगत् पर शासन करने वाले यज्ञमय परमात्मा से – उत्पन्न हुए।''[6]

---

[1] इमं यो ब्राह्मणो विद्वानितिहासं पुरातनम्।
श्रृणुयाद् श्रावयेद्वापि तथाध्यापयतेपि च।।
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वेदैश्च सम्मतम्।
कृष्णद्वैपायनेनोक्तं पुराणं ब्रह्मवादिता।। वायु पुराण 103.48/59

[2] उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण – 2015 ई., पृ.सं. 6

[3] वही, पृ.सं. 6

[4] वही, पृ.सं. 8

[5] ऋ. वे. 3/54/9, 3/58/6, 10/130/6

[6] ''ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः।।'' (अथर्ववेद 11.7.4)
उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण – 2015 ई., पृ.सं. 8

अथर्ववेद में व्रात्यस्तोम के अंतर्गत पूर्वोक्त मंत्रों में पुराण शब्द का प्रयोग दिखाई देता है। व्रात्यपद से यहाँ रुद्रावतार परमात्मा की विवक्षा है। यह मंत्र इतिहास–पुराण को परमात्म तत्व से जोड़ता है।

''स वृहतीं दिशमनुव्यचलत्।।10।।

तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च

नराशसीश्चानुव्यचलन्।।11।।

इतिहासस्य च स वै पुराणस्य च गाथानां च

नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति, य एवं वेद।।12।।

– (अथर्ववेद, 15 काण्ड, 1 अनुवाक, 6 सुक्त)

(''व्रात्यस्तोम के प्रसंग में इतिहास, पुराण, गाथा तथा नाराशंसी भी उसके पीछे–पीछे चलीं। जो व्यक्ति इसे जानता है वह इतिहास का, पुराण का, गाथाओं का तथा नाराशंसियों का प्रिय धाम –प्यारा घर'– होता है।''[1]) ऋग्वेद में कई जगह दानस्तुति तथा नाराशंसी उपलब्ध होती है। जहाँ मंत्रद्रष्टा ऋषि दान देने वाले आश्रयदाता शासक की ऐतिहासिक वृत्त से संवलित स्तुति करता है। यह संकेत करता है कि इतिहासादि शब्दों का संबंध लोक से था। ऋग्वेद की दो धाराओं में लौकिक धारा का स्पष्ट परिचय विशुद्ध धार्मिक धारा से इतर मिलता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय लौकिक धारा से ही पुराणों का संबंध स्वीकारते हैं। ब्राह्मण–साहित्य भी पुराण के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। गोपथ ब्राह्मण का कथन है कि ''कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, अन्वाख्यात तथा पुराण के साथ सब वेद निर्मित हुए।''[2] एक अन्य स्थान पर गोपथ ब्राह्मण पाँच वेदों के निर्माण की बात कहता है। यह पाँच वेद मूलतः वेदपंचक है – सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद तथा पुराणवेद।[3] गोपथ ब्राह्मण उत्तर दिशा से इतिहासवेद तथा ध्रुवा (पैरों से ठीक नीचे होने वाली दिशा) एवं ऊर्ध्वा (सिर के ठीक ऊपर की दिशा) से पुराण का निर्माण मानता है। यह स्पष्ट है कि उस युग में पुराण तथा इतिहास को वेद के समान या स्वतन्त्र वेद का सम्मान प्राप्त था। आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मणों के ही अंतिम भाग हैं। इनमें भी इतिहास–पुराण का परिचय प्राप्त होता है। तैत्तिरीय आरण्यक ब्रह्म–यज्ञ के प्रसंग में 'पुराणानि' शब्द का व्यवहार करता है। यहाँ

[1] वही, पृ.सं. 10

[2] ''एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्याताः सचुराणाः।''... गोपथ ब्राह्मण 2.10
उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण – 2015 ई., पृ.सं. 10

[3] ''पंचवेदान् निरमिमत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदम्। स खलु प्राच्या एव दिशः सर्पवेदं निरभिमत, दक्षिणस्याः पिशाचवेदं प्रतीच्या असुरवेदमुदीच्या इतिहासवेदं ध्रुवायाश्चोर्ध्वायाश्च पुराणवेदम्।'' ... गोपथ ब्राह्मण 1.10

किसी ग्रन्थ की सत्ता से इतर पुराणगत आख्यानों से ही अभिष्ट है।[1] 'ब्रहदारण्यक उपनिषद्' पुराण का उदय वेद के समान मानता है। इतिहास–पुराण उस महाभूत (परमेश्वर) के निःश्वसित हैं – श्वासरूप हैं।

अतः वैदिक साहित्य में इतिहास–पुराण की प्राचीनता के अध्ययन से कुछ सामान्य तथ्य स्पष्ट है। महाभूत परब्रह्म से वेद–चतुष्टय तथा इतिहास–पुराण की उत्पत्ति हुई। वेद के समान यह नित्य थे। इसी कारण इन्हें पंचमवेद के नाम से अभिहित किया जाता है। यह केवल मौखिक तत्व के द्योतक न होकर सम्भवतः ग्रन्थ के रूप में सन्निविष्ट थे और अध्ययन के विषय थे। आरण्यक युग में पुराणों के बहुत्व की कल्पना आरम्भ हो चुकी थी – पुराण एक न होकर अनेक रूप में वर्तमान थे। ग्रन्थ रूप में न सही लेकिन आख्यान रूप में अवश्य।

सूत्रग्रन्थों में पुराण–पठन का उल्लेख मिलता है। आश्वलायनगृह्यसूत्र के अंतर्गत एक मंत्र (3.3. 1) में इतिहास तथा पुराणों का स्वाध्याय के अध्ययन के अंतर्गत स्वीकार किया गया है। वहीं एक अन्य मंत्र (4.6) में इतिहास और पुराणों के स्वाध्याय करने वाले व्यक्ति के देवों और पितरों को अमृत की कुल्या (नहर) प्राप्त होने की बात कही गयी है। वहीं आपस्तम्बधर्मसूत्र में किसी पुराण के दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं। साथ ही भविष्य पुराण का स्पष्ट संकेत के आधार पर आचार्य बलदेव उपाध्याय लिखते हैं –

> ''पुराण' के सामान्य निर्देश के संग में 'भविष्य पुराण' का विशिष्ट निर्देश इस तथ्य का विशद प्रतिपादक है कि उस युग में कम से कम एक पुराण का प्रणयन हो चुका था। इस प्रकार ग्रन्थ रूप में पुराण का यह निर्देश निःसन्देह प्राचीन तथा महत्वपूर्ण है।... भविष्यपुराण के नाम से उद्धृत सिद्धांत भविष्य जन्म से संबंध रखता है। इस शब्द का संकेत भविष्यकाल की घटना का वर्णन करने वाले सामान्य पुराण से ही है, तन्नामधारी किसी विशिष्ट पुराण से नहीं।''[2]

महाभारत 'पुराण' की प्राचीनता के संदर्भ में स्पष्ट संकेत करता है। महाभारत के तीन संस्करण स्वीकारे गये हैं – जय, भारत तथा महाभारत। महाभारत का वर्तमान स्वरूप भी तृतीय शती से अर्वाचीन नहीं माना जाता। महाभारत 'पुराणों' का केवल सामान्य रूप ही उल्लिखित नहीं करता अपितु उनकी कथाओं के रूप एवं वैशिष्ट्य तथा अठारह पुराणों से परिचय रखता है। अनुशासनपर्व के एक श्लोक में महाभारत की दृष्टि का पुराण के संदर्भ में परिचय मिलता है।

''पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्।

आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः।।''[3]

---

[1] ''ब्रह्मयज्ञप्रकरणे–यद् ब्राह्मणानोतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीर्मेदाहुतयो देवानामभवन्। ताभिः क्षुधं पाप्मानमपाध्नन्। अपहत–पाप्मानो देवाः स्वर्ग लोकमायन्। ब्राह्मणः सायुज्यमृषयोऽगच्छन्।।'' ... तैत्तिरीय आरण्यक 2 प्रपाठक, 9 अनुवाक।

[2] उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण – 2015 ई., पृ.सं. 19

[3] वही, पृ.सं. 19

(पुराण, मानवधर्म अर्थात् मनुस्मृति, साङ्गवेद, चिकित्साशास्त्र – ये चारों ईश्वर की आज्ञा से सिद्ध हैं अर्थात् इनका वर्णन यथार्थ और प्रामाणिक है। तर्क का आश्रय लेकर इनका खण्डन करना कथमपि उचित नहीं है।) महाभारत की यह दृष्टि काल्पनिक कथाओं से इतर उसके स्वरूप का संकेत करती है। वहीं आदिपर्व में उद्धृत एक अन्य श्लोक पुराण की विषयवस्तु का संकेत करता है।[1] यह श्लोक मानता है कि पुराणों में अनेक दिव्य कथाएँ होती हैं तथा विशिष्ट बुद्धिमानों के आदिवंशों का वर्णन भी रहता है। वंशानुचरित तथा देवसंबंधी आख्यान को यह श्लोक पुराण का अविभाज्य अंग मानता है।

बहरहाल इतिहास एवं पुराण के स्वरूप को समझने के लिए उनके व्युत्पत्तिगत अर्थ पर विचार करना आवश्यक है। 'इतिहास' की व्युत्पत्ति है – इति (इस प्रकार से) ह (निश्चयेन) आस (था, वर्तमान था)। अर्थात् प्राचीन काल में निश्चय रूप से होने वाली घटना 'इतिहास' के द्वारा निर्दिष्ट की जाती थी। इतिहास के इस अर्थ को निरुक्त में मौजूद दूर्गाचार्य की वृत्ति से तुलना करके देखा जा सकता है।

''निदानभूतः 'इति ह एवमासीत्' इति च उच्यते स इतिहासः।'' (निरुक्त 2.3.1)

स्पष्ट है कि इतिहास का व्युत्पत्ति अर्थ प्राचीन काल की वास्तविक घटना के संदर्भ में है। आचार्य बलदेव उपाध्याय लिखते हैं – ''अथर्ववेद तथा ब्राह्मणग्रन्थों में यह शब्द 'पुराण' से भिन्न स्वतंत्र रूप में इसी अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होता है।''[2] वह इस क्रम में यास्क द्वारा देवापि और शान्तनु की कथा को इतिहास कहे जाने का संकेत करते हैं। इस प्रकार वह स्वीकार करते हैं कि ''पुराणों में आगे चलकर 'इतिहास' शब्द का प्रयोग निःसंशय इस 'इतिवृत्त' अर्थ में हम पाते हैं।''[3] अतः बलदेव उपाध्याय मानते हैं कि प्राचीन अर्थों में विभेद को ढूँढ़े तो 'पुराण' का संबंध काल्पनिक कथा अथवा आख्यान से है तो 'इतिहास' का वास्तविक घटना से। इतिहास की प्रवृत्ति को निश्चित करने में निम्न श्लोक द्रष्टव्य है –

''इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना।

लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् सम्प्रकाशितम्।।''[4]

यह श्लोक इतिहास की लोकमंगल भावना को स्पष्ट करता है। इसी को दृष्टिगत रखते हुए आचार्य बलदेव उपाध्याय लिखते हैं –

> ''इतिहास प्राचीन आख्यानों का वर्णन करता है, परन्तु उसका भी क्षेत्र इतना सीमित नहीं है अर्थात् वह केवल तिथिक्रम और घटना का संकलनमात्र नहीं है, प्रत्युत नाना विषयों की शिक्षा देकर तथा

---

[1] ''पुराणे ही कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम्।
कथ्यन्ते ये पुरास्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव।।'' आदिपर्व 5.2
वही, पृ.सं. 19

[2] उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण – 2015 ई., पृ.सं. 5

[3] वही, पृ.सं. 5

[4] वही, पृ.सं. 7

लोक–व्यवहार के तत्वों को प्रकटित कर वह मानव के हृदय से मोह तथा अज्ञान का भी निवारण करता है।''[1]

लोक–व्यवहार में लोकमंगल की कामना इतिहास–पुराण परंपरा में स्पष्ट दिखाई देता है। विष्णुपुराण में उद्धृत एक श्लोक इतिहास का विषय आर्ष आदि द्वारा कहे गये आख्यानों, देव तथा ऋषियों के चरित आदि को मानता है। यह श्लोक निम्नवत् है –

''आर्ष्यादि बहुव्याख्यानं देवर्षिचरिताश्रयम्।

इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भुतधर्मयुक्त।।''[2]

उपर्युक्त श्लोक में आर्ष आदि द्वारा कहे गये आख्यान, देव तथा ऋषियों के चरित के लिए 'इतिहास' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिससे (इतिहास से) भविष्य उज्ज्वल तथा धर्मयुक्त होता है। यह स्पष्ट है कि पूर्व में इतिहास तथा आख्यान का संबंध माना गया है, जिसका आदर्श महाभारत के निम्न श्लोक में स्पष्ट देखा जा सकता है –

''धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।

पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।।''[3]

उपर्युक्त श्लोक इतिहास को पुरूषार्थ–चतुष्ट्य के उपदेशों से समंवित तथा पूर्व कथाओं से युक्त मानता है। विष्णुपुराण तथा महाभारत के उपर्युक्त श्लोक समाजसापेक्ष उद्देश्य से पूर्ण दिखाई देते हैं। 'धमार्थकाममोक्ष' का उपदेश इतिहास के मूल में गतिमान होता है। आधुनिक दृष्टि जिस वस्तुनिष्ठता को इतिहास का सत्यता का आधार मानती है। वहीं भारतीय दृष्टि का केन्द्र पुरूषार्थ–चतुष्ट्य की स्थापना ठहरता है। पुरूषार्थ–चतुष्ट्य की स्थापना करने के लिए ऐतिहासिक चरित्र, कथाएँ आदि उपदेशात्मक, कथात्मक शैली में अभिव्यक्त होती हैं। उपर्युक्त श्लोक के अनुसार आर्ष द्वारा कहे गये आख्यान, पूर्ववृत्त कथा, देव तथा ऋषियों के चरित आदि इतिहास की विषयवस्तु है। परन्तु इन्हें काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। उपर्युक्त श्लोक में प्रस्तुत संदर्भ को इतिहास की विषयवस्तु के चयन की दृष्टि के रूप में देखे जाने की आवश्यकता है। अर्थात् पुरूषार्थ–चतुष्ट्य ही वह दृष्टि है, जो कि आर्ष को विषयवस्तु के चयन में आधारभूमि बनता है। 'इतिहासकार' की दृष्टि को जिस प्रकार पश्चिम में स्वीकार किया गया है। उसी प्रकार यह दृष्टि (पुरूषार्थ–चतुष्ट्य की स्थापना) समूह द्वारा स्वीकृत होते हुए रचनाकार की दृष्टि बनती है। 'आर्ष' पुरूषार्थ–चतुष्ट्य की स्थापना के उद्देश्य से जिस विषयवस्तु का चयन करता है उसे आख्यान

[1] वही, पृ.सं. 7

[2] शर्मा, नलिन विलोचन, साहित्य का इतिहास–दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, प्रथम संस्करण 1960, पृ.सं. 2

[3] शर्मा, नलिन विलोचन, साहित्य का इतिहास–दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, प्रथम संस्करण 1960, पृ.सं. 2

के माध्यम से प्रस्तुत करता है। भारतीय इतिहास का श्रुत परंपरा में विकास उसके कथात्मक होने की प्रवृत्ति का तार्किक प्रमाण प्रस्तुत करता है।

इतिहासादि (इतिहास, पुराण, गाथा तथा नाराशंसी) परंपरा को भिन्न–भिन्न रूप में देखा जाये तो पुराण–साहित्य सबसे समृद्ध रूप में दिखाई देता है। 'पुराण' के व्युत्पत्तिगत अर्थ की पाणिनि, यास्क तथा स्वयं पुराण अलग–अलग व्याख्या प्रस्तुत करता है। पाणिनि 'पुराण' का व्युत्पत्ति अर्थ 'पुरा भवम्'[1] अर्थात् 'प्राचीन काल में होने वाला' के अर्थ में लेते हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय लिखते है – ''पुराण' शब्द ऋग्वेद में एक दर्जन से अधिक स्थानों पर मिलता है, यह वहाँ विशेषण है तथा उसका अर्थ है प्राचीन, पूर्व काल में होने वाला।''[2] उपर्युक्त कथन का संकेत तथा पाणिनि द्वारा अर्थ–ग्रहण पुराण को अतीत से जोड़ता है। वहीं यास्क निरुक्त (3.11) में 'पुराण' की व्युत्पत्ति 'पुरा नवं भवति' अर्थात् 'जो प्राचीन होकर भी नया होता है' अर्थ में स्वीकार करते हैं। पद्मपुराण इसकी भिन्न व्युत्पत्ति स्वीकार करता है – यह व्युत्पत्ति 'पुरा परंपरां वष्टि कामयते'[3] है अर्थात् 'जो प्राचीनता की अर्थात् परंपरा की कामना करता है'। वहीं कुछ अन्य व्युत्पत्ति पाणिनि के निकट ही दिखाई देती है। वायुपुराण इसकी व्युत्पत्ति 'पुरा अनति'[4] अर्थात् 'प्राचीनकाल में जो जीवित था' के अर्थ में है तो ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार 'पुरा एतत् अभूत्'[5] अर्थात् 'प्राचीनकाल में ऐसा हुआ' है। इन व्युत्पत्तियों से स्पष्ट है कि पुराण का वर्ण्यविषय प्राचीनकाल से संबद्ध है। वहीं यास्क के निरुक्त में 'पुराण' की व्युत्पत्ति द्रष्टव्य है। उस व्युत्पत्ति के अनुसार जो प्राचीन होकर भी नया है। दरअसल भारतीय इतिहास–पुराण का स्वरूप ही कालातीत होने में विश्वास रखता है। इसीलिए 'पुराण' क्षणबद्ध होते हुए भी शाश्वतता को प्राप्त करता है। अतः यह माना जा सकता है कि भारतीय इतिहास का स्वरूप आरम्भ से ही सार्वभौमिक होने की दिशा में अग्रसरित होता है। लेकिन इसी के साथ 'पुराण' का दो अर्थों में प्रयोग दिखाई पड़ता है। पहला, प्राचीनकाल के वृत्तों की विद्या के रूप में तथा दूसरा, एक विशिष्ट साहित्य या ग्रन्थ के रूप में।

पं. हरिशरण सिद्धांतालंकार की व्याख्या पर दृष्टिपात करें तो 'पुराण' को जगत् का इतिहास माना गया है। अतः जगत् के इतिहास अर्थात् पुराण को लिखे जाने की विस्तृत परंपरा को बलदेव उपाध्याय दो भागों में विभाजित करते हैं – व्यासपूर्व धारा और व्यासोत्तर धारा। वह बताते हैं कि व्यास का कार्य 'पुराण संहिता' का निर्माण करना था। वह लिखते हैं –

---

[1] 'सायंचिरंप्राह्वेप्रगेव्ययंळयष्टयुटयुलौ तुट् च' (पाणिनि सूत्र 4.3.105)

[2] उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण – 2015 ई., पृ.सं. 3

[3] 'पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम्।।' (पद्मपुराण 5.2.53)

[4] यस्मात् पुरा ह्यनक्तीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते।। (वायु पुराण 5.2.53)

[5] यस्मात् पुरा ह्यभूच्चैतत् सुक्तं प्रतिबभौ।
तत्र ब्रह्मेतिहास–मिश्रमिड्मिश्रं गाथामिश्रं भवति।। (निरुक्त 4.6)

''फलतः पुराणों की सुव्यवस्थित रूप में घटना वेदव्यास का अलोकसामान्य कार्य था, परन्तु पुराण की यह धारा उनसे भी प्राचीनतर युग के साहित्यिक जगत् की एक विशिष्ट महनीय वस्तु है। उस युग में 'पुराण' का अर्थ है लोक–प्रचलित, परन्तु अव्यवस्थित, इतस्ततो विकीर्ण लोकवृत्तात्मक विद्याविशेष।''[1]

अर्थात् व्यास का कर्म ही पुराण–संहिता का निर्माण था। समकालीन चिंतन–दृष्टि में कहा जाये तो व्यास ही इतिहासकार की भूमिका के रूप में स्वीकार किये गये। अतः इस रूप में व्यास एक प्रकार की उपाधि है, जो कि पुराण–कर्म में रत रहता है। लेकिन यह भी स्पष्ट होना आवश्यक है कि 'व्यास' का यह अर्थ स्थिर नहीं है। हाँ यह अवश्य है कि व्यास के कर्मों में पुराण–संहिता की रचना करना भी माना गया है। बहरहाल पुराण का संबंध जगत् से है और जगत् का विकास मनुष्य के उद्‌भव जितना ही पुराना है। इसीलिए 'पुराण' के आविर्भाव का निर्देश वायुपुराण तथा मत्स्यपुराण में वेद से पूर्ववर्ती माना गया है। मत्स्यपुराण में ब्रह्मा के शास्त्रों में सर्वप्रथम पुराण का ही स्मरण किया गया है –

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्

नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्

अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।। (मत्स्य. 3/3–4)

उपर्युक्त श्लोक में पुराण को 'नित्य' तथा 'शतकोटिप्रविस्तरम्' कहा गया है। इनसे किसी निश्चित रूप की ओर संकेत नहीं होता बल्कि पुराण को अनिश्चित यथा विप्रकीर्ण रूप का द्योतक माना गया है। यही वह तत्व है जो पुराण की व्युत्पत्ति 'पुरा नवं भवति' स्वीकार करता है। मत्स्यपुराण के अर्थ में 'पुराण' विद्या का द्योतक दिखता है। यह पुराण की व्यासपूर्वधारा का ही संकेत करता है।

पुराण को लौकिक शास्त्र माना गया है। लौकिक होने के कारण ही उसे शतकोटिप्रविस्तरम् कहा गया है। इसी कारण बलदेव उपाध्याय लिखते हैं –

''यह वेद से भिन्न, परन्तु तदनुकूल शास्त्र माना जाता है। वेद के समान इसका स्वरूप सदा–सर्वदा के लिए निश्चित नहीं किया गया है, प्रत्युत यह समय परिवर्तन के संग में तथा उसके प्रभाव में आकर स्वयं परिवर्तनशील है।''[2]

लोक का गुण ही होता नितनूतन होने का। पुराण इसी लोक–प्रवृत्ति के कारण 'नित्य' माना गया है। परन्तु इस नितनूतन होने के अलावा भी पुराण 'नित्य' है। अर्थात् पुराण को 'नित्य' कहने के पीछे ओर भी कारण है। नित्य का एक अभिप्राय सर्वकालिक भी होता है। पुराण का स्वरूप भी इसे स्वीकार करता है।

[1] उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण – 2015 ई., पृ.सं. 37
[2] उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण – 2015 ई., पृ.सं. 39

कहने का तात्पर्य यह है कि पुराण प्राचीन होते हुए भी प्रासंगिक रहता है। इसीलिए समकालीन इतिहास–चिंतन की यथातथ्यता की मांग यहाँ ओझल हो जाती है। बलदेव उपाध्याय लिखते हैं –

> ''यह शास्त्र प्राचीनकालिक होने पर भी नया–नया होता है अर्थात् मूलतः प्राचीन होने पर भी कालान्तर में उत्पन्न परिवर्तनों को यह अपने में आत्मसात् कर लेता है।''[1]

कालान्तर में उत्पन्न यह परिवर्तन केवल स्वरूप अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है अपितु चेतनागत अर्थ में भी इसकी व्याख्या अपेक्षित है। यही कारण है कि पुराण की कथाएँ समय के साथ युग–चेतना के अनुरूप व्याख्यायित होती आई हैं। लौकिक होने के कारण इसकी उपादेयता भी लोक के प्रति है। महर्षि वात्स्यायन तो लोकवृत्त को ही इतिहास पुराण का विषय अंगीकार करते हैं –

लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य विषयः।

वात्स्यायन साहित्य को तीन अंगों में विभाजित करते देखते हैं – 'यज्ञ मंत्रब्राह्मण का अर्थात् वेद का विषय है; लोक का चरित इतिहास–पुराण का विषय है तथा लोक व्यवहार का व्यवस्थापन – लोक में पुण्य–पाप आदि का निर्धारण – धर्मशास्त्र का विषय है। (4/1/62 पर वात्स्यायन भाष्य)'[2] अतः उनकी दृष्टि में लोक का चरित्र ही पुराण एवं इतिहास का विषय है। बलदेव उपाध्याय बताते हैं कि द्रष्टा एवं प्रवक्ता की दृष्टि से इनमें विभाजन नहीं है। बल्कि जो द्रष्टा एवं प्रवक्ता वेदों के हैं वहीं इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र के भी हैं। अर्थात् पुराणों के रचयिता या इतिहासकार जैसा विशिष्टतापूर्ण लेखक का निर्देश भारतीय वाङ्ग्मय में नहीं किया गया है। बल्कि इन तीनों के विभाजन का मूल उनका विषय–क्षेत्र है। दरअसल विषय के विवेचन को लेकर ही इन तीनों में भेद तथा पार्थक्य माना जाता है।

अतः यह स्पष्ट है कि भारतीय वाङ्ग्य में इतिहास–पुराण के संबंध में सजग चेतना आरम्भ से ही वर्तमान थी, जिसका स्पष्ट संकेत कालांतर में लिखे गये साहित्यों में मिलता है। इतिहास–पुराण लौकिक–शास्त्र था, जो कि वेदपूर्व भी वर्तमान था। प्राचीन उल्लेखों में इतिहास एवं पुराण का प्रयोग शास्त्र–विद्या के रूप में हुआ है। जबकि इतिहास–पुराण का संहिता–रूप कालांतर में स्थिर होता है। परन्तु संहिता–रूप में स्थिर होने से पूर्व पुराण–विद्या का परिचय मिलता है, जो कि लोकवृत्तों की अव्यवस्थित परन्तु लोक–प्रचलित परंपरा थी। वहीं इतिहास–पुराण के व्युत्पत्तिगत अर्थों से भी उनका अतीतात्मक होना निश्चित है। अर्थात् इतिहास एवं पुराण अतीत को अपना विषय स्वीकार करते हैं। परन्तु उनका विशिष्ट स्वरूप उन्हें 'नित्यता' प्रदान करते हुए उन्हें अनिश्चित यथा विप्रकीर्ण रूप का द्योतक बनाते हैं। इसीलिए इनका कथ्य अतीतात्मक होते हुए भी समकालीन प्रासंगिकता के साथ होता है। यही शाश्वत स्वरूप भारतीय इतिहास को समकालीन इतिहास–लेखन से भिन्नता प्रदान करता है। वहीं वेदपूर्व

---

[1] वही, पृ.सं. 39

[2] उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण – 2015 ई., पृ.सं. 40

धारा होते हुए भी बाद में पुराणों को वेद की व्याख्या करने वाला बताया गया है। वेद व्याख्या के अतिरिक्त इतिहास–पुराण का प्रयोजन पुरूषार्थ–चतुष्ट्य की स्थापना है। अतः वेद का दर्शन, पुरूषार्थ–चतुष्ट्य की स्थापना तथा लोक के चरित्र को गढ़ना ही इतिहास–पुराण का मूल स्वरूप प्रतीत होता है।

पुराणों का वर्ण्य विषय :–

पुराणों के वर्ण्य–विषय में पंचलक्षणों का उल्लेख किया गया है। यह पाँच लक्षण वैदिककाल में उपस्थित नहीं थे। अपितु संहिता रूप लेने के उपरांत पुराणों की विषयवस्तु का निश्चित रूप तैयार होता है। यह विषयवस्तु पाँच लक्षणों के रूप में चिंह्ति की जाती है। इसी संदर्भ में बलदेव उपाध्याय 'पंचलक्षणम्' शब्द को पुराण का अनिवार्य द्योतक स्वीकार करते हैं। अपने मत को पुष्ट करते हुए वह विचार रखते हैं कि

> 'अमरकोश में यह शब्द बिना किसी व्याख्या के ही प्रयुक्त किया जाता है। व्याख्या–विहीन पारिभाषिक शब्द का प्रयोग उसकी सार्वभौम लोकप्रियता का संकेतक माना जाता है।'[1]

इन पंचलक्षणों के संबंध में निम्न श्लोक द्रष्टव्य है –

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।

वंश्यानुचरितं चेति पुराणं पंचलक्षणम्।।[2]

यह पद्य लगभग प्रत्येक पुराण में मिलता है। पुराणों के पंचलक्षणों में – सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वंतर और वंशानुचरित आते हैं। इनकी संख्या कहीं कम तो कहीं ज्यादा स्वीकार की गई है। श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त में दस लक्षण महापुराणों के निर्दिष्ट हैं। जबकि पंचलक्षणों को क्षुल्लक पुराण का लक्षण माना गया है। इन दस लक्षणों में – सर्गः, विसर्गः, वृत्तिः, रक्षा, अन्तराणि, वंशः, वंशानुचरितम्, संस्था, हेतुः, अपाश्रयः हैं। भागवत पुराण का यह श्लोक निम्न है –

सर्गश्चाथ विसर्गश्च वृत्ति रक्षान्तराणि च।

वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः।।[3]

परन्तु पंचलक्षणों को ही प्रमुख रूप से स्वीकार किया जाता है।

- 'सर्ग' :– जगत् की तथा उसके नाना पदार्थो की उत्पत्ति अथवा सृष्टि 'सर्ग' कहलाती है।

---

[1] उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण 2015, पृ.सं. 125

[2] वही, पृ.सं. 125

[3] भागवत 12।7।9
उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण 2015, पृ.सं. 128

अव्याकृतगुणक्षोभात् महतस्त्रिवृतोऽहमः।

भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते।।[1]

अर्थात् 'जब मूल प्रकृति में लीन गुण क्षुब्ध होते हैं, तब महत् तत्व की उत्पत्ति होती है। महत् तत्व से तीन प्रकार तामस, राजस तथा सात्विक – के अहंकार बनते हैं। त्रिविध अहंकार से ही पंचतन्मात्रा (भूतमात्र), इन्द्रिय तथा (पंच) भूतों की उत्पत्ति होती है। इसी उत्पत्ति क्रम का नाम 'सर्ग' है।' सृष्टि उत्पत्ति के संबंध में दर्शन का रूप ही प्रमुख रूप से दिखाई देता है। सृष्टि संबंधी यह वर्णन सांख्य–दर्शन द्वारा निर्दिष्ट सृष्टि–विद्या का अवलम्बन करता है। परन्तु यह वर्णन सांख्यीय सृष्टितत्व का अक्षरशः अनुवाद नहीं है।

- प्रतिसर्ग :– सर्ग अर्थात् सृष्टि तथा प्रतिसर्ग अर्थात् प्रलय। जगत् की उत्पत्ति के साथ–साथ प्रलय भी पुराण के अंतर्गत वर्णित किया गया है। विष्णुपुराण में प्रतिसर्ग के स्थान पर 'प्रतिसंचर' शब्द का प्रयोग किया गया है। वहीं श्रीमद्भागवत में इस शब्द के स्थान पर 'संस्था' शब्द का प्रयोग है।

नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः।

संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धाऽस्य स्वभावतः।।[2]

बलदेव उपाध्याय उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखते हैं – ''इस ब्रह्माण्ड का स्वभाव से ही प्रलय हो जाता है और वह प्रलय चार प्रकार का है – नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य तथा आत्यन्तिक। यही 'संस्था' शब्द से अभिहित किया जाता है।''[3]

- वंश :– ब्रह्मा के द्वारा उत्पन्न 'राजाओं' एवं उनके वंशों का वर्णन पुराण का एक विषय भी है।

राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः।। (भाग. 12/7/16)

अर्थात् 'ब्रह्माजी के द्वारा जितने राजाओं की सृष्टि हुई, उनकी भूत, भविष्य तथा वर्तमानकालीन सन्तान–परंपरा को वंश नाम से पुकारते हैं।' इसीलिए वंश–वर्णन को भी पंचलक्षणों में स्थान दिया गया है। परन्तु यह वंश–वर्णन राजा–महाराजाओं के साथ–साथ ऋषि–मुनियों के वंश को भी वर्णित करता है।

[1] भागवत 12।7।11, उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण 2015, पृ.सं. 125
[2] भागवत 12।7।17, उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण 2015, पृ.सं. 126
[3] उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण 2015, पृ.सं. 126

- मन्वन्तर :– 'मन्वन्तर' पुराण में सृष्टि के विभिन्न काल–मान का द्योतक है। भारतीय मनीषी पुराण के अंतर्गत सृष्टि काल–चिंतन को केन्द्र में रखकर उस पर विचार करते हैं। भागवत पुराण में मन्वन्तर को स्ष्ट करते हुए लिखते हैं –

  मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः।

  ऋषयोंऽशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते।। (भाग. 12/7/15)

  'मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि और भगवान् के अंशावतार – इन छः विशिष्टताओं से युक्त समय को 'मन्वन्तर' कहते हैं।' कुल 14 मन्वन्तर का उल्लेख किया गया है तथा प्रत्येक मन्वन्तर का अधिपति एक विशिष्ट मनु को बताया गया है, जिसके सहयोगी पाँच अन्य पदार्थ भी होते हैं।

- वंशानुचरित :– वंशानुचरित के अंतर्गत 'वंश' में हुए वंशधरों तथा मूलपुरूष राजाओं का विशिष्ट विवरण प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ विशिष्ट वर्णन से अभिप्राय विस्तृत–वर्णन से भी है। अर्थात् किसी विशेष चरित्र के संबंध में विस्तृत–वर्णन करना। अतः जिनमें वंशधरों तथा राजाओं का विशिष्ट–वर्णन होता है, वह वंशानुचरित कहलाता है।

  वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये। भाग. 12/7/15

  इसमें राजाओं के साथ–साथ महर्षियों का चरित भी समाविष्ट समझना चाहिए। लेकिन महर्षियों के चरित्र की अपेक्षा राजाओं के चरित्र का ही विशेष विवरण पुराणों में प्राप्त होता है।

उपर्युक्त लक्षणात्मक व्याख्या के आधार पर इतिहास–पुराण के विषयों को निर्धारित किया गया है। अतः इन विषयों के आधार पर इतिहास–पुराण परंपरा की व्यापक भूमि को देखा जा सकता है।

बौद्ध धर्म में इतिहास–लेखन : भारतीय इतिहास में बौद्ध धर्म का विकास एक महत्वपूर्ण घटना है। लोक का आश्रय ग्रहण करते हुए बौद्ध धर्म समानता की भावना के साथ विकास करता है। महात्मा बुद्ध के दार्शनिक विचारों को केन्द्र में रखते हुए बौद्ध धर्म अग्रसर होता है। महात्मा बुद्ध के विचार युगीन–चेतना का परिणाम होने से वह रूढ़िबद्ध विचारों का खण्डन करते हैं। बुद्ध का अनास्तिक दर्शन पारलौकिकता को चुनौती देते हुए इहलौकिकता पर जोर देता है। इसी क्रम में प्रत्युत्त–समुत्पाद नियम (कारण–कार्य–संबंध) के आधार पर संसार, आत्मा तथा परमात्मा के संबंध को इहलौकिक दृष्टि से व्याख्यायित होते हैं। यह सिद्धांत सम्पूर्ण बौद्ध धर्म के अंतर में प्रवाहमान हो बौद्ध–दर्शन को वैज्ञानिकता प्रदान करता है। बौद्ध धर्म की इहलौकिक दृष्टि बौद्ध इतिहास–लेखन को प्रभावित करती है। संस्कृत की पुराण–इतिहास परंपरा बौद्ध साहित्य में पूर्णरूपेण अनुग्रहित न होकर बौद्ध–साहित्य की विशिष्ट परंपरा के रूप में गतिमान होती है। अतः बौद्ध इतिहास–लेखन का अध्ययन भारतीय इतिहास परंपरा में आवश्यक हो जाता है।

वैसे तो त्रिपिटक महात्मा बुद्ध के ऐतिहासिक साक्ष्यों को प्रस्तुत करते हैं। परन्तु आधुनिक दृष्टि से इतिहास कही जाने वाली अवधारणा के निकट 'वंश' साहित्य को ही देखा जाता है। पालि साहित्य में वंश–साहित्य को ही इतिहास–ग्रन्थों के रूप में देखा जाता है। प्रो. रामकुमार त्रिपाठी लिखते हैं –

> ''त्रिपिटक एवं उसकी अट्ठकथाओं में भगवान बुद्ध के विषय में तो यथाप्रसंग सामग्री मिलती है, परन्तु आज की भाषा में जिसे 'इतिहास' कहा जाता है, वह तो वंश–साहित्य की ही परिधि में आता है।''[1]

'वंश' शब्द का शाब्दिक अर्थ 'बाँस' है। जिस प्रकार एक बाँस से क्रमशः अनेक बाँसों की झाड़ी बनती जाती है। उसी प्रकार एक व्यक्ति से कुल रूपी बाँस की झाड़ी तैयार होती है। अतः एक ही कुल के व्यक्तियों की वंश परंपरा का वर्णन 'वंश–साहित्य' में देखा जा सकता है। परन्तु कुल विशेष इसकी सीमा हो, ऐसा नहीं है। बौद्ध भिक्षुओं का उल्लेख भी इनमें किया गया है। कहा जाये तो बौद्ध–धर्म की परंपरा का उल्लेख 'वंश–साहित्य' में हुआ है। यह वर्णन मूलतः बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार के उद्देश्य से लंका तथा विश्व में प्रवास करने वाले भिक्षुओं का भी परिचय देते हैं। अतः पालि साहित्य में 'वंश' शब्द से इतिहास का अभिप्राय लिया जाता है। भिक्षु धर्मरक्षित 'वंश' की परिभाषा कुछ इस प्रकार करते हैं – ''वंश' शब्द का अर्थ है इतिहास, अतः बुद्धवंश का अर्थ है 'बुद्धों का इतिहास'।''[2] अतः यह स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म में इतिहास–चेतना वर्तमान थी। विद्वानों का मानना है कि बौद्ध धर्म में यह चेतना किसी पूर्व परंपरा की सापेक्षता में जीवित थी। दीपवंश में एक स्थान पर प्रारम्भिक काल में जनता द्वारा निर्वाचित प्रथम राजा का नाम 'महासम्मत' (सर्वसम्मति से निर्वाचित) मिलता है। इसे केन्द्र में रखते हुए डॉ परमानन्द सिंह लिखते है –

> ''इससे ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध एवं उनके अनुयायी सार्वभौम इतिहास के किसी ऐसे स्वरूप से अवश्य परिचित थे, जो कालान्तर में दीपवंश–समकालीन युग या कल्प के वंशों की एक लम्बी श्रृंखला प्रस्तुत करता है। इसका अभिप्राय ऐतिहासिक विकास के उस चक्र से है, जो महासम्मत राजा से प्रारम्भ होता है। इतिहास का यह स्वरूप पौराणिक पाठान्तर की अपेक्षा इतिहासविदों द्वारा अधिक स्वीकृत एवं समर्थित है।''[3]

बौद्ध–धर्म में मौजूद इतिहास–परंपरा की स्वीकृति भारतीय इतिहास–लेखन को पुष्ट करती है। आरम्भ से ही इतिहास एवं पुराण ग्रन्थों को लौकिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान का विस्तार करने वाले साहित्य के रूप में देखा जाता रहा है। वेदों की व्याख्या के लिए इतिहास और पुराण को एक महत्वपूर्ण आधार

---

[1] त्रिपाठी, प्रो. रामकुमार, पुरोवाक्, दीपवंश, अनुवादक – स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, बौद्ध आकर ग्रन्थमाला, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, संस्करण 1996ई., पृ.सं. 5

[2] भिक्षु, धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहास, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, संस्करण – पुनर्मुद्रण संवत् 2066

[3] सिंह, (सं.) डॉ. परमानन्द, सम्पादकीय वक्तव्य, दीपवंस, बौद्ध आकर ग्रन्थमाला, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, संस्करण 1996 ई., पृ.सं. 7

के रूप में स्वीकार किया गया है।[1] परन्तु वंश–साहित्य को पूर्णतः पुराण–इतिहास परंपरा से जोड़कर नहीं देखा जा सकता। हाँ, इतिहास–पुराण परंपरा का आंशिक प्रभाव वंश–साहित्य पर जरूर माना जा सकता है। इसके पीछे डॉ. कोमलचन्द्र जैन का तर्क है –

> ''वंश–साहित्य के इस स्वरूप के कारण कुछ विद्वान् इसकी तुलना संस्कृत के पुराण–इतिहास संबंधी ग्रन्थों से करते हैं। किन्तु यह तुलना आंशिक रूप से सत्य होते हुए भी ग्राह्य नहीं है। कारण, पुराणेतिहास के ग्रन्थों जैसी अलौकिकता की भरमार वंश–साहित्य के ग्रन्थों में नहीं है। इसके विपरीत वंश–ग्रन्थों में इतिहासपरक ग्रन्थों का ही आधिक्य है।''[2]

बौद्ध धर्म का उदय धार्मिक रूढ़ियों के प्रति प्रतिक्रिया थी। यह प्रतिक्रिया अलौकिकता के प्रति इहलौकिकता में भी थी। इस कारण भी पुराणेतिहास ग्रन्थों के समान अलौकिकता की भरमार वंश–साहित्य को प्रभावित नहीं करता है। परन्तु सार्वभौमिक–इतिहास का स्वरूप पुराण एवं वंश–साहित्य में समान रूप से दिखाई देती है। बहरहाल इहलौकिकता की दृष्टि बौद्ध–दर्शन को भी पुष्ट करती है। यह दर्शन साहित्य सृजन के धरातल पर भी उसे लौकिक बनाता है। परन्तु श्रद्धाजनित वर्णन धार्मिकता का परिणाम है। दूसरी ओर कथात्मक गति को बनाये रखने के लिए कल्पना ऐतिहासिक साक्ष्यों को आपस में जोड़कर क्रमबद्ध रूप प्रदान करती है।

बौद्ध–धर्म में अवदान, जातक तथा वंश–साहित्य का अधिक महत्व है। अवदान साहित्य बुद्ध तथा उनके पूर्ववर्ती बुद्धों की कथाएँ है। जातक में महात्मा बुद्ध की कथा तथा उनके पूर्वजन्मों का वर्णन किया गया है। वहीं वंश–साहित्य में एक प्रकार की आनुपूर्वी एवं परंपरागत संप्रदाय या कुल की कथाएँ कही गई हैं। सरल शब्दों में कहा जाये तो वंश–साहित्य बौद्ध–धर्म में दीक्षित अथवा उसके संपर्क में आये कुलों का क्रमिक इतिहास प्रस्तुत करता है। अवदान तथा जातक साहित्य पूर्व बुद्ध अथवा उनके पूर्व जन्मों को सामने रखता है। इस रूप में वह यथार्थ होते हुए भी कई तरह के प्रश्नों के घेरे में आता है। जबकि वंश–साहित्य बुद्ध के समकालीन तथा उनकी धर्म–परंपरा में दीक्षित हुए अथवा संपर्क में आये राजवंशों और थेरों (ज्येष्ठ) का इतिहास प्रस्तुत करता है। अतः वंश–साहित्य को अतीत के प्रस्तुतग्रन्थ (इतिहास) मानने से इसके धार्मिक महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वामी द्वारकादास शास्त्री लिखते हैं –

---

[1] ''इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च
नराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।।'' 15.6.12
(जो इस प्रकार इतिहास आदि के महत्व को समझता है, वह व्रात्य निश्चय से इतिहास व पुराण का तथा गाथाओं व नाराशंसियों का प्रियधाम होता है। इनके द्वारा वह वेद को खूब व्याख्यात कर पाता है।)

[2] जैन, डॉ. कोमलचन्द्र, पालि साहित्य का इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1987 ई., पृ.सं. 83

''पालि भाषा का वंश–साहित्य भी यद्यपि प्रधानतः राजाओं की वंशावलियों का ही वर्णन करता है; तथापि उसमें रामायण, महाभारत एवं अन्य पुराणों की तरह इस वर्णन के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है। धर्म–वृत्त एवं धार्मिक कथाएँ – दोनों के महत्वपूर्ण अंश हैं।''[1]

वंश–साहित्य कालानुक्रम की दृष्टि से कहीं भी पाश्चात्य ऐतिहासिक ग्रन्थों से कम नहीं ठहरता। अतिरंजनापूर्ण वर्णन होते हुए भी कालक्रम के संबंध में दीपवंश का प्रामाण्य एवं महत्व निर्विवाद रूप से स्वीकारा गया है। प्रो. रायस डेविस अपनी पुस्तक 'बुद्धिस्ट इण्डिया' में लिखते है –

''लंका के इतिहास–गन्थों की कालानुक्रमणिका इंग्लैण्ड एवं फ्रांस के उन सर्वोत्तम ग्रन्थों की कालानुक्रमणिका से भी, जो उन देशों में अनेक शताब्दियों बाद तक लिखे गये, किसी प्रकार कम महत्वशाली नहीं है।''[2]

बौद्ध–धर्मदर्शन की इहलौकिक दृष्टि ऐतिहासिक कालक्रम के मूल में महसूस की जा सकती है।

बौद्ध–धर्म का दार्शनिक–चिंतन 'वंश–साहित्य' की ऐतिहासिकता को मजबूत आधार प्रदान करता है। देखा जाये तो 'प्रत्युत्तसमुत्पाद' (कारण–कार्य–संबंध) का सिद्धांत बौद्ध–दर्शन का आधारभूत सिद्धांत है। यह सिद्धांत महात्मा बुद्ध के समय में व्याप्त पारलौकिक–जगत की महत्ता तथा लौकिक–जगत् को मिथ्या समझने वाली दृष्टि का विरोध करता है। तत्कालीन समय में लौकिक एवं पारलौकिक के बीच का संबंध लगभग समाप्त प्रायः ही था। जगत् को माया मानकर कर्म से विमुख होने के कारण अनेक प्रकार की सामाजिक–रूढ़ियाँ भी जन्म ले रही थीं। अतः ऐसे में प्रत्युत्तसमुत्पाद का सिद्धांत इहलौकिकता को केन्द्र में लाता है तथा प्रत्येक कार्य के पीछे किसी–न–किसी कारण की बात करता है। कार्य–कारण–संबंध की दृष्टि काल के विकासमान चरणों को भी महत्ता देती है। इस सिद्धांत से काल के विकास को क्रमबद्ध आधार प्राप्त होता है।

वंश–साहित्य की एक विस्तृत परंपरा का परिचय बौद्ध–धर्म में मिलता है। इन कृतियों में 'दीपवंश' वंश–साहित्य की सबसे प्रथम रचना है। यहाँ दीप से तात्पर्य सिंहलद्वीप (श्रीलंका) से है। सिंहलद्वीप का इतिहास एवं परंपरा इसमें वर्णित है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है। रचनाकार ने पुस्तक के आरम्भ में ही कहा हैं, ''वंश पवाक्खामि परंपरागतं'' मैं परंपरा से प्राप्त इतिहास एवं परंपरा का वर्णन करूँगा।

''इस द्वीप में बुद्ध, धातु, बोधि (वृक्ष), शासन (बुद्धधर्म) और राजा विजय के आगमन तथा सङ्गीति, आचार्यवाद = (भिक्खुनिकाय) तथा उनके निवास स्थान का वर्णन करूँगा।''[3]

---

[1] शास्त्री, स्वामी द्वारिकादास, पूर्वपीठिका, दीपवंश, बौद्ध आकर ग्रन्थमाला, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, संस्करण 1996 ई., पृ.सं. 12
[2] शास्त्री, स्वामी द्वारिकादास, पूर्वपीठिका, दीपवंश, बौद्ध आकर ग्रन्थमाला, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, संस्करण 1996 ई., पृ.सं. 18
[3] शास्त्री,स्वामी द्वारिकादास, दीपवंस, बौद्ध आकर ग्रन्थमाला, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, संस्करण 1996 ई., पृ.सं., 2

इसका समय चौथी शताब्दी ईसवी माना जाता है। भारत और श्रीलंका के इतिहास की अनेक समकालीन घटनाएँ एवं विशेषतः बिम्बिसार के समय से लेकर सम्राट अशोक के समय तक का कालक्रमिक वृत्त दीपवंश में अपनी पद्धति से वर्णित है। यह ग्रन्थ भारत और श्रीलंका के शताब्दियों तक पारस्परिक आदान–प्रदान का आकर्षक चित्रण करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टि से काव्यत्व के मानकों पर भले ही खरा न उतरता हो, परन्तु इतिहास की दृष्टि से इतिहास के किसी भी विद्यार्थी को इतिहास चिन्तन के लिए अमूल्य सामग्री प्रदत्त करता है। दीपवंश के ही समान 'महावंश' का भी उल्लेख बौद्ध–धर्म में हुआ है। यह ग्रन्थ भी लंका के इतिहास को प्रस्तुत करता है। इसमें महात्मा बुद्ध के काल से लेकर महासेन(325–352) तक का वर्णन है। यह रोचक तथा काव्यमय शैली में लिखा गया है। इसपर दीपवंश का विशेष प्रभाव पड़ा है। यह ग्रन्थ 37 परिच्छेदों में विभक्त है। महावंश 37 वें परिच्छेद की 50 वीं गाथापर समाप्त हो जाता है। वहाँ 'महावंशो निट्ठितो' (महावंश समाप्त) लिखा हुआ है।

इन दो कृतियों के अलावा भी कुछ ओर वंश–साहित्य प्राप्त होते हैं। 'चूलवंश' ऐसी ही एक कृति है। 37 वें परिच्छेद की 50वीं गाथापर 'महावंशो निट्ठितो' (महावंश समाप्त) समाप्त हो जाता है, तदुपरान्त जिन अंशों का संकलन किया गया है उसे 'चूळवंश' कहा जाता है।

> ''चूळवंश एक ऐसी कृति है, जो राजा महासेन के शासन का अन्तिम वर्ष (352 ई.) से आरम्भ होकर आधुनिक काल तक लंकाद्वीप का इतिहास प्रतिपादित करती है।''[1]

यह कृति इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें आधुनिक काल तक घटित हुए राजनैतिक और साहित्यिक परिवर्द्धनों का क्रमानुगत रूप से प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार 'महाबोधिवंश' भी वंश–साहित्य की महत्वपूर्ण कृति है। सिंहलद्वीप के भदन्त आचार्य वागीश्वर उपतिस्स स्थविर द्वारा इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है। महाबोधिवंश का रचना काल ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी माना जाता है। यह एक गद्य–पद्य मिश्रित रचना है। इस ग्रन्थ की विषयवस्तु बोधिवृक्ष का इतिहास है। भिक्खु धर्मरक्षित के अनुसार

> ''जातकट्ठकथा, धम्मपदट्ठकथा, निदानकथा, दीपवंश, महावंश आदि ग्रन्थों के आधार पर विस्तारपूर्वक बोधिवृक्ष का इतिहास है।''[2]

ग्रन्थ के आरम्भ में भगवान् का जीवन चरित्, श्रावस्ती के जेतवनाराम में द्वार पर आनन्दबोधि का रोपन, बुद्धगया के बोधिवृक्ष की शाखा को अशोकपुत्री भिक्खुणी संघमित्रा द्वारा अनुराधपुर ले जाकर रोपन कराना, आदि विवरण प्रस्तुत किया गया है। 'थूपवंश' मूलतः स्तूपों का इतिहास है। इसमें जम्बूद्वीप और सिंहलद्वीप में बने स्तूपों का वर्णन है। इसके लेखक वाचिस्सर स्थविर थे। इनके विषय में विद्वानों मे मत भिन्नता दिखाई देती है। डॉ. भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार ''सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य वाचिस्सर की यह

---

[1] उपाध्याय, भरतसिंह, पालि साहित्य का इतिहास, पृ.सं. 685

[2] भिक्षु धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहास, पृ.सं. 183

रचना है।''[1] तो वहीं भिक्खु धर्मरक्षित की मान्यता है ''थूपवंश' के लेखक संघराज सारिपुत्त के शिक्षक वाचिस्सर स्थविर की यह रचना है।''[2] दोनों के मतों में विभिन्नता होने पर भी यह तो सुस्पष्ट है कि इसके लेखक का नाम 'वाचिस्सर स्थविर' है। 'अत्तनगळुविहारवंश' तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग की गद्य–पद्य मिश्रित रचना है। इसमें ग्यारह अध्याय हैं। शैली की दृष्टि से इसकी शैली सरल और स्वाभाविक है। इसके आठ परिच्छेदों में सिंहलनरेश सिरिसंघबोधि का वर्णन है। अन्तिम तीन परिच्छेदों में अनेक विहारों के निर्माण का वर्णन है, जो उपर्युक्त राजा के अन्तिम निवास स्थान पर बनवाये गये थे। 'अनत्तगल्ल' या 'अत्तनगळ' नामक स्थान पर निर्मित विहारों में अधिक प्रसिद्ध होने के कारण इस ग्रन्थ का नाम 'अत्तनगळविहारवंश' पड़ा है। इस ग्रन्थ के लेखक के संबंध में अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है, किन्तु इसकी रचना महापराक्रमबाहु (बुद्धाब्द 1703) के समय में विद्वान भिक्षु द्वारा हुई होगी।

'दाठावंश' का रचनाकाल बारहवीं शताब्दी के अन्त अथवा तेरहवीं शताब्दी के आदि भाग में मानी जाती है। इसके कर्ता सारिपुत्त के शिष्य धम्मकित्ति महाथेर हैं। इसमें भगवान् के दन्तधातु का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभक्त और 408 गाथाओं से परिपूर्ण है। दाठावंश के अन्त में लेखक ने अपनी कृति को 'जिनदन्तधातुवंश' कहकर पुकारा है। 'छकेसधातुवंश' उन्नीसवीं शताब्दी की रचना है, जो किसी बर्मी भिक्खु द्वारा रचित चम्पूकाव्य है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है। 'यह भगवान् के छः केस धातुओं के इतिहास को बतलाने वाली रचना है। महाभिनिष्क्रमण कर बोधिसत्व सिद्धार्थ गौतम ने अनोमा नदी के तट पर अपने सिर के केश काटकर फेंक दिये थे जिसे देवेन्द्र ने ग्रहण कर तावतिंस भवन मे स्तूप बनवाया।'[3] 'गन्धवंश' गन्थवंश एवं चुल्लगन्थवंश के नाम से भी जाना जाता है। गन्धवंश एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें ग्रन्थों के इतिहास का वर्णन किया गया है। इसके लेखक बर्मी वनवासी भिक्खु नन्दपञ्ञ (आचारिय नन्दपञ्ञ थेर) हैं। इसमें 56 ग्रन्थकारों 148 ग्रन्थों एवं अज्ञात लेखकों द्वारा रचित 30 ग्रन्थों, कुल 178 ग्रन्थों के वर्णन हैं। स्वयं लेखक ने ग्रन्थ के अन्तिम परिच्छेद मे इस ग्रन्थ का नाम 'चुल्ल गन्धवंश' लिखा है। 'सासनवंश' भी वंश–साहित्य की एक महत्वपूर्ण 'गद्यात्मक' रचना है। इसकी रचना उन्नीसवीं शताब्दी में बर्मा में हुई। इसके लेखक 'भिक्खु पञ्ञासामी' हैं।[4] इस ग्रन्थ में बुद्ध–शासन का इतिहास है। भगवान् के काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक थेरवाद बौद्ध धर्म के विकास का इस ग्रन्थ में वर्णन है।

वंश–साहित्य की परंपरा आचार्य बुद्धघोष के काल से पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी थी। बौद्ध धर्म में वंश–साहित्य की परंपरा देखें तो उनमें दीपवंश, महावंश, चूलवंश, महाबोधिवंश, थूप–वंश, अन्तनगलु–बिहार–वंश, दाठा–वंश, छंकेसधातुवंश, नल्लाठ् धातु वंश, संदेह कथा, ग्रन्थ वंश, शासन वंश,

[1] उपाध्याय, भरतसिंह, पालि साहित्य का इतिहास, पृ.सं. 693
[2] भिक्षु धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहास, पृ.सं. 182
[3] वही, पृ.सं. 188
[4] वही, पृ.सं. 189

संगीति वंश आदि दिखाई देते हैं। दीपवंश तथा महावंश बौद्ध–साहित्य के महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। शेष ग्रन्थ इन्हीं का अनुकरण करते हैं। बल्कि अन्य ग्रन्थों का अध्ययन वंश–साहित्य की विषय–सीमा को ओर व्यापक रूप में दिखाता है।

वंश–साहित्य बौद्ध–धर्म के क्रमिक इतिहास को प्रस्तुत करता है। इतिहास–लेखन के प्रारूप को समझने की दृष्टि से दीपवंश तथा महावंश एक महत्वपूर्ण कड़ी है। प्रो. रामकुमार त्रिपाठी के अनुसार

> ''पालि वाङ्ग्मय से सम्बद्ध इतिहास का जितना प्रामाणिक विस्तार दीपवंश एवं महावंश है उतना अन्य ग्रन्थों में नहीं।''[1]

'दीपवंश' के रचनाकार का परिचय अज्ञात है। यह ग्रन्थ बुद्धघोषकाल से पूर्व ही निर्मित हो चुकी थी। 'दीपवंश' लंका द्वीप (वर्तमान श्रीलंका) की ऐतिहासिक परंपरा के स्रोत–साहित्य के रूप में उपलब्ध होता है। इसमें महात्मा बुद्ध के महापरिनिर्वाणकाल से राजा महासेन तक का क्रमबद्ध इतिहास वर्णित है। बौद्ध धर्म में इसकी महत्ता एवं प्रमाणिकता इसी से सिद्ध हो जाती है कि आचार्य बुद्धघोष अपनी अट्ठकथाओं में (विशेषतः कथावत्थुप्पकरण की अट्ठकथा में) दीपवंश को अनेक प्रसंगों के प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते हैं। दीपवंश की ऐतिहासिक परंपरा एवं विषयवस्तु को विद्वान प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं के ऐतिहासिक अंशों पर आधृत मानते हैं, जो पद्यमिश्रित गद्य रूप में लिखी गयी थी। इन्हीं सिंहली अट्ठकथाओं पर बुद्धघोष की त्रिपिटक–अट्ठकथाएँ भी आधृत है। स्वामी द्वारिकादास शास्त्री के अनुसार –

> ''महाअट्ठकथा', 'महापच्चरी', 'कुरुन्दी', 'चुल्लपच्चरी' एवं 'अन्धट्ठकथा' आदि जिन सिंहल–अट्ठकथाओं से बुद्धघोष ने अपनी त्रिपिटक अट्ठकथाओं में सामग्री संगृहीत की थी उन्हीं अट्ठकथाओं पर दीपवंश आदि भी आधृत हैं। 'महावंश–टीका' (सीहलट्ठकथा–महावंश) से भी सम्भवतः दीपवंश में अधिक सामग्री ली गयी है।''[2]

सिंहली अट्ठकथाओं पर आधृत होते हुए भी इसकी भाषा एवं शैली त्रिपिटक ग्रन्थों के समीप दिखाई देती है। भाषा–शैली की दृष्टि से दीपवंश दोषयुक्त दिखाई देता है। अनेक स्थानों से सामग्री ग्रहण करने तथा उसे अपने मूल रूप में रखने के आग्रह के कारण भाषिक पुनरूक्तियाँ दिखाई देती है। तो सामग्री के अलग–अलग स्रोत उनमें एकरूपता लाने में विफल होते हैं, जिसकारण अनेकरूपता का दोष दीपवंश में दिखाई देता है। इसी प्रकार दीपवंश में कोई एक घटना कही संक्षिप्त रूप में वर्णित की गयी है तो वही घटना अन्यत्र विस्तार से कही गयी है। महावंश के आरम्भ में इसके दोषों का संकेत किया गया है –

''पोराणेहि कतो पेसो अतिवित्थारतो क्वचि।

---

[1] त्रिपाठी, प्रो. रामकुमार, पुरोवाक्, दीपवंश, अनुवादक – स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, बौद्ध आकर ग्रन्थमाला, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, संस्करण 1996ई., पृ.सं. 5

[2] शास्त्री, स्वामी द्वारिकादास, पूर्वपीठिका, दीपवंश, बौद्ध आकर ग्रन्थमाला, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, संस्करण 1996 ई., पृ.सं. 13

अतीव क्वचि सङ्घित्तो अनेकपुनरुत्तको।।'' (म.व. 1/2)

'पुराने लोगों ने भी इसका (महावंश की विषयवस्तु का) वर्णन किया है। उसमें कहीं अति विस्तार, कहीं अति संक्षेप और पुनरुक्ति की अधिकता है।'[1] डॉ. कोमलचन्द्र जैन भी इस ओर संकेत करते हैं।[2] इस क्रम में महावंश इन दोषों से मुक्त होने की बात करता है।

दीपवंश का महत्व वर्तमान समय में उसकी विषयवस्तु को लेकर है। लंका के प्रारम्भ से लेकर राजा महासेन तक का इतिहास दीपवंश की कालसीमा है। दीपवंश आरम्भ में ही विषयवस्तु का संकेत कर देता है।

> ''इस ग्रन्थ में हम इन विषयों का वर्णन करेंगे – भगवान बुद्ध का लंका द्वीप में आना, भगवान् के शरीर की धातुओं की पूजा, बोधिवृक्ष का लंकाद्वीप में लाया जाना, तीनों धर्मसंगीतियों का वर्णन, बौद्धों के आचार्यवादों का यथासमय क्रमशः विभाजन–विस्तार, द्वीप में बौद्ध धर्म का प्रचार–प्रसार, द्वीप में प्रथम (भारतीय) राजा का आगमन तथा उसके वंश का समय–क्रम से विस्तार। इन सभी विषयों का विस्तार से वर्णन किया जायेगा। जिज्ञासु जन इसे ध्यानपूर्वक सुनें।।''[3]

ग्रन्थ की यह विषयवस्तु बाईस परिच्छेदों में विभक्त की गई है। लेखक इस ग्रन्थ का श्रोता धर्मप्रेमी जन को मानता है। अतः वह उन धर्मप्रेमी जनों की विशेषताओं को बताते हुए उत्साहचित्त, शुद्ध–हृदय, प्रहृष्टमन एवं संतुष्ट चित्त कहता है।[4] वह आगे लिखते हैं –

> ''विशेषतः श्रोता इसे इसलिए भी ध्यान से सुनें कि मैं इसमें परंपरागत बौद्धों (स्थविरों तथा राजाओं) के वंश का वर्णन करूँगा, जो कि अत्यधिक प्रशस्त है, बहुत से विशिष्ट विद्वानों द्वारा अभिवर्णित भी है तथा जो इस ग्रन्थ में स्थान–स्थान पर सुगन्धित पुष्पों की तरह गुँथा हुआ है।''[5]

---

[1] कौसल्यायन, अनुवादक – डॉ भदन्त आनंद, महावंश, बुद्धभूमि प्रकाशन, नागपुर, आवृत्ति धर्मचक्र प्रवर्तन दिन 2012, पृ.सं. 20

[2] ''विषय, भाषा एवं शैली की दृष्टि से यह एक उपेक्षित साहित्यिक कृति प्रतीत होती है। विषय–सामग्री को व्यवस्थित रूप देने में लेखक सफल नहीं हुआ है। अनेक स्रोतों से प्राप्त विषय–सामग्री को व्यवस्थित रूप देने में लेखक सफल नहीं हुआ है। अनेक स्रोतों से प्राप्त विषय–सामग्री को मौलिक रूप में रखने के प्रयास में पुनरूक्तियों का होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार कोई घटना एक जगह संक्षेप में है तो दूसरी जगह विस्तार से वर्णित है। इससे नीरसता की प्रतीति होती है। भाषा मँजी हुई नहीं है। व्याकरण संबंधी दोषों से परिपूर्ण भाषा को देखने से यह स्पष्ट होता है कि लेखक का भाषा पर समुचित अधिकार नहीं था। शैली की दृष्टि से यह पद्यमय रचना है, किन्तु पद्य के बीच में गद्य का आ जाना अखरता है।'' जैन, डॉ. कोमलचन्द्र, पालि साहित्य का इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1987 ई., पृ.सं. 83

[3] ''दीपागमनं बुद्धस्स, धातु च बोधियागमं।
संगहाचरियवादं च, दीपम्हि सासनागमं।। (दी.वं. 1/1)
नरिन्दागमनं वंसं, कित्तयिस्ससं सुणाथ मे।
पीतिपामोज्जजननं, पसादेय्यं मनोरमं।। (दी.वं. 1/2)
(अनुवादक – स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, दीपवंस, बौद्ध आकर ग्रन्थमाला, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, संस्करण 1996, पृ.सं. 3)

[4] उदग्गचित्ता सुमना, पहट्ठा तुट्ठमानसा।
निद्दोसं भद्रवचनं, सक्कच्चं सम्पटिच्छथ।।3।। (दी.वं. 1/3)
(इसके श्रवण में आप यत्किंचित भी उपेक्षा न करें, अपितु अत्साहितचित्त, शुद्ध–हृदय, प्रहृष्टमन एवं संतुष्टचित्त होकर इसे सत्कारपूर्वक सुने।)

[5] ''सुणाथ सब्बे पणिधाय मानसं
वंसं पवक्खामि परम्परागतं।
अतिप्पसत्थं बहुनाभिवण्णितं
एतम्हि नानाकुसुमं व गन्थितं।।'' (दी.वं. 1/4)
(अनुवादक – स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, दीपवंस, बौद्ध आकर ग्रन्थमाला, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, संस्करण 1996, पृ.सं. 3)

अतः जिस प्रकार की सजगता वर्तमान इतिहास–लेखन की मूलभूत प्रवृत्ति है वह दीपवंश में दिखाई नहीं देती। वहीं लेखक का उद्देश्य धर्म–साहित्य का लेखन है। इसीलिए उसके श्रोता भी धार्मिकजन हैं जो बुद्ध के विचारों के अनुकर्त्ता हैं। यहाँ पर यदि विषयवस्तु की प्रवृत्तिगत सीमा का निर्धारण किया जाये तो धर्म–साहित्य और ऐतिहासिक–सामग्री संश्लिष्ट रूप में मिश्रित दिखाई पड़ती है। जिसे आधुनिक दृष्टि धर्म के आवरण में होने के कारण अस्वीकार कर देती है। यह संश्लिष्टता भारतीय वाङ्मय और विशेषतः भारतीय इतिहास–लेखन का गुण है। इसी रूप में भारतीय इतिहास–लेखन के प्रारूप को समझे जाने की आवश्यकता है। डॉ. कोमलचन्द्र जैन वंश–साहित्य के प्रारूप पर विचार करते हुए लिखते हैं –

> ''वंश–साहित्य के ग्रन्थों की विषयवस्तु इतिहासविषयक होने पर भी उन्हें विशुद्ध इतिहासपरक ग्रन्थ नहीं कह सकते हैं। कारण, उनमें कुछ घटनाएँ श्रद्धाजनित प्रतीत होती हैं तो कुछ गढ़ी हुई–सी। जगह–जगह पर जो अनेक अलौकिक घटनाओं का चित्रण है वे भी रचयिताओं की कल्पना का परिणाम है।''[1]

विषयवस्तु में श्रद्धाजनित ऐतिहासिक सामग्री का संश्लेषणात्मक अध्ययन सत्य तक पहुँचने के लिए आवश्यक है। कोमलचन्द्र जैन के शब्दों में कहा जाये तो दीपवंश में मौजूद ऐतिहासिक–सामग्री का विवेकपूर्ण चयन आवश्यक है।

दीपवंश में मौजूद इतिहास को देखा जाये तो समकालीन धार्मिक, सांस्कृतिक महत्व के साक्ष्य भी इसमें सरलता से दिखाई देते हैं। इसमें उपस्थित स्थविर उपालि से लेकर स्थविर महेन्द्र तक विनयधरों का कालानुक्रम वर्णन लंकाद्वीप एवं जम्बूद्वीप में बौद्ध–धर्म के विकास की दृष्टि से अति–महत्वपूर्ण है। वहीं लंकाद्वीप में स्तूप, विहार एवं चैत्यों के वर्णन की दृष्टि से भी दीपवंश महत्वपूर्ण है। तीसरी–चौथी शताब्दी में लंका द्वीप में हुए बौद्धधर्म के विकास को अनुराधपुर के महाविहार, अभयगिरिविहार, स्तूपाराम, महामेघवनोद्यान, लौहप्रसाद आदि विहारों के वर्णन में देखा जा सकता है। इन वर्णनों से पुरातात्विक अनुसंधान में काफी सहयोग मिलता है। लंका में होने वाले उत्सवों के यथाप्रसंग वर्णन से लंका के सांस्कृतिक चरित्र को समझा जाता रहा है। सांस्कृतिक वर्णन के साथ–साथ भारत एवं लंका के परस्पर आपसी संबंधों (धार्मिक, सामाजिक एवं व्यापारिक) का भी परिचय दीपवंश के वर्णन द्वारा होता है। तत्कालीन भारतीय इतिहास एवं भूगोल वर्णन से एक भौगोलिक चित्र खींचा जा सकता है। राजगृह, कौसाम्बी, वैशाली, उज्जयिनी, विदिशा, पुष्पपुर (पाटलिपुत्र), नालन्दा आदि का सजीव चित्रण; बुद्ध–स्मृति से अंकित भारतीय नगरों जैसे कपिलवस्तु, कुशावती, कुशीनारा, गिरिवज्र (राजगृह), जेतवन (श्रावस्ती), मथुरा, उरुवेला (गया), काशी, ऋषिपतन (सारनाथ), पाटलिपुत्र, वाराणसी आदि का वर्णन; कुछ विशिष्ट स्थानों जैसे अंग, मगध, कलिंग, चम्पा, मल्ल, वेणुवन, इन्द्रप्रस्थ, भरुकच्छ, शूर्पारक, तक्षशिला, सागल (सियालकोट), अवन्ती,

[1] जैन, डॉ. कोमलचन्द्र, पालि साहित्य का इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1987 ई., पृ.सं. 82

मद्र, प्रयाग आदि के संकेत – भारतीय भूगोल के साथ–साथ संस्कृति एवं सभ्यता के विस्तार की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण बन पड़ते है।

दीपवंश का तृतीय परिच्छेद 'महाराजवंश' का वर्णन करता है। इस वर्णन के पूर्व लेखक विषय प्रस्तुति के संदर्भ में लिखता है –

> ''प्राचीन कल्प में हुए राजाओं के जन्म–मरण का लेखा छोड़कर वर्तमान कल्प में हुए राजाओं का ही सर्वथा वर्णन करूँगा।''[1]

> ''इस सर्वथा वर्णन में – उनके जन्म, नाम, गोत्र, आयु, शासनकाल – ये सभी बातें रहेंगी, जिन का विस्तार किया जायेगा। इन्हें मैं जैसे–जैसे कहूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनिये।''[2]

उपर्युक्त वर्णन के संबंध में लेखक का आत्मकथन बौद्ध–धर्म में वंश प्रस्तुति के संबंध में दी जाने वाली सूचनाओं का संकेत करता है। इस आत्मकथन को देखते हुए बौद्ध इतिहास–लेखन के साथ–साथ भारतीय इतिहास–लेखन की तात्विक विशेषताओं को चिंह्ति किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो यह आत्मकथन बौद्ध इतिहास–लेखन के स्वरूप को स्पष्ट करता है।

महावंश वर्णन के अंतर्गत लेखक महासम्मतवंश, अवशिष्ट (कपिलवस्तु) का राजवंश, अयोध्या का राजवंश, वाराणसी का राजवंश, हस्तिनापुर का राजवंश, एकचक्षुनगरी का राजवंश, वज्रा नगरी का राजवंश, मथुरा का राजवंश, अरिष्टपुर का राजवंश, इन्द्रप्रस्थ का राजवंश, एकचक्षुनगरी का राजवंश, कोसाम्बी नगरी का राजवंश, कर्णगुच्छनगर का राजवंश आदि तेईस राजवंशों का वर्णन करता है। यह वर्णन राजा शुद्धोधन के पुत्र सिद्धार्थ के साथ खत्म होता है। यह वंश वर्णन मूलतः बोधिसत्व के कुल में उत्पन्न हुए राजाओं का है।[3] इन राजवंशों के वर्णन तथा भाषा–शैली के लिए दीपवंश के अनुसार प्रथम राजवंश 'महासम्मत' के पद्य निम्न उल्लखित हैं –

पठमाभिसित्तो राजा भूमिपालो जुतिन्धरो।

महासम्मतनामेन रज्जं कारेसि खत्तियो।। (दी.वं. 3.3)

(सर्वप्रथम कोई महासम्मत नाम का क्षत्रिय भूमि की रक्षा हेतु 'राजा' पद पर अभिषिक्त हुआ। उसने सर्वप्रथम इस पृथ्वी पर राज्य किया।)

---

[1] ''अतीतकप्पे राजानो ठपेत्वान भवाभवे।
इमम्हि कप्पे राजानो पकासिस्सामि सब्बसो।।'' (दी.वं. 3/1)

[2] ''जातिं च नामगोत्तं च आयुं च अनुपालनं।
सब्बं तं कित्तयिस्सामि तं सुणाथ यथाकथं।।'' (दी.वं. 3/2)

[3] ''सब्बे ते सतसहस्सानि चत्तारि नहुतारि च।
अपरे तीणि सत राजानो महेसक्खा सियाय च।
एत्तका पठवीपाला बोधिसत्तकुले जाता।।'' (दी.वं. 3/48)

तस्स पुत्तो रोजो नाम वररोजो नाम खत्तियो।

कल्याणवरकल्याणा उपोसथो महिस्सरो।। (दी.वं. 3.4)

(उसके बाद उसके सात पुत्र हुए, जिनके नाम क्रमशः ये हैं – रोज, वर–रोज, कल्याणक (प्रथम), कल्याणक (द्वितीय), उपोसथ, मान्धाता एवं महीश्वर। ये सातों ही चारों द्वीपों के सम्राट् थे।)

मन्धाता सत्तमो तेसं चतुदीपम्हि इस्सरो।

चरो उपचरो राजा चेतियो च महिस्सरो।। (दी.वं. 3.5)

(उनके बाद ये बाईस राजा हुए; जैसे – चर, उपचर, चैत्य, महीश्वर (द्वितीय)...)

मुचलो महामुचलो मुचलिन्दो सागरो पि च।

सागरदेवो भरतो च अंगीसो नाम खत्तियो।। (दी.वं. 3.6)

(मुचल, महामुचल, मुचलिन्द, सागर, सागरदेव, भरत एवं अंगीरस राजा...)

कुसावती राजगहे मिथिलायं पुरुत्तमे।

रज्जं कारिंसु राजानो तेसं आयु असंख्या।। (दी.वं. 3.9)

(इन सब राजाओं ने उत्तम नगर कुशावती, राजगृह एवं मिथिला में राज्य किया। इन की आयु भी गणनातीत थी।)

दीपवंश में प्रस्तुत यह वंशावली बिना प्रसंगों अथवा घटनाओं के प्रस्तुत की गई है। अर्थात् इनमें कहीं भी कल्पना का पुट दिखाई नहीं देता। जिस कारण कुछ विद्वान दीपवंश की भाषा–शैली में निरसता का अनुभव करते हैं। वर्तमान दृष्टि के अनुरूप दीपवंश की उपर्युक्त शैली इतिहासात्मक कही जाये तो गलत नहीं होगा। इन वंशों को प्रस्तुत करने का मूल उद्देश्य महात्मा बुद्ध के पूर्व परंपरा का स्मरण कराना है। दीपवंश इन राजाओं की संख्या एक लाख चालीस हजार तीन सौ स्वीकार करता है जिनका जन्म बोधिसत्व के कुल में हुआ।[1] यह संख्या दीपवंश की ऐतिहासिकता पर भ्रम पैदा करने के लिए काफी है। परन्तु इन वंशों को उद्धृत करने के बाद भी बौद्ध–धर्म के वैराग्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता। 'महाराजवंशवर्णन' के समाप्त होने पर लेखक अंतिम श्लोक में विश्व को देखने की दृष्टि को अभिव्यक्त करता है। इस दृष्टि के अनुसार

[1] ''सब्बे ते सतसहस्सानि चत्तारि नहुतानि च।
अपरे तीणि सत राजानो महेसक्खा सियाय च।
एत्तका पठवीपाला बोधिसत्तकुले जाता।। (दी.वं. 3/48)

''सभी संस्कार अनित्य हैं, उत्पत्ति एवं विनाश स्वभाव वाले हैं। ये (संस्कार) उत्पन्न हो कर निरुद्ध होते रहते हैं। इनका तो सर्वथा शान्त (व्युपशम) हो जाना ही मनुष्य के लिए परम सुख है।''[1]

विश्व को अनित्य रूप में देखने की यह दृष्टि ही वंश वर्णन के केन्द्र में स्थापित हो जाती है। लेकिन इस आधार पर इतिहासच्युत भारतीय परंपरा की दृष्टि को बल नहीं दिया जा सकता। अपितु इन वर्णनों के द्वारा लोक को अनित्य संसार के सत्य से अवगत कराना लेखक का उद्देश्य रहा है। इस दृष्टि को महाभारत में प्रस्तुत इतिहास की अवधारणा – जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साथ व्याख्यायित होती है – के क्रम में देखा जा सकता है। ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से शिक्षा देना भारतीय वाङ्गमय की दृष्टि को दिखाता है। इसी रूप में आगम–निगम संबंध को समझना चाहिए। आगम–निगम का यह संबंध ही पुराण–इतिहास परंपरा द्वारा वेदों को समझे जाने पर जोर देता है। यह विशिष्ट चरित्र (वंशावली) एकत्व में 'सामान्य' को स्थापित करती है। यह 'सामान्य' भारतीय दर्शन की अखण्डता तथा नित्यता को प्रबल रूप से समर्थन देता है।

बौद्ध–धर्म का संस्थागत विकास होने के कारण भी बौद्ध इतिहास–लेखन का संरक्षण संभव होता है, जिसके परिणामस्वरूप पालि भाषा में इतिहास–लेखन का संगठित विकास दृष्टिगोचर होता है। परन्तु देखा जाये तो यह इतिहास–लेखन भी बौद्ध–धर्म–दर्शन की आधारभूमि पर खड़ा होता है। बौद्ध–दर्शन एक ओर जहाँ बौद्ध इतिहास–लेखन के स्वरूप को निश्चित करता है। वहीं दूसरी ओर इतिहास–लेखन बौद्ध–धर्म के मूल–चिंतन को लोक के समक्ष प्रस्तुत करने का माध्यम बनता है। थेरगाथा एवं थेरीगाथा क्रमशः बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों का इतिहास है। लेकिन वह भिक्षु एवं भिक्षुणियों के इतिहास से कहीं अधिक उद्देश्यों से प्रेरित है। बल्कि इन वार्ताओं का एक उद्देश्य बौद्ध–दर्शन को सहज करते हुए लोक–अनुकरणीय बनाना भी है। लोक इन भिक्षु एवं भिक्षुणियों के जीवन–प्रसंगों के माध्यम से अपने जीवन को दिशा देते हैं तथा उनका विश्वास बौद्ध–धर्म के प्रति बढ़ता है। वेद में उल्लिखित इतिहास समानार्थक शब्द 'गाथा' का रूप थेरगाथा एवं थेरीगाथा में देखा जा सकता है। अतः वंश–साहित्य के साथ–साथ थेरगाथा एवं थेरीगाथा के माध्यम से बौद्ध इतिहास–लेखन के स्वरूप को समझा जा सकता है।

2.2 भारतीय इतिहास का स्वरूप

भारतीय इतिहास का मूल स्वरूप कई संश्लिष्ट जटिलताओं के साथ विकास करता है। भारतीय–दर्शन इतिहास की आत्मा बनता है तो अतीत का स्थूल, कल्पनामयी अतीत का इतिवृत्तात्मक वर्णन उसका शरीर। दार्शनिक चिंतन–मनन इतिहास को सार्वभौमिक रूप प्रदान करता है। यही कारण है

[1] ''अनिच्चा वत संघारा उप्पादवयधम्मिनो।
उप्पज्जित्वा निरुज्झन्ति तेसं वूपसमो सुखो।।'' (दी.वं. 3/49)

कि समकालीन इतिहास–चिंतन की दृष्टि भारतीय इतिहास को अस्वीकार करती है। अतः कुछ आधारभूत सिद्धांत, जो कि भारतीय इतिहास के स्वरूप एवं दृष्टि को रूपाकार देते हैं, को समझना आवश्यक हो जाता है।

2.2.1 प्रामाण्यवाद

'इतिहास' का कार्य अतीत का पुनर्सृजन है। यह पुनर्सृजन अधिक–से–अधिक यथार्थोन्मुख हो यही इतिहास–दर्शन का आग्रह रहा है। यही यथार्थोन्मुखता इतिहास को ज्यादा–से–ज्यादा वस्तुनिष्ठ बनाने में दिखाई देती है। इतिहास–लेखन के अंतर्गत तथ्यों के प्रति तटस्थ दृष्टिकोण तथा अधिक–से–अधिक वस्तुनिष्ठ होने का आग्रह सत्य से पूर्ण साक्षात्कार की मांग है। इसके अतिरिक्त तथ्य का प्रामाणिकरण भी इतिहास–लेखन का एक पक्ष है। यह दृष्टि इतिहास–चिंतन के मूल में गतिमान होती है। यथार्थ के प्रति आग्रह मूलतः सत्य का ही आग्रह है। भारतीय इतिहास–लेखन भी इसी प्रकार के यथार्थोन्मुख होने की दिशा में विचार प्रस्तुत करता है। भारतीय इतिहास की अवधारणा सामान्यतः अस्वीकार्य है। ऐसे में भारतीय इतिहास में यथार्थ के आग्रह पर विचार न के बराबर हुआ है। वहीं दूसरा कारण इतिहास का विषय–विशेष के रूप में स्वतंत्र विकास का न होना भी है। यदि यथार्थ के प्रति भारतीय विद्वानों की दृष्टि पर विचार करें तो यथार्थ को ग्रहण करने का प्रयास भारतीय–दर्शन में भी दृष्टिगोचर होता है। परन्तु यह चिंतन पश्चिम के वस्तुवादी यथार्थवाद से भिन्न स्वरूप ग्रहण करता है।

भारतीय दर्शन में 'प्रामाण्यवाद' के अंतर्गत ज्ञान के प्रामाणिकरण का चिंतन किया गया है। इस संदर्भ में 'ज्ञान' से क्या अभिप्राय है? यह भी समझना आवश्यक है। पाश्चात्य दृष्टि में इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव ही 'ज्ञान' है। जबकि भारतीय दृष्टि में ब्रह्म के मूल स्वरूप का परिचय पा लेना ही 'ज्ञान' है। भारतीय दार्शनिकों के अनुसार ब्रह्म ही सत्य है तथा जगत् इस सत्य से विमुख करने वाली माया है। अतः मनुष्य को इस सत्य का परिचय होना ही 'ज्ञान' की प्राप्ति होना है। इसीलिए भारतीय दर्शन प्रमाणिकरण की भिन्न प्रक्रिया का अनुसरण करता है। ज्ञान–द्रष्टा होना ही उसका अंतिम लक्ष्य है। अतः भारतीय दर्शन का 'प्रामाण्यवाद' विशद विवेचन के साथ विद्वानों के चिंतन का केन्द्र रहा है। इसका स्वरूप सार्वभौमिक है। कहा जाये तो प्रामाण्यवाद किसी विषय–विशेषबद्ध कोई नियम नहीं है बल्कि इसका विस्तार ज्ञान के सभी क्षेत्रों में है। यह कारण भी है कि इतिहास–लेखन के तत्व के रूप में इसका अध्ययन नहीं किया गया है। अपितु प्रामाण्यवाद का मूल चिंतन दर्शन का प्रारम्भिक चरण ही है, जिस पर विचार किये बिना आगे बढ़ना असम्भव है। भारतीय षड्दर्शन प्रामाण्यवाद को भिन्न–भिन्न व्याख्याओं के साथ स्वीकार करते हैं। प्रमाण्यवाद की व्यापक रूप से स्वीकृति भारतीय दर्शन से होती हुई भारतीय चिंतनधारा के केन्द्र में भी स्थापित होती है। इसी क्रम में वह भारतीय इतिहास का मूलभूत आधारभूत बिंदु बनती है।

'प्रामाण्य' शब्द की उत्पत्ति 'प्रमा' शब्द से स्वीकार की जाती है। 'प्रमा' का अभिप्राय 'यथार्थ ज्ञान' है। भारतीय दर्शन ज्ञान को परिभाषित करते हुए उसे अनुभव की वस्तु स्वीकार करता है। सरल शब्दों में कहा जाये तो जो भी अनुभव होता है, उसे 'ज्ञान' कहते हैं। अतः प्रामाण्यवाद का चिंतन ज्ञान की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता का निर्धारण है। यथार्थ और अयथार्थ के लिए दर्शन में क्रमशः प्रमा तथा अप्रमा शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'प्रमा' की परिभाषा संस्कृत में 'तद्वति तत्प्रकारक प्रतीतिः प्रमा।' कही गई है। अर्थात् 'वस्तु, जो विशेषण युक्त है, का विशेषण–युक्त बोध कराने वाला ज्ञान 'प्रमा' कहलाता है।' सरल शब्दों में कहा जाये तो विशेषण–युक्त वस्तु का उसी विशेषण के साथ बोध कराने वाला ज्ञान प्रमा कहलाता है। वहीं 'अप्रमा' की परिभाषा संस्कृत में 'तद् अभाववति तत्प्रकारक प्रतीतिः अप्रमा।' कही गई है। अर्थात् 'वस्तु में जिसका अभाव है तथा उस अभाव के बोध की प्रतीति कराने वाला ज्ञान 'अप्रमा' कहलाता है। अतः ज्ञान के उत्पन्न होने से उसके वैध तथा अवैध का निर्धारण 'प्रामाण्यवाद' का कार्य है।

भारतीय दर्शन में प्रामाणिकता से संबंधित सिद्धांतों का अध्ययन 'प्रामाण्यवाद' के अंतर्गत किया जाता है। डॉ. बद्रीनाथ सिंह लिखते हैं –

> ''प्रमाण से पदार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है। परन्तु उत्पन्न ज्ञान कभी प्रामाणिक या यथार्थ होता है और कभी अप्रामाणिक या अयथार्थ होता है। अतः प्रमाण जन्य ज्ञान के साथ प्रामाणिकता एवं अप्रामाणिकता का प्रश्न स्वभावतः संलग्न है। प्रामाणिकता (यथार्थता) एवं अप्रामाणिकता (अयथार्थता) का विवरण, विश्लेषण, परीक्षण करना ही प्रामाण्यवाद की विशेषता है।''[1]

अतः इसके अंतर्गत दो विमर्शों को आश्रय दिया गया है। पहला, ज्ञान के प्रामाणिकरण का मापन तथा दूसरा, प्रामाण्यों की प्रामाणिकता का मापन। यह दोनों विमर्श प्रामाण्यवाद के अंतर्गत स्थान पाते हैं। पहला विमर्श तो सीधे–सीधे ज्ञान के प्रामाणिकरण की समस्या से संबंधित है। जिसमें ज्ञान के यथार्थ–अयथार्थ होने का निर्धारण किया जाता है। जबकि दूसरा विमर्श प्रामाण्यों के प्रामाणिकरण की समस्या का चिंतन है। 'यदि प्रामाण्य ही प्रामाणिक नहीं है तो ज्ञान कैसे प्रामाणिक होगा?' वर्तमान शब्दावली में इसे साधन के प्रामाणिकरण की समस्या के रूप में देख सकते हैं। विभिन्न दर्शनाकारों का चिंतन प्रामाण्यवाद को दो भेदों में विभाजित करता है – स्वतः प्रामाण्यवाद तथा परतः प्रामाण्यवाद। स्वतः प्रामाण्यवाद में बाह्य शर्तों को स्वीकार नहीं किया जाता जबकि परतः प्रामाण्यवाद बाह्य शर्तों की अपेक्षा रखता है।

जैसा कि उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि प्रामाण्यवाद का संबंध ज्ञान के प्रामाणिकरण से है। भारतीय दर्शन का सार्वभौमिक स्वरूप इसे भी सार्वभौमिक रूप में भारतीय चिंतन का आधार बनाता है। इसी क्रम में पुराणों में भी विभिन्न प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। इनकी संख्या दृष्टि–भिन्नता के कारण कम या ज्यादा होती रही है। इतिहास की समस्या भी सत्य के प्रामाणिकरण की है। जबकि भारतीय

[1] सिंह, डॉ. बद्रीनाथ, प्रमाण–मीमांसा (वैदिक एवं बौद्ध न्याय), आशा प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 1999, पृसं. 95

इतिहास–लेखन में विषय–विशेष के रूप में प्रामाणिकरण की समस्या पर विचार नहीं किया गया है। यह विचार प्रामाण्यवाद के रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है। भारतीय इतिहास–लेखन की परंपरा में पुराणों के प्रामाण्यों का अध्ययन भारतीय इतिहास के स्वरूप के अध्ययन में सहायक है।

पुराण मूलतः वेदों की व्याख्या करते हैं। ऐसा पूर्व में संकेत किया जा चुका है। अचार्यों ने वेद का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध माना है। अर्थात् वेद का जो भी कथन है वह प्रामाण्य से सम्पन्न है। इस सामान्यीकृत कथन से भिन्न वेद के विषय–भेद को देखना भी आवश्यक है। वेद मूलतः दो भागों में विभक्त है – विधि एवं अर्थवाद। अर्थवाद मूलतः प्रशंसात्मक वाक्य है, जिनमें अनुष्ठानविशेष की स्तुति की गई है। इसीलिए मीमांसा के अनुसार 'विधि ही वेद–वाक्यों का परिनिष्ठित तात्पर्य है, अर्थवाद तो विधिवाक्यों का अंगभूत होकर अपना प्रामाण्य धारण करता है।'[1] वहीं स्मृति का प्रामाण्य वेदमूलक है। लेकिन पुराण के प्रामाण्य के विवेचन पर वात्स्यायन रचित न्यायभाष्य का निम्न कथन द्रष्टव्य है –

> ''मन्त्रब्राह्मण के जो द्रष्टा तथा प्रवक्ता (व्याख्यान करने वाले) ऋषि–मुनि हैं वे ही इतिहास, पुराण तथा धर्मशास्त्र के भी द्रष्टा–व्याख्याता हैं। अर्थात् द्रष्टा तथा व्याख्याता की दृष्टि से साहित्य के इन तीनों अंगों में समानता का ही भाव विद्यमान है। तब इनका प्रामाण्य भी क्या एक ही प्रकार है? वात्स्यायन का उत्तर है – नहीं, इन तीनों के विषय पृथक रूप से व्यवस्थिति हैं और उन्हीं के प्रतिपादन में इनका विषयानुसार प्रामाण्य है। मन्त्रब्राह्मण का विषय है – यज्ञ। इतिहास–पुराण का है लोकवृत्त (संसार का चरित्र)। धर्मशास्त्र का विषय है – लोक–व्यवहार का व्यवस्थापन (अर्थात् लोक–व्यवहार किस प्रकार सुव्यवस्थित रूप से चलेगा – उन नियमों का तथा सिद्धांतों का प्रतिपादन)। फलतः वात्स्यायन की दृष्टि में इन विशिष्ट विषयों में ही इन ग्रन्थों का प्रामाण्य है।''[2]

आचार्य बलदेव वात्स्यायन के मत से इतिहास–पुराण को वेद के पूरक रूप में देखते हैं। अर्थात् जो तत्व वेद तथा धर्मशास्त्र द्वारा अव्याख्यात रह गए इतिहास–पुराण उनकी व्याख्या करता है। इसी अर्थ में वह वेद और धर्मशास्त्र का पूरक है। इसीलिए वात्स्यायन इतिहास–पुराण को प्रमाण मानते हैं। (लोकवृत्त के ज्ञान के लिए सही, पर मानते तो हैं।) पुराणों के प्रामाण्य के संबंध में कुमारिल का मत भी द्रष्टव्य है। कुमारिल के मत को संक्षिप्त करते हुए बलदेव उपाध्याय लिखते हैं कि

> ''प्रामाण्य के विषय में कुमारिल का मत है कि वेदानुसारी होने से पुराणों का प्रामाण्य है अर्थात् पुराण स्वतः प्रमाण न होकर वेदमूलक होने के हेतु प्रमाण माना जाता है अर्थात् उसका प्रामाण्य

[1] उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण – 2015 ई., पृ.सं. 220
[2] उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण – 2015 ई., पृ.सं. 220

परतः है, ठीक स्मृतियों के समान। इसीलिए पुराण का वेदविरुद्ध अंश निर्मूलक होने के कारण से कथमपि प्रामाण्य नहीं रख सकता।''[1]

अतः वेदअनुवर्ती होने के कारण पुराण का प्रामाण्य सिद्ध है।

भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद का चिंतन सार्वभौमिक स्वरूप में विकास करता है। इसी क्रम में बौद्ध–दर्शन भी प्रमाणों पर विचार करता है। यह चिंतन किसी विषय–विशेष के अंतर्गत विचरण न करके सामान्य दृष्टि के केन्द्र में स्थापित होता है तथा सामान्य दृष्टि के केन्द्र में स्थापित होकर अन्य विषय–विशेष का अप्रत्यक्ष अंग बनता है। इसी रूप में बौद्ध दार्शनिक प्रमाणों पर विचार करते हैं। बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि बिना ज्ञान के निर्वाण सम्भव नहीं। ज्ञान की उत्पत्ति का साधन 'प्रमाण' है, जो अज्ञान अर्थ को प्रकाशित करता है। प्रमाण सदा वस्तुस्थिति के अनुकूल चलता है। इसीलिए प्रमाण और वस्तु की स्थिति में हमेशा सामंजस्य रहता है। अर्थ क्रिया पर आश्रित ज्ञान असंवादी होता है। अर्थ भी दो प्रकार के होते हैं – ग्राह्य व अध्यवसाय। इन्द्रियों के साथ जब वस्तुओं का संबंध स्थापित होता है, वह निर्विकल्प ज्ञान या ग्राह्य कहलाता है। लेकिन बाद में जब उस वस्तु की जाति, गुण, रूप आदि का जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे सविकल्पक ज्ञान या अध्वसाय कहते हैं। निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण के ही दो भेद हैं। सविकल्पक ज्ञान अनुमान प्रमाणों पर आधारित होता है इसीलिए बौद्ध धर्म में प्रत्यक्ष प्रमाण के निर्विकल्पक ज्ञान तथा सविकल्पक ज्ञान में से निर्विकल्पक ज्ञान को ही स्वीकार किया जाता है।

कल्पनारहितं भ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्।

विकल्पो वस्तुनिर्भासादसंवादादुपपल्लवः।। (सर्वदर्शन संग्रह 2/24)

जयदेव वेदालंकार लिखते हैं –

''बौद्ध ने निर्विकल्पक को ज्ञान–प्रत्यक्ष होने से ही प्रमाण माना है और सविकल्पक को अप्रमाण माना है क्योंकि यह संदेह वह पूर्व कल्पनाओं पर आधारित होता है। प्रमाण वही है जो एकात्मक ज्ञान पर आधारित होता है। ग्राह्य ज्ञान का विषय सत्य पर आधारित है क्योंकि प्रमाण केवल ग्रहण ही है। इसके अलावा जो कुछ है वह वस्तु नहीं है।''[2]

यथार्थता के क्षेत्र में प्रत्यक्ष व परोक्ष न्यूनाधिक रूप से समान ही है। प्रत्यक्ष ज्ञप्ति काल में स्वतंत्र होता है और परोक्ष प्रत्यक्ष–साधन–परतंत्र। इसी कारण बौद्ध–दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दो प्रमाण ही स्वीकार किये हैं। बौद्धों ने अप्रत्यक्ष में ही सभी प्रमाणों का समावेश कर दिया है।

[1] वही, पृ.सं. 222

[2] वेदालंकार, जयदेव, भारतीय दर्शन (तत्व और ज्ञानमीमांसा के मौलिक सम्प्रदाय), न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली, संस्करण – 2010, पृ.सं. 84

बौद्ध धर्म में निर्वाण की प्राप्ति बिना ज्ञान को संभव नहीं माना गया है। अतः इसी क्रम में प्रमाणों का चिंतन आकार ग्रहण करता है। उनकी दृष्टि में 'प्रमाण' अज्ञान अर्थ को प्रकाशित करते हैं और वस्तु स्थिति के विरोधी नहीं होते। इस ज्ञान को अविसंवादी अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान कहा गया है। यह ज्ञान कल्पना रहित है इसीलिए यह प्रमाण है। जबकि सविकल्पक (विसंवादी) ज्ञान अप्रमाण है, क्योंकि यह कल्पना पर आश्रित होता है। बौद्ध धर्म में प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण को स्वीकार किया गया है। लेकिन प्रत्यक्ष प्रमाण में भी वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही स्वीकार करते हैं, सविकल्पक ज्ञान को नहीं। अनुमान ज्ञान भी प्रमाण नहीं है क्योंकि अनुमान भी कल्पना पर आधारित है। इस प्रकार बौद्ध–दार्शनिक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। जयदेव वेदालंकार लिखते हैं –

> ''इस प्रकार ज्ञान की प्रक्रिया अर्थ की प्रतीति से आरम्भ होकर अर्थाधिगम पर समाप्त हो जाती है। कि यह पूर्व की ही है 'अवाय' है उसी विषय का संस्कार से उत्पन्न फिर से ज्ञान होना 'धारणा' है। प्रत्यक्ष का प्रतिभास होने में प्रमाणान्तर की आवयश्कता नहीं रहती अर्थात् 'विशदः प्रत्यक्षम्'। (प्रमाण मीमांसा 1.1.33)''[1]

बौद्धों की दृष्टि में 'विषय' प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दो प्रकार का होता है। इसीलिए विषय[2] के द्वैविध्य से बौद्ध दो ही प्रकार के प्रमाण स्वीकारते हैं। अतः वह प्रमाणों के वर्गीकरण के लिए कोई भिन्न आधार ग्रहण करना स्वीकार नहीं करते। विषय का द्वैविध्य क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए मनोरथनंदी कहते हैं कि –

> ''स्वलक्षण अर्थ क्रिया में समर्थ होता है, और विजातीय के निषेध के लिए परिकल्पित सामान्य अर्थक्रिया समर्थ न होने से विषय का द्वैविध्य होता है। जहां विषय के अतिरिक्त अन्य निमित्त से सद्भाव अस्तित्व बुद्धि होती है वह सामान्य है और जहां नहीं होती है वह स्वलक्षण है। इस प्रकार विषय का द्वैविध्य प्रमाण के द्वैविध्य का प्रतिपादन करता है।''[3]

अनुमान प्रमाण के संदर्भ में वाद–विवाद को आगे बढ़ाते हुए प्रश्न होता है कि 'अनुमान यदि सामान्य विषय ज्ञान नहीं है जिसमें अर्थ क्रियाकारित्व रूप असविसंवादकत्व नहीं है तो यह भ्रान्ति क्यों नहीं है और भ्रान्ति है तो प्रमाण क्यों है?'[4] वार्तिककार इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि

---

[1] वेदालंकार, जयदेव, भारतीय दर्शन (तत्व और ज्ञानमीमांसा के मौलिक सम्प्रदाय), न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली, संस्करण – 2010, पृ.सं. 86

[2] तेहि प्रमेय द्वैविध्यात् प्रमाणं द्विविधं जगुः।
नान्यः प्रमाणभेदस्य हेतुविषयभेदतः।। न्या. म. आ., प्रमा. प्र.।

[3] वेदालंकार, जयदेव, भारतीय दर्शन (तत्व और ज्ञानमीमांसा के मौलिक सम्प्रदाय), न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली, संस्करण – 2010, पृ.सं. 182

[4] वही, पृ.सं. 182

''अनुमान यदि सामान्य विषयक ज्ञान है तो वह भ्रान्ति ही है किन्तु भ्रान्ति होने पर भी अभिप्राय का अविसंवाद होने से उसमें भी प्रमाणत्व है।''[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि मणि और प्रदीप दोनों की प्रभा में यह मणि ही है इस प्रकार का निश्चय कर दौड़ने वाले व्यक्ति का मिथ्याज्ञान मिथ्या होने पर भी मणि साध्य अर्थ क्रिया को प्राप्त करता है। दीप प्रभा में मणिप्रभा का अध्यवसाय करने वाला उसे प्राप्त नहीं करता। इसलिए व्याप्तिरूप लिंग अन्य अनुमान अयथार्थ होने पर भी प्रापक है।

अनुमान का लक्षण बताते हुए वसुबन्धु का विचार है कि ''अनुमान वही है जो प्रत्यक्ष के अवशिष्ट विषय के प्रति आश्वस्त है।''[2] वहीं आचार्य दिङ्नाग के अनुसार अनुमान के लक्षण को वार्तिककार उद्धृत करते हैं।

''अनुमेय और उसके द्रव्य अर्थात् सजातीय में जिसका अस्तित्व है और अनुमेय और इसके सजातीय से भिन्न जो नहीं है वह अनुमान है। यह अनुमान का लक्षण हेतु की त्रिरूपता पर आधारित है।''[3]

आचार्य धर्मकीर्ति 'प्रमाणवार्तिक' में लक्षण पर विचार इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं – ''संबंधी के धर्म से धर्मी के विषय में जो परोक्षानुभूति होती है वह अनुमान है।''[4] व्याख्या में धर्मकीर्ति इसके दो प्रकार बताते हैं – स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान।[5] स्वार्थानुमान का प्रयोग किसी निर्णय तक पहुँचने के लिए किया जाता है। जबकि परार्थानुमान का प्रयोग किसी दूसरे को जानने के लिए। एक दूसरे का प्रयोग दूसरों को जानने के लिए अनुमान के सभी अवयवों हेतु, उदाहरण आदि का प्रयोग आवश्यक हो जाता है।

अतः इस प्रकार बौद्ध धर्म केवल दो ही प्रमाणों को स्वीकार करता है – प्रत्यक्ष प्रमाण तथा अनुमान प्रमाण। प्रत्यक्ष प्रमाण में भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उसके द्वारा स्वीकार्य है, जबकि सविकल्पक प्रत्यक्ष कल्पना का विषय होने के कारण अग्राह्य माना गया है। ज्ञान के प्रमाणिकरण की यह दृष्टि बौद्ध इतिहास–लेखन में आंतरिक रूप से गतिमान है।

बहरहाल भारतीय–दर्शन की भिन्न परंपराओं में प्रमाण का चिंतन ज्ञान–दर्शन के रूप में महत्वपूर्ण रहा है। दरअसल ज्ञान सत्य के पर्याय रूप में प्रयुक्त हुआ है, जो कि सत्य का प्रकाशक होता है। अर्थात् ज्ञान के माध्यम से ही द्रष्टा सत्य से साक्षात्कार करता है। इसीलिए ज्ञान–प्राप्ति के साधन की प्रामाणिकता के माध्यम से ज्ञान की प्रमाणिकता पर विचार 'प्रामाण्यवाद' का मूल उद्देश्य है। दरअसल भारत की इतिहास–लेखन परंपरा में भी कई प्रामाणों को स्वीकार किया गया है। परन्तु उनका चिंतन दर्शन की भूमि

---

[1] वही, पृ.सं. 182
[2] वही, पृ.सं. 183
[3] वेदालंकार, जयदेव, भारतीय दर्शन (तत्व और ज्ञानमीमांसा के मौलिक सम्प्रदाय), न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली, संस्करण – 2010, पृ.सं. 183
[4] वही, पृ.सं. 183
[5] वही, पृ.सं. 183

पर ही विचरण करता है। लेकिन देखा जाये तो दर्शन की भूमि पर विचरण करते हुए वह इतिहास–पुराण का भी अंग बनता है। उदाहरण के लिए बौद्ध–दर्शन प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दो ही प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। इन दोनों में उनका जोर प्रत्यक्ष प्रमाण पर ही है। अतः ज्ञान की प्राप्ति वह प्रत्यक्ष प्रमाण पर ही मानते हैं। यही प्रत्यक्ष प्रमाण उनके साहित्य की दृष्टिगत–चेतना को भी निर्मित करता है। अर्थात् वंश–साहित्य में वह किन प्रक्रियाओं का अनुसरण करता है, उसकी पहचान उनके प्रमाण–चिंतन के माध्यम से की जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि दर्शन में प्रमाणों का सार्वभौमिक चिंतन इतिहास का भी अंग बनता है। दरअसल दर्शन का मूल स्वरूप ही सार्वभौमिक है। वह विषय–विशेष के रूप में तात्विक–चिंतन नहीं करता। परन्तु पुराण का दार्शनिक–चिंतन उनके प्रामाण्यवाद–संबंधी–चिंतन की पहचान में सहायक हो जाता है, जिसका उल्लेख उपर्युक्त विवेचन में किया गया है। देखा जाये तो बौद्ध–दर्शन प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार करता है इसीलिए उनके इतिहास–लेखन में अलौकिकता तथा पारलौकिकता का अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन कम दिखाई देता है। यह उनके प्रामाण्य–चिंतन का ही परिणाम है। अतः भारतीय–दर्शन के प्रामाण्य–चिंतन के माध्यम से इतिहास–लेखन की दृष्टि एवं उसके तत्वों की पहचान संभव है।

2.2.2 काल गणना

पुराणादि ग्रन्थ तथा लोक–व्यवहार में काल–गणना चार प्रकार से मानी गई है। मानुषकाल, पितृकाल, देवकाल और ब्राह्मकाल। मनुष्य का संबंध मानुषकाल से माना गया है। इस काल–गणना का आधार सूर्य दर्शन तथा अदर्शन पर आधारित है। सूर्य के दर्शन को दिन तथा अदर्शन को रात्रि माना गया है। मनुष्य प्रायः बारह घण्टे दिन तथा बारह घण्टे रात्रि को देखता है। यही अहोरात्र की व्यवस्था है। इस अहोरात्र में एक दिन में 14 मुहूर्त माने गये है। सम्पूर्ण अहोरात्र में 30 मुहूर्तों की गणना है (14 मुहूर्तों का दिन, 14 मुहूर्तों की रात्रि तथा दो मुहूर्त की दोनों संध्याएँ)।

(३)

मन्वन्तर का विवरण

पुराणकार के मत से समय का स्वरूप

(मनुष्यमान)

('सिद्धान्तशिरोमणि' के अनुसार)

१८ निमेष	=	१ काष्ठा
३० काष्ठा	=	१ कला
३० कला	=	१ घटी
२ घटी = ६० कला	=	१ मुहूर्त
६० घटी = ३० मुहूर्त	=	१ दिन-रात (दिवस)
१५ दिन-रात	=	१ पक्ष
२ पक्ष	=	१ महीना
६ महीने	=	१ दक्षिणायन
६ महीने	=	१ उत्तरायण
२ अयन	=	१ वर्ष
१ दक्षिणायन	=	१ दिव्य रात
१ उत्तरायण	=	१ दिव्य दिन
३० वर्ष	=	१ दिव्य मास
३६० वर्ष	=	१ दिव्य वर्ष
३०३० वर्ष	=	१ सप्तर्षि वर्ष
९०९० वर्ष	=	१ ध्रुव वर्ष
९६,००० वर्ष	=	१ दिव्य वर्षसहस्र
१७,२८,००० वर्ष	=	१ सत्ययुग (कृतयुग)
१२,९६,००० वर्ष	=	१ त्रेतायुग
८,६४,००० वर्ष	=	१ द्वापरयुग
४,३२,००० वर्ष	=	१ कलियुग
४३,२०,००० वर्ष	=	१ चतुर्युगी
३०,६७,२०,००० वर्ष	=	१ मन्वन्तर (= ७१ चतुर्युगी)
४,२९,४०,८०,००० वर्ष	=	१४ मन्वन्तर
२,५९,२०,००० वर्ष	=	मन्वन्तर सन्ध्यांश
१,९७,२९,४९,०६४ वर्ष	=	सृष्टि भुक्तकाल[1] (सं.२०२१ तक)
४,३२,००,००,००० वर्ष	=	१ ब्राह्मदिन (सहस्र चतुर्युगी)
४,३२,००,००,००० वर्ष	=	१ ब्राह्मरात्रि

१. सि० शि० १९७२९४७१७९ + शक संवत्सर = १९७२९४७१७९
+ १८८५
१,९७,२९,४९,०६४

—सिद्धान्तशिरोमणि (कालमानाध्याये) २८ श्लोक

पितृ, देवता और ब्रह्मा के भी अहोरात्र की व्यवस्था सूर्य के दर्शन और अदर्शन पर आधारित है। ब्रह्मा का एक दिन एक कल्प कहलाता है। ब्रह्मा का अहोरात्र भी तीस मुहूर्तों में बाँटा गया है। दिन के चौदह मुहूर्तों में एक–एक मन्वंतर को स्वीकार किया गया है। इन मन्वंतरों को अलग–अलग नामों से संकेत किया गया है।[1] प्रत्येक मन्वंतर 71 चर्तुयुगी का होता है। प्रत्येक चर्तुयुगी – सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग – चार युगों से मिलकर बनता है। मनुष्य के मास के समान ब्रह्मा के एक मास की भी कल्पना की गई है। 30 कल्पों का एक मास माना गया है। इन तीस कल्पों में 15 शुक्लपक्ष[2] तथा 15 कृष्णपक्ष[3] के कल्प में रखते हुए उनके अलग–अलग नाम दिये गये हैं।

[1] यह मन्वन्तर क्रमशः स्वायम्भुव मन्वंतर, चाक्षुष मन्वंतर, उत्तम मन्वंतर, तामस मन्वंतर, रैवत मन्वंतर, चाक्षुष मन्वंतर, वैवस्वत मन्वंतर, सावर्णि मन्वंतर, दक्षसावर्णि मन्वंतर, ब्रह्मसावर्णि मन्वंतर, धर्मसावर्णि मन्वंतर, रुद्रसावर्णि मन्वंतर, दैवसावर्णि मन्वंतर और इन्द्रसावर्णि मन्वंतर।

[2] 'ब्रह्मा के शुक्लपक्ष के 15 दिन – श्वेतवाराह, नीललोहित, रथन्तर, रावण, प्राण, बृहत्, कन्दर्प, सत्य, ईशान, व्यान, सारस्वत, उदान, गरूड, कूर्म्म और वामदेव – माने गये हैं।' चतुर्वेदी, पण्डित गिरिधर शर्मा, पुराण–परिशीलन, बिहार–राष्ट्रभाषा–परिषद्, पटना, संस्करण – द्वितीय संस्करण 1998 ई., पृ. सं. 209

[3] 'ब्रह्मा के कृष्ण पक्ष के 15 दिन – नारसिंह, समान, आग्नेय, सोम, मानव, तत्पुरूष, वैकुण्ठ, लक्ष्मी, सावित्री, घोर, वाराह,, वैराज, गौरी, महेश्वर और पितृकल्प – हैं।' वही, पृ. सं. 209

देवताओं की काल गणना में एक चर्तुयुगी में देवताओं के 12 हजार वर्ष होते हैं, जो मनुष्यों की वर्ष–गणना के अनुसार 43 लाख 20 हजार वर्ष होते हैं। पुराणों के अनुसार देवताओं का 4 हजार 8 सौ (मनुष्यों के 7 लाख 28 हजार वर्ष) वर्षों का सत्ययुग, 3 हजार 6 सौ वर्षों (मनुष्यों का 12 लाख 96 हजार) का त्रेतायुग, 2 हजार 4 सौ दैववर्ष का (मनुष्यों का 8 लाख 64 हजार) का द्वापरयुग तथा 12 सौ देववर्ष (मनुष्यों के 4 लाख 32 हजार वर्ष) का कलियुग कहा जाता है। इन देववर्षों में उनकी संध्या तथा संध्यांश भी सम्मिलित है। सत्ययुग का संध्या एवं संध्यांश 400 वर्षों का, त्रेतायुग का 300 वर्ष, द्वापर का 200 वर्ष तथा कलियुग का 100 वर्षों का स्वीकार किया गया है।

चर्तुयुगों का विकास भारतीय चिंतन में क्रमशः उत्कृष्टता से निम्नतर होता दिखाया गया है। पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी लिखते हैं –

> ''जिस काल में सत्यपरायण ऋषियों को ईश्वर–कृपा से मंत्रों का दर्शन हुआ उसे सत्ययुग कहते हैं। जिस काल में मंत्रों के कहे हुए कर्मों का त्रेता नाम की तीन अग्नियों में अनुष्ठान अधिकाधिक होने लगा, उसे त्रेतायुग कहा गया। पुनः जिस काल में कर्मों के फल में जनता को संदेह होने लगा, उसे द्वापरयुग और जिस काल में संदेह ही प्रबल हो गया, जिसके कारण मनुष्यों ने कर्म को ही छोड़ दिया वह कलियुग कहलाया।''[1]

वेद में अन्य प्रकार से भी इन युगों को प्रस्तुत किया गया है। यहाँ मनुष्यों की अवस्था के आधार पर युगों के भेदों को स्वीकार किया गया है। जब तक मनुष्य सोता रहे, उसे कलियुग कहा। जब उठने के तैयारी करने लगे, वह द्वापर हुआ। जब शय्या छोड़ दे, तब त्रेतायुग और जब विचरने लगे, तब उसे सत्ययुग कहा कहा गया।

वेद, पुराणादि ग्रन्थों में मन्वंतरों की यह कल्पना भारतीय चिंतन का अभिन्न हिस्सा है। गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी की दृष्टि में विभिन्न कल्पों का विभाजन एक संस्था के पूर्ण होने तथा दूसरे के आरंभ होने को इंगित करता है जिस आधार पर उनका नामकरण किया गया है। वह कहते हैं – 'एक संस्था पूर्ण होने का ही नाम 'कल्प' है।'[2] इनकी यह दृष्टि भिन्न नामों और उनके भिन्न वैशिष्ट्य के एक–एक कल्प को एक–एक संस्था के रूप में स्वीकार करने की बात कहती है। वह संकेत करते हैं कि सूर्य की उत्पत्ति ब्रह्मा के प्रत्येक दिन के आरम्भ में ही होती है। वहीं 27वें कल्प में अग्नि की उत्पत्ति और उसका सूर्यरूप में परिणत हो जाना बताया गया है। 28वें कल्प में रथनंतर और वृहत्साम की उत्पत्ति कही गई है। पृथ्वी का साम–मण्डल रथनंतर तथा सूर्य का साम–मण्डल वृहत्साम नाम से वेदों में मिलता है। इसी आधार पर वह प्रत्येक कल्प को अलग संस्था के रूप में चिन्हित करते हैं। जबकि चौदहवें कल्प से इक्कीसवें कल्प तक भिन्न–भिन्न स्वरों की उत्पत्ति का विवरण मिलता है। सातों स्वरों की स्थिति और उसके

---

[1] चतुर्वेदी, पण्डित गिरिधर शर्मा, पुराण–परिशीलन, बिहार–राष्ट्रभाषा–परिषद्, पटना, संस्करण – द्वितीय संस्करण 1998 ई., पृ. सं. 208
[2] वही, पृ. सं. 212

परिवर्तन से ही पृथ्वी आदि लोकों में परिवर्तन अर्थात् विस्तार का वर्णन किया गया है। गिरिधर शर्मा इस क्रम के आधार पर निर्णित करते हैं कि 'आगमशास्त्रों में प्रथम शब्द–सृष्टि और उसके अनन्तर अर्थों की सृष्टि कही गई है।'[1] स्वरों से शब्दों में भेद होता है और उसके आधार पर अर्थों में भी परिणाम हुआ करते हैं। अतः गिरिधर शर्मा इसे विकास के भिन्न–भिन्न चरणों के रूप में स्वीकार करते हैं।

यह काल–चिंतन सृष्टि के विकास के चरणों पर विचार करते हैं। ब्रह्मा के तीस कल्पों का उल्लेख इसी को केन्द्र में रखता है।[2] इससे एक बात स्पष्ट है कि भारतीय काल–चिंतन मनुष्य–क्षण से लेकर सृष्टि तक के काल को समाहित करता है। सम्पूर्ण सृष्टि को केन्द्र में रखते हुए 'काल–चिंतन' सर्ग (सृष्टि की उत्पत्ति) एवं प्रतिसर्ग (सृष्टि का नाश) के साथ ही विस्तृति प्राप्त करता है। अतः इस विस्तृत समय–सीमा को प्रस्तुत करते हुए भारतीय मनीषी इन्हें चतुर्युगों में विभाजित करते हैं। इन चतुर्युगों के विभाजन में वह सभ्यता एवं संस्कृति के उत्थान–पतन को भी केन्द्र में रखता है। वह मनुष्य के मानस–जगत को इस उत्थान–पतन का आधार बनाता है, जो कि गिरिधर शर्मा के कथन में स्पष्ट है। 'पुराण' सृष्टि के काल पर समानांतर चिंतन करता है। यही कारण है कि समकालीन इतिहास में मौजूद समय का स्थूल–रूप भारतीय इतिहास में नहीं दिखाई देता। भारतीय मनीषी का विश्वास है कि समय स्वयं को दोहराता है और यह दोहराव मनुष्य की प्रवृत्तियों में परिलक्षित होता है। इसीलिए वह इतिहास में मनावीय प्रवृत्तियों को केन्द्रीय महत्व देता है। इसीलिए भारतीय इतिहास में समय–उल्लेख कोई स्थाई प्रवृत्ति नहीं बन पाती।

---

[1] चतुर्वेदी, पण्डित गिरिधर शर्मा, पुराण–परिशीलन, बिहार–राष्ट्रभाषा–परिषद्, पटना, संस्करण – द्वितीय संस्करण 1998 ई., पृ. सं. 215

[2] 'वायुपुराण में कहा है कि प्रथम कल्प 'भव' होता है। यह कल्प लोक के आरम्भ में प्रसिद्ध है और जिसमें आनन्द–रूप से भगवान् की सत्ता का ज्ञान करना चाहिए। इसी ज्ञान से ब्रह्मा ने दिव्य स्थान प्राप्त किया। द्वितीय कल्प 'भुव' और तृतीय 'तप' नाम से प्रसिद्ध है। आगे पुनः 'भव', 'रम्भ', 'ऋतुकल्प', 'ऋतु', 'वह्निग्न', 'हव्यवाहन', 'सावित्र', 'भुव', 'उशिक', 'कुशिक' और 'गन्धर्व', इन ग्यारह कल्पों के नाम गिनाये गये हैं। अन्त में 'गन्धर्व' कल्प में विषय में लिखा है कि उसमें गान्धार नाम का स्वर होता है और नाद ओर गन्धर्व भी वहाँ उत्थित होते हैं। आगे 'ऋषभ' नाम का पन्द्रहवाँ कल्प होता है, जहाँ ऋषभ नाम का स्वर उत्पन्न हुआ। सोलहवाँ कल्प षड्ज होता है, जहाँ छः ऋषि उत्पन्न होते हैं। इनके नाम शिशिर, वसन्त, निदाघ, वर्ष, शरद और हेमन्त हैं। ये ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं। इनकी उत्पत्ति के साथ ही 'सद्योजात' नाम से महेश्वर का अवतार हुआ और उनसे ही समुद्र के सदृश षड्ज स्वर उत्पन्न हुआ। सत्रहवाँ कल्प मार्जालीय है। अट्ठारहवाँ कल्प 'मध्यम' नाम का है, जिसमें मध्यम स्वर 'धैवत' द्वारा पूजित होता है। फिर, उन्नीसवाँ कल्प 'वैराज' नाम का मनु होता है। उन्हीं के पुत्र दधीचि हुए हैं, जिनसे अत्यन्त स्निग्ध स्वर उत्पन्न हुआ है। आगे बीसवाँ कल्प 'निषाद' है, जिसको देखकर प्रजापति ने सृष्टि करना बन्द कर दिया और निषाद तपस्या करने लगा। बहुत काल खड़े–खड़े तप करने के अनंतर ब्रह्मा ने उसे 'निषीद' ऐसा कहा, जिसका अर्थ होता है – बैठो। इसी से उसका नाम 'निषाद' हो गया। फिर, उसी से 'निषाद' नामक स्वर उत्पन्न हुआ। इसके आगे इक्कीसवाँ कल्प 'पंचम' नाम का ही हुआ, जिसमें पाँचों प्राण उत्पन्न होते हैं। वे ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं, उन पाँचों ने चिक्कणता से युक्त स्वर का दान किया। वह स्वर भी 'पंचम' नाम का ही हुआ। बाईसवाँ कल्प 'मेघवाहन' है, जिसमें भगवान् विष्णु ने मेघ बनकर महेश्वर का वहन किया था। विष्णु जब भार से दबने लगे, तब उनके मुख से 'काल' उत्पन्न हुआ। वही काल सम्पूर्ण लोक को परिवर्तित करता है। वे विष्णु, कश्यप के पुत्र कहे जाते हैं। तेईसवाँकल्प 'चिन्तक' नाम का है। उसमें प्रजापति और चित्ति का स्मरण करते हुए ब्रह्मा को चिन्ता हुई थी, इसीलिए उसका नाम 'चिंतक' कल्प हुआ। चौबीसवाँ कल्प 'आक्रूति' है। उसमें आक्रूति नाम की देवी ने सृष्टि की थी। पच्चीसवाँ कल्प 'विज्ञाति' नाम का है, जिसमें 'विज्ञाति' के द्वारा सृष्टि हुई। मन से सृष्टि का ध्यान करते हुए ब्रह्मा ने उसे जान लिया। इसलिए, वह 'विज्ञाति' कल्प कहलाया। छब्बीसवाँ कल्प 'मन' है, जिसमें शांकरी नाम की देवी सृष्टि करती है। सत्ताईसवाँ कल्प 'भाव' है, जिसमें पौर्णमासी देवी सृष्टि करती है। इसी भाव में सृष्टि का ध्यान करते हुए ब्रह्मा से मण्डल–रूप में अग्नि प्रकट हुई तथा भूमि और आकाश में उसका तेज व्याप्त हुआ। वही तेज हजारों वर्षों के अनन्तर सूर्यमण्डल–रूप में परिणत हो गया। वह सूर्य पहले मनुष्यों के द्वारा देखा नहीं जाता था। ब्रह्मा ने ही उसे देखा। उसी मण्डल के साथ सब मन्त्र और वेद भी प्रादुर्भूत हुए। ब्रह्मा को सूर्य का दर्शन हुआ, इसलिए वह कल्प 'दर्श कहा जाता है। ब्रह्मा ने जिस समय सोम को देखा, वह तिथि पौर्णमासी कहलाती है। इसके आगे 'दर्शपौर्णमास'' यज्ञ की आवश्यकता और उसका महात्म्य बताया गया है। इसके आगे अट्ठाईसवाँ कल्प 'बृहत्कल्प' कहलाता है। प्रजापति जब सृष्टि का ध्यान करने लगे, तब उसे 'बृहत्साम' और 'रथन्तर साम', ये दोनों कल्प उत्पन्न हुए। निरुक्त में कहा गया है कि पृथ्वी का साम, रथन्तर है; क्योंकि पृथ्वी की अन्तिम व्याप्ति सूर्य के रथ तक जाती है और सूर्य का साम 'बृहत्साम' होता है; क्योंकि वह सबसे बड़ा है। उसके ही उदर में सब साम रहते हैं। यहाँ रथन्तर का परिमाण भी बताया गया है। इस बृहत्साम का ही भेदन कर योगी लोग आगे जाया करते हैं। अन्य कल्प रथन्तर के ही संघात–रूप में अन्तर्गत हो जाते हैं।'' वही, पृ. सं. 213

2.2.3 पौराणिक भूगोल

पुराणों के पंचलक्षणों में भौगोलिक वर्णन भी सम्मिलित है। यह एक सारवान विषय है। पुराणों में भूगोल का वर्णन दो दृष्टियों से किया गया है – पहला, समस्त संसार का भूगोल तथा दूसरा, भारतवर्ष का भूगोल। पृथ्वी की सप्तद्वीपों की कल्पना पौराणिक भूगोल की मौलिक कल्पना है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो यह उसकी निजी विशिष्टता है। पुराण में प्रस्तुत संकेतों के आधार पर ही कप्तान स्पीक ने मिस्त्र देश में बहने वाली नील नदी के उद्‌गम का पता लगाया।[1] पुराण में नील नदी का उद्‌गम स्थान कुशद्वीप बतलाया गया है। कुश देश तथा कुश निवासियों का उल्लेख पारसी सम्राट दारियबहु (522–486 ई.पू.) के अनेक फारसी अभिलेखों में मिलता है। कुशद्वीप को आधुनिक नूबिया मानकर पौराणिक वर्णन का अनुसरण करते हुए कप्तान स्पीक नील नदी के स्रोत को खोजने में सफल होते हैं। इसी प्रकार शक देश की अवांतर जातियों का, वहाँ के दूधसागर का तथा नदियों का विवरण कल्पना पर आश्रित न होकर यथार्थ रूप में निर्मित हुआ है। इसी प्रकार एशिया की व्यापारिक दृष्टि से महत्वशालिनी बड़ी–बड़ी सात नदियों का वर्णन भी उतना ही यथार्थ है। पश्चिमी गोलार्द्ध को पौराणिक वर्णन में पाताल के रूप में संकेतित किया गया है जिसमें मध्य अमेरिका की मयसंस्कृति के क्रीडाक्षेत्र मैक्सिको और पेरू के भू–वृत्त का वर्णन है।

पुराणों में भुवनकोश एक विषय है। जिसमें समग्र भुवनों का भौगोलिक नाम, विस्तार तथा स्वरूप का विशद वर्णन किया गया है। इसमें सम्पूर्ण पृथ्वी को कमल के समान माना गया है, जिसकी कर्णिका (मूल मध्य जहाँ से पंखुड़ियाँ निकलकर चारों ओर फैलती हैं) में मेरु पर्वत को माना गया है।

अव्यक्ताम् पृथ्वीपद्‌म मेरुपर्वत कर्णिकम्। (वायु पुराण – 34/37)

वायुपुराण के कथनानुसार महात्मा प्रजापति के सोने का मेरुपर्वत गर्भ है, समुद्र गर्भ से निःस्यन्दमान उदक है और शिराएँ तथा हड्डियाँ पर्वत है –

हिरण्मयस्तु यो मेरुस्तस्योल्बं तन्महात्मनः।

गर्भोदकं समुद्राश्च सिराघस्थीनि पर्वताः। (वायु पुराण – 5/80)

[1] उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण 2015 ई., पृ.सं. 317

मत्स्यपुराण में मेरु को अव्यक्तजन्मा ब्रह्मा का नाभि बंधन माना गया है – 'नाभिबन्धन सम्भूतो ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः' (1/2/14) – तात्पर्य यह है कि मेरु पर्वत को पृथ्वी की नाभि होने से अर्थात् केन्द्र मानकर भुवनकोश का विन्यास निश्चित किया गया है। मेरु पर्वत की स्थिति इलावृत्त वर्ष के मध्य में स्थित है जो कि जम्बूद्वीप का केन्द्र है।[1] मेरु पर्वत को चार पर्वत आलम्बन देने वाले खम्बों के समान चार दिशाओं में स्थापित माने गये हैं – पूर्व में मंदर, दक्षिण में गंधमादन, पश्चिम में विपुल तथा उत्तर में सुपार्श्व। इन चहुमुखी वर्णन अर्थात् चार दिशाओं के वर्णन से भूगोल को समझना सरल हो जाता है। सम्पूर्ण विश्व का वर्णन भी इन्हीं चार दिशाओं में किया गया है। मेरु के उत्तर में नील पर्वत, उसके उत्तर

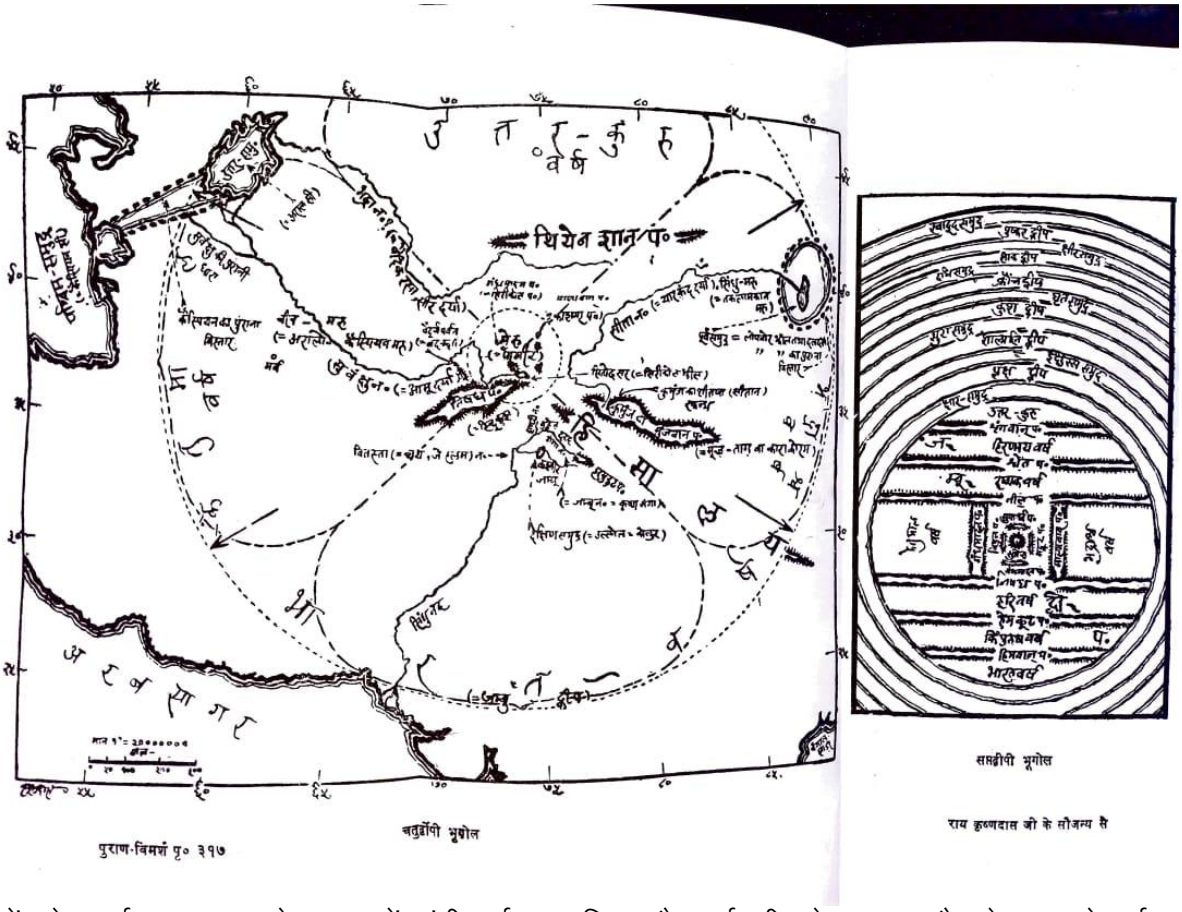

चतुर्द्वीपी भूगोल

पुराण-विमर्श पृ० ३१७

सप्तद्वीपी भूगोल

राय कृष्णदास जी के सौजन्य से

में श्वेत पर्वत तथा उसके उत्तर में श्रृंगी पर्वत अवस्थित है। पूर्व की ओर जठर और देवकूट दो पर्वत है। दक्षिण में निषध पर्वत, उसके दक्षिण में हेमकूट और उसके दक्षिण में हिमवान (हिमालय) है। पश्चिम की ओर दो पर्वत माल्यवान और गंधमादन है। पुराण में वर्णित भूगोल के आधार पर निम्न मानचित्र को बनाया गया है।

[1] उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण 2015 ई., पृ.सं. 318

पुराण वर्णनों के संदर्भ में एक समस्या इन पर्वतों के नाम एवं स्थान की भिन्नता के कारण है। मेरु की पहचान के विषय में विद्वानों के भिन्न मत है। मेरु से विभिन्न पर्वतश्रेणियाँ चारों दिशाओं में फैलती हैं। इसीलिए अनेक विद्वानों ने इसे पामीर पर्वत का ही प्रतिनिधि माना है। डॉ. हर्षे मेरु पर्वत को अलताई पर्वत के क्षेत्र में स्थित मानते हैं। यह अलताई पर्वत एशिया के नक्शे में पश्चिमी साइबेरिया तथा मंगोलिया में स्थित है। हिमालय के उत्तर में मेरु को स्वीकार किया गया है। हिमालय तथा मेरु के बीच हेमकूट और निषध दो पर्वत की स्थिति है। एशिया के नक्शे में 'कूदनलून' तथा 'थिएनशान' पर्वत की श्रेणियाँ देखी जाती हैं। इन्हें ही क्रमशः हेमकूट और निषध का वर्तमान रूप माना जा सकता है। डॉ. हर्षे इस मेरु पर्वत को ही आर्यों का निवास स्थान मानते हैं। 'आलताई' शब्द मंगोलिया शब्द है जिसका अर्थ होता है – 'सुवर्ण का पर्वत'। पुराणों में सर्वत्र मेरु को सुवर्ण पर्वत कहा गया है – हिरण्मय तथा सौवर्ण पर्वत। नाम साम्यता के साथ–साथ पुराणों में मेरु का भौगोलिक विवरण, आस–पास की नदियों ओर पहाड़ों का फैलाव इस साम्यता को और पुष्ट कर देता है।

मेरु को केन्द्र में मानकर पुराण के 'भुवनकोश' में दो तरह के चिंतन विकास करते हैं – चर्तुद्वीपी वसुमती का सिद्धांत तथा सप्तद्वीपी वसुमती का सिद्धांत। बाद में इनका सम्मिश्रण हो गया है। प्राचीन मत के अनुसार मेरु के चारों दिशाओं में चार द्वीप हैं। परन्तु आगे चलकर सप्तद्वीपा वसुमती की कल्पना उत्पन्न हुई जिसका सम्मिश्रण चतुर्द्वीपी वसुमती से हुआ। इस कारण वर्णनों में बड़ी गड़बड़ी तथा मिलावट दिखाई देती है। चतुर्द्वीपी वसुमती के वर्णनानुसार मेरु पर्वत की चार दिशाओं में चार महाद्वीपों की स्थिति है। इन सभी महाद्वीपों की पहचान एक विशिष्ट पर्वत, एक नदी, एक वृक्षकुंज, एक झील, एक वृक्ष तथा आराधना

के निमित्त एक विशिष्ट रूपधारी भगवान की भी स्थिति थी। जिससे पता लगता है कि ये महाद्वीप सभी प्रकार के भौगोलिक साधनों से संपन्न थे।

पूर्व की ओर भद्राश्व महाद्वीप, दक्षिण में जम्बूद्वीप (जो 'भारतवर्ष' के नाम से भी वर्णित है।), पश्चिम में केतुमाल तथा उत्तर में उत्तर कुरू। इन चारों महाद्वीपों की वर्तमान स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। 'भद्राश्व' का शाब्दिक अर्थ है कल्याणकारी घोड़ा। संभवतः यह चीन देश को सूचित करता है। जम्बूद्वीप में भारतवर्ष था। भारत हेमवत वर्ष के नाम से भी विख्यात था क्योंकि वह हिमालय की दक्षिण दिशा में स्थित था। वंक्षुनदी का प्रदेश केतुमाल महाद्वीप है, जो मेरु के पश्चिम में स्थित है। उत्तर कुरू आलपाई पर्वत से लेकर उत्तरी समुद्र तक फैला हुआ है। साइबेरिया का पूर्वी तथा उत्तरी भाग इस क्षेत्र के भीतर आता है। पुराणों में इसे सौख्य समृद्धि के विस्तृत वर्णन के साथ लिखा गया है। यह वर्णन काल्पनिक स्वर्ग–भूमि के समान प्रतीत होता है। वर्तमान समय में यह भूगोल शीतमय और हिममय होने से मानवों के निवास लायक नहीं रहा।

पुराणों के नवीन संस्करण में सात द्वीपों के सिद्धांत को मान लिया गया। इस सिद्धांत के अनुसार जम्बूद्वीप मध्य में और सात द्वीपों के द्वारा वेष्टित है। ये द्वीप आपस में एक–एक समुद्र के द्वारा पृथक्कृत किये गये हैं।

1. जम्बूद्वीप (क्षार समुद्र या लवणोदधि द्वारा वेष्टित)
2. प्लक्ष (गोमेदक) द्वीप (इक्षुरस समुद्र द्वारा वेष्टित)
3. शाल्मलि द्वीप (सुरा समुद्र के द्वारा वेष्टित)
4. कुशद्वीप (घृत समुद्र द्वारा वेष्टित)
5. क्रोंच द्वीप (दधि समुद्र द्वारा वेष्टित)
6. शाकद्वीप (क्षीर समुद्र द्वारा वेष्टित)
7. पुष्कर द्वीप (स्वादु जल समुद्र द्वारा वेष्टित)

द्वीपों का उपर्युक्त क्रम द्विगुणित होते क्रम से लिखा गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि जम्बूद्वीप का विस्तार एक लक्षयोजन है तथा प्रत्येक द्वीप अपने पूर्व द्वीप से आयाम में द्विगुणित है। फलतः प्लक्ष द्वीप का विस्तार द्विलक्ष योजन माना जाता है। इसी प्रकार अन्य द्वीपों का भी विस्तार समझना चाहिए। द्वीपों का यह क्रम विष्णु (2/4), भागवत (5/20) तथा मार्कण्डेय (546) के अनुसार है।

जम्बुद्वीप आरंभकाल में भारतवर्ष को ही सूचित करता है, जिसकी सीमा शकों तथा कुषाणों के आगमन के साथ विस्तारित हुई। बहुत से अज्ञात देश इस सीमा में स्वीकृति पाते हैं जम्बूद्वीप में नव वर्षों की कल्पना निर्मित होती है। इन नव वर्षों में इलावृत्त वर्ष, जहाँ सुमेरु पर्वत की स्थिति है, केन्द्र में है। इसके उत्तर में क्रमशः रम्यक (नील पर्वत), हिरण्यम (श्वेत पर्वत) तथा उत्तर कुरु (श्रृंगी पर्वत) स्थित है।

वहीं इसके पूर्व में भद्राश्व वर्ष तथा पश्चिम में केतुमाल की स्थिति है। इलावृत्त वर्ष के दक्षिण में क्रमशः हरिवर्ष (निषध वर्ष पर्वत), किंपुरूष वर्ष (हेमकूट) तथा भारतवर्ष (हिमालय) का स्थान है। बलदेव उपाध्याय इनकी वर्तमान स्थिति को संकेत करते हुए लिखते हैं –

> ''इन वर्षों की पहचान रूप से नहीं की जा सकती। उत्तर कुरु तोलोमी का 'ओत्तोरी कोराई' देश है जो संभवतः चीनी तुर्किस्तान की तारिम घाटी को द्योतित करता है। हरिवर्ष सम्भवतः सुग्द (या बोखारा प्रांत) है, जो घोड़ों के लिए सर्वदा प्रसिद्ध था। इलावृत्तवर्ष सम्भवतः इलि नदी की घाटी है, जो साइबेरिया के पर्वत से निकलकर बालकश में गिरती है। भद्राश्व सम्भवतः चीन का सूचक है। चीन का जातीय चिह्न है सफेद ड्रेगन। 'ड्रेगन' अंग्रेजी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है, अपने मुँह से ज्वाला उद्‌गीर्ण करने वाला मकर या सर्प, जो अक्सर घोटकमुख – घोड़ा मुँहवाला – बताया जाता है। इसीलिए कल्याणकारी घोटकवाले देश – भद्राश्व – से चीन की पहचान भली–भाँति की जाती है।''[1]

इसी प्रकार अन्य वर्षों की पहचान के संबंध में भी कुछ मत स्थिर किए गए है। जैसे केतुमाल की पहचान वहाँ बहने वाली चक्षु या वक्षु नदी के द्वारा की गई है। चक्षु या वक्षु ही आक्सस नाम से अथवा आमू दरिया है जो अराल सागर में आज गिरती है। अतः इसी भूभाग को केतुमाल की संज्ञा से अभिहित किया जाता था। किंपुरूष किन्नरों का देश है, जो हिमालय प्रांत का सूचक है। हिरण्मय वर्ष एशिया के 'बदक्शॉ' क्षेत्र को संकेत करता है, जो हीरा, जवाहरात तथा कीमती धातुओं की खानों के लिए प्रसिद्ध रहा है। रम्यक वर्ष की पहचान को संभवतः सुदूर पूर्व के रमि या रम्नि टापुओं का संभवतः सूचक है।

इसके अतिरिक्त नदियाँ भी एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में सामने आती हैं। चतुर्द्वीपी वसुमती की कल्पना में गंगा की चार दिशाओं में प्रवाहित चार धाराओं का उल्लेख मिलता है। इन चार धाराओं में पूरब की ओर भद्राश्व से होकर समुद्र में गिरने वाली धारा 'सीता' है। इसकी पहचान अभी तक नहीं हुई है। दूसरी धारा 'अलकनंदा' है, जो दक्षिण में भारतवर्ष से होकर दक्षिणी समुद्र में गिरती है। तीसरी धारा 'चक्षु' है, जो पश्चिम में केतुमाल से होकर पश्चिमी समुद्र में गिरती है। बलदेव उपाध्याय लिखते हैं –

> ''चक्षु, स्वरक्षु या वक्षु एक ही नदी के विभिन्न, अभिधान हैं, जिसे यूनानी आक्सस कहते थे और आज आमू दरिया कहलाती है और पामीर पठार से निकलकर अराल के सागर में गिरती हैं।''[2]

चौथी धारा 'भद्र' है, जो उत्तर कुरु को पार कर उत्तरी समुद्र में गिरती है। इसकी पहचान भी निश्चित नहीं हो सकी है।

---

[1] उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण 2015 ई., पृ.सं. 331

[2] उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण 2015 ई., पृ.सं. 331

इन नववर्षों के संबंध में उपर्युक्त मत स्थिर नहीं है। यह अनुसंधान की अपेक्षा रखते हैं। परन्तु पुराणकारों की क्षेत्रों की पहचान की दृष्टि इससे जरूर स्पष्ट होती है। पुराणकार प्रकृति को प्रतीकों के रूप में प्रयोग करते हुए भूगोल की पहचान को आधार बनाते हैं। यह प्रतीक आमजन के लिए भी उतने ही गम्य है जितना किसी विद्वान के लिए। अतः प्रकृति के आधार पर क्षेत्रों की पहचान की दृष्टि निर्मित होती है। इन क्षेत्रों की पहचान में नदी, पर्वत, वृक्ष, झील, तालाब, जानवर आदि भी सम्मिलित हैं। पर्वतों के संकेतों से स्पष्ट है कि पर्वत वह महत्वपूर्ण कड़ी है जो दो वर्षों की सीमाओं के विभाजन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। भारतवर्ष की पहचान भी हिमालय के दक्षिण में मौजूद भूमि के रूप में की जाती है। इसी कारण भारत को हैमवतवर्ष भी कहा जाता था। कालिदास कृत मेघदूत में उपस्थित प्रकृति–वर्णन के द्वारा विद्वानों ने तत्कालीन मार्ग को निश्चित किया है। अतः भारतीय भूगोल में प्रकृति की सटीक पहचान के द्वारा स्थान–विशेष की प्रमाणिक उपस्थिति को दर्ज किया जा सकता है।

निष्कर्षतः कहा जाये तो भारत में इतिहास की अवधारणा संश्लिष्ट थी। भारतीय इतिहास में राजा–महाराजाओं के वंशों तथा ऋषि–मुनियों का चरित–वर्णन तो इतिहास की विषयवस्तु होता ही है। इसके साथ–साथ भूगोल भी इतिहास का अंग बनता है। भौगोलिक चिंतन के साथ–साथ सृष्टि के आदि से अंत तक का चिंतन इतिहास में स्थान पाता है। एक ओर प्रकृति भारतीय भोगौलिक पहचान का कारण होती है, तो दार्शनिक प्रमाण्यवाद कथ्य के स्थायित्व को निश्चित करता है। इन्हीं जटिल संश्लिष्टता के साथ भारतीय इतिहास का तात्विक विकास होता है।

2.3 भारतीय इतिहास–लेखन की समस्याएँ

समकालीन दृष्टि भारत में इतिहास की अवधारणा को अस्वीकारती है। भारतीय इतिहास जैसी किसी अवधारणा के अस्वीकृत होने के पीछे वह कुछ तर्क प्रस्तुत करते हैं। उनके यह तर्क समकालीन इतिहास–चिंतन पर आधारित हैं, जो कि पाश्चात्य परिस्थिति में निर्मित हुए है। पाश्चात्य इतिहास–परंपरा का क्रमिक विकास इतिहास की अवधारणा के रूप में होता है। अतः उन्हीं कसौटियों पर भारतीय इतिहास–धारा का मूल्यांकन कर उसे अनुपस्थित माना गया है। जबकि भारतीय इतिहास का मूल स्वरूप समकालीन इतिहास–चिंतन से भिन्न दिशा में रूपाकार लेता है। इसलिए भी भारतीय इतिहास की सही पहचान असंभव हो जाती है। देखा जाये तो समकालीन इतिहास तथा भारतीय इतिहास के स्वरूप के बीच का यही भेद भारतीय इतिहास–लेखन की समस्या रूप में दिखाई देता है।

2.3.1 इतिहास–लेखन की पाश्चात्य कसौटियाँ

भारतीय इतिहास के संदर्भ में एक मत प्रचलित है कि इतना विशाल वाङ्गमय होते हुए भी इतिहास की कोई सुव्यवस्थित धारा यहाँ नहीं दिखाई देती। ए.बी.कीथ अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' में लिखते हैं –

''...इसका साहित्य पर्याप्त परिमाण में उपलब्ध होने के बाद भी इतिहास का निरूपण इतना शोचनीय है... कि संस्कृत साहित्य के संपूर्ण महान काल में एक भी ऐसा लेखक नहीं है जिसे गंभीरता के साथ आलोचनात्मक इतिहासकार के रूप में मान्यता दी जा सके।''[1]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि ए.बी.कीथ भारतीय वाङ्ग्मय में 'आलोचनात्मक इतिहास एवं इतिहासकार' की खोज करते हैं। 'आलोचनात्मकता' इतिहास–दर्शन का तात्विक पक्ष है। प्रथम इतिहासकार हेरोडोटस भी इतिहास में आलोचनात्मक दृष्टि से इतिहास लिखने की बात कहते हैं। कीथ इसी दृष्टि को आधार बनाकर भारतीय वाङ्ग्मय में आलोचनात्मक इतिहासकार के न होने की बात कहते हैं। उपर्युक्त कथन में कीथ इसी को आधार बनाकर भारतीय इतिहास–बोध पर भी प्रश्नचिह्न खड़ा करते हैं। इन्हीं के मत को आधार बनाकर ई.श्रीधरन ने लिखा है –

''प्राचीन भारतीयों के बौद्धिक जीवन की सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि उनकी सभ्यता का सुदीर्घ इतिहास और विकसित चरित्र होने के बाद भी उनमें इतिहास बोध और विभिन्न घटनाओं को कालक्रम के अनुसार व्यवस्थित करने की प्रवृत्ति का लगभग पूर्णतः अभाव रहा।''[2]

उपर्युक्त दोनों कथनों में प्रथम मत, भारत में आलोचनात्मक दृष्टि के न होने तथा दूसरा मत, इतिहास–बोध एवं विभिन्न घटनाओं को कालक्रम से व्यवस्थित करने की प्रवृत्ति को नकारता है। इतिहास की अवधारणा इतिहास–बोध के पक्षों (इतिहासकार एवं उसकी दृष्टि, आलोचनात्मकता, कार्य–कारण–संबंध, कालक्रम आदि) के आधार पर इतिहास–लेखन का निर्धारण करती हैं। इतिहास–बोध की यह कसौटियाँ – जो कि आधुनिक काल में निर्मित हुई – भारतीय इतिहास–लेखन के अस्तित्व को नकार देती है। यह कसौटियाँ जितना इतिहास–बोध से संबंधित है उतनी ही उनकी प्रस्तुति अर्थात् इतिहास–लेखन से भी संबंधित है। ई.श्रीधरन इस संदर्भ में अपना मत रखते हैं –

''ब्राह्मणवादी पुराणों, बौद्ध पालि धर्मग्रन्थ और जैन पटावलियों में धार्मिक और सामाजिक महत्व की सामग्रियों के विशाल भंडार में भी ऐतिहासिक सामग्री पर्याप्त परिमाण में विद्यमान है हालांकि उनकी प्रस्तुति के आधार पर शायद ही उन्हें ऐतिहासिक माना जा सकता है।''[3]

वह ऐतिहासिक सामग्री को पर्याप्त रूप में स्वीकारते हैं परन्तु उन्हें प्रस्तुति के आधार पर ऐतिहासिक मानने से इंकार कर देते हैं। यह द्वंद्व ए.एल.बाशम के मत में भी दिखाई देता है –

[1] ई.श्रीधरन, इतिहास–लेख एक पाठ्यपुस्तक, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, संस्करण 2011, पृ.सं. 277
[2] वही, पृ.सं. 277
[3] ई.श्रीधरन, इतिहास–लेख एक पाठ्यपुस्तक, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, संस्करण 2011, पृ.सं. 277

''भारत के पास इतिहास की कोई अवधारणा थी या नहीं, लेकिन इनके पास अतीत की एक जीवंत भावना जरूर थी।''[1]

ए.एल.बाशम की दृष्टि भी इन्हीं प्रस्तुति–भेद से प्रेरित है। ऐतिहासिक सामग्री होते हुए भी इतिहास–लेखन की अस्वीकृति भारतीय इतिहास–लेखन की सबसे बड़ी विडम्बना है। दरअसल प्रस्तुति–भेद के पीछे इतिहास–लेखन की कसौटियाँ हैं जिनके आधार पर इतिहास का निर्धारण संभव होता है।

उपर्युक्त मतों से स्पष्ट है कि भारतीय इतिहास का अस्तित्व विषयवस्तु की दृष्टि से वर्तमान जरूर है। जबकि प्रस्तुति अर्थात् इतिहास–लेखन की दृष्टि से भारतीय इतिहास के पैटर्न को खोजना मुश्किल है। पाश्चात्य इतिहास कुछ निश्चित मापदण्डों के आधार पर इतिहास के अस्तित्व को स्वीकार–अस्वीकार करता है। उन मापदण्डों पर भारतीय इतिहास–लेखन का निर्धारण करना असम्भव है।

2.3.2 ए.बी.कीथ का पर्यावरण या परिवेश के बिन्दु पर आलोचना का प्रत्याख्यान

प्रस्तुतिकरण ही भारतीय इतिहास के नकार का एकमात्र कारण नहीं है। अपितु इससे इतर इतिहास–बोध का प्रश्न यहाँ महत्वपूर्ण हो जाता है। प्राचीन भारतीयों में इतिहास–बोध और कालक्रमानुसार ऐतिहासिक घटनाओं को संयोजित न करने के क्या कारण है? यह प्रश्न आधुनिक काल के आरम्भ से ही भारतीय इतिहास से जुड़ा रहा है। इस संदर्भ में विसेंट स्मिथ 'ऑक्सफॉर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया' में लिखते हैं –

''अधिकांश संस्कृत कृतियों की रचना ब्राह्मणों ने की थी जिनके भीतर इतिहास लिखने के प्रति कोई रुचि नहीं थी और उनकी रुचि अन्य कार्यों में थी।''[2]

विसेंट का उपर्युक्त कथन कोई ठोस कारण प्रस्तुत नहीं करता। इस संदर्भ में ए.बी.कीथ का दृष्टिकोण महत्वपूर्ण है। वह इतिहास–बोध के प्रश्न को मनोविज्ञान से जोड़ते हैं।[3] साथ ही वह कुछ निश्चित बिन्दुओं पर भारतीय मनोविज्ञान को समझने का भी प्रयास करते हैं।

पर्यावरण या परिवेश और घटनाक्रम को ए.बी.कीथ महत्वपूर्ण द्वैत के रूप में देखते हैं। वह राजनीतिक परिवेश को इतिहास–लेखन के संदर्भ में महत्वपूर्ण हस्तक्षेप के रूप में देखते हैं। उनकी दृष्टि में 'भारत में वाक् कौशल या वाक्पटुता की कोई परंपरा नहीं फली–फुली। इसका सर्वोत्कृष्ट विकास ऐसे माहौल में हुआ जहाँ राजनैतिक स्वतन्त्रता थी।'[4] उनके विचारानुसार राजतंत्र होने के कारण भारत में

---

[1] ए.एल.बाशम, भूमिका, पाठक, विश्वंभरशरण, भारत के प्राचीन इतिहासकार, अनुवादक – प्रदीपकांत चौधरी, प्रकाशन – ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया), प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम हिंदी संस्करण 1999, पुनर्मुद्रण 2013, पृ.सं. 8

[2] ई.श्रीधरन, इतिहास–लेख एक पाठ्यपुस्तक, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, संस्करण 2011, पृ.सं. 278

[3] ''इस प्रघटना का कारण निश्चित तौर पर भारतीय मनोविज्ञान की विशिष्टताओं में निहित रहा होगा और इसमें पर्यावरण तथा घटनाक्रम ने भी सहयोगी भूमिका निभाई होगी।'' वही, पृ.सं. 278

[4] वही, पृ.सं. 278

ऐतिहासिक लेखन का माहौल निर्मित नहीं हुआ। जबकि एथेंस में लोकतंत्र अनुकूल माहौल को निर्मित करता है, जिस कारण वहाँ वाक्पटुता और इतिहास निर्माण की परिस्थितियाँ निर्मित हुई। साथ–ही–साथ राष्ट्रीयता का भाव तथा लोगों का उस राष्ट्रीयता के प्रति अनुक्रिया भी इतिहास–लेखन के लिए प्रेरणा का काम करती है। जो कि पश्चिम में तो थी परन्तु भारत में नहीं थी। कीथ का मानना है कि हेरोडोटस को भी इसी ने इतिहास लिखने की प्रेरणा दी।

> ''यूनान ने विदेशी शक्तियों को जिस तरह निरस्त किया तथा इन आक्रमणों ने जिस लोकप्रिय अनुक्रिया को जन्म दिया तथा जिसने हेरोडोटस को इतिहास लिखने की प्रेरणा दी वह भारत के संदर्भ में दृष्टिगोचर नहीं हुई।''[1]

भारत में राष्ट्रीयता की अवधारणा नहीं थी। इसे स्पष्ट करते हुए कहा जाये तो भारत में पाश्चात्य दृष्टि के अनुरूप विकसित राष्ट्र की अवधारणा नहीं पनपी। यदि राष्ट्र की परिभाषा देखी जाये तो कई पक्षों पर भारत खरा नहीं उतरता। 'एक राष्ट्र एक भाषा' की दृष्टि भी राष्ट्रवाद को परिभाषित करती है। जो कि भारतीय बहुभाषिकता को देखते हुए सम्भव नहीं है। इसी प्रकार एक निश्चित भूगोल का होना भी राष्ट्र की अवधारणा के मूल में है। जबकि आधुनिक काल से पूर्व भारतीय जनमानस प्राकृतिक भूगोल को ही भारत की सीमाओं के रूप में स्वीकार करता आया है। वहीं भारतीय राजतंत्र में राजनीतिक–सीमाएँ भी अस्थिर थी। लेकिन यह राजनीतिक सीमाएँ 'भारत' को एक देश के रूप में व्याख्यायित नहीं करती। 'भारत' को एक देश के रूप में व्याख्यायित करने वाली दृष्टि प्रकृति को केन्द्र में रखती है। इसका प्रमाण है विष्णुपुराण का यह श्लोक –

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रश्चैव दक्षिणम्।

वर्ष तत् भारतं नाम भारती यत्र संतति।।

भारत की सीमाएँ राष्ट्र की सीमाओं के रूप में स्वीकृति प्राप्त नहीं करती। अपितु हिमालय से लेकर दक्षिण में समुद्र तक जितने भी राज्य तथा आमजन हैं सभी भारतवासी हैं। अतः राष्ट्रवाद की जिस भावना की खोज ए.बी.कीथ कर रहे थे, उन्हें वह भारत में दिखना असम्भव था। इसीलिए यहाँ देशभक्ति तो पनपी लेकिन राष्ट्रवाद का विकास नहीं हुआ।

राष्ट्र की भावना के साथ–साथ लोकतंत्र अथवा गणतंत्र के होने से एथेंस तथा रोम में इतिहास–लेखन संभव हुआ – यह कीथ का दृष्टिकोण है। प्राचीन भारतीय व्यवस्था गणतंत्रात्मक व्यवस्था थी। महाजनपदों के समय में यह द्रष्टव्य है। कीथ पश्चिम में इतिहास–बोध के निर्मित होने के कारणों पर विचार करते हुए भारतीय इतिहास–लेखन पर प्रश्नचिह्न खड़ा करते हैं। ए.बी.कीथ लोकतंत्र तथा

[1] वही, पृ.सं. 278

गणतंत्रात्मक व्यवस्था के आधार पर राजनैतिक स्वतंत्रता की बात कहते हैं। यह राजनैतिक स्वतंत्रता लोकतंत्रात्मक व्यवस्था में विकसित होती है। अतः इस आधार पर महाजनपदों के समय में इतिहास–बोध क्यों विकास नहीं करता? यह महत्वपूर्ण प्रश्न है।

राजनैतिक स्वतंत्रता को भारत के संदर्भ में भिन्न दृष्टिकोण से व्याख्यायित किये जाने की भी आवश्यकता है। राजनैतिक स्वतन्त्रता का मूल्यांकन शासन तथा जनता का एक–दूसरे पर आश्रित होने तथा जनता पर राजनीतिक नियंत्रण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। इस दृष्टि से भारतीय परिवेश विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियों में निर्मित होता है। यह भौगोलिक परिस्थितियाँ आमजन को जीवनयापन के लिए सहज वातावरण उपलब्ध कराती है। जबकि पाश्चात्य भूगोल में जीवन कठिनाईयों के साथ आगे बढ़ता है। ऐसे में केन्द्रीय शासन का नियंत्रण तथा जनता का उनपर आश्रय बढ़ जाता है। इस दृष्टि से भारतीय जनसमूह अधिक स्वतंत्रता का अनुभव करता है क्योंकि उसे जीवनयापन की भौगोलिक कठिनाईयों का सामना नहीं करना पड़ा। इन आश्रित संबंधों के कारण पाश्चात्य जगत में इतिहास–लेखन पर शासन का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। इसी कारण इतिहास का एक अर्थ राजनैतिक इतिहास से भी लिया जाने लगा। भारतीय जन के समक्ष भौतिक समस्याएँ न होने से उनकी दृष्टि भी आध्यात्मिकता की ओर झुकती है। अतः इतिहास को देखने की वस्तुवादी दृष्टि से इतर आध्यात्मिकता के प्रश्नों तथा दार्शनिक तर्क–वितर्क के साथ 'इतिहास' की धारा आगे बढ़ती है। यही कारण है कि भारत में राष्ट्रवाद की भावना नहीं पनपी बल्कि भारतीय भूगोल से जुड़ी देशभक्ति उपजी।

2.3.3 ए.बी.कीथ के आलोचना बिन्दु कर्म और पुनर्जन्म पर विचार

ए.बी.कीथ भारत में इतिहास–बोध के न होने के पीछे के प्रमुख कारणों में कर्म, पुनर्जन्म तथा नियति के सिद्धांतों को भी मानते हैं। भारतीय वाङ्ग्मय पर दृष्टिपात करें तो दर्शन केन्द्र में दिखाई देता है। दर्शन के आधारभूत सिद्धांतों से इतिहास–बोध भी प्रभावित होता है। कीथ कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धांतों और सर्वशक्तिमान नियति के विधान का उल्लेख करते हुए भारत में इतिहास–बोध के न होने की व्याख्या करते हैं। इन सिद्धांतों को भारतीय चिंतन और आस्था की तीन प्रणालियों – हिन्दू, बौद्ध और जैन – ने ग्रहण किया है।

पुनर्जन्म की अवधारणा जीव के अनेक जन्मों को स्वीकार करती है तथा प्रत्येक जन्म को दूसरे जन्म को प्रभावित करने वाला मानती है। यह सिद्धांत मनुष्य के वर्तमान जीवन को पिछले जन्म के कर्मों का प्रतिफल मानता है। हिन्दू धर्म इसकी व्याख्या आत्मा का नये रूप में पुनप्रकटीकरण से जोड़ता है। जबकि बौद्धधर्म 'प्रत्युत्तपय समुत्पाद' के सिद्धांत द्वारा उसे वैज्ञानिक मानता है।

कर्म तथा पुनर्जन्म की यह दृष्टि इतिहास–बोध विकसित न होने के ठोस आधार प्रस्तुत करती है। इस सिद्धांत को इतिहास–प्रक्रिया में अतीत की तथ्यात्मक व्याख्या की प्रवृत्ति के विकास में बाधक माना गया। कीथ के विचारों को रखते हुए श्रीधरन लिखते हैं –

> ''इन सिद्धांतों में विश्वास के प्रभाव अगणित, अबोधगम्य और कल्पनातीत है। यदि मनुष्य के जीवन उनके पिछले जन्मों के क्रियाकलापों के परिणाम होते तो कोई यह नहीं कह सकता था कि सुदूर अतीत का कौन–सा कृत्य अपना अपरिहार्य साध्य निश्चित करने के लिए प्रकट नहीं हो सकता और मनुष्य की योजनाओं तथा क्रियाकलापों के लिए कभी अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करके और कभी उन्हें निरस्त करके नियति उसे आश्चर्यचकित कर सकती थी।''[1]

स्पष्ट है कि पुनर्जन्म के सिद्धांत का अनुकरण करने पर मनुष्य का ध्यान अपने अतीत कर्मों से विमुख होता है। वह अतीत के घटनाकर्म को भविष्य के उद्‌भव के रूप में नहीं देखेगा। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो पुनर्जन्म पर विश्वास करने से मनुष्य के लिए वर्तमान कर्म ही प्रमुख होगा। जबकि समकालीन इतिहास–दर्शन अतीतोन्मुख होकर भविष्य को उज्ज्वल करने के उद्देश्य से प्रेरित है। इसी उद्देश्य को सामने रखते हुए इतिहास अतीत की घटनाओं को उद्धृत कर शिक्षा प्राप्त करता है ताकि अतीत में की गई गलतियों को पुनः न दोहराये। अतीत के कर्मों द्वारा भविष्य की संभावनाओं को देख सके। परन्तु पुनर्जन्म के सिद्धांत के साथ इतिहास की यह दृष्टि अप्रेषणीय हो जाती है। अतः ए.बी.कीथ कर्म तथा पुनर्जन्म के चिंतन को भारतीय इतिहास–बोध के अभाव का कारण मानते हैं।

'भारत में इतिहास–बोध नहीं पनपा' – इसी मत को स्थापित करते हुए ए.बी.कीथ उपर्युक्त कारण प्रस्तुत करते हैं। बहरहाल ऊपर संकेत किया गया है कि पुनर्जन्म पर विश्वास से वर्तमान कर्म मनुष्य के लिए प्रमुख हो जाता है। दरअसल इससे भारत में इतिहास–बोध के पनपने की प्रक्रिया को समझा जा सकता है। यह दृष्टि एक प्रक्रिया है जो इतिहास–बोध के निर्माण में सहायक है। यदि भारतीय वाङ्‌ग्मय के आधारभूत उद्देश्य पर दृष्टिपात करें तो मनुष्य के जीवन को अच्छा करना ही उसकी केन्द्रीय दृष्टि है। महाभारत में इतिहास की परिभाषा निम्न शब्दों में उल्लिखित है :–

धर्मार्थकाममोक्षुपदेश समन्वित।[2]

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को उपदेशों के साथ स्थापित करना ही इतिहास का उद्देश्य माना गया। यह स्पष्ट है कि मनुष्य जीवन को किस प्रकार उच्च लक्ष्यों की ओर प्रेरित करे, यही भारतीय वाङ्‌ग्मय के समान इतिहास का भी उद्देश्य रहा। अतः इसी उद्देश्य को सामने रखकर इतिहास–बोध निर्मित होता है। परंतु इसके निर्माण की पूर्व–प्रक्रिया समकालीन इतिहास–बोध से भिन्न होती है। भारतीय इतिहास–बोध

[1] ई.श्रीधरन, इतिहास–लेख एक पाठ्यपुस्तक, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, संस्करण 2011, पृ.सं. 279
[2] ई.श्रीधरन, इतिहास–लेख एक पाठ्यपुस्तक, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, संस्करण 2011, पृ.सं. 284

वर्तमान जीवन को उज्ज्वल करने के उद्देश्य से आगे बढ़ता है। परन्तु वर्तमान को किस प्रकार अच्छा किया जाये? यह प्रश्न उसके समक्ष खड़ा होता है। इसका उत्तर वह अतीत में जाकर पाता है। अतः वह अतीत की ओर जाता अवश्य है परन्तु वर्तमान को किस प्रकार अच्छा किया जाये इस उद्देश्य से। वह अतीत में जाकर आदर्शों की खोज करता है, जो पुरूषार्थ–चतुष्ट्य की स्थापना कर सके। वह अतीत से आदर्शात्मक विषयवस्तु को खोज कर उसे मूल्यपरक बनाता है। इसीलिए इतिहास का लेखन मूल्यपरक होता है। इसीलिए भारतीय इतिहास–लेखन पूर्वपूरूषों अथवा इतिहास–चरित्रों, घटनात्मक कथाओं, उपदेशों, गाथा, पुराण आदि के माध्यम से आदर्श स्थापित करता है। यथार्थगत होते हुए कमियों से सीखना (पाश्चात्य इतिहास–दर्शन) तथा आदर्श को अपनाकर उच्च लक्ष्यों तक जाना (भारतीय इतिहास–दर्शन) – यह दो दृष्टिगत भिन्नताएँ इतिहास–बोध का दो अलग दिशाओं में विकास करती हैं। अतः यह भिन्न इतिहास–बोध ही इतिहास–लेखन को वैशिष्ट्य प्रदान करता है।

2.3.4 सार्वभौमिक इतिहास का लेखन

इतिहास की समकालीन अवधारणा वस्तुनिष्ठ इतिहास–लेखन का विकास करती है। वस्तुनिष्ठ इतिहास से अभिप्राय अतीत को अधिक–से–अधिक यथार्थमय बनाना है। इसीलिए इतिहासकार का लक्ष्य इतिहास को अधिक–से–अधिक तथ्यात्मक बनाते हुए तथ्यों की कार्य–कारण–संबंध व्याख्या करना है। तथ्यात्मक बनाने के लिए वह काल, स्थान आदि की स्थूल सूचनाओं का प्रयोग करता है। यह सूचनाएँ अतीत की घटनाओं को स्थापित ही नहीं करती बल्कि उन्हें प्रमाणित करने का कार्य भी करती हैं। वस्तुनिष्ठता की मांग इतिहास को क्षणबद्धता प्रदान करती है। अतः समकालीन इतिहास का स्वरूप क्षण को महत्ता देता है। दरअसल समकालीन इतिहास के इसी स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए भारतीय वाङ्गमय में इतिहास–लेखन की खोज की जाती है। जबकि भारत में इतिहास का चिंतन एवं लेखन संश्लिष्ट रूप से होता है। भारत में इतिहास 'दर्शन' की आधारभूमि पर खड़ा होता है। दर्शन का मूल स्वरूप शाश्वतमयी है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो दार्शनिक–चिंतन सार्वभौमिक नियमों का संधान करता है। दार्शनिक आधारभूमि पर खड़े होने के कारण भारतीय–दर्शन का शाश्वत रूप 'इतिहास' में भी झलकता है। सरल शब्दों में कहा जाये तो भारत में इतिहास का लेखन 'शाश्वत इतिहास–लेखन' है। यहाँ शाश्वत शब्द का प्रयोग क्षणबद्धता के विपरीतार्थ भी प्रयोग हुआ है। शाश्वतता लिये होने के कारण इतिहास का स्वरूप सार्वभौमिकता को ग्रहण करता है। भारतीय आचार्य इतिहास के माध्यम से सार्वभौमिक निदान की खोज करते हैं, जो कि काल एवं देश से परे सर्वकालिक एवं सर्वदेशज हो। देखा जाये तो सार्वभौमिक स्वरूप के कारण इतिहास भी प्रश्नों के समाधान हेतू अतीत से गुजरता है और उन प्रश्नों के शाश्वत समाधान प्रस्तुत करता है। यह प्रश्नोत्तर लोक की इहलौकिकता तथा अध्यात्म की परलौकिकता दोनों को संश्लिष्ट रूप में समाहित रखते हैं। वह वस्तुनिष्ठ होने से इतर शाश्वतता को महत्ता देते हैं। इसीलिए विषयवस्तु में शाश्वत उद्देश्य का लक्ष्य भारतीय–इतिहास का गुण बनता है। अतः इस शाश्वतता को बनाये रखने के लिए इतिहास की वस्तु भी उच्च लक्ष्यों से मूल्य–आधारित चिंतन की दिशा में बढ़ती है। इतिहास एक

तरफ दार्शनिक चिंतन को स्थापित करता है तो दूसरी तरफ अतीत का पुर्नाख्यान करता है। उदाहरण के लिए पुराण की दृष्टिगत आत्मा वेद का दर्शन है, परन्तु उसका शरीर अतीत का कथ्य। यही कारण है कि ऐतिहासिक पात्र भी युगांतराल में मिथकीय रूपांतरण को प्राप्त करते हैं। राम एक ऐसे ही पात्र हैं, जिनकी ऐतिहासिक एवं मिथक के बीच लम्बी वाद–विवाद की श्रृंखला चलती है। इस वाद–विवाद में राम को ऐतिहासिक चरित्र मानने वाले पुरातत्व का उल्लेख करते हैं तो मिथकीय चरित्र मानने वाले उन्हें देश एवं काल से परे होने एवं उनके ऐतिहासिकता के निर्धारक तत्वों की अनुपस्थिति के आधार पर उन्हें मिथक स्वीकार करते हैं। अतः भारतीय इतिहास का सार्वभौमिक स्वरूप की सही पहचान इन वाद–विवाद का सकारात्मक दिशा में निदान है। इस सार्वभौमिक स्वरूप की पहचान भारतीय इतिहास–लेखन की शोध–दिशा के लिए भी आवश्यक है।

2.3.5 भारतीय इतिहास का प्रयोजन

इतिहास का मूल स्वरूप अतीतोन्मुख होते हुए भविष्य को उज्ज्वल बनाना है। अतीत यहाँ साधनरूप है तथा उज्ज्वल भविष्य 'साध्य'। साधनरूप होते हुए भी इतिहास का लक्ष्य अतीत का पुनर्राख्यान है। इतिहास का केन्द्र मनुष्य है। अतः मनुष्य के भावी जीवन को सुगम करने का प्रयोजन ही 'इतिहास' का साध्य है। वहीं इतिहास की भारतीय धारा का केन्द्र 'जीव' है। जीव शब्द दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली है। 'जीव' शब्द व्यापक अर्थ में सभी प्राणवान जीवन के लिए प्रयुक्त हुआ है, फिर चाहे वह जानवर हो या कीड़े–मकोड़े। परन्तु संकुचित अर्थ में जीव मनुष्य के लिए प्रयुक्त होता है। भारतीय इतिहास–लेखन इस व्यापक एवं संकुचित अर्थ को संश्लिष्टता में ग्रहण करता है। दरअसल यह व्यापक अर्थ दार्शनिक–चिंतन तक विस्तारित होता है तो इसका संकुचित अर्थ लोक द्वारा मूल्य आधारित रूप में गृहित होता है। अतः इसी अर्थ में भारतीय–इतिहास का पाठक एवं श्रोता 'जीव' है। 'जीव' का पारिभाषिक अर्थ ब्रह्म से जुड़कर ही पूर्ण होता है। अतः ब्रह्म प्राप्ति का लक्ष्य ही जीव का मूल उद्देश्य ठहरता है। इतिहास–पुराण परंपरा भारतीय–दर्शन के विस्तृत चिंतन–मनन को अपने में समाहित करता है। इसीलिए इतिहास–पुराण मनुष्य के लिए मात्र अतीत का परिचय प्राप्त करने का माध्यम तक सीमित नहीं होता बल्कि वह तो मोक्ष प्राप्ति का मार्गदर्शक बनता है।

इतिहास का मूल उद्देश्य लोकमंगल है। (अतीत के माध्यम से वर्तमान एवं भविष्य को उज्ज्वल करना) भारतीय इतिहास–दर्शन भी लोकमंगल के उद्देश्य से प्रेरित है। प्रश्न उठता है कि जीव का लोकमंगल कहाँ हैं? इसका उत्तर भारतीय–दर्शन में प्राप्त होता है। 'पुरूषार्थ–चतुष्ट्य' ही वह लोकमंगलकारी लक्ष्य है, जो कि 'जीव' को ब्रह्म की प्राप्ति में सहायक होता है। अतः भारत में लोकमंगलकारी होने का अर्थ जीव को मोक्ष की प्राप्ति तक ले जाना है। इसी अर्थ में भारतीय–इतिहास का प्रयोजन 'पुरूषार्थ–चतुष्ट्य' को स्वीकारा गया है। महाभारत में प्रस्तुत इतिहास की परिभाषा में यह द्रष्टव्य है –

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेश समन्वितम्।

पूर्ववृत्त कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।।

अर्थात् 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के उपदेश से समन्वित पूर्ववृत्तों का कथायुक्त रूप ही 'इतिहास' कहलाता है।' समकालीन इतिहास भविष्य को उज्ज्वल करने का साधन अतीत की कमियों से सीखने को मानता है। अतः उसका केन्द्रीभूत लक्ष्य अतीत का यथार्थ–निरूपण हो जाता है। जबकि भारतीय–इतिहास जीव के लोकमंगल के उद्देश्य से 'पुरूषार्थ–चतुष्ट्य' को लक्ष्य करके पूर्ववृत्तों का उपदेशात्मक वर्णन करता है। उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति इतिहास को स्थूल सीमाओं से मुक्ति की ओर ले जाती है। सत्य–असत्य, धर्म–अधर्म के बीच वह दोनों को लिखता है परन्तु उसका जोर आदर्श स्थापना पर ही अधिक रहता है। कथ्य का चुनाव इसी आदर्शात्मकता की भूमि पर होता है। ऐसी कथा, घटना, स्थिति, चरित्र आदि का चयन प्रमुख होता है, जो कि अधिक–से–अधिक लोगों को लोकमंगलकारी दिशा में ले जा सके। अतः भारतीय इतिहास का प्रयोजन (पुरूषार्थ–चतुष्ट्य) उसे भिन्न रूपाकार प्रदान करता है।

जैसा कि पहले भी उद्धृत किया गया है कि 'पुरूषार्थ–चतुष्ट्य' एक दार्शनिक शब्दावली है, जिसपर संस्कृताचार्यों का गहन चिंतन रहा है। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि भारतीय–दर्शन सभी वाङ्मयों के केन्द्र में स्थापित है। ज्ञान की सभी धाराएँ दर्शन की धुरी द्वारा नियंत्रित होती हैं। अतः दार्शनिक चिंतन–मनन का इतिहास में संश्लिष्ट हो जाना सहज है। इतिहास–पुराण एक ओर जहाँ इतिहास का लेखन करता है, वहीं वह वैदिक–दर्शन की व्याख्या भी करता है। इसीलिए भारतीय इतिहास–लेखन में अतीत के आख्यान के साथ–साथ दार्शनिक चिंतन–मनन भी संश्लिष्ट मिलता है, जिस कारण इतिहास के ग्रन्थ और स्रोत के बीच का भ्रम पैदा होता है। विद्वान, भारतीयों में इतिहास–बोध तो स्वीकारते हैं परन्तु इतिहास की अवधारणा को अस्वीकार कर देते हैं।

2.3.6 भारतीय इतिहास की विषयवस्तु

समकालीन इतिहास–दृष्टि स्पष्ट तौर पर अतीत की पुनर्निर्मिति को तरजीह देती है। अतः उसका कथ्य अतीत की घटनाएँ, स्थितियाँ, व्यक्ति को प्रमुख बना देता है। जबकि भारतीय इतिहास–दृष्टि केवल भूतकाल की अतीतात्मकता तक ही सीमित नहीं होती, बल्कि सृष्टि–चिंतन, भूगोल, मन्वन्तर आदि पर मानव–निरपेक्ष तथा सृष्टि–सापेक्ष रूप में भी चिंतन का केन्द्र बनाती है। पुराण की पंचलक्षणात्मक परिचय से यह स्पष्ट है :–

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्।।

अर्थात् 'सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित पुराण के पंचलक्षण हैं।' अतः इतिहास की अवधारणा भारत में तथ्यों से संवलित इतिवृत्त तक ही सीमित नहीं हो जाती। बल्कि वह सृष्टि–चिंतन को भी इतिहास में प्रस्तुत करती है। पुराण सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर उसके पतन पर विचार करते हैं। वैज्ञानिक

दृष्टि से कहा जाये तो वह पृथ्वी की आयु पर चिंतन–मनन करते हैं। यही नहीं सृष्टि के आरम्भ से लेकर उसके पतन तक पर इतिहास विचार करता है। सर्ग एवं प्रतिसर्ग क्रमशः सृष्टि उत्पत्ति एवं पतन पर विचार करती है तो मन्वन्तर के अंतर्गत सृष्टि के काल पर विचार किया गया है। 'सर्ग, प्रतिसर्ग और मन्वन्तर' के अंतर्गत किया गया विचार वर्तमान में जियोलॉजी के अंतर्गत होता है। अर्थात् आधुनिक जियोलॉजी जिन प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयास करती है, उन्हीं प्रश्नों पर चिंतन–मनन इतिहास का अंग बनता है। लेकिन यह चिंतन–मनन अतीत की घटनाओं के बीच ही संश्लिष्ट भी होता है। अतः इन व्यापक प्रश्नों से जूझना भी भारतीय–इतिहास का विषय रहा है। यही कारण है कि आधुनिक इतिहास–लेखन भारत में अप्राप्य रहता है।

2.3.7 भारतीय इतिहास में साहित्य एवं इतिहास की प्रवृत्तिगत संश्लिष्टता

साहित्य की विशेषता उसकी सृजनात्मकता है जबकि इतिहास की वस्तुतथ्यता। भारतीय वाङ्ंमय में काव्य के माध्यम से ज्ञान को संचित एवं प्रस्तुत किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय वाङ्ंमय में काव्य–पद्धतियों का प्रयोग लगभग सभी क्षेत्रों में हुआ है। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि आधुनिक काल से पूर्व 'काव्य' की परिभाषा के अंतर्गत (भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार) गद्य तथा पद्य दोनों को स्वीकृत किया गया है। इस प्रकार साहित्यिक सृजनात्मकता का तत्व भारतीय वाङ्ंमय की प्रवृत्तिगत विशेषता के रूप में अन्य ज्ञान–विषयों से संश्लिष्ट होता है।

साहित्य जनता की चित्तवृत्तियों का प्रतिबिंब अवश्य है परन्तु वह उसकी समान प्रस्तुति नहीं है। साहित्यकार एक ओर जनसमूह के हृदय का द्रष्टा है तो दूसरी ओर वह द्रष्टव्य भावों एवं विचारों को पुनःनिर्मित करने वाला स्रष्टा भी है। साहित्य की दुनिया वास्तविक दुनिया ही है, परन्तु वास्तविक दुनिया की हुबहु प्रतिलिपि नहीं। यही कारण है कि साहित्य का झुकाव तथ्यों को प्रस्तुत करने में नहीं अपितु उन तथ्यों के साथ मौजूद संवेदनात्मक पक्ष की ओर रहता है।

इतिहास–लेखन के संबंध में भी यह द्रष्टव्य है। इसी संवेदनात्मक पक्ष के साथ भारतीय इतिहास–लेखन भी निर्मित होता है। भारतीय इतिहास की अस्वीकृति के मूल में ऐतिहासिक सामग्री की प्रस्तुति को स्वीकार किया गया है। साहित्यिक सृजनात्मकता का पक्ष इतिहास की वस्तुतथ्यता के विपरीत ठहरता है। इतिहास की मांग वस्तुतथ्यता की ओर अधिक है। इसी कारण तथ्यों के चयन, उनकी प्रस्तुति, उनके बीच के संबंध (कार्य–कारण–संबंध) इतिहास–लेखन के मूलभूत तत्व के रूप में आते हैं। यह तत्व इतिहास–लेखन को स्वरूप प्रदान करते हैं। इतिहास एक समान पद्धति की अनिवार्यता के साथ इतिहास–लेखन का तात्विक–विवेचन करता है। यह विवेचन इतिहास की लेखन–कला को सीमांकित करता है। जबकि सृजनात्मक लेखन का वैशिष्ट्य उसका असीम होना है। नितनूतन होना सृजन की विशेषता है। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्यकार किसी तथ्यपरक विशेष पद्धति का अनुसरण नहीं करता। उसके समक्ष तथ्यों को प्रस्तुत करने की बाध्यता भी नहीं होती। वह ऐतिहासिक चरित्र को चुनता

भी है तो उसको अपने सृजनकर्म द्वारा नया रूप प्रदान करता है। जो कि सत्य के निकट होता है। यही कारण है कि प्रस्तुति में मूलभूत भिन्नता होने से भारतीय इतिहास–लेखन को अस्वीकार किया जाता है।

2.3.8 मौखिक परंपरा में इतिहास का लेखन

भारतीय ज्ञान के स्थायीत्व की प्रक्रिया पश्चिम से भिन्न रूप में क्रियांवित हुई। पश्चिम में लिखित सामग्री को महत्ता तथा मौखिक परंपरा को दोयम दर्जे का स्थान दिया गया है। जबकि भारतीय संस्कृति एवं साहित्य की निर्मिति में 'मौखिकता' निर्माण प्रक्रिया का मूल माध्यम रही है। ज्ञान का विस्तार मौखिकी के माध्यम से ही संभव हुआ। गुरु–शिष्य परंपरा इसी मौखिक ज्ञान को संरक्षण देने का सर्वोत्तम माध्यम थी। वेदों को श्रुति कहने के पीछे यही कारण है। भारतीय इतिहास–लेखन भी इन्हीं मौखिक परंपराओं में निर्मित होता है। अतः उसकी दृष्टि, तत्व, लेखन आदि सभी मौखिक प्रवृत्तियों से प्रभावित होता है। यदि इतिहास के प्रयोजन को देखें तो धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ही उसका मूल उद्देश्य है। महाभारत की परिभाषा अनुसार पुरूषार्थ–चतुष्ट्य के प्रयोजन को उपदेशात्मक रूप में उसका आख्यान कहना ही इतिहास है। दरअसल यह आख्यान का 'कहन' ही मौखिकता का परिणाम है। भारत में आख्यान कहने की लम्बी परंपरा है। भारतीय वाङ्गमय का एक पक्ष उसको कथा रूप में परिणत करने पर जोर देता है। भारतीय इतिहास–लेखन भी इसी कथा–कहने की परंपरा में जीवित तथा संरक्षित होता है। इसी 'कहन' की प्रवृत्ति को इतिहास–लेखन की विशिष्टता कहा जाये तो गलत नहीं होगा।

जबकि समकालीन इतिहास–लेखन मौखिक परंपरा को स्थायित्व के प्रतिकूल देखता है। उसके अनुसार लिखित प्रस्तुति में वस्तुनिष्ठता संरक्षित होती है। इसीलिए इतिहास के मूल में भी लिखित प्रमाणों द्वारा वस्तुनिष्ठता पर जोर देना समकालीन इतिहास–लेखन की मांग है। भारतीय इतिहास इसी दृष्टि के विपरीत मौखिक परंपराओं पर आश्रित है। इसीलिए मौखिकता की धारा तथा कथा–कहने की प्रवृत्ति के कारण समकालीन इतिहासकार की दृष्टि में वस्तुनिष्ठता खण्डित होती है। साथ–ही–साथ कथा रूप में कहने के कारण यथातथ्यता भी ओझल होता है और कल्पना के पुट से सत्य कोसों दूर हो जाता है। यही भारतीय इतिहास–लेखन की परिपाटी है। कहा जाये तो यही भारतीय इतिहास–लेखन की विशिष्टता है, जो उसे अन्य इतिहास–लेखनों से भिन्नता प्रदान करती है।

2.3.9 आलोचनात्मकता के स्थान पर आदर्शात्मक–लेखन को प्रश्रय

आलोचनात्मकता इतिहास–लेखन का प्रमुख तत्व है। इतिहास की समकालीन अवधारणा तथा इतिहास–लेखन के आरंभिक समय से ही आलोचनात्मक दृष्टि को इतिहास के मूल में स्वीकार किया गया है। हेरोडोटस तथा उनसे पूर्व के इतिहास–लेखन के बीच विभाजन में आलोचनात्मकता को महत्वपूर्ण रूप से स्वीकार किया गया है। अतः अनिवार्य रूप से कहा गया कि आलोचनात्मक दृष्टि से घटनाओं को प्रस्तुत किया जाये। आलोचनात्मक दृष्टि ही इतिहास–लेखन में आलोचनात्मक पद्धति को निर्मित करती

है। बहरहाल, आलोचनात्मक दृष्टि के साथ ही इतिहासकार की भूमिका भी इतिहास–लेखन में महत्वपूर्ण हो जाती है। सरल शब्दों में कहा जाये तो अतीत की घटनाओं और उसकी प्रस्तुति के बीच इतिहासकार को महत्वपूर्ण माना गया। बिना इतिहासकार के किसी विशेष दृष्टि को निर्मित कर सकना संभव नहीं। हेरोडोटस को प्रथम इतिहासकार स्वीकार किये जाने का कारण भी यही था, क्योंकि उनसे पूर्व न्यायालयों में सामूहिक इतिहास–लेखन किया जाता था। इतिहासकार का कार्य केवल तथ्यों को कालक्रमानुसार प्रस्तुत करने तक सीमित नहीं किया गया। यह माना गया कि सभी तथ्य इतिहास में आवश्यक नहीं होते बल्कि इतिहासकार इतिहास–लेखन में तथ्यों का चयन कर उन्हें एक कथा रूप में पिरोने का कार्य करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इतिहासकार तथ्यों का चयन कर उनके बीच संगति बैठाकर उन्हें एक निश्चित अर्थ की ओर ले जाता है। अतः इस तरह इतिहासकार की भूमिका केवल तथ्यों को प्रस्तुत कर देने तक ही न रखकर उससे ऊपर स्वीकार की गई।

जबकि भारतीय–इतिहास अतीत के यथावत् चित्रण से इतर मनुष्य के आध्यात्मिक विकास को लक्ष्य करता है। वह अतीत से अधिक वर्तमान को महत्व देता है। उसका लक्ष्य वर्तमान–कर्मों के माध्यम से भविष्य को उज्ज्वल करना है। इसीलिए वह अतीत में आदर्शों की खोज करता है ताकि उन आदर्शों के माध्यम से वह वर्तमान कर्मों को अच्छा कर सके। वह अतीत के आदर्शात्मक–लेखन द्वारा मूल्य–व्यवस्था को निर्मित करते हैं। अतीत की वस्तु इस मूल्य–व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करती है। यही कारण है कि अतीत के कथ्य के माध्यम से भारतीय मनीषी आदर्शात्मक–लेखन को महत्व देता है।

तृतीय अध्याय

मध्यकाल में साहित्येतिहास : स्वरूप एवं विविधता

3.1 मध्यकालीन इतिहास एवं समाज

3.2 मध्यकालीन साहित्य का स्वरूप

3.3 मध्यकाल में साहित्य तथा इतिहास का अंतःसंबंध

तृतीय अध्याय : मध्यकाल और वार्ता–साहित्य : स्वरूप एवं विविधता

भारतीय इतिहास का प्रथम जागरण 'भक्तिकाल' को स्वीकारा जाता है। भक्ति की यह धारा दक्षिण में उपजी तथा उत्तर तक प्रसारित हुई। इसका क्षेत्र पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण तक व्यापक था। इसे भारतीय जन जागरण भी कहा गया। 'भक्तिकाल' नाम के अनुरूप 'भक्ति' ही इस युग का केन्द्रीय तत्व रहा। इसी का आधार ग्रहण कर भक्त एवं संतों ने धार्मिक कर्मकाण्ड, सामाजिक असमानता, जातिगत विभेद आदि रूढ़ियों का खण्डन कर समानता की भावना को प्रचारित किया। यह कार्य भक्ति को केन्द्र में रखकर किया गया। 'राम को भजै सो राम का होई' की भावना को पुष्ट करते हुए सभी को समान धरातल पर स्वीकार किया गया। वही तत्कालीन सामाजिक असंतोष तथा विखण्डन के दौर में 'भक्ति' की ओर उन्मुख होने का कार्य हुआ। व्यापकता तथा मंगलकारिता की भावना के अतिरिक्त भक्तिकाल की महत्ता को विभिन्न दृष्टियों से भी आँका गया। तत्कालीन परिवहन साधनों की न्यूवता के अभाव में इतना व्यापक प्रसार भक्तिकाल के वैशिष्ट्य को प्रदर्शित करता है। साथ ही भक्ति की सहज स्वाभाविक गति को भी स्पष्ट करता है। राजा से रंक तक सभी वर्ग में भक्ति का समान प्रचार हुआ। संप्रदाय तथा व्यक्ति दोनों स्तरों पर भक्ति को प्रचारित किया गया। सामूहिक प्रयासों की प्रशंसा की गई तथा उन प्रयासों में सहायक महापुरूषों को स्मरण किया गया। स्मरण करने की यह परंपरा प्राचीन काल से ही भारतीय वाङ्गमय में दृष्टिगोचर होती है। राजा–महाराजाओं से इतर ऋषि–मुनियों, साधु–सन्यासियों, भिक्षु–भिक्षुणियों का स्मरण विभिन्न ग्रन्थों में हुआ है। यही परंपरा भक्तिकाल में अनुकृत हुई। भक्ति को आमजन से जोड़ने में संत, भक्त, कवि, आचार्य आदि की भूमिका महत्वपूर्ण थी। महान व्यक्तियों को स्मरण करने की यह परंपरा मध्यकाल में 'वार्ता–साहित्य' के रूप में विकास करती है।

3.1 साहित्य, इतिहास एवं समाज

भारत के इतिहास में 'मध्यकाल' उथल–पुथल का काल था। इस दौरान कई तरह के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, भाषिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन हुए। यह सभी परिवर्तन जटिल रूप से मध्कालीन प्रवृत्तियों का विकास करते हैं। यहाँ एक स्पष्टीकरण आवश्यक है कि भारत का 'मध्यकाल' (711 ई.–1850 ई.) और हिंदी साहित्य का 'मध्यकाल' (1375 ई.–1857 ई.) दो भिन्न समय–सीमा को अभिहित करते हैं। इसलिए इन्हें क्रमशः 'भारतीय मध्यकाल' तथा 'साहित्यिक मध्यकाल' नाम से चिंहित किया जायेगा। इतिहास से सामान्य अभिप्राय राजनीतिक इतिहास से लिया जाता है। भारत का सामान्य इतिहास–लेखन राजनीतिक है। इसीलिए राजशाही शासन को केन्द्र में रखते हुए इतिहास का सीमांकन किया गया है। भारतीय मध्यकाल का आरम्भ हर्षवर्धन के पतन के साथ आरम्भ होता है। यह पतन भारतीय राजनीति में

युगीन–परिवर्तन लाता है। देखा जाये तो हर्षवर्धन अंतिम हिन्दू शासक है, जिसका शासन बड़े व्यापक क्षेत्र पर था। हर्ष के पतन के साथ छोटे–छोटे शासकों का उद्‌भव होता है। यह शासक पूर्व में भी स्वतंत्र शासन के लिए केन्द्रीय सत्ता से संघर्ष करते रहे थे। हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरांत इन्हें अपने को स्वतंत्र घोषित करने का अवसर मिल गया।

हर्षवर्धन की मृत्यु 647ई. में होती है। सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक भारत में तीन बड़े राज्य उत्पन्न होते हैं। वैसे तो यह तीन बड़े राज्य गुप्त–साम्राज्य के समान विस्तार नहीं पाते। परन्तु फिर भी यह तीनों राज्य अपना प्रभाव सम्पूर्ण भारत पर छोड़ते हैं। यह तीन साम्राज्य – पाल साम्राज्य, प्रतिहार साम्राज्य तथा राष्ट्रकूट साम्राज्य – है। पाल साम्राज्य नवीं सदी के मध्य तक पूर्वी भारत पर शासन करता है। प्रतिहारों का शासन दसवीं सदी के मध्य तक पश्चिम भारत और गंगा की ऊपरी वादी तक विस्तारित होता है। वहीं राष्ट्रकूट साम्राज्य दक्कन पर शासन करते हुए समय–समय पर उत्तर और दक्षिण भारत के इलाकों को भी नियंत्रित करता रहा है। इन तीनों शासनों के संदर्भ में बिपिन चंद्र लिखते हैं –

> ''हालाँकि ये साम्राज्य आपस में लड़ते रहते थे, पर इनमें से हर एक ने बड़े–बड़े क्षेत्रों में स्थिर जीवन की परिस्थितियाँ प्रदान कीं, कृषि का विस्तार किया, तालाबों और नहरों का निर्माण कराया तथा कला और साहित्य को संरक्षण प्रदान किया जिसमें मंदिर भी शामिल थे।''[1]

अतः इन तीनों शासनों का उद्देश्य अधिक–से–अधिक क्षेत्रों तक शासन–विस्तार करना था। इसी कारण इनके बीच संघर्ष स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। कन्नौज और उत्तर भारत पर नियंत्रण के लिए पाल, प्रतिहार तथा राष्ट्रकूट साम्राज्यों के बीच त्रिपक्षीय संघर्ष होता रहा। अतः सत्ता–विस्तार के लिए युद्ध–संघर्ष बलवती हुए, जिस कारण यह सत्ताएँ सामरिक दृष्टि से कमजोर होती गईं।

पाल साम्राज्य की स्थापना संभवतः 750 ई. में 'गोपाल' ने की थी। गोपाल किसी शाही परिवार या ऊँचे परिवार में जन्मा नहीं था और ना ही उसके पिता कोई सैनिक थे। बल्कि उसका चयन उस क्षेत्र में व्याप्त अराजकता को समाप्त करने के लिए क्षेत्र के अग्रणी व्यक्तियों द्वारा किया गया था। गोपाल के शासन में बंगाल का एकत्रीकरण हुआ। बंगाल का क्षेत्र पाल–साम्राज्य के अधीन आ गया। 770ई. में 'धर्मपाल' वंशानुक्रम से राजा बना। इस दौरान प्रतिहार राजा ने गौड़–देश (बंगाल) पर चढ़ाई की लेकिन राष्ट्रकूट राजा ध्रुव के आक्रमण के कारण वह पराजित हो गया। इसके बाद वह राजस्थान के रेगिस्तान में शरण लेने के लिए बाध्य हुआ। इसके बाद ध्रुव भी दक्कन लौट गया। इस कारण धर्मपाल को सत्ता विस्तार का अवसर प्राप्त हुआ और उसने कन्नौज पर अपना शासन स्थापित किया। धर्मपाल का शासन उत्तर–पश्चिम सीमा के आखिरी छोर तक फैला हुआ था। धर्मपाल का विजयकाल 790ई. से 800ई. तक था। लेकिन उत्तर–भारत पर वह अधिक समय तक अपना अधिकार बरकरार नहीं रख सका। नागभट्ट द्वितीय के समय में प्रतिहारों की शक्ति का पुनरुत्थान हुआ। मुंगेर के समीप धर्मपाल को हार मिली। बिहार और वर्तमान पूर्वी प्रदेश पाल तथा प्रतिहारों के बीच संघर्ष का कारण बना। हालाँकि बंगाल के अलावा अधिकतर बिहार पर पालों का शासन रहा। उत्तर में मिली हार ने पालों को अन्य दिशाओं में सत्ता–विस्तार के लिए बाध्य किया। धर्मपाल का बेटा

[1] चन्द्र, बिपीन, मध्यकालीन भारत : राजनीति, समाज और संस्कृति, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, दिल्ली, पृ.सं. 12

810ई. में गद्दी पर बैठा और 40 वर्षों तक शासन किया। उसने अपना शासन प्रागज्योतिषपुर (असम) और उड़ीसा के कुछ भागों तक बढ़ाया। संभवतः आधुनिक नेपाल का एक भाग भी पालों के अधीन आया। अतः आठवीं शती के मध्य से नौवीं शती के मध्य तक पूर्वी भारत पर पालों का अधिकार रहा।

हर्षवर्धन के बाद उत्तर–भारत को प्रभावित करने वाले साम्राज्य में 'प्रतिहार' भी एक थे। मध्य तथा पूर्वी राजस्थान में प्रतिहारों ने कई रजवाड़े स्थापित किये। इनका संघर्ष राष्ट्रकूट–साम्राज्य से भी होता रहा। दरअसल यह संघर्ष मालवा और गुजरात के क्षेत्रों को अधिकार में लेने के उद्देश्य से होता था। बाद में यह संघर्ष कन्नौज को लेकर भी होने लगा, जिसका अर्थ था गंगा की ऊपरी घाटी पर नियंत्रण। दूसरी तरफ प्रतिहारों का संघर्ष पाल–साम्राज्य से भी होता रहा, जिसका उल्लेख उपर्युक्त किया जा चुका है। प्रतिहारों के कन्नौज तथा मालवा के विस्तार के आरम्भिक प्रयासों को राष्ट्रकूट शासक ध्रुव और गोपाल तृतीय ने नाकाम किया। राष्ट्रकूटों ने 790ई. तथा 806–07ई. में प्रतिहारों को हराया। दरअसल राष्ट्रकूटों का उद्देश्य मालवा तथा गुजरात पर वर्चस्व रखना था। इसलिए प्रतिहारों को हराकर वह पुनः दक्षिण की ओर लौट गये। अतः प्रतिहारों का सुदृढ़ीकरण आरम्भिक प्रयासों में विफल ही रहा। प्रतिहारों तथा राष्ट्रकूटों के संघर्षों का फायदा सीधे तौर पर पाल–साम्राज्य को प्राप्त हुआ तथा उत्तर–भारत के क्षेत्रों पर पालों का नियंत्रण बना रहा। परन्तु यह नियंत्रण भी अस्थिर ही रहा। प्रतिहारों का पुनः सुदृढ़ीकरण हुआ। प्रतिहार वंश का महानतम शासक राजा भोज था। उसने प्रतिहार–साम्राज्य का पुनर्निर्माण किया तथा 836ई. के आसपास कन्नौज को दोबारा जीत लिया, जो लगभग एक सदी तक प्रतिहार साम्राज्य की राजधानी रही। भोज ने पूर्व में भी नियंत्रण बनाने का प्रयास किया परन्तु पाल राजा देवपाल ने उन प्रयासों को विफल कर दिया। इसके बाद वह मध्यभारत, दक्कन और गुजरात की ओर बढ़ा। इसके बाद राष्ट्रकूट एवं प्रतिहारों के बीच दोबारा संघर्ष आरम्भ हुआ। नर्मदा पर हुए एक संघर्ष में भोज ने मालवा का अधिकांश भाग तथा गुजरात के कुछ क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु वह दक्कन की ओर नहीं बढ़ सका। वहीं बाद में देवपाल के मरने तथा पाल साम्राज्य के कमजोर होने पर भोज ने प्रतिहार साम्राज्य का विस्तार पूर्व की ओर भी किया। भोज की मृत्यु संभवतः 885ई. के आसपास होती है। भोज के बाद उसका पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम उत्तराधिकारी हुआ। 908ई.–909ई. तक राज्य करते हुए उसने भोज के साम्राज्य को कायम रखा। 915ई. और 918ई. के बीच राष्ट्रकूट राजा इंद्र तृतीय ने फिर कन्नौज पर आक्रमण कर कन्नौज को तबाह कर दिया। इससे प्रतिहार साम्राज्य कमजोर हुआ। गुजरात राष्ट्रकूटों के अधिकार में चला गया। 963ई. में राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय ने उत्तर भारत पर प्रहार करते हुए प्रतिहार राजा को हराया। इसके बाद से ही प्रतिहार साम्राज्य तेजी से विघटित होता चला गया।

हर्षवर्धन के बाद उभरे साम्राज्यों में तीसरा साम्राज्य राष्ट्रकूटों का था। पालों और प्रतिहारों के समानांतर दक्कन में राष्ट्रकूटों का प्रभुत्व था। इस साम्राज्य में अनेक योद्धा एवं कुशल शासक हुए। इस साम्राज्य की स्थापना दंतिदुर्ग ने की थी। दंतिदुर्ग ने शोलापुर के पास मान्यखेत या मलखेड़ को अपनी राजधानी बनाया। जल्द ही पूरा महाराष्ट्र राष्ट्रकूटों के अधिकार में आ गया। उत्तर में गुजरात तथा मालवा को अधिकार में लेने के लिए राष्ट्रकूटों का संघर्ष प्रतिहारों से होता रहा, जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। वहीं दक्कन में उसका संघर्ष वेंगी (आधुनिक आंध्रप्रदेश में स्थित) के पूर्वी चालुक्यों, दक्षिण में कांची के

पल्लवों तथा मदुरै के पांड्यों से भी होता रहा। उत्तर में राष्ट्रकूट के संघर्ष भले ही उन्हें गंगा–घाटी में स्थापित नहीं कर पाते। परन्तु इन संघर्षों से उन्हें भारी दौलत की प्राप्ति होती है। राष्ट्रकूट राजाओं में गोविन्द तृतीय (793ई.–814ई) और अमोघवर्ष (814ई.–878ई.) सबसे महान थे। गोविन्द तृतीय ने दक्षिण में अपना भय कायम किया। सतीश चन्द्र लिखते हैं –

> ''एक शिलालेख से हमें पता चलता है कि गोविन्द ने 'केरल, पांड्य और चोल राजाओं को भयभीत कर दिया तथा पल्लवों का तो विनाश ही हो गया।''[2]

अतः दक्कन में राष्ट्रकूटों का प्रभाव बड़ा गहरा था। इस प्रभाव को अमोघवर्ष ने बनाए रखा। अमोघवर्ष ने 64 वर्षों तक शासन किया। उसने मान्यखेत को अभेद बनाया। अमोघवर्ष के समय में ही विस्तृत राष्ट्रकूट शासन में अनेक विद्रोह हुए, जिन्हें बड़ी मुश्किल से संभाला जा सका। लेकिन उसकी मृत्यु के बाद ये फिर से शुरू हो गये। पीछे साम्राज्य की पुनर्स्थापना उसके पोते इंद्र तृतीय (915ई.–927ई.) ने की। महीपाल की पराजय तथा कन्नौज की लूट के बाद वह अपने समय का सबसे शक्तिशाली राजा बन गया। राष्ट्रकूट के अंतिम प्रभावशाली शासक में कृष्ण तृतीय (934ई.–963ई.) था। मालवा के परमारों तथा वेंगी के पूर्वी चालुक्यों के साथ वह युद्धरत रहा। उसने तंजावुर के चोल राजाओं के खिलाफ भी अभियान किया, जिन्होंने कांची के पल्लवों को विस्थापित किया था। कृष्ण तृतीय ने चोल राजा परटंक प्रथम (949ई. में) को हराया और चोल साम्राज्य के उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया। उसकी मृत्यु के बाद सभी विरोध उसके उत्तराधिकारी के खिलाफ एकजुट हुए। राष्ट्रकूट राजधानी मलखेड़ को 972ई. में लूटकर जला दिया गया। इस तरह राष्ट्रकूट राजाओं का अंत हो गया।

बहरहाल हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद यह राजनीतिक स्थिति थी, जिसमें तीन प्रमुख साम्राज्य का उत्थान तथा पतन तीन–सौ वर्षों के अंतर्गत होता है। यह तीनों साम्राज्य पूर्व में विद्यमान केन्द्रीय सत्ता के रूप में स्थापित न होकर क्षेत्रीय राजशाही की स्थापना करते हैं। सांस्कृतिक रूप से देखा जाये तो भारत का पश्चिम (प्रतिहार शासन), पूर्व (पाल शासन) तथा दक्षिण (राष्ट्रकूट शासन) भिन्न संस्कृतियों का वहन करता है। यह आपस में आंतरिक रूप से साम्य तो रखते हैं परन्तु बाह्य कर्मकाण्ड, रीति–रिवाज, रहन–सहन आदि की दृष्टि से इनका अपना वैशिष्ट्य है। वैसे तो यह तीनों साम्राज्य विस्तृत क्षेत्र में अपना अधिकार जमाते हैं परन्तु कोई भी हर्षवर्धन के समान एक केन्द्रीय सत्ता स्थापित नहीं कर पाते। अतः इन क्षेत्रीय राजशाही की स्थापना से स्थानीय संस्कृति एवं सभ्यता को बढ़ावा मिलता है। स्थानीय संस्कृति को बढ़ावा मिलने से लोक–चेतनायुक्त 'भक्ति–आन्दोलन' की पृष्ठभूमि तैयार होती है। यह लोक–चेतना ही भक्ति–आन्दोलन को प्रगतिशील बनाती है।

उत्तर में कन्नौज पर अधिकार के लिए यह तीनों शासन निरंतर संघर्षरत रहे, जिस कारण इनकी सामरिक स्थिति कमजोर हुई। यह संघर्ष सामान्यतः शासन–विस्तार के निमित्त होते थे। कई बार तो इनके बीच युद्धों का कारण बाहूबल का प्रदर्शन करना भी होता रहा। प्रतिहार एवं पालों के बीच इन युद्धों का एक कारण कन्नौज था। कन्नौज के व्यापक राजनीतिक मायने थे। कन्नौज पर अधिकार से अभिप्राय सम्पूर्ण उत्तर–भारत पर शासन करना था। इसका कारण उसकी भौगोलिक स्थिति थी। कन्नौज गंगा का उत्तरी

[2] चन्द्र, बिपीन, मध्यकालीन भारत : राजनीति, समाज और संस्कृति, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, दिल्ली, पृ.सं. 18

घाटी क्षेत्र है, जहाँ भूमि की उर्वरक स्थिति मध्यकालीन शासन की आर्थिक–समृद्धि के अनुकूल थी। पूर्व में उपस्थित साम्राज्यों में 'कन्नौज' की स्थिति शासकीय–केन्द्र के रूप में थी। तो दूसरी ओर कन्नौज की अवस्थिति उत्तर–भारत के मध्य में थी। अतः इस रूप में भारत के पूर्वी तथा पश्चिमी क्षेत्र पर अधिकार बनाये रखना सरल था। एक प्रकार से कहा जाये तो सम्पूर्ण भारत पर अधिकार जमाना था। इसीलिए प्रतिहारों तथा पालों का संघर्ष इस क्षेत्र को अपने अधीन करने का रहा। परन्तु दोनों में से कोई भी इस क्षेत्र पर स्थायी शासन कायम नहीं कर पाया। इन दोनों शासनों के बीच राष्ट्रकूट शासन का हस्तक्षेप भी निर्णायक था। इन तीनों साम्राज्यों के त्रिवर्गीय–संघर्ष के परिणाम दूरगामी थे। राष्ट्रकूट राजा 'ध्रुव' के समय प्रतिहारों की शक्ति का ह्रास इसी त्रिवर्गीय–संघर्ष का परिणाम है। अतः हर्षवर्धन के समान कोई भी सम्पूर्ण भारत पर केन्द्रीय शासन की नींव नहीं रख पाया। केन्द्रीय–सत्ता के ना होने तथा शेष साम्राज्यों के बीच आपसी संघर्ष से बाह्य आक्रांताओं को सत्ता–स्थापन की अनुकूल स्थिति प्राप्त हुई।

हर्षवर्धन का पतन केवल राजनीतिक दृष्टि से ही युग–परिवर्तन को परिभाषित नहीं करता। बल्कि उस परिवर्तन के धार्मिक तथा सांस्कृतिक मायने भी थे। दरअसल भारतीय–शासन व्यवस्था राजनीति के साथ–साथ धर्म एवं संस्कृति के संरक्षक की भूमिका में भी दिखाई देती है। 'राजशाही' धर्म का संबल प्राप्त कर अपने को सुदृढ़ करने का कार्य करती है तो 'धर्म' राजशाही का संरक्षण प्राप्त कर स्वयं को प्रचारित प्रसारित करता है। इसी कारण राजाओं के शासन के साथ–साथ धर्म की सत्ताएँ भी जीवित रही। भारतीय धर्म (हिन्दू, बौद्ध एवं जैन) की उपस्थिति इन्हीं समीकरणों के साथ सुदृढ़ता को प्राप्त करती है। तो कभी–कभी धार्मिक संघर्ष की यह स्थिति राजनैतिक संघर्षों के रूप में भी रूपांतरित होती दिखती है। हिन्दू एवं बौद्ध धर्म के बीच का संघर्ष इसका प्रबल उदाहरण है। भारतीय धर्मों के बीच संघर्ष की इस स्थिति के साथ–साथ एक तीसरा पक्ष इस्लाम के रूप में मध्यकाल में उपस्थित होता है। इस्लाम के आगमन के साथ भारत में मौजूद राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक–स्थितियाँ अनेक संश्लिष्टताओं के साथ विकास करती हैं। एक ओर जहाँ इस्लाम केन्द्रीत शासन से भारतीय धर्म–व्यवस्था को आहत करता है तो दूसरी ओर वह हिन्दू और इस्लाम धर्म के बीच कुछ समन्वयकारी परिणाम भी लाता है।[3] यह समन्वयकारी परिणाम सांस्कृतिक रूप में विकास करते हुए मध्यकाल की भाषा एवं साहित्यिक वातावरण को भी गहराई से प्रभावित करते हैं। देखा जाये तो निर्गुण भक्तिधारा पर इसका सबसे अधिक प्रभाव दिखता है। एक तरफ मुस्लिम रचनाकार भारतीय जनजीवन की गहन अनुभूति को एकेश्वरवाद के साथ अभिव्यक्ति देते हैं। तो दूसरी ओर संत–साहित्य इस्लाम की विद्रोही–चेतना को ग्रहण कर हिन्दू रूढ़ियों का जमकर विरोध करता है। हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति का संघर्ष संश्लिष्ट समीकरणों में परिणत होता है। मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव भारतीय कलाओं पर पड़ता है। मुस्लिम आक्रांताओं के आगमन हिन्दू धर्म के संरक्षण को महत्व देते हुए सगुण भक्ति खड़ी होती है। मुस्लिम आक्रांताओं से हिन्दू धर्म की

[3] ''यह भक्ति आन्दोलन सच पूछ जाये तो अपने समय की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों की अनिवार्य देन था। वह युग जीवन की ऐतिहासिक मांग बनकर सामने आया था। इस तथ्य का अनुमान महज इस बात से लगाया जा सकता है कि इसने न केवल अपने समय की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जड़ता को तोड़ा, चली आती हुई सांस्कृतिक जीवन की धारा के साथ विजेताओं की नयी संस्कृति को घुलाते–मिलाते हुए पहली बार जाति, वर्ग आदि से निरपेक्ष एक मानव धर्म तथा एक मानव संस्कृति की परिकल्पना सामने रखी।'' मिश्र, शिवकुमार, भक्तिकाव्य और लोकजीवन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2013, पृ.सं. 46

रूढ़िग्रस्त–सत्ता का इजारा टूटता है। तो दूसरी ओर 'हिन्दू' रूढ़ियों का विरोध करते हुए प्रगतिशील हिन्दू–चेतना को प्रस्तुत करते हैं। भक्तिकालीन–चेतना में यह द्रष्टव्य है।

भारत में धर्म सत्ताओं के साथ–साथ भाषिक–सत्ता का भी संबंध रहा है। हिन्दू–धर्म जहाँ संस्कृत को महत्ता देता है वहीं बौद्ध–धर्म पालि को प्रश्रय देता है तो जैन–धर्म के ग्रन्थ प्राकृत में लिखे मिलते हैं। दरअसल भारत में धर्म–भाषा–संबंध प्रबल रूप से भारतीय समाज एवं संस्कृति को प्रभावित करता आया है। 'भाषा' एक ओर धर्म का वाहक बनता है तो दूसरी ओर 'धर्म' भाषा के माध्यम से धार्मिक शुचिता बनाये रखने का प्रयास करता है। हर्षवर्धन का पतन इन्हीं बहुआयामित परिस्थितियों में अर्थगर्भित (मध्यकाल के विकास में) होता है। यदि भाषागत विकास को देखे तो सातवीं शती से ही अपभ्रंश का विकास दिखाई पड़ता है। यह वही समय है जब हर्षवर्धन की सत्ता समाप्त होती है। दरअसल अपभ्रंश का विकास एक प्रकार से आधुनिक आर्य भाषाओं के विकास की ओर अग्रसर होना है, क्योंकि आधुनिक आर्य भाषाएँ 'अपभ्रंश' की पृष्ठभूमि में विकास करती हैं। 'अपभ्रंश' का समय 7वीं शती से 10वीं शती तक है। अतः अपभ्रंश–काल मूलतः आधुनिक भाषाओं के विकास से पूर्व का संक्रमण–काल है। 'अपभ्रंश भाषा' के विकास को उसके 'भाषा' अर्थ में प्रयोगों के आधार पर लगाया जा सकता है। 'अपभ्रंश' शब्द का देशज रूप अपभ्रष्ट तथा अवहट्ट है। नामवर सिंह लिखते हैं –

> ''भारतीय आर्यभाषा के विकास की जो अवस्था अपभ्रंश नाम से जानी जाती है, उसके लिए प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में अपभ्रष्ट और अपभ्रंश तथा प्राकृत–अपभ्रंश ग्रन्थों में अवब्भंस, अवहंस, अवहत्थ, अवहट्ठ, अवहठ, अवहट आदि नाम मिलते हैं।''[4]

अपभ्रंश का सामान्य अर्थ भ्रष्ट, च्युत, स्खलित, विकृत अथवा अशुद्ध है। अर्थात् भाषा के सामान्य मानदण्ड से जो शब्द–रूप च्युत हों, वे अपभ्रंश है। 'अपभ्रंश' भाषा के अर्थ में छठीं शती में प्रयोग हुआ परन्तु विशेषण रूप में उसका प्रयोग भरत के समय से मिलता आया है। सरल शब्दों में कहा जाये तो शास्त्रीय भाषा से इतर लोकभाषा के शब्दों के लिए ही अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है। भाषा–विशेष के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग छठीं शती ईसा के आसपास मिलता है। दरअसल यह वहीं दौर है जब हर्षवर्धन की केन्द्रीय सत्ता की समाप्ति के साथ–साथ संस्कृत की भी शास्त्रीय सत्ता प्रभावित होती है। अतः अपभ्रंश का उद्भव एक ओर तो संस्कृत की रूढ़िग्रस्तता का परिणाम है तो दूसरी ओर केन्द्रीय–राजतंत्र के स्थान पर क्षेत्रीय–राजतंत्र की स्थापना का। क्षेत्रीय–राजतंत्र अपभ्रंश की लोकोन्मुख दृष्टि को प्रचारित–प्रसारित करने की अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित करता है। अपभ्रंश के क्षेत्रीय रूपों का विकास इसी दौर में होता है। अतः हिंदी का विकास मूलतः लोकभाषाओं का विकास है।

भारतीय मध्यकाल का आरम्भ भारतीय शासन के पतन तथा मुस्लिम आक्रांताओं के साथ माना जाता है। इस दौरान एक ओर भारतीय शासन व्यवस्था में उतार–चढ़ाव आते हैं, वहीं दूसरी ओर भारत एक नई धर्म एवं संस्कृति से आत्मसात् होता है। इन राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव धार्मिक स्थितियों में भी बदलाव

---

[4] सिंह, नामवर, हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, वर्तमान संस्करण 2010, पृ.सं. 19

लाता है। मध्यकालीन भारत की धार्मिक–व्यवस्था में एक ओर 'धर्म' की सनातन परंपरा या हिन्दू परंपरा (जो कि भारत में ही विकसित होती है) दिखाई देती है। तो दूसरी ओर बाह्य आक्रान्ताओं का इस्लाम धर्म अपने को स्थापित करता है। धार्मिक परिस्थितियों में इस्लाम के आगमन के साथ नवीन–संश्लिष्ट–रूपरेखा में सामाजिक–सांस्कृतिक बदलाव भी निर्मित होते हैं। इन्हीं दो धाराओं में मध्यकालीन धार्मिक परिस्थितियाँ आकार लेती हैं। 'भारतीय मध्यकाल' की पूर्वपीठिका में हिन्दू, बौद्ध तथा जैन धर्म की विस्तृत परंपरा उपस्थित है, जो कि समय की धारा में विकृत होती है।

भारत में 'हिन्दू धर्म' का संगठनात्मक विकास नहीं होता। हाँ, यह अवश्य है कि बौद्ध तथा जैन धर्म में एक संस्थागत, संगठनात्मक व्यवस्था अवश्य निर्मित होती है। बौद्ध–धर्म में जहाँ महात्मा बुद्ध केन्द्रीय पुरूष बनते हैं, वही स्थिति जैन–धर्म में महावीर की दिखाई देती है। बौद्ध–धर्म संघ–व्यवस्था का अनुकरण कर धार्मिक प्रचार–प्रसार का कार्य करता है। जबकि हिन्दू–धर्म में इस प्रकार का संस्थागत रूप बहुत बाद में विकसित होता है। हिन्दू–धर्म एक ऐसे तालाब के रूप में विकास करता है जो समय के साथ बूँद–बूँद से बना है। हिन्दू धर्म या सनातन धर्म क्रमशः अंशों के जोड़ का पूर्णत्व रूप है। अंश से पूर्णत्व तक का यह सफर मौखिक प्रक्रिया का अनुकरण करता है। यदि वेदों की बात की जाये तो वह भी एक संकलन है। वह मौखिक परंपरा की क्रमिक परिणति है। श्रुत परंपरा में निर्मित होने के कारण वेदों को 'श्रुति' भी कहा गया है। इस श्रुत परंपरा में भिन्न–भिन्न ऋषि–मुनियों के अन्वेषण से प्राप्त सूत्रों का वेदों में संकलन किया गया है। भारत में हिन्दू धर्म का विकास इसी प्रक्रिया का अनुगमन करता है। भागवत धर्म के विकास में विष्णु, वासुदेव, श्रीकृष्ण, राम आदि का समय के साथ जो जुड़ाव होता है वह किसी एक व्यक्ति द्वारा कहे जाने से नहीं बनता बल्कि समय के साथ–साथ इनके बीच का संबंध निर्मित होता है। विष्णु के चौबीस अवतारों की कल्पना ऐसे ही समय–विस्तार में निर्मित होती है। इसीलिए भी हिन्दू धर्म समय के साथ पतनोन्मुख होते हुए भी पुनः खड़ा होता है। पूर्व में ही यह धर्म अपनी चरम अवस्था से होकर पतनोन्मुख होते हैं। अतः इन धर्मों की दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना मध्यकाल से पूर्व ही परिपक्वता को प्राप्त कर चुकी है। इनके आदर्श लोक में स्थापित तथा अनुकरणीय थे। इनके बीच आपसी संघर्ष की भी लम्बी परंपरा वर्तमान थी।

मध्यकाल तक आते–आते हिन्दू धर्म अनेक शाखाओं में विभक्त था। यह शाखाएँ – वैष्णव, शैव, शाक्त, स्मार्त आदि – विविध रीतियों से ईश्वर उपासना पर जोर देती थी। इन्हीं शाखाओं के अंतर्गत दार्शनिक–चिंतन की लम्बी परंपरा मध्यकाल से पूर्व में ही वर्तमान थी। अतः मध्यकाल में इन शाखाओं की मूल चेतनाभूमि पर नये दर्शन को स्थापित करने का प्रयास किया गया। दरअसल यह नूतन दर्शन धार्मिक–संप्रदायों की स्थापना की पूर्व प्रक्रिया थी। मध्यकाल में संप्रदाय–स्थापना की एक शर्त नवीन दार्शनिक मत की उपस्थिति होना भी था। इसीलिए तत्कालीन संप्रदायाचार्यों ने नवीन दार्शनिक मत की स्थापना का प्रयास किया। इसी के साथ–साथ नवीन दर्शन को प्रस्तुत करते हुए अपने मत को सर्वोपरि दिखाने की भावना भी प्रबल हुई। अपने मत को स्थापित तथा लोक में प्रचारित करने के लिए 'काव्य–रूप' इन संप्रदायों का माध्यम बने। यही नही स्वयं को श्रेष्ठ दिखाने के लिए संप्रदाय के भक्तों एवं आचार्यों का गुणगान भी किया जाता है। नूतन दर्शन के साथ–साथ संप्रदाय की स्थापना भी मध्यकाल का एक प्रमुख उद्देश्य था। इसीलिए मध्यकाल में सगुण–निर्गुण

धारा के अनेक संप्रदाय अस्तित्ववान होते हैं। यह संप्रदाय भक्ति के व्यापक प्रवाह में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। दरअसल मध्यकालीन भक्ति–चेतना किसी केन्द्र से नियंत्रित होकर नहीं चलती। बल्कि यह संप्रदाय ही भक्ति को स्थायित्व प्रदान करते हैं। इन संप्रदायों का प्रभाव क्षेत्रीय था। अतः मध्यकाल में अनेक संप्रदायों का अस्तित्ववान होना खण्ड से अखण्ड की प्रक्रिया को निर्मित करता है। क्षेत्रीय जनसमूह में भक्ति की भावना पुष्ट करने का कार्य यह संप्रदाय करते हैं। अतः क्षेत्रीय प्रभाव उत्पन्न करने के अनेक संप्रदाय भक्ति को जनजागरण का रूप देते हैं।

वेद–सम्मत धर्मों तथा अवैदिक धर्मों के बीच संघर्ष पूर्व से ही वर्तमान रहा है। अवैदिक धर्मों में जहाँ बौद्ध तथा जैन आते हैं। वहीं वैदिक धर्मों में वैष्णव, शैव, शाक्त आदि को सम्मिलित किया जाता है। इनके बीच यह संघर्ष हिंसक रूप भी अख्तियार करता है। मध्यकाल की पृष्ठभूमि में यह संघर्ष आदिम समय से सजीव रहा है। धर्म–संघर्ष की पूर्वपीठिका में वैदिक तथा अवैदिक की दृष्टि मध्यकाल में भी दिखाई पड़ती है। इसका आभास शंकराचार्य की प्रशस्तियों में दिख जाता है। भक्तमाल में नाभादास लिखते हैं –

'उतसृंखल अग्यान जिते अनईस्वरबादी।
बुद्ध कुतर्की जैन और पाखंडहि आदी।।
बिमुखनि को दियो दंड ऐंचि सन्मारग आने।'[5]

नाभादास का समय भक्तिकाल का उत्तरार्द्ध है। दरअसल वार्ता–साहित्य का स्वरूप लोक–जनमानस को स्थान देता है। अतः भक्तमाल में बौद्ध और जैनों के संबंध में इस प्रकार की दृष्टि तत्कालीन लोकमानस को ही दिखाती है। संभव है कि मध्यकाल तक आते–आते बौद्ध–धर्म का प्रभाव क्षीण हो चुका था। इसी कारण भक्तिकाल एवं रीतिकाल में बौद्ध साहित्य लगभग ना के बराबर ही मिलता है।

वैदिक–अवैदिक संघर्ष से इतर हिन्दू धर्म अनेक शाखाओं में विभक्त था। इन शाखाओं में भी स्वयं को उत्कृष्ट दिखाने पर जोर था। यह संघर्ष वैष्णवों एवं शैवों में अधिक था। इसीलिए तुलसीदास के साहित्य में 'राम' शिव की भक्ति करते हुए तथा 'शिव' राम को अपना इष्ट बताते हुए दिखते हैं। दरअसल 'भक्ति' सभी को समान अधिकार प्रदान करती है। तुलसीदास की समन्वयवादी दृष्टि धार्मिक–कर्मकाण्ड एवं बाह्य रीतियों के आधार पर प्रचलित संघर्षों को समाप्त करते हुए उनमें प्रेम स्थापित करने का प्रयास करती है। ऐसा करते हुए उन्हें तत्कालीन पण्डितों का भी सामना करना पड़ा। रामकथा को लोकभाषा में लिखने पर भी उन्हें अनेक प्रताड़नाएँ झेलनी पड़ी। गोकुलनाथ नंददास की वार्ता में इसका उल्लेख करते हैं। अतः भक्तिकाल में हिन्दू धर्म आंतरिक–मंथन से भी गुजरता हुआ आलोकित होता है। मध्यकाल में बाह्य आक्रांताओं के कारण इस्लाम से इतर धर्मों की स्थिति संकटग्रस्त होती है, जिस कारण धार्मिक–शुद्धता के नाम पर अनेक कर्मकाण्डों का प्रचलन आरम्भ होता है। मुस्लिम शासन में हो रहे धार्मिक प्रहार इन कर्मकाण्डों को कट्टरता प्रदान करते हैं। इस्लामी–एकछत्रता को स्थापित करने के लिए जजिया जैसे धार्मिक करों को गैर–इस्लामियों पर लगाया जाता है। राजशाही की ओर से गैर–इस्लामियों पर हो रही प्रताड़ना से धर्म के शुद्ध रूप को संरक्षित करने के लिए हिन्दू धर्म कई तरह के कट्टर नियमों के निर्वाह पर जोर देता है। यही कारण है कि लोकभाषा में शास्त्रीय

[5] नाभादास, भक्तमाल, गीताप्रेस, गोरखपुर, संस्करण संवत् 2073, पद क्रमांक 42

चिंतन–मनन तथा भगवद्कथाओं को लिखा जाता है तो पण्डित, पुरोहित उन भक्तों का पुरजोर विरोध करते हैं। तुलसीदास द्वारा अवधी लोकभाषा में रामचरितमानस लिखने के कारण उन्हें काशी के पण्डितों की प्रताड़ना झेलनी पड़ती है।

हिन्दू–धर्म एवं बौद्ध–धर्म के आदिम द्वेषभाव से इतर अन्य धर्म भी अनेक शाखा–प्रशाखाओं में बँटा हुआ था। बौद्ध–धर्म में ही थेरवाद तथा स्थविरवाद का विभाजन तृतीय संगीति में हो जाता है। यही नहीं मध्यकाल तक आते–आते बौद्ध–धर्म के अंतर्गत कई शाखाएँ दिखाई देने लगती है। इनमें वज्रयान तथा महायान प्रमुख हैं। वज्रयान तथा उसमें भी सिद्धों की उपस्थिति मध्यकाल की पृष्ठभूमि में सजग भूमिका अदा करती है। मध्यकालीन भक्ति पर सिद्धों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। भक्तिकाल की पृष्ठभूमि में सिद्धों की धार्मिक–विसंगतियों को भी हिंदी साहित्यकार चिंह्ति करते हैं। सिद्धों की धार्मिक उपासना अनेक कर्मकाण्डों में जकड़बद्ध थी। अनेक प्रकार की अश्लील साधनाएँ सिद्धों की दैनिकचर्या का हिस्सा थी। इसे रामचन्द्र शुक्ल के निम्न कथन में रेखांकित किया जा सकता है –

> ''उपनिषद् में तो ब्रह्मानन्द के सुख के परिणाम का अंदाजा कराने के लिए उसे सहवाससुख से सौ गुना कहा गया था, पर वज्रयान में निर्वाण के सुख का स्वरूप ही सहवाससुख के समान बताया गया। शक्तियों सहित देवताओं के 'युगनद्ध' स्वरूप की भावना चली ओर उनकी नग्न मूतियाँ सहवास की अनेक अश्लील मुद्राओं में बनने लगीं, जो कहीं–कहीं अब भी मिलती हैं।''[6]

युगनद्ध स्वरूप की भावना के परिणाम स्वरूप सिद्धों में सहवास सुख पर जोर दिया जाने लगा। वज्रयान में 'महासुखवाद' के प्रवर्त्तन से उच्च–निम्न जाति की स्त्रियों के साथ अनेक विभत्स एवं अश्लील साधनाओं को प्रोत्साहन मिला। अतः इन साधनाओं ने लोकमानस को धर्म की ओर विमुख करने का कार्य किया। सिद्धों में अनेक रीतियाँ समाज–विरोधी रूप में प्रचलित थी, जिनका प्रयोग समाज की गरिमा एवं मूल्यों के अनुकूल नहीं था। इसीलिए 'लोक' सिद्धों से दूर होता गया। लेकिन वहीं जाति–धर्म के भेद को अस्वीकार करने की दृष्टि ने भक्तिकाल की चेतना में गहन स्थान पाया। संत साहित्य में जाति–धर्म आधारित भेदात्मक–दृष्टि के खण्डन की अक्खड़ता सिद्धों से ही आती है। कबीर पर सिद्धों एवं नाथों के प्रभाव को हजारीप्रसाद द्विवेदी दिखाते हैं। कबीर की अक्खड़ता इन्हीं सिद्धों से आती है। दूसरी ओर सिद्धों की लोक–विरोधी स्थितियों से उद्वेलित होकर नाथ–पंथ का विकास होता है। सिद्धों में इंद्रियभोग की वृत्ति प्रबल रूप से साधना का हिस्सा बनती है। इसी के विरोध में नाथ–पंथ इंद्रियों को कठोर साधना से अधिकार में लाने पर जोर देता है। इसीलिए नाथ–पंथ में हठयोग का प्रवर्त्तन होता है। बौद्ध–धर्म के समान ही जैनों में भी श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दो विभाजन दिखाई देते हैं। मध्यकाल में जैनों का साधना क्षेत्र गुजरात होता है। गुजरात में भक्ति का उद्भव पंद्रहवीं शताब्दी में होता है।

कहा जाये तो मध्यकाल से पूर्व भारत में ही विकसित एवं प्रचारित–प्रसारित धर्मों में कई तरह के आंतरिक विभाजन उपस्थित थे। यही नहीं इन धर्मों की रूढ़िग्रस्त स्थिति के साथ–साथ धर्म–साधनाएँ भी विकृत हो चुकी थी। अतः धर्म की वह धारा जो मन, मस्तिष्क एवं हृदय को ईश्वर–प्रेम से सराबोर कर दे, वह

[6] शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2015 पृ.सं. 22

मध्यकाल से पूर्व विलुप्त थी। हिन्दू–धर्म शास्त्र पर इतना जोर देता है कि हृदय पक्ष कहीं गौण हो जाता है। 'भक्ति' (मध्यकाल) खोई हुई उस रागात्मिका–वृत्ति को पुनः जीवित करती है।

धर्म की इन्हीं विकृत पृष्ठभूमि को हजारीप्रसाद द्विवेदी चिंह्ति करते हुए 'भक्ति आन्दोलन' का स्वाभाविक विकास स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह स्वाभाविक विकास इन्हीं विकृत स्थितियों के प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ है। वह 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में लिखते हैं –

> ''अगर इस्लाम न भी आया होता तो भी इस साहित्य का स्वरूप बारह आना वैसा ही होता जैसा कि आज है।''[7]

हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन रामचन्द्र शुक्ल के उस विचार के विरोध में आता है जिसमें वह भक्ति–आन्दोलन का विकास बाह्य आक्रांताओं की प्रतिक्रिया का परिणाम मानते हैं। लेकिन वह रामचन्द्र शुक्ल की 'बाह्य आक्रांताओं की प्रतिक्रिया' वाली दृष्टि को भी स्वीकार करते हैं। उनके सोलह आने में चार आने इसी को दृष्टि में रखते हैं। रामचन्द्र शुक्ल 'भक्तिकाल' को बाह्य आक्रान्ताओं की प्रतिक्रिया स्वरूप स्वीकार करते हैं। वह लिखते हैं –

> ''देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देवमंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरूषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी–सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?''[8]

ऐसा कहते हुए रामचन्द्र शुक्ल राजनीतिक परिस्थिति को केन्द्र में रखते हैं। वह राजनीतिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया में भक्ति–आन्दोलन के विकास को देखते हैं। वहीं शुक्लजी हजारीप्रसाद द्विवेदी के स्वाभाविक विकास को भी दृष्टि से ओझल नहीं करते। जब वह मध्यकाल का सामान्य परिचय लिखते हैं तब वह आदिकाल की रूढ़िवादी धार्मिक स्थिति (जिस धार्मिक स्थिति का उल्लेख आदिकाल में वह करते हैं) का भी संकेत करना नहीं भूलते। वह लिखते हैं –

> ''अब धार्मिक स्थिति देखिए। आदिकाल के अंतर्गत यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार वज्रयानी सिद्ध, कापालिक आदि देश के पूरबी भागों में और नाथपंथी जोगी पश्चिमी भागों में रमते चले आ रहे थे। इसी बात से इसका अनुमान हो सकता है कि सामान्य जनता की धर्मभावना कितनी दबती जा रही थी, उसका हृदय धर्म से कितनी दूर हटता चला जा रहा था।''[9]

---

[7] द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2016, पृ.सं. 16

[8] शुक्ल, रामचन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2015, पृ.सं. 60

[9] वही, पृ.सं. 60

रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि भी 'भक्ति–आन्दोलन' के विकास में मध्यकाल से पूर्व धर्म की रूढ़िग्रस्तता को स्वीकार करती है।

बहरहाल रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी दोनों भक्तिकाल के उद्‌भव के पीछे एक जैसे ही कारण देते हैं परन्तु अंतर उनके झुकाव में आता है। रामचन्द्र शुक्ल का झुकाव बाह्य आक्रान्ताओं के आगमन की प्रतिक्रिया के प्रति झुकता है तो हजारीप्रसाद द्विवेदी का स्वाभाविक विकासमान दृष्टि की ओर। हजारीप्रसाद द्विवेदी मुस्लिम आक्रान्ताओं के आगमन के कारण 'भक्ति–आन्दोलन' की गति के तीव्र होने को रेखांकित करते हैं।

मध्यकाल की मूल चेतना धार्मिक है। रामचन्द्र शुक्ल धर्म का प्रवाह के पीछे कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों को स्थान देते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए वह लिखते हैं –

> ''धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति, इन तीन धाराओं में चलता है। इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशा में रहता है। किसी एक के भी अभाव में यह विकलांग रहता है। कर्म के बिना वह लूला–लँगड़ा, ज्ञान के बिना अंधा और भक्ति के बिना हृदयविहीन क्या, निष्प्राण रहता है?''[10]

धर्म–प्रवाह के तीनों तत्वों की उपस्थिति भक्तिकालीन साहित्य में दृष्टिगोचर होती है। 'ज्ञान' के रूप में साहित्य की दृष्टि 'दर्शन' बनता है। विभिन्न संप्रदायों की स्थापना के साथ–साथ भगवद्–भक्ति एवं साधना की दिशा उनके दार्शनिक चिंतन–मनन पर अवलम्बित होती है। वार्ता–साहित्य में भी संप्रदाय–दर्शन उसकी दृष्टि बनता है। रामचन्द्र शुक्ल धर्म के प्रवाह को बनाने में 'कर्म' को भी विशिष्ट स्थान देते हैं। दरअसल यह कर्म ही भक्त का चरित्र है। अतः भक्त के कर्मों का सात्विक होना भी भक्ति की अनिवार्य शर्त मानी गई है। इसीलिए भक्तों की चारित्रिक–दृढ़ता का लोक में गायन होता है। दरअसल मध्यकाल में चारित्रिक दृढ़ता के आदर्श को स्थापित करते हुए एक सार्वभौमिक आदर्श की स्थापना होती है। तुलसीदास के राम सम्पूर्ण भारत के समक्ष मर्यादा पुरूषोत्तम के रूप में स्थापित होते हैं। तुलसी के राम वाल्मीकि के राम नहीं है। बल्कि वह मध्यकाल के चारित्रिक–आदर्श हैं। मध्यकाल में भक्तों को सात्विक–कर्म में प्रवृत्त करने के लिए आदर्शों को गढ़ा जाता है। वार्ता–साहित्य इसी आदर्श–स्थापना में अपनी अहम भूमिका अदा करता है। भक्तों के चरित्र लोक के समक्ष 'कर्म' की स्थापना करते हैं। यह 'कर्म' धर्म के प्रवाह को पुष्ट करता है। धर्म के प्रवाह में तीसरा तत्व 'भक्ति' आता है। वह 'भक्ति' में ईश्वर के प्रति श्रद्धा एवं प्रेम को स्थान देते हैं। दरअसल यह श्रद्धा एवं प्रेम भक्त को निस्वार्थता की ओर ले जाता है। भक्त के सभी कर्म ईश्वर को समर्पित होते हैं। इसी भावना से वह भगवान से प्रेम और उनके प्रति श्रद्धा रखता है। इसी को रामचन्द्र शुक्ल 'भक्ति' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। इसे वह धर्म की 'भावनात्मक अनुभूति' भी कहते हैं।

ज्ञान, कर्म एवं भक्ति में सभी को यह तीनों तत्व सहज–सुलभ नहीं होते। 'ज्ञान' की सीमा व्यक्ति की विकसित बुद्धि ही है। इसीलिए ज्ञानी की संख्या सीमित ही है। रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं –

> ''ज्ञान के अधिकारी तो समुन्नत और विकसित बुद्धि के कुछ थोड़े–से विशिष्ट व्यक्ति ही होते हैं। कर्म और भक्ति ही सारे जनसमुदाय की संपत्ति होती है।''[11]

---

[10] वही, पृ.सं. 60

अतः ज्ञान सभी के लिए सुलभ नहीं होता है। परन्तु धर्म के प्रवाही तत्वों में कर्म एवं भक्ति लोक के लिए सहज–सुलभ होता है। देखा जाये तो मध्यकाल की सामाजिक स्थिति लोकोन्मुखी है। इसी कारण भक्तिकाल की मूल चेतना भी लोकोन्मुखी है। सुमन राजे 'भक्ति–आन्दोलन' को नवजागरण कहते हुए उसे लोक–चेतना की जागृति का परिणाम बताती हैं। वह लिखती हैं –

> ''सम्पूर्ण भक्तिकालीन नवजागरण लोक–चेतना की जागृति का परिणाम था। इसका सर्वप्रथम संकेत सिद्धों एवं जैनों की रचनाओं में मिलता है। महायान का सारा आन्दोलन ही लोकपरक था। उनके बाद नाथों और सन्तों में इस परंपरा का विकास हुआ। सगुण–भक्ति काव्य में एक भिन्न स्तर पर यही लोक–चेतना प्रस्फुटित हुई है।''[12]

मध्यकालीन लोक–चेतना भक्तिकाल को रूपाकार प्रदान करती है। परन्तु इस लोक–जागृति के पीछे भारत की दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों की निर्णायक उपस्थिति रही है। देखा जाये तो हिन्दू धर्म में व्याप्त रूढ़ियों, कर्मकाण्ड एवं बाह्य विकृतियों को दूर करने के लिए शंकराचार्य 'अहं ब्रह्मास्मि' का दर्शन प्रस्तुत करते हैं। उनका दर्शन युगीनबोध का परिणाम है। लेकिन उनका दर्शन शास्त्रीय भाषा 'संस्कृत' में ही बँधकर प्रस्तुत होता है। समयांतराल में शंकराचार्य का 'अद्वैतवाद' मनुष्य को कर्म से पलायन की दिशा में ले जाने लगता है। इस संदर्भ में गोपेश्वर सिंह का कहना है कि

> ''शंकराचार्य के मायावाद के विरुद्ध जो लोक–भावना जन्म ले रही थी, उसे रामानुज, स्वामी रामानन्द, महाप्रभु वल्लभ आदि आचार्यों ने दार्शनिक आधार प्रदान किया। इन आचार्यों के चिंतन में जनोन्मुखता का वह संस्पर्श था, जो मनुष्य की सामाजिक और आध्यात्मिक मुक्ति के विराट प्रश्नों से परिचालित था।''[13]

इसीलिए चतुःसंप्रदायाचार्य (रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य तथा वल्लभाचार्य) अद्वैतवाद के विरोध में दार्शनिक–मत प्रस्तुत करते हैं। अपने नवीन दर्शन को स्थापित करने के लिए वह भी संस्कृत के दार्शनिक चिंतन–मनन का सहारा लेते हैं। ये दर्शन धर्म एवं समाज की रूढ़िग्रस्तता को केन्द्र में रखते हुए लोक–प्रगति की ओर अग्रसर होते हैं। इन्हीं की प्रेरणा से अनेक पंथों का निर्माण भक्तिकाल में होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह सभी आचार्य लोक–जागृति को केन्द्र में तो रखते हैं, परन्तु संस्कृत में अपने दर्शन को अभिव्यक्त करते हैं।

चतुःसंप्रदायाचार्यों का समय 1000 ई. से 1400 ई. के बीच ठहरता है। यह समय भक्तिकाल की पूर्वपीठिका के रूप में दिखाई देता है। इस दौरान यह आचार्य भक्तिकाल की ज्ञान–भूमि को निर्मित करते हैं। इन आचार्यों का प्रयास जीवन और जगत् के प्रति आत्मीय लगाव पैदा करना था, जो कि शंकराचार्य के 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के कारण समाप्त हो रही थी। गोपेश्वर सिंह लिखते हैं –

---

[11] शुक्ल, रामचन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2011, पृ.सं. 60

[12] राजे, सुमन, हिंदी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, छठा संस्करण 2017, पृ.सं. 122

[13] सिंह, गोपेश्वर, भक्ति आन्दोलन और काव्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017, पृ.सं. 13

''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' जैसे सिद्धांत का खण्डन कर इन आचार्यों ने जीवन और जगत् के प्रति आत्मीय लगाव का नया दृष्टिकोण विकसित किया। ब्रह्म के निराकार रूप की जगह आत्मीय लगाव का नया दृष्टिकोण विकसित किया। ब्रह्म के निराकार रूप की जगह उसके एक ऐसे लोकाग्रही रूप का सृजन किया जो जनता के चित्त में रस घोलने लगा। इन दार्शनिक आचार्यों के प्रयास से ईश्वर, जीवन–जगत्, ब्राह्मण–शूद्र, हिन्दू–मुसलमान, लोक–परलोक, पुरूष–नारी आदि के प्रति एक नये दृष्टिकोण का जन्म हुआ।''[14]

अतः जिस लोकोन्मुखता का परिचय भक्तिकाल में गहनता से मिलता है। उस धारा को पुष्ट करने का कार्य इन आचार्यों ने किया।

हजारीप्रसाद द्विवेदी जिस स्वाभाविक विकास की धारा की बात करते हैं, उसको स्वीकारने के लिए वह अपने तर्क भी प्रस्तुत करते हैं –

''यह बात अत्यन्त उपाहास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मन्दिर तोड़ रहे थे, तो उससे अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर वह हुई दक्षिण में।''[15]

जैसा कि पहले भी कहा गया है कि आचार्य–युग दक्षिण में आता है। जबकि भक्ति की लोकचेतना आचार्य–युग से भी पूर्व आलवार तथा नयनार भक्तों में मिल जाती है। आलवार मूलतः वैष्णव भक्त तथा नयनार शैव भक्त थे। इन भक्तों की चेतना को लेकर आचार्य–युग दार्शनिक भूमि तैयार करता है। इसी नवीन दृष्टिगोचर का प्रवाह दक्षिण के उत्तर की ओर बहता है। अतः रामचन्द्र शुक्ल उत्तर भारत की जिन राजनीतिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप 'भक्ति–आन्दोलन' का विकास मानते हैं। उसे केवल 'प्रभाव' रूप में ही स्वीकार करना चाहिए ना कि 'प्रतिक्रिया' रूप में। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत का खण्डन हजारीप्रसाद द्विवेदी तर्कपूर्ण रीति से करते हैं। परन्तु शुक्ल जी की दृष्टि का खण्डन इतना सहज नहीं है। भक्ति–आन्दोलन का प्रभाव सम्पूर्ण भारत में परिलक्षित होता है। लेकिन हिंदी में यह गहन–व्यापकता के साथ प्रचारित एवं प्रसारित होता है।

भारत में धर्म, दर्शन, समाज, सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, साहित्य आदि संश्लिष्ट रूप में विकास करते हैं। कहा जाये तो यदि दर्शन भारत की दृष्टि है तो धर्म उसकी आत्मा। समाज उसका शरीर है तो सभ्यता उसके वस्त्र और कला–साहित्य उसका श्रृंगार। किसी भी विषय पर विचार करें लेकिन सबमें सभी विषयों की उपस्थिति दर्ज होती है। उदाहरण के लिए 'साहित्य' को देखें तो दर्शन उसे दिशा देने का कार्य करता है। यह दिशा साहित्य में सांस्कृतिक–रूपाकृति पाती है। यह सांस्कृतिक–रूपाकृति लोक की सामाजिक व्यवस्था (सभ्यता) में परिलक्षित होती है। इस चरण में साहित्य इस सभ्यता की रचनाशील प्रस्तुति हो जाता है और यह सृजनात्मकता धर्म (अर्थात् 'धारण करने योग्य' अर्थ में) की सहायक होकर उसे सुदृढ़ करती हुई आदर्श व्यवस्था की विश्वसनीय मूर्ती बनती है। 'धर्म' साहित्य के प्रति लोक में विश्वास भी जगाता है। यही भारतीय

[14] वही, पृ.सं. 13

[15] द्विवेदी, हजारी प्रसाद, हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास,

वाङ्ग्मय की जटिलता है। बहरहाल मध्यकाल का धार्मिक–संघर्ष इस संश्लिष्टता में सांस्कृतिक–संघर्ष का रूप भी लेता है।

3.2 मध्यकालीन साहित्य एवं इतिहास का स्वरूपगत संबंध

मध्यकालीन साहित्य का स्वरूपगत विकास 'संस्कृत' का ही अनुवर्ती रहा है। भारतीय काव्यशास्त्र में साहित्य के स्वरूप का विशद चिंतन किया गया है। स्वरूपगत–चिंतन की दिशा में बढ़ने से पूर्व एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। संस्कृत में 'काव्य' शब्द का प्रयोग 'साहित्य' के पर्याय रूप में ही हुआ है। जबकि आधुनिक काल में काव्य का अर्थ पद्यात्मक साहित्य से लिया जाता है। वहीं 'काव्य' 'वाङ्ग्मय' के पर्याय रूप में भी प्रयोग होता रहा है। डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी संस्कृत काव्यशास्त्र में 'काव्य' के स्वरूप पर विचार करने से पूर्व साहित्य और काव्य की पर्यायता के प्रति सजग रहने की बात कहते हैं। वह लिखते हैं –

> ''साहित्य' एवं 'काव्य' को पर्याय मानकर ही यहाँ यह स्वरूप विचार किया जा रहा है। व्यवहार में साहित्य शब्द 'काव्य' के अतिरिक्त 'वाङ्ग्मय' मात्र के लिए भी प्रयुक्त होता है।''[16]

मध्यकालीन हिंदी साहित्य के संदर्भ में भी 'काव्य' 'शब्दार्थ' का बोधक रहा है। 'काव्य' लोक–व्यवहार रूप में 'वाङ्ग्मय' अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

संस्कृत वाङ्ग्मय को दो भागों में विभाजित करते हुए 'काव्य' तथा 'शास्त्र' में बाँटा गया है। मध्यकालीन हिंदी में 'शास्त्र' तथा 'काव्य' का विभाजन दृष्टिगोचर नहीं होता। संभवतः संस्कृत को ही शास्त्र के रूप में स्वीकार करने के कारण। जबकि मध्यकालीन 'हिंदी' लोकभाषा के रूप में स्थान पाती है। यही कारण है कि रीतिकाल में रचित 'काव्य' शास्त्र की सीमा में नहीं आता परन्तु उसे शास्त्र अनुवर्ती अवश्य कहा जाता है। देखा जाये तो रीतिकाल एक अंश में संस्कृत के ज्ञान को लोकभाषा में अनुकृत करते हैं। परन्तु इसके बाद भी वह शास्त्र के दर्जे को प्राप्त नहीं करते। संभव है कि अनुकृत होने के कारण इन्हें शास्त्र का दर्जा ना दिया गया हो। बहरहाल इसका स्पष्टीकरण काव्य तथा शास्त्र की सीमाओं को समझकर ही किया जा सकता है। वेदों को 'काव्य' तथा 'शास्त्र' में से किस भेद में स्वीकृत करे यह कहना मुश्किल है। इस संबंध में पी.वी.काणे कहते हैं –

> ''गद्य में रचित काव्यग्रंथ हो सकता है या नहीं, इस प्रश्न को छोड़ दिया जाय तो वास्तविक कविता के लिए इन तीन गुणों की आवश्यकता होती है – विशिष्ट प्रकार की भाषासारणी, इसकी विषय–सामग्री और विषय प्रतिपादन की प्रवृत्ति। इस दृष्टि से आर्यों का आदिग्रन्थ ऋग्वेद यद्यपि मुख्यरूप से धर्मग्रंथ है तो भी उसमें अच्छे काव्य के अनेक गुण हैं।''[17]

---

[16] त्रिपाठी, डॉ. राममूर्ति, काव्य तत्व विमर्श, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृ.सं. 11–12

[17] काणे, पी.वी., संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण 1966, पृ.सं. 405

पी.वी.काणे इस मत को सोदाहरण स्पष्ट करते हैं। काव्य तथा शास्त्र के भेद पर संस्कृताचार्य भट्टनायक के विचार को राममूर्ति त्रिपाठी उद्धृत करते हुए लिखते हैं –

> ''एक जगह भट्टनायक ने वाङ्मय के उस अंश को, जहाँ शब्द की प्रधानता होती है, शास्त्र कहते हैं। दोनों (शब्द एवं अर्थ) में जहाँ अर्थ–भाग की प्रधानता हो, उसे पुराण (आख्यान) एवं इतिहास कहते हैं तथा जहाँ दोनों अंशों की प्रधानता हो, उसे काव्य कहते हैं।''[18]

अतः यह स्पष्ट है कि काव्य तथा शास्त्र की सीमाएँ वर्तमान की तरह सीमांकित नहीं थी। गद्य एवं पद्य के आधार पर काव्य एवं शास्त्र का विभाजन संस्कृत तथा मध्यकालीन हिंदी की भूमि को समझने में सहायक नहीं है। संस्कृत में काव्य का वर्गीकरण गद्य, पद्य तथा मिश्र में किया गया है।

> ''दण्डी ने पद्यमय काव्य के सर्गबंध अथवा महाकाव्य, मुक्तक, कुलक (पंचश्लोकी), कोष और संघात (परस्पर–असम्बद्ध श्लोकों का संग्रह) ये प्रकार स्वीकार किये हैं। गद्य के कथा, आख्यायिका और चम्पू – इन प्रकारों की गणना की है। मिश्रकाव्य में नाटक और अन्य प्रकारों का अंतर्भाव होता है।''[19]

अतः स्पष्ट था कि काव्य तथा शास्त्र का विभाजन रूप–आधारित नहीं था। मोटे तौर पर देखा जाये तो सैद्धांतिक चिंतन प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ शास्त्र कोटि में दिखाई देते हैं। निगम तथा आगम साहित्य में निगम साहित्य शास्त्र कोटि में आता है। जबकि आगम साहित्य में काव्य तथा शास्त्र की सीमा बारीक है। इसे भट्टनायक की उपर्युक्त दृष्टि से समझा जा सकता है। अतः गद्य तथा पद्य के आधार पर शास्त्र तथा काव्य का भेद मध्यकाल के संदर्भ में अव्याख्येय है। इसी कारण बहुत–सी रचनाएँ काव्य–कोटि के अंतर्गत संकलित कर दी गई।

शास्त्र तथा काव्य के बीच की भेदात्मक दृष्टि में लोकभाषा तथा शिष्टभाषा को भी आधार बनाया जाता है। जैसा कि संस्कृत को शिष्टभाषा का दर्जा प्राप्त है। इसीलिए संस्कृत को शास्त्रीय दर्जा दिया जाता है तथा लोकभाषा में रचित ग्रन्थों को नहीं। लोकभाषा के तमाम साहित्य को आगम साहित्य के अंतर्गत ही स्थान दिया जाता है। इसीलिए मध्यकालीन हिंदी के संदर्भ में शास्त्र तथा काव्य का भेद पूर्णतः समाप्त प्रायः हो जाता है। रीतिकाल के संदर्भ में यह दृष्टि व्याख्येय है। रीतिकालीन कवि तथा आचार्य काव्यशास्त्र को आधार बनाकर काव्य–लक्षण, काव्य–प्रयोजन आदि चिंतनों को लोकभाषा में छंदों में प्रस्तुत करते हैं परन्तु उन्हें शास्त्र का दर्जा प्राप्त नहीं है। जबकि काव्य–हेतू, प्रयोजन, लक्षण आदि का चिंतन काव्यशास्त्र का विषय है। अतः मध्यकालीन 'हिंदी' साहित्यालोचना में आकर केवल 'काव्य' की श्रेणी में स्थान पाता है। लेकिन जैसा कि ऊपर उल्लेख किया है कि लेखन के धरातल पर रूपभेद (गद्य, पद्य एवं मिश्र) काव्य तथा शास्त्र दोनों धरातलों पर स्वीकृति पाता है। यही कारण है कि ऐतिहासिक विषयवस्तु आधृत साहित्य भी इतिहास की कोटि में स्थान ना ग्रहण कर काव्य–कोटि का हिस्सा बनता है। इससे एक बात और स्पष्ट है कि इतिहास की विषयवस्तु होने का अर्थ 'शास्त्र' होना नहीं रहा। बल्कि 'काव्य' भी ऐतिहासिक विषयवस्तु का प्रस्तोता था। अर्थात् आज के

---

[18] त्रिपाठी, डॉ. राममूर्ति, काव्य तत्व विमर्श, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृ.सं. 19

[19] काणे, पी.वी., संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण 1966, पृ.सं. 479

समय के अनुरूप काव्य अथवा साहित्य की सीमा केवल ललित–साहित्य की सीमा में बद्ध नहीं थी तथा इतिहास को साहित्य से बाहर का विषय नहीं स्वीकार किया गया था। इसीलिए मध्यकालीन हिंदी साहित्य में कथा एवं इतिहास का संश्लेषण स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। वहाँ साहित्य की सृजनात्मकता भी है तो इतिहास की तथ्यात्मकता भी।

सरल शब्दों में कहा जाये तो वर्तमान दृष्टि विषयगत भेद करते हुए जिन कसौटियों पर काव्य तथा शास्त्र का भेद करती है, वह मध्यकाल में अस्वीकार्य है। आधुनिक काल में इतिहास, भूगोल, समाज आदि शास्त्र–रूप में ही देखे जाते हैं जबकि भारतीय वाङ्ग्मय में यही विषय काव्य की विषयवस्तु होते हैं, जिसे काव्य अपने विशिष्ट स्वरूप में ढालकर प्रस्तुत करता है। इस संदर्भ में कालिदास का मेघदूत उदाहरणार्थ है। सामान्यतः वह विरह–काव्य है, जिसमें कवि ने विरहणी के भाव एवं संवेदनात्मक रूप को सृजित किया है। परन्तु एक अध्ययन उसके भूगोल वर्णन से भी संबद्ध है, जिसमें मेघदूत में संकेतित भौगोलिक स्थिति के आधार पर तत्कालीन भारतीय भूगोल को समझा गया है। इसी प्रकार मध्यकालीन हिंदी का वार्ता–साहित्य है। इसमें तत्कालीन ऐतिहासिक भक्त एवं कवियों के चरित्र–वर्णन को आधार बनाकर भगवद्–भक्ति की भावना एवं रीति को प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक दृष्टि से वार्ता–साहित्य काव्य के स्वरूप में ढलकर शास्त्रीय विषयवस्तु (भक्तों का इतिहास) को स्थान देता है, परन्तु उसे इतिहास–कोटि में स्थान ना देकर साहित्यिक–कोटि में रखा जाता है। मध्यकाल के संबंध में इस प्रकार का दृष्टिगत संकट सदा बना रहा है, जो कि मध्यकालीन साहित्य के अध्ययन की मूलभूत दृष्टि का संकट है।

काव्य, शास्त्र एवं वाङ्ग्मय के बीच द्वैत तथा आधुनिक एवं मध्यकालीन दृष्टि की भिन्नता के उपरांत मध्यकालीन साहित्य के स्वरूप का अध्ययन भी आवश्यक है। आधुनिक काल में साहित्य का केन्द्र मनुष्य है, जबकि मध्यकाल में ईश्वर। वहीं साहित्य की आधुनिक दृष्टि पश्चिम का अनुकरण करती हुई भारतीय परिस्थिति में विकसित होती है, जबकि मध्यकालीन दृष्टि का आधार संस्कृत काव्यशास्त्र रहा। अतः मध्यकालीन हिंदी साहित्य के अध्ययन के लिए संस्कृत काव्यशास्त्र में मौजूद काव्य–लक्षण को समझना भी आवश्यक है, क्योंकि यह काव्य–लक्षण मध्यकाल में लोक से जुड़कर साहित्य–रूपों को भी प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए संस्कृत का 'षड्ऋतुवर्णन' लोक में 'बारहमासा' का रूप लेता है।

भारतीय काव्यशास्त्र के अंतर्गत काव्य के लक्षण, हेतु तथा प्रयोजन पर चर्चा मिलती है। लक्षण के अंतर्गत ही काव्य के स्वरूप को परिभाषित करने का कार्य किया गया है। काव्य–लक्षण पर आचार्यों का विस्तृत चिंतन रहा है। इन विचारों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग में वह आचार्य आते हैं जो 'उत्कृष्ट या उपादेय काव्य' का स्वरूप बताते हैं तथा दूसरे वर्ग के आचार्य वह हैं जो काव्य की उत्कृष्ट या अपकृष्ट को नहीं बताते बल्कि काव्य का धर्मनिर्देश करते हैं। पहले वर्ग के प्रवर्तक भरत तथा दूसरे के भामह हैं। राममूर्ति त्रिपाठी 'विशिष्ट शब्दार्थवादी धारा' में दो वर्गों के संबंध में मत प्रस्तुत करते हैं –

''आगे चलकर यह धारा भी दो शाखाओं में फूटती हुई दिखाई पड़ती है – एक का उदय भरत से होता है और दूसरी का भामह से। भरत की धारा 'उत्कृष्ट या उपादेय काव्य' का स्वरूप बताती है और भामह द्वारा प्रवर्तित धारा काव्यमात्र को, चाहे वह उत्कृष्ट हो या अपकृष्ट, उपादेय हो या हेय – ध्यान में रखकर उसका धर्मनिर्देश करती है।''[20]

भामह काव्य को परिभाषित करते हुए उसकी परिभाषा 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (काव्यलंकार 1/16) कहकर करते हैं। अर्थात् 'शब्द तथा अर्थ का सहभाव काव्य है'। इस प्रकार वह काव्य को निर्विशेष रूप में प्रस्तुत करते हैं। वहीं भरत नाट्यशास्त्र के सोलहवें अध्याय में काव्य के लक्षण, दोष, गुण एवं अलंकारों की चर्चा करते हैं। उनकी परिभाषा 'काव्य' को सविशेष रूप में प्रकट करती है –

मृदुललितपदाढ्यं, गूढ़शब्दार्थहीनं,
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं,
स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम्।।16।।118

ऐसा कहते हुए आचार्य भरत शुभकाव्य के लक्षण बताते हैं। यहाँ 'शुभकाव्य' से अभिप्राय लोककल्याणकारी काव्य से है। शुभकाव्य में वह मृदुललित पदावली, गूढ़ शब्दार्थहीनता, सर्वसुगमता, युक्तिमत्ता, नृत्य में उपयोग किए जाने की योग्यता, रस के अनेक स्रोतों को प्रवाहित करने का गुण तथा संधियुक्तता को सम्मिलित करते हैं। इन लक्षणों में पाँचवा तथा सातवाँ लक्षण नाटक को दृष्टिगत करके जोड़ा गया है।

भरत की दृष्टि 'काव्य' को विशिष्ट रचना के रूप में देखती है। वहीं भामह की दृष्टि में 'काव्य' सभी प्रकार के विषयों को साहित्य में स्थान देने की संभावनाओं के साथ दिखाई देता है। भामह की परिभाषा को स्वीकार करे तो 'काव्य' के अंतर्गत ज्ञान के सभी विषय समाहित हो जाते हैं। इसीलिए इस परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष माना गया है। यह अवश्य है कि भामह की परिभाषा में लालित्यपूर्ण–काव्य को दृष्टिगत नहीं रखा गया है। परन्तु क्या यह संभव है कि काव्य की बहुआयामिता के कारण वह 'काव्य' को इस प्रकार परिभाषित करते हैं? यदि भट्टनायक के उपर्युक्त मत को देखा जाये जिसमें वह शास्त्र, पुराण तथा काव्य के भेद को स्पष्ट करते हैं तो 'काव्य' शास्त्र एवं पुराणों से उत्कृष्ट रूप में दिखाई पड़ता है। अर्थात् भारतीय विद्वान 'काव्य' को विशेष महत्व दिया करते थे। इसका कारण उसका सृजनात्मक–वैशिष्ट्य है, जिसे भारतीय विद्वान ब्रह्म की विशेषता के रूप में देखते थे। लेकिन संभव है कि अधिक महत्व देने का एक कारण काव्य का सबकुछ समाहित करने के गुण के कारण भी हो। बहरहाल भरत की परिभाषा काव्य के शरीर (यानि शब्द) तथा आत्मा (यानि अर्थ) दोनों को परिभाषित करने का प्रयास करती है। वह मृदुललित पदों के साथ–साथ गूढ़ार्थ गर्भित शब्दों से बचने को भी काव्य का गुण मानते हैं। जबकि चिंतन की भूमि में गूढ़ शब्दों का प्रयोग होना सहज है। अतः भरत द्रष्टा अथवा श्रोता से तादात्मय बनाने के लिए इस प्रकार की दृष्टि को प्रस्तुत

[20] त्रिपाठी, डॉ. राममूर्ति, काव्य तत्व विमर्श, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृ.सं. 11

करते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि काव्य गुणार्थ प्रेक्षण में उपयुक्त नहीं है। 'छंद' काव्य का गुण माना गया है। जबकि छंदों का प्रयोग वेदों में, दार्शनिक चिंतन में, सूत्रबद्ध रूप में विषय प्रस्तुत करने में प्रयुक्त हुआ है। सम्पूर्ण वाङ्गमय को आगम–निगम साहित्य में विभाजित करें तो काव्य आगम–साहित्य की श्रेणी के अंतर्गत आता है। मूलतः निगम साहित्य में नियम, सैद्धांतिकी आदि बताने वाले साहित्य परिगणित किये जाते हैं। जबकि आगम–साहित्य निगम–साहित्य का वर्णन करता है। इसीलिए वेद निगम–साहित्य के अंतर्गत आते हैं तथा पुराण आगम–साहित्य के अंतर्गत। आगम–साहित्य के यह वर्णन लोकजनों के लिए सहज रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। कहा जाये तो आगम–साहित्य का लक्ष्य ही जन–जन से जुड़ने का है। इस अर्थ में काव्य आगम–साहित्य की श्रेणी में स्थान पाता है।

भरत और भामह की परिभाषाओं का अंतर काव्य की प्रयोगात्मक स्थिति के कारण भी है। 'काव्य' स्वयं एक विशिष्ट स्वरूप को प्रस्तुत करता है, जिसका आभास भरत के कथन में द्रष्टव्य है। जबकि 'काव्य' की पद्धति का प्रयोग ज्ञान वार्ताओं को कहने के लिए भी हुआ है। ऐसी स्थिति में काव्य यहाँ साधनभूत रूप में उपस्थित होता है। उदाहरण के लिए वेद में काव्य तथा शास्त्र दोनों के अंश मिलते हैं परन्तु वेदों की प्रस्तुति छंदों में होती है। जबकि छंदात्मकता 'काव्य' की प्रवृत्ति मानी गई है। इस प्रकार संस्कृत में काव्य साध्य तथा साधन दोनों रूपों में स्थान पाता है। परन्तु मध्यकाल के संबंध में इस प्रकार की दृष्टि का विकास नहीं हुआ। 'काव्य' में उद्धृत सभी गद्य–पद्य को काव्य ही माना गया है। इसका कारण आधुनिक कालीन दृष्टि है। आधुनिक कालीन दृष्टि लिखित प्रारूप के आधार पर विभिन्न विषय क्षेत्र को विभाजित करती है। उस दृष्टि के अनुसार इतिहास, भूगोल, विज्ञान, साहित्य, कला आदि भिन्न विषय क्षेत्र है इसीलिए इनकी विशिष्टता इनके लेखन में दिखाई देती है। इसलिए आधुनिक काल में साध्य के लक्ष्य ही साधन के लक्ष्य हो जाते हैं और साधन को विशिष्ट बनाते हैं। जबकि मध्यकाल में विशिष्ट लेखन की धुरी विषय–विशेष के आधार पर निर्मित नहीं होती। इसीलिए काव्य एक ओर जहाँ ललित–साहित्य का सृजन करता है वहीं दूसरी ओर इतिहास को भी विषयवस्तु बनाता है। तो कहीं–कहीं निर्विशेष होते हुए इतिहास (मध्यकालीन हिंदी वार्ता–साहित्य) को संकलित भी करता है।

'काव्य–सौन्दर्य' की उत्पत्ति के प्रश्न पर विभिन्न काव्यशास्त्रीय संप्रदायों ने अपने संप्रदाय को स्थापित करने का प्रयास किया है। काव्य की आत्मा किसे स्वीकारें? इसी प्रश्न पर सभी संप्रदायाचार्य अपने–अपने मत को रखते हुए उसे ही काव्य की आत्मा घोषित करते थे। इन संप्रदायों के चिंतन को देखते हुए दो भाग किये जाते हैं। पहला, वह संप्रदाय जो कि काव्य के शरीरपक्ष अथवा बाह्य तत्वों पर जोर देते हैं। इन संप्रदायों में अलंकार संप्रदाय, वक्रोक्ति संप्रदाय एवं रीति संप्रदाय सम्मिलित हैं। वहीं दूसरे, वह संप्रदाय जो कि काव्य के आत्मपक्ष को महत्ता देते हैं। इन संप्रदायों में रस संप्रदाय, ध्वनि संप्रदाय तथा औचित्य संप्रदाय प्रमुख हैं। अपने मतों को स्थापित करते हुए भी इन्होंने अन्य संप्रदायों का भी सम्मान किया है तथा काव्य में उनकी स्थिति को भी स्वीकार किया है। इन आचार्यों का उद्देश्य केवल काव्य के लिए सबसे महत्वपूर्ण अंग को स्थापित करने का रहा।

सर्वप्रथम आचार्य भरत 'नाट्यशास्त्र' में काव्य–लक्षण प्रस्तुत करते हुए काव्य के मूल में रस को स्थापित करते हैं। उनकी दृष्टि नाटक को केन्द्र में रखकर काव्य को परिभाषित करती है। भरत का समय पहली शताब्दी है। भरत के उपरांत भामह का काव्य–लक्षण प्राप्त होता है। भामह का समय सातवीं शताब्दी है। अर्थात् भरत के छः शताब्दी उपरांत भामह के 'काव्यालंकार' में काव्य की परिभाषा प्राप्त होती है। इन दो आचार्यों के बीच का लम्बे समयांतराल का कारण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का काल का ग्रास हो जाना था। बहरहाल भामह अलंकार को काव्य की आत्मा के रूप में स्थापित करने का प्रयास करते हैं। लेकिन अलंकार को लेकर भी भामह से पूर्व दो वर्ग विभाजित है। एक वर्ग शब्दालंकारों को काव्य–शोभा का कारण मानता है तो दूसरा वर्ग अर्थालंकारों को। भामह पीछे से चले आ रहे भेद को समाप्त करने का प्रयास करते हैं। यही उद्देश्य उनके काव्य–लक्षण में भी दिखाई देता है। 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहते हुए वह शब्द तथा अर्थ आधारित भेद को समाप्त कर समन्वय लाने की कोशिश करते हैं। अतः इनकी दृष्टि में शब्द तथा अर्थ दोनों का महत्व है। अर्थालंकारवादियों का मानना था कि 'रूपक–उपमा आदि अर्थालंकार ही काव्य–शोभा की सृष्टि करते हैं क्योंकि अर्थ–बोध के पश्चात् उन्हीं से काव्य–सौंदर्य की प्राप्ति होती है।' भामह का भी आग्रह यही था कि 'काव्य–कृति में रस एवं गुणों का कितना ही बढ़िया सामंजस्य क्यों न हो यदि समर्थ अलंकार–योजना नहीं है तो वह उसी प्रकार श्रीविहीन है जैसे अलंकारविहीन स्त्री (वनिता) का मुख।'

शब्दालंकारवादियों का मत था कि 'रूपक–उपमा आदि अर्थालंकार बाह्य प्रतीत होते हैं, काव्य में चमत्कार की सृष्टि तो शब्द–सौंदर्य के द्वारा ही की जा सकती है।... काव्य के पठन–पाठन, श्रवण–प्रेक्षण में सर्वप्रथम 'शब्द' ही हमारे हृदय पर अपना प्रभाव छोड़ता है।' आचार्य दण्डी भी शब्दालंकारवादी हैं। इसीलिए वह काव्य के शरीर को महत्ता देते हुए लिखते हैं –

'शरीरंतावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली'

'केवल उसी शब्द–समूह (पदावली) को काव्य–शरीर कहा जा सकता है जो काव्य के लिए अभिलक्षित सरसता से युक्त हो और कवि–प्रतिभा से युक्त सुंदर पदावली से व्यवच्छिन्न हो।' श्लोक में 'तावद्' शब्द वाक्यालंकारों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। उपर्युक्त श्लोक में दण्डी इष्टार्थ–युक्त पदावली की बात करते हैं। यहाँ इष्टार्थ अनेक व्यंजनाएँ उत्पन्न करता है। दण्डी ने इष्टार्थ की स्पष्ट व्याख्या नहीं की है। विश्लेषक इष्टार्थ–युक्त पदावली में 'योग्यता', 'अकांक्षा', 'आसक्ति' आदि विशेषताओं को भी विद्यमान मानते हैं। दण्डी के अनुसार 'पदावली का 'इष्टार्थत्व' ही काव्यार्थ में चमत्कार की सृष्टि करता है जिसमें लोकोत्तर आह्लादत्व का भाव पूरी तरह अंतर्भुक्त है।' दण्डी की सीमा यह है कि वह इष्टार्थ में केवल अर्थालंकारों पर केंद्रित हो जाते हैं। पर देखा जाये तो भामह के समान दण्डी भी शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के बीच के द्वंद्व की ओर ध्यान देते हैं। लोकोत्तर आह्लादत्व की दृष्टि काव्य को लोक–सापेक्ष दृष्टि प्रदान करती है। केवल दण्डी ही नहीं भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य–प्रयोजन का चिंतन भी लोक–सापेक्षता में विकसित हुआ है। यह लोकोन्मुखता ही 'काव्य'

का स्वरूप है। ऊपर से देखने पर वह केवल काव्य की बाह्य संरचना पर जोर देते दिखते हैं। परन्तु वह अलंकार के साथ–साथ 'रसापेक्षा' को भी स्थान देते हैं।

'अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभाव निरंतरम्।'

किन्तु यहाँ 'रस' शब्द अलंकार जन्य चमत्कार से उत्पन्न आनंद के लिए ही आया है। बहरहाल सरल शब्दों में कहा जाये तो सहृदय को जो आनन्द काव्य से प्राप्त होता है दण्डी के अनुसार उस काव्यत्व की सृष्टि शब्दालंकारों द्वारा ही संभव है। शब्दालंकार ही वाक्य में चमत्कार की सृष्टि करते हुए उसे लोकोत्तर आह्लदात्व प्रदान करता है और काव्य की परिभाषा कुछ इस प्रकार होती है। 'शब्द–अर्थ–रस–सौंदर्य से विशिष्ट पदावली ही काव्य है।'

आचार्य वामन का समय (8वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध – 9वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) अलंकारवादियों के प्रभुत्व का समय था। तत्कालीन समय में 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्' का मत सर्वमान्य था। वामन इस मत का सीधा विरोध करने में समर्थ नहीं थे इसीलिए वह कहते हैं – 'काव्यं ग्राह्यमलंकारत्'। अर्थात् 'काव्य' अलंकार तत्व के कारण ग्राह्य है। बल्कि वह यह भी कहते हैं कि काव्य के शोभा कारण–धर्म को अलंकार कहते हैं। (काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः) ऐसा कहते हुए वह काव्य की ग्राह्यता का कारण 'सौन्दर्य' को मानते हैं। सौन्दर्य पर विचार करते हुए वह काव्य–गुणों की बात करते हैं। उनके अनुसार –

'गुणालंकृतयो शब्दार्थयो काव्य शब्दो विद्यते।'

आचार्य वामन भामह तथा दण्डी से आगे बढ़कर गुणयुक्त तथा अलंकारयुक्त शब्दार्थ को 'काव्य' की संज्ञा देते हैं। रसवादी भी गुणों की बात करते हैं परन्तु वह गुण का संबंध सीधे रस से जोड़ते हैं। जबकि वामन द्वारा निरुपित 'गुण' शब्द और अर्थ से सीधे संबद्ध होने के कारण भाषा या रचना के बाहर की वस्तु हो जाती है। वामन के इसी मत को हृदयगत करते हुए चिंतामणि लिखते हैं –

सगुनालंकार सहित दोष रहित जो होई।
शब्द अर्थ ताको कवित कहत बिबुध सब कोई।।

दरअसल वह वामन के मत को ही ब्रजभाषा में रूपांतरित करते दिखते हैं। उनका लक्ष्य संस्कृत–काव्यशास्त्र के ज्ञान से ब्रजभाषा कवियों को परिचित कराना था। वह वामन के मत का उल्लेख करते हुए किसी प्रकार की शास्त्रीय चिंतन–मनन का प्रदर्शन नहीं करते। रीतिकाल में संस्कृत के लक्षण–ग्रन्थों को लोकभाषा में अनुवादित किया करते थे। अलंकारवादियों का काव्य को स्त्री रूप में वर्णित करते हुए उसे बिना आभूषणों के सौन्दर्यहीन मानने वाली दृष्टि भी रीतिकालीन कवियों द्वारा गृहित हुई है। केशवदास उसी दृष्टि को कुछ इस प्रकार कहते हैं –

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।

भूषण बिनु न विराजई कविता वनिता मित्त।।

इसी प्रकार काव्यशास्त्र का चिंतन मध्यकालीन लोकभाषाओं में विकास करता है। इसीलिए मध्यकाल की साहित्यिक–पृष्ठभूमि में संस्कृत काव्यशास्त्र को देखा जाता है।

अलंकार–युग के आचार्य काव्य–लक्षण के संबंध में शरीर–पक्ष या बाह्य–सौंदर्य को ही प्रधानता देते हैं। लेकिन वह बाह्य–सौन्दर्य को आंतरिक–सौन्दर्य का भी कारण मानते हैं। इनमें रुद्रट[21], हेमचंद्र[22], विद्यानाथ[23], वाग्भट्ट[24], जयदेव[25], भोज[26] आदि प्रमुख हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि काव्य के आत्म–तत्व अथवा आंतरिक सौंदर्य की उपेक्षा हुई। 9वीं शताब्दी में आचार्य आनंदवर्धन इस परंपरा का विद्रोह करते हुए ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्थापित करते हैं। साथ–ही–साथ वह अलंकार तथा अलंकार्य की पृथकता भी दिखाते हैं। इस प्रकार वह रस को महत्व देते हुए काव्य–लक्षण की नई परंपरा शुरू करते हैं।

आगे चलकर आचार्य कुंतक आनंदवर्धन तथा अभिनवगुप्त के काव्य–दर्शन की वस्तुवादी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। वह वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा स्वीकारते हुए 'वक्रोक्ति संप्रदाय' की स्थापना करते हैं। कुंतक द्वारा प्रयुक्त 'वक्रोक्ति' अलंकार–विशेष के रूप में उद्धृत नहीं है। बल्कि वह वक्रोक्ति को काव्य का व्यापक गुण मानते हैं। उनके अनुसार 'कवि–कर्म सामान्य आदमी के मार्ग से भिन्न है, कवि की वक्र शब्दावली में कल्पना के लिए पर्याप्त अवकाश रहता है। वक्रता को 'वैचित्र्य' तथा 'वैदग्ध भंगी भणिति' अर्थात् विदग्ध व्यक्ति के कहने का विशेष गुण कहा।'[27] वह 'वक्रोक्ति जीवितम्' में काव्य का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं –

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।।

अर्थात् 'वक्रतामय कवि–कौशलयुक्त मर्मस्पर्शी शब्दार्थ काव्य है।' कुंतक का लक्षण काव्य के भाव–पक्ष की कला–पक्षीय व्याख्या प्रस्तुत करता है। वह काव्य में वक्रता तथा कवि की भूमिका को महत्वपूर्ण मानते हैं। यहाँ 'वक्रता' कवि द्वारा विशिष्ट अर्थ के लिए सर्वोत्तम शब्द के प्रयोग के लिए प्रयुक्त हुआ है। लक्षण में 'बन्धे व्यवस्थितौ' काव्य–गठन की मांग रखती है। कुंतक ने काव्य–लक्षण प्रस्तुत करते हुए द्रष्टा को भी ध्यान में रखा है (तद्विदाह्लादकारिणी)। 'कवि–कौशल' द्वारा काव्य की वक्रता आह्लादकारिणी होती है। अर्थात् वक्रता का यह गुण 'सहृदय' के लिए आह्लादकारी, स्वस्पंद तथा रमणीय होती है।

---

[21] ननु शब्दार्थौ काव्यम्।
[22] अदोषौ सगुणै सालंकारौ च शब्ददार्थौ काव्यम्। (काव्यानुशासन)
[23] गुणालंकार सहितौ शब्दौ दोष वर्जितो। (प्रताप रुद्रयशोभूषण)
[24] शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौकाव्यम्। (काव्यानुशासन)
[25] निर्दोषा लक्षणावती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालंकार रसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनाम भाक्।। (चन्द्रालोक)
[26] निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसावन्तं कवि कुर्वन प्रीति कीर्ति च विदंति।। (सरस्वती कंठाभरण)
[27] पालीवाल, कृष्णदत्त, साहित्य की अवधारणा, एम.एच.डी.–5, इग्नू, दिल्ली, पुर्नमुद्रित संस्करण 2015, पृ.सं. 12

काव्य–लक्षण प्रस्तुत करने वाले आचार्यों में मम्मट भी प्रमुख हैं। मम्मट मूलतः रसवादी आचार्य हैं। वह दोषरहित, गुणसहित और कभी–कभार अनलंकृत, शब्द और अर्थमयी रचना को काव्य कहते हैं।

तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

आचार्य विश्वनाथ मम्मट के काव्य–लक्षण की आलोचना करते हुए 'अदोषौ' को नकारात्मक लक्षण बताते हैं। उनके अनुसार श्रेष्ठ–से–श्रेष्ठ काव्य में भी दोष आ ही जाता है परन्तु इस आधार पर उसे काव्य की श्रेणी से बाहर नहीं किया जा सकता, इसीलिए 'अदोषौ' काव्य का नकारात्मक लक्षण है। काव्य में दोषरहित तथा गुणालंकार की बात वामन पूर्व में ही कह चुके थे। ऐसा कहकर मम्मट ने रस और ध्वनिवादियों का विरोध भी नहीं किया तथा रसवाद का समर्थन भी करते रहे।

भारतीय काव्यशास्त्र में प्रमुख आचार्यों में 'विश्वनाथ' भी प्रमुख हैं। यह मूलतः रसवादी आचार्य हैं। वह काव्य–लक्षण में रस को महत्व देते हैं। वह काव्य को परिभाषित करते हुए लिखते हैं –

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।[28]

अर्थात् 'रसयुक्त वाक्य ही काव्य है'। एक ओर भरत के 'रस–सिद्धांत' में 'रस' संकुचित–अर्थ ग्रहण करता है तो दूसरी ओर विश्वनाथ की दृष्टि में 'रस' अर्थ–विस्तार के साथ गुण–अलंकार–वक्रोक्ति–ध्वनि आदि को भी स्थान देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि विश्वनाथ के काव्य–लक्षण में 'रस' अनेक संदर्भों में व्याख्येय है। इनकी परिभाषा 'सहृदय' की सापेक्षता को महत्ता देती है। रस की उपस्थिति (आलंबन में या उद्दीपन में) के वाद–विवाद पर रसाचार्य गहन चिंतन करते हैं। यह विमर्श क्रमशः सहृदय तथा काव्य को केन्द्र में रखती है। इसी विचार–केन्द्र को स्वीकार करते हुए बाद के आचार्यों ने काव्य पर विचार प्रस्तुत किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ 17वीं शताब्दी में वर्तमान थे। मध्यकाल में मूलतः काव्यशास्त्रीय आचार्य नहीं हुए हैं। इन आचार्यों में पण्डितराज जगन्नाथ सर्वप्रमुख हैं। काव्य के लक्षण प्रस्तुत करते हुए वह रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को 'काव्य' कहते हैं।

रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।[29]

पण्डितराज जगन्नाथ काव्य में शब्द को महत्ता देते हुए काव्य को रमणीय अर्थ का प्रतिपादक मानते हैं। स्पष्ट है कि वह 'विशिष्ट शब्दवादी' हैं। वह काव्य–लक्षण का विस्तृत विवेचन करते हैं।[30] पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा

---

[28] आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, संपादक – सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, संवत् 2014, पृ.सं. 23

[29] जगन्नाथ, पण्डितराज, रसगंगाधर, संपादक – चिन्मय चैटर्जी, द ऐशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, पृ.सं. 6

[30] 'रमणीयता च लोकोत्तराल्हादजनक ज्ञान गोचरता। लोकोत्तरत्वं चाल्हादगतश्चमत्कारत्वापरर्यायोऽनुभव साक्षिको जाति विशेषः। कारणं च तदवच्छिन्ने भावना–विशेष पुनरनुन्धानात्मा। 'पुत्रस्ते जातः', 'धनं ते दास्यामि' इति वाक्यार्थधीजन्यस्याल्हादस्य न लोकोत्तरत्वम्। अतो न तस्मिनंवाक्ये काव्यत्व प्रसक्तिः।'
'इत्थं च चमत्कारजनक भावनाविषयार्थ प्रतिपादक शब्दत्वम् यत्प्रतिपादितार्थ विषयक भावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्वम।'
'स्विविशिष्टजनकतवाच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेणचमत्कारत्ववत्वमेव काव्यत्वमिति फलितम्।' (रसगंगाधर)

प्रस्तुत काव्य–लक्षण का डॉ. प्रेमस्वरूप गुप्त अपने शोध 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' में विश्लेषण करते हैं। वह लिखते हैं –

> ''पण्डितराज ने यहाँ तीन काव्य लक्षणों को प्रस्तुत किया है अथवा यों कहिए, नैयायिक निरूपण प्रक्रिया को अपनाकर ही काव्य लक्षण को सामान्य, परिष्कृत एवं निष्कृष्ट या फलित रूप में प्रस्तुत किया है। यह निरूपण नैयायिक पदावली के प्रयोग से कुछ दुरूह–सा हो गया है। अतः उसपर एक व्याख्यात्मक दृष्टिपात की अपेक्षा है।''[31]

पण्डितराज का उपर्युक्त काव्य–लक्षण 'सामान्य लक्षण' के अंतर्गत आता है। वह सामान्य लक्षण प्रस्तुत करते हुए 'शब्द' को सामान्य अर्थ का प्रतिपादक ना कहकर रमणीय अर्थ का प्रतिपादक कहते हैं। सामान्य शब्द प्रयोग से काव्य–भाषा के 'शब्द' अपूर्व आह्लाद की सृष्टि करते हैं। काव्य–भाषा का प्रतिपाद्य भाषागत सामान्य शब्द से भिन्न होता है। काव्य–भाषा के इसी भिन्न प्रतिपाद्य को कुंतक 'स्वस्पन्दसुंदर', आनंदवर्धन 'सहृदयश्लाघ्य' तथा पण्डितराज 'रमणीय' कहते हैं। 'रमणीयता' को पण्डितराज लोकोत्तर आह्लादजन्य ज्ञान का विषय बनने वाला वस्तु धर्म कहते हैं। उनकी दृष्टि में 'रमणीयता' ही 'ज्ञानगोचरता' है। अर्थात् रमणीय वस्तु हमारे ज्ञान में काव्यानुभूति में आकर लोकोत्तर आह्लाद की सृष्टि करती है। 'रमणीय अर्थ का यह धरातल स्थूल या भौतिक नहीं है, सूक्ष्म और मानसिक है।'[32] वह काव्य के आह्लाद को लौकिक नहीं, 'लोकोत्तर' कहते हैं। लोकोत्तर का अर्थ – लोक का परिष्कृत आनंद। लौकिक आह्लाद तथा लोकोत्तर आह्लाद को पृथक दिखाने के लिए पण्डितराज 'लोकोत्तर आह्लाद' को 'चमत्कारत्व' में ले जाते हैं। यह चमत्कार कौतूहल नहीं बल्कि काव्यानुभूति की अपूर्वता का परिणाम है।

इस समग्र विवेचन को दृष्टिगत करें तो 'काव्य' को परिभाषित करते हुए यह आचार्य 'काव्य' और 'सहृदय' को विचार के मूल में रखते हैं। यह अवश्य है कि काव्यशास्त्रीयों का लक्ष्य 'काव्य' के लक्षणों को प्रस्तुत करना रहा है परन्तु इससे वह काव्य के लक्ष्य को नहीं भूल जाते, जो कि 'सहृदय' है। सरल शब्दों में कहा जाये तो 'काव्य' की सार्थकता 'सहृदय' को आनन्दानुभूति कराने में है। आचार्य विश्वनाथ 'रस' के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए उसे 'ब्रह्मानन्द सहोदर' की संज्ञा भी देते हैं। अर्थात् जीव को जिस आनन्द की प्राप्ति ब्रह्म से आत्मसात् होने में होती है वहीं आनन्द काव्य में 'रसानुभूति' से होता है। 'साधारणीकरण' का विमर्श सहृदय द्वारा रसानुभूति पर ही आधृत है। दरअसल 'रसानुभूति' ही काव्य जनित आनन्द है। इसी प्रकार जब दण्डी काव्य–लक्षण को बताते हुए 'इष्टार्थ' की बात करते हैं तो वह भी सहृदय को ही लक्ष्य करते हैं, क्योंकि इष्टार्थ की प्राप्ति सहृदय को ही होगी। अतः यह 'इष्टार्थ' व्यंजित होता है। इस व्यंजना में आनन्द का पक्ष भी प्रबल रूप से समाहित है। इसी प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ काव्य–लक्षण को बताते हुए उसे रमणीय अर्थ का प्रतिपादक कहते हैं। दरअसल यह 'रमणीय अर्थ' भी काव्यानन्द को लक्षित कर कहा गया है, जो कि सहृदय

---

[31] पालीवाल, कृष्णदत्त, साहित्य की अवधारणा, एम.एच.डी.–5, इग्नू, दिल्ली, पुर्नमुद्रित संस्करण 2015, पृ.सं. 13

[32] पालीवाल, कृष्णदत्त, साहित्य की अवधारणा, एम.एच.डी.–5, इग्नू, दिल्ली, पुर्नमुद्रित संस्करण 2015, पृ.सं. 14

को प्राप्त होता है। कुंतक के लक्षण में भी 'तद्विदाह्लादकारिणी' अर्थात् आह्लादकारी होने का लक्ष्य है, अर्थात् जो सहृदय को आह्लादित कर सके। दरअसल काव्य का लक्ष्य 'सहृदय' या पाठक है तथा काव्य इसी सहृदय को लक्ष्य कर रचना करता है। कहा जाये तो 'काव्य' सहृदय की आनन्दानुभूति का कारण है। अतः काव्यशास्त्रीय चिंतन में सहृदय वह केन्द्रीय–धुरी है जिसको स्मृत करते हुए काव्य–लक्षण को प्रस्तुत किया गया है।

जैसाकि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'काव्य' का एक लक्ष्य सहृदय को आनन्दानुभूति कराना है। लेकिन यह आनन्दानुभूति उच्च लक्ष्यों से प्रेरित है, ना कि स्थूल इन्द्रिय–सुखानन्द देना। इसे काव्य के प्रयोजन से भी समझा जा सकता है। संस्कृत के आचार्य काव्य को उच्च उद्देश्यों से प्रेरित मानते हैं। इसी संदर्भ में कृष्णदत्त पालिवाल कहते हैं कि

> ''संस्कृत के रचनाकारों और आचार्यों ने जीवन के सभी पक्षों की अभिव्यक्ति या समग्रता में जीवन–सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को 'काव्य–प्रयोजन' या सृजन–उद्देश्य माना है।''[33]

जीवन–सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लक्ष्य के कारण संस्कृताचार्य 'काव्य' को पुरूषार्थ–चतुष्ट्य का साधन मानते हैं। भरत मुनि 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य एवं काव्य के प्रयोजन को बताते हुए लिखते हैं –

धर्म्यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।

लेकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।। (नाट्यशास्त्र)

भरत नाट्य या काव्य को धर्म, यश, आयु का साधक, लोक–कल्याणकारी, बुद्धि का वर्द्धक तथा लोकोपदेशक माना है। यदि इन प्रयोजनों को देखें तो स्पष्ट होगा कि संस्कृत में काव्य कोई निष्क्रिय कवि–कर्म नहीं है। बल्कि वह तो समाज को उत्कृष्टता तक ले जाने के लक्ष्य से प्रेरित है और यह लक्ष्य भारतीय–दर्शन के अनुसार पुरूषार्थ–चतुष्ट्य की प्राप्ति द्वारा संभव है। इसीलिए भामह काव्य के प्रयोजन में पुरूषार्थ चतुष्ट्य को स्थान देते हैं –

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचश्रव्यं कलासु च।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यं निषेवणम्।। (काव्यलंकार 1.2)

वह पुरूषार्थ–चतुष्ट्य के साथ–साथ कलाओं में विलक्षणता, प्रीति एवं कीर्ति को भी काव्य का प्रयोजन मानते हैं। इसी प्रकार की दृष्टि कुंतक की वक्रोक्ति जीवितम में भी देखने में आती है –

धर्मादिसाधनोयायः सुकुमार क्रमोदितः।

---

[33] पालिवाल, कृष्णदत्त, काव्य प्रयोजन (साहित्य की अवधारणा), एम.एच.डी.–5, इग्नू, दिल्ली, पुर्नमुद्रित संस्करण 2015, पृ.सं. 41

काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।। (वक्रोक्ति जीवितम 1–3)

अतः पुरूषार्थ चतुष्ट्य को ही काव्यशास्त्रीयों ने काव्य का प्रयोजन माना है। भारतीय विद्वान पुरूषार्थ चतुष्ट्य में ही मनुष्य के इहलौकिक तथा पारलौकिक लक्ष्यों को समाहित मानते हैं। इसीलिए पुरूषार्थ चतुष्ट्य का प्रयोजन किसी विषय–विशेष से ऊपर उठकर भारतीय वाङ्ग्मय का प्रयोजन बनता है। बहरहाल पुरूषार्थ चतुष्ट्य का मूल ही मनुष्य का समग्र विकास (भौतिक तथा आध्यात्मिक) करना है। कहा जाये तो पुरूषार्थ चतुष्ट्य पर विचार करना लोक–कल्याण को केन्द्र में रखना हो जाता है। लोकमंगल की इसी भावना को लेकर इतिहास तथा साहित्य दोनों अग्रसरित होते हैं।

काव्य–प्रयोजन की लोक–कल्याणकारी चेतना के प्रभाव में ही 'काव्य–आनन्द' को व्याख्यायित करने की आवश्यकता महसूस होती है। दरअसल काव्य जनित आनन्द इन्हीं वृहत् लक्ष्यों को लेकर प्रेरित है। आचार्य विश्वनाथ रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसे 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहते हैं। अर्थात् रसानन्द ब्रह्म की प्राप्ति में होने वाले आनन्द के समान है। ऐसा कहते हुए वह उसे भारतीय–दर्शन के अनुरूप आध्यात्मिक लक्ष्यों की ओर ले जाता है। वहीं पुरूषार्थ चतुष्ट्य में मोक्ष की परिकल्पना भी ब्रह्म से जुड़ती है। अतः समग्र रूप में काव्य–जनित–आनन्द भारत में मौजूद दार्शनिक–आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के अनुरूप चेतनागत होता है। यह भारतीय–दर्शन का प्रभाव ही है कि काव्य का सूक्ष्म–चिंतन की ओर भी साथ–ही–साथ विकास होता है, जिसे काव्यशास्त्रीयों के लक्षणों, हेतु एवं प्रयोजन के साथ–साथ उनके मतों में भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

साहित्य तथा इतिहास का अंतःसंबंध :– समकालीन–इतिहास के स्वरूप पर विचार करें तो स्थूल सत्य की खोज ही इसका लक्ष्य है। यह स्थूलता ही सभ्यता को इतिहास की विषयवस्तु के केन्द्र में स्थापित करती है। सभ्यता का इतिहास लिखते हुए इतिहासकार यथार्थ के पुनर्निर्माण की कोशिश करता है। साहित्य के विपरीत इतिहास क्षणिक होता है। इतिहास में प्रत्येक क्षण का विशेष महत्व होता है। इसी कारण इतिहास में काल का निर्धारण एवं प्रमाणिकरण दोनों महत्वपूर्ण होता है। काल के साथ–साथ देश एवं वातावरण की प्रामाणिकता भी अतीत के अधिक निकट ले जाती है। यह स्थूल तत्व ही इतिहास को यथावत् पुनर्निर्मित करने का माध्यम बनता है। मूल स्वरूप में इतिहास साहित्य का विरोधी ही प्रतीत होता है। परन्तु मध्यकाल में इतिहास तथा साहित्य समान भूमि पर आकर इतिहास–लेखन को पुष्ट करता है।

इतिहास का वर्तमान दृष्टिकोण साहित्य का विरोधी है परन्तु भारतीय इतिहास की अवधारणा इससे कुछ अलग दिखाई पड़ती है। महाभारत में मौजूद इतिहास की अवधारणा उसे सूक्ष्म सत्य की खोज की दिशा में ले जाती है। सूक्ष्म सत्य से अभिप्राय ब्रह्म की प्राप्ति से है। इस अवधारणा के अनुसार इतिहास का लक्ष्य पुरूषार्थ चातुष्ट्य (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के उपदेश से समन्वित पूर्ववृत्त आख्यान कहना है। उपदेशात्मक कथन यथार्थ के आग्रह के विपरीत आदर्श की प्रतिस्थापना पर जोर देता है। आदर्श स्थापना का लक्ष्य भविष्य का मार्गदर्शक होने में है। समकालीन इतिहास भी अतीत को शिक्षाप्रद रूप में ही ग्रहण करते हुए भविष्य का

मार्गदर्शक बनता है। परन्तु इन दोनों भूमियों में अंतर दृष्टिगत है। भारतीय इतिहास आदर्शोन्मुख होते हुए आगे बढ़ता है जबकि समकालीन इतिहास यथार्थ को महत्वपूर्ण मानता है। दोनों ही अतीत की पुनर्रचना करते हैं।

मध्यकालीन हिंदी साहित्य के अंतर्गत ब्रज तथा अवधी प्रमुख साहित्यिक भाषा के रूप में दिखाई देती है। शिष्टभाषा तथा लोकभाषा में विभाजित करके देखें तो ब्रज एवं अवधी लोकभाषा के रूप में गृहित होती है। जबकि शिष्टभाषा का दर्जा संस्कृत को प्राप्त रहा। ऐसे में 'लेखन की सजगता' भक्तिकाल में दिखाई नहीं देती। इसी कारण लिखित प्रारूप के आधार पर विषय–विभाजन मध्यकाल में संभव नहीं। बल्कि मौखिक–परंपरा में विकास करने के कारण साहित्यिकी (साहित्य–सौष्ठव) के साथ मध्यकालीन–साहित्य निर्मित होता है। इसीलिए भक्तिकाल का लेखन भावमूलक अधिक है। चमत्कृत करने का भाव यहाँ कम है। 'वार्ता–साहित्य' भी भावमूलक भक्ति का एक भेद है। लोकभाषा में इतिहास–पुराण परंपरा का आंशिक विकास 'वार्ता–साहित्य' में होता है। पुराण में मौजूद ऋषि–मुनियों का परिचयात्मक विवरण वार्ता–साहित्य में भक्त एवं भक्त–कवियों के वर्णन में ढलता है। लोकभाषा की प्रवृत्तियाँ वार्ता–साहित्य में इतिहास की भारतीय अवधारणा को रूपाकृत करती हैं। मौखिकता वार्ता–साहित्य को विषयवस्तु चयन की दृष्टि प्रदान करती है।

मध्यकाल में 'इतिहास–लेखन' 'साहित्य' की प्रवृत्तिगत संश्लिष्टता के साथ निर्मित होता है। परन्तु इस प्रवृत्तिगत संश्लिष्टता से पूर्व साहित्य और इतिहास के आपसी अलगाव पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है। मध्यकाल में 'साहित्य' तथा 'इतिहास' के बीच तीन तरह के अलगाव दिखाई देते हैं। यह अलगाव विषयगत धूरियाँ निर्मित करते हैं, जो कि सन्निकट होते हुए भी एक–दूसरे से आधारभूत रूप से भिन्न हैं। यह धुरी – 'साहित्यिक इतिहास' (साहित्य का इतिहास), 'साहित्य में इतिहास' तथा 'साहित्य के माध्यम से इतिहास' – के इर्द–गिर्द निर्मित होती है। इन धूरियों में 'साहित्यिक इतिहास' मूलतः आधुनिक इतिहास की एक शाखा है। जबकि अन्य दो धुरी में 'साहित्य' क्रमशः साध्य (साहित्य में इतिहास) तथा साधन (साहित्य के माध्यम से इतिहास) है। साध्य रूप में 'साहित्य' का उद्देश्य लोक आह्लाद ही रहता है, जहाँ इतिहास का कथ्य साहित्यिक–चमत्कार पैदा करने के उद्देश्य से उपस्थित होता है। इस प्रकार के साहित्य में रचनाकार का ध्यान साहित्य–सौष्ठव की ओर अधिक रहता है। वहीं साधन रूप में 'साहित्य' माध्यम का कार्य करता है। अर्थात् रचनाकार साहित्य की तकनीकों का प्रयोग करते हुए इतिहास को रचता है। साहित्यिक–सौष्ठव इस प्रकार के लेखन में भी दिखाई देता है परन्तु ऐतिहासिक–कथ्य प्रस्तुत किए जाने के कारण रचनाकार पाठक को चमत्कृत करना अपना लक्ष्य नहीं बनाता। साहित्य–सौष्ठव को ध्यान में रखने का उसका एकमात्र उद्देश्य पाठकों को आकर्षित करने का ही रहता है। वह ऐतिहासिक–कथ्य को प्रस्तुत करने के साथ–साथ साहित्यिक उत्कृष्टता भी बनाये रखने का प्रयास करता है। बाद की दो धूरियों के अंतर अथवा सीमा को आनुपातिक रूप में ही चिंह्ति किया जा सकता है। सरल शब्दों में कहा जाये तो रचनाकार का बहुतांश झुकाव 'इतिहास' तथा 'साहित्य' के विभाजन को निर्धारित करता है। प्रस्तुत शोध इसी अनुपातिक संबंध को लक्ष्य कर इतिहास–साध्य–साहित्य के स्वरूप को प्रस्तुत करता है।

दरअसल साहित्य को साध्य और साधन की दो धूरियों केवल साहित्य–सौष्ठव के अंतर से व्याख्यायित करना संभव नहीं। अपितु इन दोनों के मूल में साहित्य तथा इतिहास की चेतना है, जो इन्हें दो अलग धूरियों

पर खड़ा करता है। देखा जाये तो साहित्य और इतिहास दोनों का प्रयोजन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति है। महाभारत में 'इतिहास' की परिभाषानुसार :–

धर्मार्थकामोक्षणोपदेश समन्वित्।
पूर्ववृत्त कथायुक्त इतिहास प्रचक्षते।।

वहीं भामह के अनुसार 'काव्य' का प्रयोजन कुछ इस प्रकार है :–

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचश्रव्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यं निषेवणम्।।

इन उपर्युक्त प्रयोजन के अनुसार काव्य तथा इतिहास दोनों का लक्ष्य पुरूषार्थ चतुष्ट्य की स्थापना है। लेकिन अंतर उस प्रयोजन से पूर्व–प्रक्रिया में आता है। काव्य मूलतः सृजनात्मक कर्म है। यह सृजन कवि की कल्पना–शक्ति पर निर्भर करता है। वह कल्पना तथा यथार्थ को नव–सृजनात्मक लक्ष्य के निमित्त प्रयोग करता है। कवि के समक्ष कथ्य–निर्मित करने का कोई बंधन नहीं होता। जबकि वहीं इसके विपरीत इतिहास का लेखन करते हुए कवि ही कुछ बंधनों से होकर गुजरता है। जैसा कि इतिहास की उपर्युक्त परिभाषा में भी कहा गया है कि इतिहास 'पूर्ववृत्त' को प्रस्तुत करता है या अभिव्यक्त करता है। अर्थात् वह पूर्व का या अतीत का वृत्त प्रस्तुत करता है। पूर्ववृत्त होने के कारण कवि के समक्ष अतीत के ही काव्य को कहने की सीमा होती है। उसकी स्वतंत्रता केवल उसे नये सृजनात्मक रूप में कहने की होती है। इसके बावजूद वह अतीत के यथार्थ से दूर नहीं जा सकता। वह पूर्ववृत्त प्रस्तुत करते हुए प्रकृति–चित्रण, ऋतुवर्णन आदि का प्रयोग उसे अलंकृत करने के लिए कर सकता है परन्तु कथ्य में पूर्णतः बदलाव उसके अधिकार में नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि कवि–कल्पना सामान्यतः पूर्ववृत्तों को आदर्श की भूमि पर पहुँचाने के लिए उनमें अतिश्योक्ति भी पैदा कर देती है। परन्तु इससे वह अतीत की मूल चेतना को खण्डित नहीं करते। बल्कि कवि अतीत की यथार्थ–चेतना के माध्यम से आदर्श की स्थापना का प्रयास करता है, जो कि देश एवं काल की सीमा से परे हो। समग्र रूप में कहा जाये तो साहित्य–कर्म तथा इतिहास–कर्म दो भिन्न उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ता है।

मध्यकालीन इतिहास–लेखन की भारतीय परंपरा साहित्य तथा इतिहास की संश्लिष्टता से परिपूर्ण है। इसमें साहित्यिक आह्लाद उत्पन्न करने का उद्देश्य कम तथा चरित प्रस्तुतिकरण पर अधिक जोर है। मोटे शब्दों में कहा जाये तो साहित्य की उपस्थिति 'लेखन' (साधन) की कमी को पूरा करने के उद्देश्य से इतिहास के साथ उपस्थित होती है। वर्तमान में साहित्य तथा इतिहास प्रवृत्तिगत रूप से विरोधी दिखाई देते हैं। जबकि भारतीय दृष्टिकोण से साहित्य तथा इतिहास का पारिभाषिक विश्लेषण करे तो यह दोनों विषयगत तथा स्वरूपगत रूप से निकट जान पड़ते हैं। इसी कारण साहित्य तथा इतिहास का समकालीन द्वैत मध्यकाल में अद्वैत में परिवर्तित हो जाता है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि मध्यकालीन इतिहास की प्रवृत्तिगत विशेषताओं में साहित्य बाह्य–पक्ष के रूप में योगदान देता है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो साहित्य तथा इतिहास के प्रगाढ़ स्वरूप को भारतीय इतिहास की विशेषता के रूप में रेखांकित किया जाना चाहिए। यह प्रगाढ़ता 'साहित्य' की मूलभूत प्रवृत्तियों के कारण भी निर्मित होती है। पिछले अध्याय में बताया गया है कि भारतीय वाङ्गमय कई स्तरों पर

अपनी भूमिका का निर्वाह करता है। इसी प्रकार 'इतिहास' की भूमिका भी बहुमुखी रूप से अग्रसरित होती है। 'इसका पहला पक्ष अतीत को प्रस्तुत करता है तो दूसरा लोक के समक्ष आदर्श को गढ़ता है। वहीं इसका तीसरा पक्ष धर्म–भावना से प्रेरित होकर भक्ति करना है तो चौथा पक्ष संप्रदाय–मत के प्रचार–प्रसार के उद्देश्य से निर्मित होता है और पाँचवा पक्ष उसे साहित्य की भूमि पर ही स्वीकार करता है।'

मध्यकाल में 'भक्ति' 'इतिहास' की मूल आत्मा है, जहाँ वह लोक के व्यावहारिक–पक्ष तथा शास्त्र की सैद्धांतिकी दोनों से पुष्ट होता है। दरअसल लोक का व्यावहारिक–पक्ष ही तत्कालीन शास्त्रगत रूढ़ियों के प्रतिरोध में खड़ा होता है। कहा जाये तो यह व्यावहारिक–पक्ष लोक की मांग है, जो भक्तिकालीन जन–जागरण की चेतना को उद्‌बुद्ध करती है। इसीलिए लोक–चेतना मध्यकाल की मूलभूत विशेषता बनती है। व्यावहारिक–पक्ष की ओर ही लोक का अधिक झुकाव दिखाई देता है। यही कारण है कि मध्यकाल में शास्त्रीय खण्डन–मण्डन की परंपरा नहीं पनपती। लोकभाषा में शास्त्रीय–चिंतन का न पनपना तत्कालीन धार्मिक रूढ़िग्रस्त परिस्थिति का भी परिणाम रहा। बहरहाल वार्ता–साहित्य इसी व्यावहारिक–पक्ष का साहित्यिक–प्रतिरूपण है। दरअसल यह व्यावहारिक पक्ष ही मध्यकाल की लोक–चेतना है। यह लोक–चेतना कई स्तरों पर इतिहास को प्रभावित करती है। 'इतिहास' लोक–सापेक्षता में बहुमुखी भूमिका का निर्वाह करता है। दरअसल यह भूमिका इतिहास का कर्तव्य है। व्यापक–दृष्टि के साथ कहा जाये तो भारतीय वाङ्‌मय भी लोक–सापेक्षता में अपनी कर्तव्यपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। बहरहाल 'भक्ति' का दर्शन मध्यकालीन इतिहास में आंतरिक रूप से बहता है। वहीं भारतीय दृष्टिकोण ईश्वर–अराधना के साथ–साथ 'चारित्रिक–शुद्धता' पर जोर देता है। यह शुद्धता किसी बाह्य दबाव का प्रतिफल ना होकर आंतरिक–सुगढ़ता का परिणाम रही है। यह आंतरिक–सुगढ़ता ही आध्यात्मिक–उत्थान की दिशा में अग्रसरित होती है। अतः आध्यात्मिक–उत्थान का लक्ष्य ही मनुष्य को महत्वपूर्ण बना देता है, क्योंकि सृष्टि के जीवों में केवल मनुष्य ही आध्यात्मिक–उत्थान की आकांक्षा से प्रयासरत हो सकता है। यह आध्यात्मिक–उत्थान सामाजिक तथा व्यक्तिगत दोनों स्तरों पर आगे बढ़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्तिगत–उत्थान ही सामाजिक–उत्थान का कारण बनता है। इसीलिए व्यक्ति का आत्मिक उत्थान भारतीय इतिहास का लक्ष्य बनता है। मध्यकालीन हिंदी वार्ता–साहित्य इसी आत्मिक–उत्थान के प्रयोजन को आत्मसात करता है। आत्मिक–उत्थान की यह दिशा इतिहास–पुराण–परंपरा का ही क्रमिक विकास है। इस संबंध में आचार्य बलदेव उपाध्याय का मत द्रष्टव्य है –

> ''इतिहास प्राचीन आख्यानों का वर्णन करता है, परन्तु उसका भी क्षेत्र इतना सीमित नहीं है अर्थात् वह केवल तिथिक्रम और घटना का संकलनमात्र नहीं है, प्रत्युत नाना विषयों की शिक्षा देकर तथा लोक–व्यवहार के तत्वों को प्रकटित कर वह मानव के हृदय से मोह तथा अज्ञान का भी निवारण करता है।''[34]

[34] उपाध्याय, आचार्य बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण 2015ई., पृ.सं. 7

दरअसल 'अज्ञानता का निवारण' ही वह मंगल तत्व है जो इतिहास को अर्थवान बनाता है तथा यही उसे काल तथा देश की सीमा से ऊपर ले जाता है। मध्यकालीन हिंदी इतिहास–लेखन भी इसी प्रवृत्तिगत दिशा को प्राप्त करता है। वार्ता–साहित्य में संकलित 'भक्त' इसी भूमि पर सर्वकालिक होते हुए लोक में गृहित होते हैं।

आध्यात्मिक–उत्थान काव्य का भी प्रयोजन रहा है। इतिहास आध्यात्मिक–उत्थान के प्रयोजन को 'पुरूषार्थ–चतुष्ट्य' के उपदेशात्मक अभिव्यक्ति द्वारा पूर्ण करता है। वहीं 'काव्य' (साहित्य) का भी प्रयोजन पुरूषार्थ–चतुष्ट्य है। इसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। काव्यत्व–पूर्ण अभिव्यक्ति के साथ 'काव्य' उच्च प्रयोजनों के साथ आगे बढ़ता है। अंतर काव्य के मूलभूत स्वरूप के कारण आता है। इतिहास अतीत के माध्यम से उन प्रयोजनों को पूर्ण करता है तो काव्य 'रमणीयार्थ प्रतिपादक' शब्द के माध्यम से। काव्य में रचनाकार के पास कल्पना के प्रयोग की छूट भी होती है। परन्तु इतिहास में रचनाकार कल्पना के प्रयोग में मुक्तहस्त नहीं होता।

'अज्ञानता का नाश' ही भारतीय वाङ्ंमय का सर्वांगपूर्ण प्रयोजन रहा है। इसी दृष्टिगत भूमि पर इतिहास तथा साहित्य का भी समन्वय होता है। 'इतिहास' अतीत का आदर्शात्मक रूप खड़ा करते हुए उसे शिक्षाप्रद बनाता है। आदर्श–स्थापना में कल्पना का समावेश भी महत्वपूर्ण होता है। यह कल्पना साहित्य के साथ इतिहास में स्थान बनाती है। साहित्य की सृजनशीलता इतिहास के आदर्श को रूप प्रदान करती है। दरअसल साहित्य अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप एक आदर्श मूल्य–जगत का सृजन करता है, जिसके लिए वह इतिहास का आश्रय लेता है। इसी संश्लिष्टता में इतिहास तथा साहित्य एक दूसरे के उपजीवी हो जाते हैं। 'इतिहास' साहित्य का पूरक होता है तो 'साहित्य' इतिहास का पूरक।

भारतीय दर्शन सभी ज्ञान–विज्ञान विषयों का मूल रहा है। कहा जाये तो वह इन विषयों की धुरी बनकर इनके स्वरूप, प्रक्रियाओं तथा लक्ष्यों को प्रभावित करता है। इसकी अहम भूमिका साहित्य तथा इतिहास को समान धरातल पर लाकर इतिहास–लेखन को विकसित करने में रही है। भारतीय दृष्टिकोण जीवन के स्थूल सत्य से ऊपर सूक्ष्म सत्य को स्वीकार करता है। 'अज्ञानता' को दार्शनिक भूमि पर ही परिभाषित किया गया है। इसी अज्ञानता का निवारण सत्य से साक्षात्कार है। अतः दर्शन इसी सूक्ष्म सत्य पर विचार करता है। भारतीय दर्शन इसी सूक्ष्म सत्य को खोजने का प्रयास करता है। इसी सूक्ष्म सत्य की खोज आम दृष्टिकोण को लोकोत्तर होने की प्रेरणा देती है। लौकिक होने का आग्रह यहाँ कमतर होता है, न कि पूर्णतः समाप्त। भारतीय (भारतीय अध्यात्म का अनुकरण करने वाला व्यक्ति) 'लोक' से लोकोत्तर तथा अलौकिक सत्य तक पहुँचना ही अपना ध्येय मानता है। इस क्रम में लोक–संबंद्धता भी एक चरण का कार्य करती है। लोक संबंद्ध हुए बिना अलौकिकता को प्राप्त करना असंभव माना गया है। यह पूर्ण प्रक्रिया कर्म को महत्ता देती है। यहाँ कर्म वह साधन है जिसमें सम्मिलित होते हुए स्वयं को विक्षिप्त करना आरम्भिक क्रिया मानी गई है। अर्थात् लोक–कर्म–संबद्ध होते हुए विषय–मुक्त हो जाना आरम्भिक क्रिया है। कबीर इसी उद्देश्य को लोक के समक्ष स्थापित करते हैं। अलौकिक सत्य तक पहुँचने का प्रयास सभी ज्ञान–साधनाओं का मूल हेतू रहा है। यह लोक–संबद्ध–अलौकिकता का आग्रह भारतीय वाङ्ंमय में मौजूद ज्ञान–विषयों में स्थूल तत्वों पर कम तथा सूक्ष्म तत्वों को निर्मित करता है। यही कारण है कि साहित्य तथा इतिहास की भूमि समान रूप से स्थूल तत्वों

पर अधिक जोर नहीं देती। जैसा कि वर्तमान इतिहास की मांग है (अर्थात् देश–काल–वातावरण के स्थायीत्व की मांग)। अतः इतिहास भी इसी लोक–संबद्ध–अलौकिकता का मार्ग प्रशस्त करता है।

मध्यकाल में 'भक्ति' का उद्देश्य भी इसी निर्मुक्तता को प्राप्त करने का रहा है। 'भक्ति' मध्यकालीन जन को उस परब्रह्म तक जाने को प्रेरित करती है। यदि भक्ति के स्वरूप को रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में परिभाषित करें तो भक्ति प्रेम तथा श्रद्धा का संश्लिष्ट रूप है। मनुष्य ईश्वर के प्रति श्रद्धायुक्त प्रेम व्यक्त करता है। वह भगवान से भावभूमि पर एकात्मता को प्राप्त करना चाहता है। 'भाव एवं संवेदनामयी एकात्मता' वह मुक्ति है जिसे दर्शन 'मोक्ष' के रूप में परिभाषित करता आया है। भक्ति भी इसी मोक्ष को परिभाषित करते हुए प्रत्येक मनुष्य तक उसकी पहुँच स्वीकारती है। 'हरि को भजै सो हरि का होई' का चिंतन इसी सर्वसुलभता को दिखाता है। अतः भक्ति के विकास के साथ व्यक्ति केन्द्र में आता है। मध्यकालीन वार्ता–साहित्य उसी व्यक्ति को केन्द्र में रखते हुए इतिहास–लेखन करता है। वार्ता–साहित्य का मूल कथ्य भक्त–चरित्र को केन्द्र बनाता है तथा वार्ताकार प्रत्येक भक्त के माध्यम से व्यक्तिगत गुणों एवं भक्ति–पद्धति को सामने रखता है। भक्त–चरित्रों के गुण ही वार्ता–साहित्य का व्यावहारिक–पक्ष है, जिसे लोक अपने व्यवहार में ढालता है। अतः वार्ताओं का कथ्य 'भक्ति' की मूल चेतना के अनुकूल है। इसी व्यक्ति–केन्द्रित–सत्य का संधान वार्ता–साहित्य निरंतर ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से करता है। वार्ताकार ऐतिहासिक चरित्रों का चित्रण ही नहीं करता बल्कि उनका निर्माण भी करता है। इसीलिए वार्ता–साहित्य 'सत्य का संधान' है। भक्ति–दर्शन उस कथ्य को अर्थमयी बनाता है। यह अर्थमयता समकालीन उद्देश्य को पुष्ट करती है। या कहा जाये कि समकालीन मांग की प्रासंगिकता में वार्ता–साहित्य का कथ्य अर्थपूर्ण होता है। समकालीन होने के साथ–साथ वह सर्वकालिकता को भी प्राप्त करता है। जबकि वर्तमान इतिहास–लेखन ऐतिहासिक–कथ्य को अतीत के परिवेश में अर्थवान करता है। उसकी वर्तमान प्रासंगिकता विश्लेषण की मांग रखती है। जबकि वार्ता–साहित्य की प्रासंगिकता विश्लेषण की मांग नहीं रखती। बल्कि उसका लेखन ही सर्वकालिकता को ध्यान में रखकर होता है। कहा जाये तो अतीत की सर्वकालिकता मध्यकालीन इतिहास–लेखन में निर्मित होती है। यही मध्यकालीन इतिहास–लेखन का वैशिष्ट्य है।

साहित्य का मूल स्वरूप शाश्वतमय है, क्षणिक नहीं। यह शाश्वतता ही साहित्य को सार्वभौमिक होने की दिशा में अग्रसरित करती है। यही कारण है कि साहित्य 'मूल्य आधारित चिंतन' को अधिक महत्व देता है। यह चिंतन लोक–सापेक्षता में अर्थगर्भित होता है। साहित्य की उत्कृष्टता कालातीत होने में है, न कि कालबद्ध होने में। भाव एवं विचारों की प्रकृति भी कालबद्धता के स्थान पर कालातीत होती है। साहित्य इन्हीं भाव–सौंदर्य तथा विचार–सौंदर्य के संबल से महानता को हासिल करता है। साहित्य के तत्व भी इसी सार्वभौमिकता की दिशा में साहित्य को ले जाते हैं। 'क्लासिक साहित्य' कहते हुए इसी सर्वकालिकता पर जोर दिया जाता है। वहीं मध्यकालीन इतिहास–लेखन साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति पाता है। उदाहरण के लिए वार्ता–साहित्य छंदबद्धता में सृजित होता है। साहित्य की सृजनशीलता तथा इतिहास–वस्तु की वस्तुनिष्ठता मिश्रित रूप में वार्ता–साहित्य को आकार प्रदान करती है। यदि देखा जाये तो भारतीय इतिहास–लेखन का प्रयोजन उसे शाश्वतता प्रदान करता है। (इसे प्रथम अध्याय में रेखांकित किया जा चुका है।) उन्हीं प्रयोजनों

को लक्ष्य कर मध्यकालीन इतिहास–लेखन भी अग्रसरित होता है। भक्तों के चारित्रिक गुणों तथा भक्ति के सार्वभौमिक–स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए इतिहास का स्वरूप शाश्वतता को प्राप्त करता है। निष्कर्षतः साहित्य तथा इतिहास की प्रवृत्ति सार्वभौमिकता को स्वीकार करती है। भारतीय इतिहास का शाश्वतमयी स्वरूप साहित्य की 'क्लासिकी' के साथ समान भूमि पर विचरण करता है। अतः साहित्य तथा इतिहास दोनों एक समान भूमि पर शाश्वत होने के लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं।

मध्यकालीन इतिहास–लेखन के अंतर्गत वार्ता–साहित्य प्रस्तुत शोध का केन्द्र है। वार्ता–साहित्य का स्वरूप लोक में पुष्ट होता है। उसकी पूर्णता लोक–व्याख्या होने में ही है। कहने का अभिप्राय यह है कि वार्ता–साहित्य की प्रक्रिया केवल वार्ताकार द्वारा लेखन करने तक पूर्ण नहीं हो जाती बल्कि उसकी पूर्णता कथा–वाचकों द्वारा लोक में व्याख्यायित होने में है। अतः मौखिकता उसकी रचना प्रक्रिया तथा व्याख्या दोनों का हिस्सा है। कथावाचन की परंपरा में होने के कारण उसका शाश्वत होना भी जरूरी हो जाता है। इसीलिए लेखन के स्तर के साथ–साथ कथा–वाचकों द्वारा भी उसे शाश्वत गुणों के रूप में विस्तारित किया जाता है। वर्तमान में भी 'भक्तमाल' की कथा कही जाती है तथा भक्तों के चरित्र एवं गुणों को आज भी प्रासंगिक रूप में दिखाया जाता है। जबकि यह भक्त ऐतिहासिक हैं। परन्तु इनको वार्ता–साहित्य में स्थान देते हुए उच्च–लक्ष्यों के उदाहरणार्थ लिखा गया है। इसीलिए वार्ता–साहित्य ऐतिहासिक होते हुए भी शाश्वतता को प्राप्त करता है।

मध्यकालीन हिंदी इतिहास–लेखन का उद्देश्य भक्ति के प्रचार के साथ–साथ लोक–संबद्धता भी है। लोक–भाषा में लिखित होने के पीछे भी वार्ता–साहित्य का एक प्रयोजन 'लोक–संबद्ध' होना है। अर्थात् वार्ता–साहित्य लोक में प्रचारित होने के लिए लिखा गया है। ताकि लोक–संबद्ध होते हुए 'भक्ति' जन–जन का हार बन सके। मध्यकालीन हिंदी इतिहास–लेखन इन्हीं उद्देश्यों को लेकर लिखा गया है। अतः लोक की सामान्य प्रवृत्तियाँ मध्यकालीन हिंदी इतिहास–लेखन का विकास करती है। इसीलिए लोक–प्रवृत्तियों को मध्यकालीन इतिहास–लेखन की विशेषता के रूप में देखे जाने की आवश्यकता है। लोक की सामूहिकता का प्रभाव वार्ता–साहित्य पर भी पड़ता है। इतिहास–लेखन में वार्ताकार की दृष्टि लोक–दृष्टि को ही ग्रहण करती है। कहा जाये तो वार्ता–साहित्य लोक–दृष्टि को ही केन्द्र में रखते हुए कथ्य का चयन करता है। यही लोक की सामूहिक दृष्टि वार्ता–साहित्य की भी दृष्टि बन जाती है तथा सामूहिकता मध्यकालीन इतिहास–लेखन की विशेषता। अतः ऐतिहासिकता की भूमि से उठकर 'भक्त–चरित्र' समूह का प्रतिनिधित्व करने लगता है, जिसके उपरांत ही वह सबके लिए सहज–अनुकरणीय होता है।

साहित्य का आंतरिक स्वरूप भावोद्वेलन तथा भावातिरेक पर जोर देता है। प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत–विधान का सृजन किया जाता है। कल्पना के माध्यम से साहित्यकार अप्रस्तुत–विधान को निर्मित करता है। कल्पना का पुट साहित्य को सत्य से दूर ले जाता है। जबकि इतिहास–लेखन के दौरान भी रचनाकार कल्पना का प्रयोग करता है। वह ऐतिहासिक–चरित्रों के संबंध में वर्णन करते हुए अप्रस्तुत–विधान से उनकी तुलना करता है। वहीं 'भक्ति', कहा जाये तो भावभक्ति, इसी भावोद्वेलन की प्रवृत्ति के निकट ठहरती है। 'भावभक्ति' मध्यकाल की विशेषता है। वार्ता–लेखन भी इसी भावभक्ति के निमित्त रूपाकार ग्रहण करता है। यह भावमूलक–रचना मध्यकालीन इतिहास–लेखन को वस्तुनिष्ठता से दूर ले जाती है। लेकिन यह

भावमूलकता ही वार्ता–साहित्य को लोक में गहनता से स्थापित करने में सहायक होती है। भावभक्ति की लोक में प्रधानता के साथ–साथ साहित्य का भावमूलक–लेखन भी वार्ता–लेखन के स्वरूप को निर्मित करता है।

3.3 वार्ता–साहित्य का परिचय, स्वरूप एवं परंपरा

'वार्ता–साहित्य' हिंदी साहित्येतिहास परंपरा की महत्वपूर्ण कड़ी है। मध्यकालीन साहित्येतिहास का सामान्य परिचय इसके अभाव में मुश्किल है। अतः सामान्य दृष्टि वार्ता–साहित्य को इतिहास–सामग्री का महत्वपूर्ण स्रोत स्वीकारती है। साहित्यिक शैली में लिखित होने के कारण वार्ता–साहित्य हिंदी साहित्य के इतिहास की सीमा में आती है। यद्यपि इसकी सामग्री ऐतिहासिक है लेकिन अकादमिक अध्ययन के क्षेत्र में इतिहास विभाग इसे इतिहास–ग्रन्थ न मानकर साहित्यिक कृति की श्रेणी में ही स्थान देता है। जबकि मध्यकालीन कवियों द्वारा सृजित रचनाओं से इतर वार्ता–साहित्य का भिन्न स्वरूप तथा उसकी ऐतिहासिक विषयवस्तु इसे बहुमूल्य बनाती है। मुक्तक शैली का अनुसरण वार्ता–साहित्य में हुआ है। मुक्तक में होने का एक कारण उसकी विषयवस्तु है। वार्ता–साहित्य मूलतः अनेक चरित्रों के परिचयात्मक साहित्य को कहा गया है। डॉ. लालता प्रसाद दुबे विश्लेषणात्मक ग्रन्थ 'हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य' के प्राक्कथन में वार्ता–साहित्य को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि

> ''मध्यकालीन भारतीय धर्म साधना में भक्ति तथा प्रेम के सन्देश द्वारा नया प्राण फूँकने वाले संतों तथा महात्माओं का परिचय जिन प्राचीन ग्रन्थों से प्राप्त होता है उन्हें सुविधा के लिए 'भक्त–वार्ता साहित्य' नाम दिया गया है।''[35]

उपर्युक्त कथन से एक बात स्पष्ट है कि वार्ता–साहित्य की विषयवस्तु परिचयात्मक रूप में ऐतिहासिक चरित्रों को सृजनकर्म के साथ प्रस्तुत करती है। इसका परिचयात्मक स्वरूप प्रत्येक चरित्र के स्वतंत्र वर्णन को प्रधानता देता है। यही कारण है कि वार्ताकार छंदों में मुक्तक शैली का अनुसरण करता है।

पद्य तथा गद्य दोनों रूपों में वार्ता–साहित्य लिखा गया है। परन्तु सामान्यतः वार्ता–साहित्य में पद्यात्मक रूप ही अधिक दिखाई देता है। इसके स्वरूप निर्माण में 'लोक' की भूमिका महत्वपूर्ण है। हिंदी साहित्य का मध्यकाल लोक बोलियों के उदय का भी समय है। सगुण–निर्गुण दोनों धाराएँ लोक को केन्द्र में रखकर आगे बढ़ती हैं। मध्यकालीन संप्रदाय लोक बोलियों में अपने मतों का प्रचार–प्रसार करते हैं। यह परंपरा मूलतः मौखिक रूप में गतिशील होती है। अतः जब इसे लिखित रूप (दूसरे शब्दों में कहा जाये तो कृति) रूप प्रदान किया जाता है, तो मौखिकता की प्रवृत्ति लिखित रूप में भी दिखाई देती है। वार्ता–साहित्य इसका सुदृढ़ उदाहरण प्रस्तुत करता है। नाभादास जिन भक्तों को विषयवस्तु के रूप में स्थान देते हैं उनका

[35] दुबे, डॉ. लालता प्रसाद, हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य, प्रकाशन – साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1968, पृ.स. 5

परिचय या तो पूर्व–पीढ़ियों से या फिर समाज से प्राप्त हुआ है। वार्ताकार तक भक्तों के चरित्र मौखिक परंपरा से ही आते हैं। दूसरी ओर वार्ता का प्रचार भी मौखिक परंपरा में होता है। अतः दोनों ही तरह से लोक की मौखिक परंपरा वार्ता–साहित्य के प्रारूप को निश्चित करती है।

भक्त–कवियों की यह परंपरा लिखित तथा मौखिक दोनों रूपों में लोक–प्रचलित हुई। लिखित रूप में वह साहित्य का विशिष्ट रूप बनता है तो मौखिक रूप में एक व्यवस्था को निर्मित करता है। मध्यकाल तथा वर्तमान में भी श्रीमद्भागवत सप्ताह जैसे आयोजन वार्ता–साहित्य को लेकर भी किये जाते हैं। वृंदावन में यह आयोजन नित्य रूप में द्रष्टव्य है। यह स्पष्ट होना आवश्यक है कि वार्ता–साहित्य केवल साहित्यिक रूप नहीं है अपितु वह सामाजिक–धार्मिक व्यवस्था में रूपांतरित भी है। भक्तों को स्मरण रखने की यह सामाजिक व्यवस्था जनमानस में उन्हें संरक्षित करती है, इसीलिए वार्ता–साहित्य के अंश लोक में जाकर व्याख्यायित होते हैं। भक्त एवं संत लोक में जाकर व्याख्यायित वार्ताओं में स्थान पाते हैं तथा यह वार्ताएँ पुनः लोक में जाकर उन्हें अमर बनाती हैं। अतः लोक–प्रशस्ति प्राप्त करने की यह प्रक्रिया दो स्तरों पर समानांतर आगे बढ़ती है। इसीलिए काव्य में आंशिक वर्णन के साथ लोक द्वारा मौखिक व्याख्या इसकी पूरक है।

वार्ता–साहित्य का मूल कथ्य परिचय तथा उसका रूप काव्य–शैली है। मध्यकालीन पारिभाषिक शब्दावली में 'काव्य' के अंतर्गत गद्य एवं पद्य दोनों समाहित है, परन्तु प्रमुख रूप से वार्ता–साहित्य पद्यात्मक ही अधिक लिखा गया है। भक्तमाल तथा भक्तनामावलियों में पद्यात्मक रूप तथा पुष्टिमार्गीय वार्ताओं के अंतर्गत गद्यात्मक रूप का प्रयोग किया गया है। लालता प्रसाद दुबे वार्ता–साहित्य के विस्तार को देखते हुए रूप–आधारित विभाजन करते हैं। वह इसे पाँच रूपों में बाँटते हैं – भक्तमाल तथा भक्तनामावलियाँ, भक्तमालों की टीका–टिप्पणियाँ, परिचयियाँ, बीतक, पुष्टिमार्गी वार्ताएँ तथा उनकी टीकाएँ।

वार्ता–साहित्य का स्वरूप :– 'वार्ता–साहित्य' हिंदी में भारतीय इतिहास–लेखन परंपरा का विकास है। मध्यकाल के विशेष परिवेश तथा हिंदी लोकभाषा के विकास के साथ 'वार्ता–साहित्य' अपना विशिष्ट स्वरूप निर्मित करता है। वार्ता–साहित्य के संबंध में एक प्रश्न जरूर खड़ा होता है कि उसे 'साहित्यिक कोटि' का ग्रन्थ माने या 'इतिहास कोटि' का? सामान्यतः यह प्रश्न वार्ता–साहित्य के स्वरूप से संबंधित है। यदि वार्ता–साहित्य के बाह्य स्वरूप का अध्ययन करें तो वह 'साहित्य कोटि' में स्थान पाता है। लेकिन वहीं उसके आंतरिक स्वरूप को दृष्टि में रखें तब वह 'इतिहास कोटि' में जगह बनाता है। आधुनिक दृष्टि आंतरिक स्वरूप के आधार पर बाह्य स्वरूप को स्थिर करने की माँग करती है। इतिहास के संबंध में भी यही दृष्टि लागू होती है। पश्चिम की वस्तुवादी दृष्टि इतिहास के बाह्य स्वरूप को निश्चित करते हुए इतिहास–लेखन को निश्चित तत्वों में आबद्ध करती है। देश–काल–वातावरण की यथावत् पुननिर्मिति उसका अंतिम ध्येय बचता है। इस ध्येय की पूर्ति के लिए वह वस्तुगत तथ्यों के प्रमाणिकरण को महत्ता देती है। इन्हीं मानदण्डों पर वह किसी सामग्री को इतिहास की सीमा में स्वीकार या अस्वीकार करती है। वार्ता–साहित्य के संबंध में भी इसी दृष्टि का आग्रह उसे 'इतिहास कोटि' में आने से रोकता है।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है कि 'वार्ता–साहित्य' का बाह्य स्वरूप इतिहास कोटि में स्थान नहीं पाता। अतः उसके स्वरूप का भिन्न दृष्टि से अध्ययन आवश्यक हो जाता है। मध्यकालीन हिंदी साहित्य के अंतर्गत 'धर्म' साहित्य के केन्द्र में स्थापित है। वार्ता–साहित्य का धार्मिक झुकाव भी इसके स्वरूप को इतिहास–विमुख करता है। 'इतिहास' वस्तुनिष्ठता की माँग करता है। जबकि धर्म–सापेक्ष–साहित्य में वस्तुनिष्ठता खण्डित होती है। धार्मिकता का आवरण श्रद्धायुक्त वर्णन को प्रश्रय देता है। इसी कारण यथार्थ की वस्तुनिष्ठ अभिव्यक्ति प्रभावित होती है।

'वार्ता–साहित्य' का लोक–साहित्यिक स्वरूप समकालीन इतिहास–लेखन का विरोधी प्रतीत होता है। इसी कारण 'वार्ता–साहित्य' को इतिहास का दर्जा प्राप्त नहीं है। बहरहाल 'इतिहास का संबंध अतीत से जोड़ा जाता है। इस भूमि पर वार्ता–साहित्य की विषयवस्तु भी अतीतात्मक रही है। समकालीन तथा पूर्व भक्तों के चरित्रों का परिचयात्मक विवरण वार्ता–साहित्य की विषयवस्तु के रूप में गृहीत है। वार्ता–साहित्य के मूल कथ्य को लालता प्रसाद दुबे के शब्दों में समझा जा सकता है :–

> ''मध्यकालीन धर्म साधना में भक्ति तथा प्रेम के संदेश द्वारा नया प्राण फूँकने वाले संतों तथा महात्माओं का परिचय जिन प्राचीन ग्रन्थों से प्राप्त होता है उन्हें सुविधा के लिए 'भक्त–वार्ता साहित्य' नाम दिया गया है।''[36]

लालता प्रसाद दुबे वार्ता–साहित्य को मध्यकालीन धर्म–साधना में लीन भक्तों एवं कवियों का परिचयात्मक साहित्य मानते हैं। ऐसा कहते हुए वह वार्ता–साहित्य के विशिष्ट स्वरूप को मध्यकाल के धार्मिक वातावरण से आबद्ध करते हैं। यह कहना भी सत्य है, क्योंकि वार्ता–साहित्य में स्थान प्राप्त चरित्र 'भक्त' या 'भक्त–कवि' हैं, जिनकी प्रशस्ति लोक अथवा संप्रदायों में है। कई ग्रन्थ ऐसे भी प्राप्त होते हैं, जिनमें केवल संप्रदाय विशेष के भक्तों, संतों आदि का वर्णन हुआ है। इसका प्रबल उदाहरण पुष्टिमार्गीय वार्ताएँ हैं। अतः एक अर्थ में वार्ता–साहित्य संप्रदायों का इतिहास भी है।

वार्ता–साहित्य को इतिहास क्यों माने? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। यह प्रश्न जितना सरल एवं जिज्ञासायुक्त है; इसका उत्तर उतना ही जटिल है। वार्ता–साहित्य परिवेशगत रूप से भारतीय चिंतन का विकास है। भारत की इतिहास संबंधी अवधारणा इसे प्रभावित करती है। अतः सर्वप्रथम समकालीन इतिहास की कसौटी से विमुख होना जरूरी है। महाभारत में उद्धृत इतिहास की परिभाषा अनुसार धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के उपदेश से समन्वित एवं पूर्ववृत्त कथायुक्त को इतिहास कहते हैं।

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।

पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।।

---

[36] दुबे, लालता प्रसाद, हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य, साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1968, पृ.सं. 5

पुरूषार्थ चतुष्ट्य का कथन ही इतिहास का प्रयोजन माना गया है। पुरूषार्थ चतुष्ट्य का गहन अध्ययन किया जाए तो स्पष्ट होगा कि इसके अंतर्गत मनुष्य के बाह्य कर्म तथा आंतरिक दृष्टि का समावेश हो जाता है। इसमें धर्म, अर्थ तथा काम को संयमित कर मोक्ष की प्राप्ति संभव बताई गई है। 'मोक्ष' भारतीय दृष्टिकोण का चरम लक्ष्य है। प्रत्येक क्रिया इसी ओर गतिमान होने के लिए निर्दिष्ट है। कहा जाये तो भारतीय वाङ्ग्मय का आदिलक्ष्य भी इसी मोक्ष की प्राप्ति में है। इस मोक्ष की प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति द्वारा संभव है और मोक्ष का एकमात्र उपाय है – आध्यात्मिक उत्थान। भौतिक संसाधन मनुष्य के साधनमात्र है। परन्तु उसका लक्ष्य भौतिक जंजाल से विमुक्त हो आत्मिक उत्थान की दिशा में अग्रसरित होना है। अर्थात् इतिहास का लक्ष्य भी आत्मिक उत्थान ही है। यही कारण है भारतीय इतिहास में अतीत प्रगति करता हुआ न दिखकर स्थिर नजर आता है। रामायण तथा महाभारत इसके प्रबल उदाहरण हैं। ऐतिहासिक सूत्र को रचते हुए भी इतिहास मूल्य को स्थापित करने का प्रयास करता दिखता है। वार्ता–साहित्य का स्वरूप भी इसी को ग्रहण करता है। भक्त एवं भक्त कवियों का परिचयात्मक रूप क्रमबद्ध रूप से उनकी महिमा का गायन करता है। इस संबंध में रामचन्द्र शुक्ल का कथन द्रष्टव्य है –

> ''इन चरित्रों में पूर्ण जीवनवृत्त नहीं है, केवल भक्ति की महिमासूचक बातें दी गई हैं। इनका उद्देश्य भक्तों के प्रति जनता में पूज्यबुद्धि का प्रचार जान पड़ता है।''[37]

रामचन्द्र शुक्ल भी नाभादास कृत 'भक्तमाल' के बाह्य स्वरूप पर दृष्टिपात करते हैं ना कि उसकी आंतरिक संरचना को बताते हैं। वार्ता–साहित्य के संबंध में यही सत्य है कि आलोचकों एवं इतिहासकारों का ध्यान उसके बाह्य स्वरूप पर ही गया है बरक्स उसकी आंतरिक संरचना के।

'वार्ता–साहित्य' का मूल चरित्र शाश्वतमय होने में है, बरक्स क्षण में आबद्ध होने के। साहित्यिक शाश्वतता (भारतीय वाङ्ग्मय के मूल कथ्य के संबंध में) भारत के आध्यात्मिक उत्थान की दृष्टि का क्रमिक रूपांतरण है। कहा जाये तो यह उस लक्ष्य प्राप्ति का साधन है। इतिहास वह माध्यम है जिसका अनुसरण कर व्यक्ति अथवा जीव उत्थान की दिशा में अग्रसर होता है। तभी तो इतिहास पुरूषार्थ चतुष्ट्य का उपदेशात्मक वर्णन करता है। यह उपदेशात्मकता सद्मार्ग में प्रवृत्त करने के उद्देश्य का परिणाम है। इस कारण इतिहासकार आदर्श स्थितियों, घटनाओं, चरित्रों की खोज अतीत में करता है। यह आध्यात्मिक उत्थान भारतीय वाङ्ग्मय की मंगल कामना है, जो कि वार्ता–साहित्य का भी लक्ष्य है। इसीलिए भक्तमाल के मंगलाचरण में नाभादास हरिजनों के यशगान को मंगलदायक बताते हैं।

मंगल आदि बिचारि रहि बस्तु न और अनूप।

हरिजन को जस गावते हरिजन मंगलरुप।। 2।।

---

[37] शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2015, पृ. सं. 127

नाभादास के उपर्युक्त दोहे से वार्ता–साहित्य का प्रयोजन स्पष्ट है। इतिहास का प्रयोजन लोकमंगल है। यह लोकमंगल भक्तों के यशगान द्वारा संभव है। आदर्श चरित्रों का आख्यान लोकमंगलदायक है। यह प्रयोजन वार्ता–साहित्य का ही नहीं इतिहास–पुराण परंपरा का भी है, जिसका अनुकरण नाभादास ने किया है। नाभादास के शब्दों में –

संतन निरनै कियो मथि श्रुति पुरान इतिहास।

भजिबे को दोई सुघर कै हरि कै हरिदास।। 3।।

ऐसा कहते हुए वह शास्त्र तथा लोक के सह–अस्तित्व को भी रेखांकित करते हैं। बल्कि भक्तमाल के निर्माण को इतिहास–पुराण परंपरा की सापेक्षता में प्रमाणित करते हैं। संप्रदाय की स्थापना के लिए भी वेदों से जोड़कर अपने मत को रखना मध्यकाल की प्रमुख प्रवृत्ति थी। बहरहाल नाभादास द्वारा हरिजन का यशगान इतिहास–पुराण परंपरा का हिंदी में विकास है।

इतिहास–पुराण परंपरा के क्रमिक विकास की पुष्टि वार्ता–साहित्य के चरित्रों की तुलना में भी नजर आती है। नाभादास भक्तमाल के पूर्वार्द्ध में पुराणकालीन ऋषियों, देवों, भक्तों आदि का स्मरण करते हैं तथा मध्यकालीन भक्तों की तुलना पुराणकालीन पात्रों से करते हैं। संत नामदेव का वर्णन करते हुए नाभादास उनकी तुलना त्रेतायुगीन भक्त प्रह्लाद से करते हैं –

पँडुरनाथ कृत अनुग ज्यों छानि स्वकर छइ छास की।

नाम देव प्रतिग्या निर्बही (ज्यों) त्रेता नरहरिदास की।। 3।।

इस प्रकार पुराणकालीन पात्र एवं चरित्र नाभादास के समक्ष दृष्टिगत उदाहरण बनकर उपस्थित होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि पुराण–इतिहास के पात्र भक्ति एवं उसके भिन्न–भिन्न रूपों के उदाहरण के रूप में नाभादास के समक्ष है, जिसका आरोप वह भक्तमाल रचते हुए करते हैं। उनकी दृष्टि का निर्माण इतिहास–पुराण के माध्यम से होता है।

समकालीन चिंतन इतिहास–लेखन में इतिहासकार की दृष्टि को महत्वपूर्ण मानता है। हेरोडोटस को प्रथम इतिहासकार का दर्जा प्राप्त है। हेरोडोटस इतिहास की भूमिका में इतिहासकार की आलोचनात्मक दृष्टि को इतिहास का निर्धारक तत्व मानते हैं। जबकि भारतीय इतिहास–लेखन में इतिहासकार की भूमिका परिवर्तित हो जाती है। इस परिवर्तन का कारण इतिहास का मूलभूत स्वरूप है। पाश्चात्य दृष्टि यथार्थवाद का आग्रह रखती है। यथार्थ का आग्रह सही–गलत की गुंजाइश भी रखता है। इसी कारण आलोचनात्मक दृष्टि की सहज उपस्थिति समकालीन इतिहास में संभव है। भारतीय इतिहास मूल्यों की आदर्शवादी व्यवस्था निर्मित करता है। इस आदर्शवादी व्यवस्था में इतिहासकार की भूमिका कमतर होती है। परन्तु इस स्थिति में भी रचनाकार अपनी उपस्थिति दर्ज करता है। नाभादास भक्त एवं कवि की उत्कृष्टता के संबंध में कथन करते

दिखते हैं। भक्त एवं कवि के संबंध में नाभादास की मूल्यांकनपरक दृष्टि उपमादि तुलनात्मक कथन में दिखती है। भक्त हरिव्यास का वर्णन करते हुए वह लिखते हैं –

बैरागिन के बृंद रहत सँग स्याम सनेही।

ज्यों जोगेश्वर मध्य मनो सोभित बैदेही।।77।।

भक्त दिवाकर के संबंध में भी उनका कथन मूल्यांकन के उपरांत निष्कर्ष देता है :–

बानी 'भोलाराम' सुहृद सबहिन पर छाया।

भक्त–चरण–रज जाँचि, बिसद राघौ गुण गायो।।78।।

उपर्युक्त पद्यांश लेखक की सहज उपस्थिति को दिखाता है। यह उपस्थिति या भूमिका आलोचनात्मक मूल्यांकन की कसौटी पर नहीं कसती। परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि लेखक की उपस्थिति वार्ता–साहित्य का सामान्य गुण नहीं है।

इतिहासकार (लेखक) की आलोचनात्मक उपस्थिति भारतीय वाङ्मय के लेखकीय परिवेश में भिन्न दिखाई देती है। इसका एक कारण 'इतिहासकार' की परिभाषा में भी दृष्टिगोचर होता है। विष्णुपुराण का श्लोक इतिहास के स्वरूप के साथ–साथ इतिहासकार को समझने में सहायक है।

आर्ष्यादि बहुव्याख्यानं देवर्षिचरिताश्रयम्।

इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भुतधर्मयुक्त।।

इस श्लोक में आर्ष आदि को इतिहासकार का दर्जा दिया गया है। आर्ष शब्द का प्रयोग 'ऋषि–मुनि' के लिए किया जाता है। ऋषि–मुनि आदि विद्वत वर्ग भारतीय वाङ्मय में सम्मान पाते रहे हैं। परन्तु उनका विषय–विशेष के रूप में विभाजन नहीं किया गया। दुर्गाचार्य की निरुक्ति है –

'ऋषिर्दर्शनात्।' (नि. 2/11)

इस निरुक्ति में 'ऋषि' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है – दर्शन करने वाला, तत्वों की साक्षात् अपरोक्ष अनुभूति रखने वाला विशिष्ट पुरूष। सरल शब्दों में कहा जाये तो ऋषि को ज्ञानद्रष्टा माना गया है। जो कि साधनागत तप के माध्यम से ज्ञान का दर्शन करता है। परन्तु केवल इतिहास–विषय–विशेष के रूप में ऋषि की भूमिका अदृष्ट है। वहीं मुनि को तीव्र तपश्चरण के साथ जोड़ा जाता है। गीता में मुनि की व्याख्या कुछ इस प्रकार की है –

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

वीतरागमयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।

'दुखों में उद्विग्न न होने वाला, सुखों में स्पृहा से विरहित राग, भय तथा क्रोध से उन्मुक्त होने वाला तथा स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति 'मुनि' कहलाता है।' अतः स्पष्ट है कि भारतीय इतिहास–लेखक कोई इतिहासकार न होकर साधक है। वह साधना में तल्लीन रहने वाला, ब्रह्मलीन आकांक्षी संयासी थे। अतः स्पष्ट है कि 'इतिहासकार' जैसे किसी परिभाषित शब्द का निदर्शन संस्कृत साहित्य में नहीं होता। बल्कि ऋषि आदि विद्वत वर्ग पर इतिहास का लेखन स्वीकार किया गया है। संस्कृत में ऋषियों को शास्त्र ज्ञाता का दर्जा प्राप्त है, परन्तु उनके संबंध में धार्मिक दृष्टि का आवरण भी स्वीकार किया जाता है। मध्यकाल में लेखक मूलतः रचनाकार है। उदाहरण के लिए नाभादास। नाभादास मूलतः भक्त एवं कवि हैं। परन्तु उनको इतिहासकार जैसी विशिष्ट उपाधि देना सरासर गलत होगा। यही दृष्टि मध्यकाल के सभी लेखक अथवा रचनाकार के संबंध में लागू होती है। वाल्मीकि एवं महर्षि व्यास दोनों मूलतः कवि हैं परन्तु रामायण और महाभारत महाकाव्य के अतिरिक्त इतिहास भी है। यही भ्रम की स्थिति मध्यकाल में रही है। बल्कि मध्यकाल में 'लेखक' शास्त्रज्ञ न होकर कवि एवं भक्त है। वार्ताकार इसी कोटि के अंतर्गत स्थान पाते हैं। अतः स्पष्ट है कि 'इतिहासकार' जैसे परिभाषित शब्द एवं भूमिका का निदर्शन भारतीय इतिहास तथा वार्ता–साहित्य में नहीं होता, जिसका स्पष्ट संकेत समकालीन इतिहास के लिए आवश्यक माना गया है। यह कारण भी है कि वार्ता–साहित्य का स्वरूप भिन्न दिखाई देता है।

'आर्ष' वह विद्वत वर्ग था, जो कि इतिहास की आख्यात्मक रचना करते थे। ऋषि–मुनि इसी विद्वत वर्ग में सम्मिलित हैं। मूलतः ऋषि एवं मुनि विचारों की दो धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह धाराएँ क्रमशः वेदधारा तथा पुराणधारा थी। इनके अंतर को बताते हुए बलदेव उपाध्याय लिखते हैं –

> ''वेदधारा तो आरम्भ से ही धार्मिक है तथा यज्ञों से विशिष्ट देवता को उच्छिष्ट कर हवित्यार्ग की विधि को वह महत्व देती है। पुराणधारा का लक्ष्य लोकवृत्त का अनुशीलन तथा समीक्षण कर विपुल विवरण देना है।''[38]

अतः स्पष्ट है कि ऋषि तथा मुनि की द्विविध धारा प्रचलित थी। इसका प्रमाण मार्कण्डेय पुराण के कथन से हो जाता है।[39] मार्कण्डेय पुराण की सृष्टि को प्राक्कालीन तथा वेद की सृष्टि को उत्तरकालीन मानते हैं। इससे एक बात तो स्पष्ट है कि इतिहास का संबंध लोक से जोड़ा जाता था। यहाँ लोक शब्द इहलोक के संबंध में प्रयुक्त है, अर्थात् जो भी दृष्ट जगत है वह सभी लोकांतर्गत स्वीकार किये गये हैं। यही कारण है कि राजवंश, देव एवं ऋषियों के चरित, भूगोल, सृष्टि उद्भव एवं प्रलय आदि इतिहास–पुराण के लक्षण में स्थान पाते हैं। इससे यह तो स्पष्ट है कि समकालीन लोक की अवधारणा भारतीय वाङ्गमय के संदर्भ में अव्याख्येय है। लोक

[38] उपाध्याय, बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुर्नमुद्रित संस्करण 2015, पृ.सं. 40
[39] उपाध्याय, बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुर्नमुद्रित संस्करण 2015, पृ.सं. 41–44

और शास्त्र का समकालीन द्वंद्व यथावत् मध्यकाल पर लागू नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद में 'लोक' शब्द 'जन' के लिए प्रयोग किया गया है।

य इमे रोदसी उभे; अहमिन्द्रमतुष्टवम्।

विश्वामित्रस्य रक्षति; ब्रह्मेदं भारतं जनम्।।[40]

वैदिक ऋषि कहते हैं कि 'विश्वामित्र के द्वारा उच्चरित यह ब्रह्म या मंत्र भारत 'जन' की रक्षा करता है। ऋग्वेद के पुरूष सुक्त में 'लोक' शब्द का व्यवहार जीव तथा स्थान दोनों अर्थों में हुआ है।

'नाभ्या आसीदन्तरिक्षं

शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।

पद्भ्यां भूमिः दिशः श्रोत्रात्,

तथा लोकानकल्पयत्।।''[41]

महाभाष्यकार पतंजलि भी जनसाधारण के अर्थ में 'लोक' शब्द का व्यवहार करते हैं।

''अभ्यन्तरोंऽहं लोके न त्वहं लोकः।''[42]

महर्षि व्यास महाभारत की विशेषताओं पर चर्चा करते हुए महाभारत को लोक की अज्ञानता को नाश करने वाला बताते हैं।

''अज्ञान तिमिरान्धस्य;

लोकस्य तु विचेष्टतः।

ज्ञानांजन शलाकाभिः

नेत्रोन्मीलन कारकम्।।''[43]

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि संस्कृत लोक शब्द का प्रयोग 'जन' के लिए हुआ है। इसका कोई अभिप्राय देशज अथवा क्षेत्रीय, पिछड़ी जनता के अर्थ में नहीं हुआ है। परन्तु लोक की विशेषता 'मौखिकता' का प्रभाव जरूर इतिहास को वैशिष्ट्य प्रदान करता है। शास्त्र एवं लोक के विभाजन में आधुनिक दृष्टि लिखित तथा मौखिक को आधार बनाती है। परन्तु शास्त्र–लोक का विभाजन भारतीय वाङ्गमय में भिन्न रूप से हुआ है।

[40] उपाध्याय, कृष्णदेव, लोक संस्कृति की रूपरेखा, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2014, पृ.सं. 8
[41] वही, पृ.सं. 8
[42] वही, पृ.सं. 9
[43] उपाध्याय, कृष्णदेव, लोक संस्कृति की रूपरेखा, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2014, पृ.सं. 9

कालांतर में यह विभाजन अवश्य भाषागत हो गया है। तब संस्कृत को शास्त्रीय तथा अन्य देशज बोलियों को लोकभाषा का दर्जा प्राप्त होता है। बहरहाल लोकभाषा का सीधा संपर्क आमजनता से माना गया। इसी कारण शास्त्रीय चिंतन संस्कृत में ही रहा तथा उसका लोक व्यावहारिक रूप आम बोलियों में लिखा गया। पुष्टिमार्गीय वार्ताएँ मूलतः संप्रदाय का इतिहास प्रस्तुत करते हैं। परन्तु उसी के साथ–साथ कुछ शास्त्रीय जिज्ञासाओं का प्रश्नात्मक उल्लेख उसमें स्थान पाता है। इन जिज्ञासाओं का शमन वल्लभाचार्य के उपदेशों द्वारा स्वीकार किया गया है। अतः यह वार्ताएँ शास्त्रीय चिंतन का रूप भले ही न ले सके। परन्तु उनके शमन का मार्ग जरूर लोक के समक्ष छोड़ जाती हैं। वहीं भक्ति का कोई सैद्धान्तिक विवेचन इनमें नहीं है परन्तु उसकी गहनता के प्रबल उदाहरण वार्ता–साहित्य जरूर प्रस्तुत करता है। सरल शब्दों में कहा जाये तो वार्ता–साहित्य की लोक–प्रवृत्ति उसे सैद्धांतिक चिंतन को व्यवहार–पक्षीय व्याख्याकर्ता जरूर बना देती है।

लोक का प्रभाव वार्ता–साहित्य को वैशिष्ट्य प्रदान करता है। इसका एक कारण वार्ताकार की दृष्टि भी है, जो लोक द्वारा नियंत्रित होती है। वार्ताकार समकालीन तथा अतीत के ऐतिहासिक चरित्रों को साहित्य में स्थान भले ही देता है। परन्तु उन चरित्रों के चयन में लोक का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वार्ताकार उन भक्तों एवं कवियों का चुनाव करता है जो कि लोक में अपना विशेष स्थान बना चुके हैं और प्रशस्ति प्राप्त हैं। ऐसा करते हुए वह लोक–प्रशस्ति को कसौटी के रूप में महत्ता देते हैं जिस पर भक्तों एवं कवियों का साहित्य और चरित्र अपने को प्रमाणित करता है। अतः समकालीन इतिहास प्रमाण–अप्रमाण का निर्धारण, जो इतिहासकार पर छोड़ता है, वह कार्य मध्यकालीन हिंदी इतिहास–लेखन में लोक करता है। लेकिन यह भी समझना आवश्यक है कि यह लोक प्रशस्ति वर्तमान के अनुरूप सहज एवं सरल नहीं थी। भारतीय समाज ग्राम व्यवस्था में रहता था। दूरस्थ क्षेत्रों से संपर्क के साधन सीमित थे। ऊपर से यह भक्त और कवि कोई राजा अथवा अधिकारी नहीं थे। इनका संपर्क भले ही सत्ता से रहा परन्तु उसका आधार भी लोक–प्रशस्ति ही था। उनकी प्रशस्ति भक्त के रूप में थी। यही पैमाना वार्ता–साहित्य की आधारभूत दृष्टि बनता है।

'कार्य–कारण–संबंध' को लेकर भी समकालीन इतिहास में गहन चिंतन हुआ है। इतिहास में अतीत की विकासात्मकता के पीछे इस सिद्धांत की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यह सिद्धांत अतीत के यथार्थपूर्ण निर्माण की सहज परिणति है। स्थितियों में सुधार या ह्रास की दिशा एवं गति को इसी सिद्धांत के माध्यम द्वारा व्याख्यायित किया जाता है। वहीं 'कार्य–कारण–संबंध' विभिन्न स्थितियों एवं घटनाओं के मध्य जुड़ाव भी निर्मित करता है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि भारतीय इतिहास आदर्श की स्थापना करता है। इन आदर्शों के माध्यम से वह एक सांस्कृतिक मूल्य व्यवस्था की निर्मिति करता है। अतः मूल्यों की आदर्श व्यवस्था उद्‌भव एवं पतन से कोसों दूर हो जाती है। स्थितियों में सुधार तथा ह्रास की संभावनाएँ पूर्णतः समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में घटनाओं का विकास तो होता है परन्तु स्थितियाँ यथावत् बनी रहती है। अपरिवर्तनीयता के कारण 'कार्य–कारण–संबंध' की खोज भारतीय इतिहास के प्रतिकूल पड़ती है। वार्ता–साहित्य में भी ऐतिहासिक चरित्रों को लेकर लेखक की दृष्टि स्थिर है। उनका चरित्र उच्च लक्ष्य तक नहीं जाता। बल्कि वह उस उच्चता पर पहले ही विराजमान हैं।

अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि वार्ता–साहित्य भारतीय इतिहास–पुराण परंपरा का विकास है। जिस ओर विद्वानों का ध्यान गया ही नही, क्योंकि उनकी दृष्टि भारतीय इतिहास की धारा को अस्वीकार करती आई है। आधुनिक इतिहास–चिंतन से इतर भारतीय इतिहास के भिन्न स्वरूप को समझने का उन्होंने प्रयास ही नहीं किया। यदि वह ऐसा करते तो उन्हें भारतीय इतिहास के पीछे आध्यात्मिक–सांस्कृतिक दृष्टि का विकास दिखता, वह भी संश्लिष्टता में, जिसकी खोज समकालीन चिंतक विश्लेषण के माध्यम से करते रहे।

वार्ता–साहित्य की परंपरा :– सामान्यतः नाभादास कृत भक्तमाल की प्रशस्ति के आधार पर वार्ता–साहित्य का आरम्भ इसी ग्रन्थ से स्वीकार कर लिया जाता है। जबकि इससे पूर्व भी यह परंपरा वर्तमान थी। इसकी सूचना निम्न दोहे से मिलती है –

''भक्तमाल जिन जिन कथी, तिनकी जूठनी पाय।
मो मतिसार अक्षर द्वै, कीनो सिलौ बनाय।।''[44]

यद्यपि नाभादास की शैली में भक्तमाल ग्रन्थ प्राप्त नहीं होते। परन्तु दो दादूपंथी तथा एक राधावल्लभी भक्तमाल प्राप्त होते हैं जिन्हें पूर्ववर्ती अथवा समसामयिक माना जा सकता है। दादूपंथी ग्रन्थों में एक के रचयिता दादू के शिष्य जगा जी (17वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) एवं दूसरे उनके प्रशिष्य चैन जी हैं तथा 'रसिक अनन्यमाल' के रचयिता भगवत मुदित है। दादूपंथी ग्रन्थ मूलतः भक्तनाममाला है। जबकि रसिक अनन्यमाल में भक्तों का परिचय विस्तार से दिया गया है। इन भक्तमालों के अतिरिक्त अनंतदास द्वारा रचित अनेक परिचयी पूर्व में प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त भक्तों के नाम विशेषण के स्मरण–ग्रन्थ भी मिलते हैं, जिन्हें लालता प्रसाद दुबे 'भक्तनामावली' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। इनमें व्यास जी की वाणी, माधवदास का 'संत गुण सागर', परशुराम जी का 'परशुराम सागर' तथा गिरिधर का 'भक्त माहात्म्य' विशेष उल्लेखनीय है।

अतः यह स्पष्ट है कि जिन ग्रन्थों में परिचय विस्तार से दिये गये हैं उन्हें लालता प्रसाद दुबे ने 'भक्तमाल' की संज्ञा से तथा जिनमें नामोल्लेख मात्र हुआ है उन्हें 'भक्तनामावली' की संज्ञा से अभिहित किया है। भक्तमाल तथा भक्तनामावली दोनों की प्रवृत्ति नाभादास के भक्तमाल में भी अनुकृत होती है।

जगा कृत भक्तमाल 68 चौपाई छंदों में रचित है। जिसमें लगभग दो सौ भक्तों का नाम उल्लिखित है। प्रत्येक चौपाई में तीन–चार भक्तों का नाम लेकर 'इनहूँ कह्यो राम भज सूधो' अथवा 'इनहूँ कह्यो राम है सगा' चरण को जोड़ा गया है। दादू के जन्म सं. 1601 तथा मृत्यु सं. 1660 में हुई थी। रचना के आधार पर इनका दादू के बाद तक होने का मालूम होता है। इस आधार पर भक्तमाल (जगा कृत) की रचना 17वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्वीकार कर सकते हैं। नाभादास के भक्तमाल को वार्ता–साहित्य परंपरा के उत्थान का श्रेय दिया जाता है। इससे पूर्व के वार्ता–साहित्य को 'भक्तमाल' की पूर्वपीठिका के रूप में ग्रहण किया जा

[44] भक्तमाल रूपकला सटीक, छप्पय सं. 313

सकता है। जगा कृत भक्तमाल तीन भागों में विभाजित है – पूर्वार्द्ध, उत्तरार्ध तथा स्वामी दादू जी के किरतनियाँ। पूर्वार्द्ध में छंद संख्या 15 तक सतयुग, त्रेता, द्वापर के भक्तों का वर्णन हुआ है। इसके पश्चात् कलियुग के भक्तों का वर्णन होता है। नाभादास भी आरम्भिक पदों में कलियुग से पूर्व के भक्तों का स्मरण करते हैं। पहले के भक्तों का नाम स्मरण 'भक्तमाल' में मंगलाचरण के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। आरम्भ में पूर्वकालीन भक्तों के स्मरण के उपरांत छंद संख्या 32 के पश्चात् दादू जी के सेवकों तथा भक्तों का नामोल्लेख हुआ है। जगा कृत भक्तमाल के संदर्भ में लालता प्रसाद दुबे लिखते हैं कि

> ''अभी तक विद्वानों की यही धारणा रही है कि नाभादास जी के पहले कोई भक्तमाल नहीं लिखा गया है किन्तु जगा जी का भक्तमाल इसका अपवाद है और अब तक के उपलब्ध भक्तमालों में यह सबसे प्राचीन है, यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है।''[45]

प्राचीन होने के साथ–साथ यह ग्रन्थ दादू पंथ में दीक्षित भक्त अथवा संतों का भी परिचय कराता है।

वार्ता–साहित्य में संप्रदाय विशेष का जुड़ाव अवश्य दृष्टिगोचर होता है। साथ ही कई बार यह वर्णन संप्रदायों के क्रम में दिखाई पड़ता है, जिसका आरम्भ चतुःसंप्रदायों के साथ होता है। मध्यकाल में संप्रदायों का उदय ऐतिहासिक घटना है। इससे पूर्व संप्रदायों की स्थिति इतनी सुदृढ़ रूप में निर्मित नहीं होती। मध्यकालीन राजनीतिक उथल–पुथल लोकोन्मुखता को जन्म देती है। इसी लोकोन्मुखता में क्षेत्रीय स्तर पर संप्रदायों का विकास होता है। भक्तिकाल के व्यापक प्रभाव में इन संप्रदायों की भूमिका को भी स्वीकार किया जाता है। इसीलिए संप्रदाय–विशेष में वार्ता–साहित्य का विकास स्पष्ट तौर पर दृष्टिगोचर होता है। जगाजी और चैनजी दोनों दादू–पंथ में दीक्षित थे। ऐसे ही पुष्टि–संप्रदाय में लिखित वार्ता–साहित्य का परिचय मिलता है, जिनमें केवल संप्रदाय के भक्त एवं इसके मत को ही महत्ता दी गई है। बहरहाल संप्रदाय और वार्ता–साहित्य का संबंध संश्लिष्ट है। एक ओर वह संप्रदाय के इतिहास को संरक्षित करता है तो दूसरी ओर संप्रदाय के मत का प्रचार–साधन बनता है। चैन जी कृत भक्तमाल इसी दृष्टि का क्रमिक विकास है। परन्तु वह संप्रदाय के मत एवं भक्तों तक संकुचित नहीं होता। इसीलिए वह नाभादास तथा अन्य वार्ताओं की पूर्वपीठिका के रूप में दिखाई पड़ती है।

जगा जी दादूपंथ में दीक्षित थे। चैन जी दादू जी के पौत्र जनगोपाल जी के शिष्य थे। चैन जी कृत भक्तमाल का समय संभवतः संवत् 1700 के आसपास था। इसमें लगभग 250 से अधिक भक्तों के नाम मिलते हैं। इन भक्तों में से कुछ नाभादास कृत भक्तमाल में भी उद्धृत हुए हैं। चैन जी ने भिन्न संप्रदाय के भक्तों का भी वर्णन किया है। ''चैन जी के भक्तमाल की एक अतिरिक्त विशेषता यह है कि इसमें विभिन्न संप्रदायों के भक्तों के वर्णनों के साथ–साथ सिद्ध और नाथ–पंथियों का भी उल्लेख है।''[46] लालता प्रसाद दुबे राघोदास

---

[45] दुबे, डॉ. लालता प्रसाद, हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य, प्रकाशन – साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1968, पृ.स. 20

[46] दुबे, डॉ. लालता प्रसाद, हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य, प्रकाशन – साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1968, पृ.स. 21

कृत भक्तमाल की पूर्वपीठिका में चैन जी कृत भक्तमाल को स्वीकारते हैं। उपर्युक्त दोनों भक्तमाल दादूपंथ में लिखे गये हैं।

भगवत मुदित कृत 'रसिक अनन्यमाल' राधावल्लभीय संप्रदाय का ग्रन्थ है। इसमें राधावल्लभीय सन्तों का प्रामाणिक वर्णन प्राप्त होता है। इनकी जन्मतिथि तथा रसिक अनन्यमाल का समय अज्ञात है। ललिताचरण गोस्वामी तथा ललिता प्रसाद पुरोहित ने इनका रचनाकाल संवत् 1714 से 1720 तक माना है। नागरी प्रचारिणी सभा में रसिक अनन्यमाल की दो प्रतियाँ संरक्षित है। इन प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों में इसका रचनाकाल नहीं है लेकिन लिपिकाल अवश्य दिया गया है, जो कि संवत् 1817 और 1837 है। नाभादास कृत भक्तमाल में इनके संबंध में छप्पय प्राप्त होता है। इस छप्पय की टीका प्रियादास ने तीन कवित्तों में की है। इनके पिता प्रसिद्ध भक्त माधौ मुदित थे। हित वृंदावनदास कृत 'रसिक अनन्य परिचावली' में भी इनका वर्णन किया गया है। रामरसिकावली, भक्तकल्पद्रुम, हरि–भक्ति प्रकाशिका में भी इनके बारे में जानकारी प्राप्त होता है। इन्होने चौंतीस भक्तों के चरित्रों का वर्णन रसिक अनन्यमाल में किया है, जिनमें अधिकांश राधावल्लभीय तथा शेष इनके समसामयिक हैं। इन भक्तों को रसिक अनन्य कहा गया है। इसीलिए ग्रन्थ का नाम 'रसिक अनन्यमाल' रखा गया है। राधावल्लभीय भक्तों का अधिक वर्णन होने से इसे साम्प्रदायिक भावना में लिखित नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह चैतन्य–संप्रदाय में दीक्षित थे। इसमें उद्धृत संतों एवं भक्तों का संबंध इतिहास प्रसिद्ध महापुरूषों से था। इसलिए भी इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्व है।

वार्ता–साहित्य के अंतर्गत भक्तमाल के अतिरिक्त परिचयी भी आती है। परिचयियों का रूप भक्तमाल के समान छोटा न होकर विस्तृत है। इसमें प्रत्येक भक्त के वृत्तांतों के लिए अधिक विस्तार से वर्णन किया जाता है। नाभादास से पूर्व अनन्तदास द्वारा रचित परिचयियाँ प्राप्त होती है। इसकी कई प्रतियाँ काशी नागरी प्रचारिणी सभा में उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में पीपा, त्रिलोचन, धना, नामदेव, कबीर, रैदास, राँका–बाँका की परिचयियाँ शामिल है। इन परिचयियों का समय अज्ञात है। लेकिन नामदेव की परिचयी में अनन्तदास इस प्रकार लिखते हैं –

संवत् सोल्ह सै पैंताला। वाणी बोले वचन रसाला।।

अन्तरजामी आज्ञा दीन्हीं। दास अनन्त कथा करि लीन्ही।।[47]

इस आधार पर नामदेव की परिचयी का रचनाकाल संवत् 1645 दिखता है। इसी को आधार बनाकर मिश्रबंधु लिखते हैं –

''महाराज अनन्तदास ने संवत् 1645 के लगभग कविता की। इन्होंने नामदेव आदि की परिची संग्रह, पीपा जी की परिची, रायदास जी की परिची, रांका–बांका की परिची, और त्रिलोचन दास की परिची

[47] दुबे, डॉ. लालता प्रसाद, हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य, प्रकाशन – साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1968, पृ.स. 29

नामक आठ ग्रन्थ बनाये जिनमें भक्तों के वर्णन किये। इनमें से प्रथम और द्वितीय ग्रन्थ 1645–1657 के बने थे। इनकी रचना साधारण कोटि की है।''[48]

पीपा की परिचयी की खोज रिपोर्ट में इसका समय संवत् 1657 स्वीकार किया गया है। इन मतों के दृष्टिगत मिश्रबंधुओं ने अनन्तदास का कविताकाल संवत् 1657 तक माना है। अनन्तदास की परिचयी का महत्व उसकी प्राचीनता को लेकर है। भक्तों के संबंध में उपलब्ध वृत्तांतों में ये सर्वाधिक प्राचीन है और इनमें वृत्तांत भी काफी विस्तार से मिलते है। इसका प्रभाव समस्त परवर्ती वार्ता–साहित्य पर भी पड़ा है।

नाभादास से पूर्व भक्तमाल तथा परिचयियों के अतिरिक्त कुछेक रचनाओं में भक्तों का वर्णन भी प्राप्त होता है। हरिराम व्यास कृत व्यास–वाणी इसी प्रकार की रचना है। व्यास जी का जन्म वासुदेव गोस्वामी के अनुसार संवत् 1567 मार्गशीर्ष कृष्ण 5 है। किन्तु रसिक अनन्यमाल में व्यास जी का संवत् 1591 में 42 वर्ष की आयु में वृंदावन आगमन का उल्लेख है। यदि उपर्युक्त संवत् स्वीकार करें तो उनका जन्म संवत् 1549 होगा। डॉ. विजयेन्द्र स्नातक इसी संवत् को स्वीकार करते हैं। दादू पंथ के समान राधावल्लभ संप्रदाय में भी अनेक वार्ता–साहित्य प्राप्त होते हैं। हरिराम व्यास के दीक्षा गुरु हित हरिवंश थे।[49] परन्तु संप्रदाय इनकी सीमा नहीं है। इन्होंने कई पदों में कुछ भक्तों का उल्लेख किया है तथा कुछ पदों में उनकी विशेषताओं को चिन्हित किया है। इनका उद्देश्य भक्तमाल अथवा भक्तनामावली जैसे ग्रन्थ की रचना करना नहीं था। अपितु इनका मंतव्य भक्तों की प्रशंसा तथा स्तुति करना था। यह भक्त निर्गुण–सगुण दोनों धाराओं से है। साथ ही अन्य युगों के भक्तों का नामोल्लेख भी प्राप्त होता है। जैसा कि जगा जी तथा नाभादास के भक्तमाल में सतयुग, त्रेतायुग तथा द्वापरयुग के भक्तों का नामोल्लेख है। अतः यह एक सामान्य प्रवृत्ति वार्ता–साहित्य में अवश्य देखने को मिलती है। परन्तु संप्रदाय भाव से रचित वार्ता–साहित्य में पूर्व युगों के भक्तों का नामोल्लेख न होकर संप्रदाय के ही पूर्व पुरूषों अथवा प्रवर्तकों का नाम मंगलाचरण अथवा रचना के आरम्भ में स्मरण किया गया है। व्यास जी ने केवल छः सात भक्तों का वर्णन अलग–अलग छंदों में किया है। लालता प्रसाद दुबे 'व्यास–वाणी' मे भक्तों के वर्णनों को पाँच प्रकार से देखते हैं[50] –

1. अन्य युगों के भक्तों का वर्णन।
2. कलियुग के भक्तों का वर्णन।
3. कुछ भक्तों का वर्णन अलग–अलग एक–एक छंद में, तथा कई भक्तों का नाम एक ही छंद में।
4. कुछ सामूहिक नाम वाले भक्तों के वर्णन में कहीं–कहीं सांकेतिक प्रसंग।

---

[48] वही, पृ.स. 30

[49] उपदेस्यो रसिकन प्रथम, तब पाये हरिवंश।
जब हरिवंश कृपा करी, मिटे व्यास के संस।।100।।
श्री हरिवंश कृपा बिना, निमिष नहीं कहुँ ठौर।
व्यासदास की स्वामिनी, प्रगटी सब सिरमौर।।101।।
व्यास आस हरिवंश की, तिनही के बड़ भाग।
वृंदावन की कुंज में, सदा सहत अनुराग।।104।।
राधावल्लभ व्यास कौ, इस्ट मित्र गुरूदेव।
श्री हरिवंश प्रकट कियौ, कुंज महल रसभेव।।105।। . . . व्यास वाणी

[50] दुबे, डॉ. लालता प्रसाद, हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य, प्रकाशन – साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1968, पृ.स. 38

5. उपर्युक्त भक्तों के जीवन की अलौकिक और असंभावी घटनाएँ।

व्यास जी के वर्णनों में भक्तों का उल्लेख या तो स्तुतिपरक है अथवा निधनपरक 'विरह' रूप में है। अतः वार्ता–साहित्य के अंतर्गत न स्वीकारते हुए भी उसकी प्रवृत्तियों को अवश्य यहाँ देखा जा सकता है। साथ ही नाभादास तक आते–आते इस परंपरा के निर्माण में व्यास–वाणी को पूर्वपीठिका के रूप में देखा जाना आवश्यक है। नाभादास इनका वर्णन भक्तमाल में करते हैं तथा नामदेव संबंधी वार्ता में साम्यता भी इसी ओर संकेत करती है कि यह हरिराम व्यास से परिचित थे।

हरिराम व्यास के समान 'परशुराम सागर' नामक कृति का उल्लेख प्राप्त होता है। इसके रचनाकार परशुराम देवाचार्य थे। इनका उल्लेख नाभादास भी करते हैं। देवाचार्य जी का एक ग्रन्थ 'विप्रमतीसी' का भी पता चलता है जिसका रचनाकाल संवत् 1677 है। अतः इस आधार पर इनका रचनाकाल संवत् 1677 के आस–पास निश्चित होता है। उन्होंने एक पद में कुछ भक्तों का उल्लेख उनके व्यावसायिक कर्म के साथ किया है। माधौदास का 'सन्त गुण सागर' में भी भक्तों का वर्णन मिलता है। ये दादू के बावन शिष्यों में से एक थे। संत गुण सागर में दादू की जीवनी है, परन्तु इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता को लेकर संदेह की स्थिति है। मोतीलाल मेनारिया इसका रचनाकाल संवत् 1661 मानते है। इसकी प्रामाणिकता पर संदेह करते हुए मोतीलाल मेनारिया लिखते हैं –

> ''जनगोपाल की दादूजन्मलीला परची' की भाँति इसमें भी कुछ अलौकिक घटना और किंवदन्तियाँ प्रवेश कर गई है, इसलिए बहुत प्रामाणिक तो नहीं है – फिर भी अपनी चित्ताकर्षक वर्णन शैली के कारण पढ़ने योग्य अवश्य है।''[51]

भक्त–वर्णन के उद्देश्य से न होते हुए भी उपर्युक्त ग्रन्थ समकालीन अथवा श्रद्धेय भक्तों का उल्लेख करते हैं। अतः इससे स्पष्ट है कि नाभादास से पूर्व स्वतन्त्र ग्रन्थ तथा वार्ता–साहित्य के भक्त–वर्णनों के समान अन्य ग्रन्थों में लिखने की यह परंपरा वर्तमान थी।

नाभादास कृत भक्तमाल वार्ता–साहित्य की धुरी है, जिसको केन्द्र में स्वीकारकर पूर्व तथा पश्चात् की परंपरा का अध्ययन कर सकते हैं। नाभादास रामानुजाचार्य की परंपरा में आते हैं। रामानुज की तेहरवीं पीढ़ी में राघवानन्द आते हैं। राघवानन्द के बाद रामानन्द, अनन्तानंद, कृष्णदास पयहारी इसी परंपरा की अग्रिम पीढ़ी है। कृष्णदास पयहारी के दो शिष्य थे कील्हदास तथा अग्रदास। कील्हदास कृष्णदास जी के प्रथम शिष्य थे। गलता की गद्दी पर कृष्णदास पयहारी के उपरांत यह बैठे। इनका कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता परन्तु कुछ फुटकल पद अवश्य मिलते हैं। अग्रदास कील्हदास के गुरु भाई थे। रामभक्ति परंपरा में इनका विशिष्ट स्थान है। इनके समय को लेकर मतभेद है। रामचन्द्र शुक्ल इन्हें संवत् 1632 तक जीवित होना स्वीकारते हैं। यह भी प्रसिद्ध है कि वह महाराजा मानसिंह के गुरु थे। मानसिंह का राज्यकाल संवत् 1646 से 1675 है। इनके दो

[51] दुबे, डॉ. लालता प्रसाद, हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य, प्रकाशन – साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1968, पृ.स. 40

ग्रन्थों 'विश्वब्रह्मज्ञान' तथा 'रागावली' का पता चलता है। जिसमें प्रथम का रचनाकाल संवत् 1647 तथा दूसरे का संवत् 1660 है। इन तथ्यों से शुक्ल जी का मत संदेहास्पद हो जाता है। अग्रदास जी के दो हिंदी रचनाएँ भी प्राप्त होती है 'ध्यान मंजरी' और 'कुंडलियाँ'। अग्रदास के प्रसिद्ध होने का कारण नाभादास भी है।

नाभादास अग्रदास के शिष्य थे। इनकी जन्मतिथि के संबंध में अंतःसाक्ष्य अप्राप्य है। यद्यपि बर्हिसाक्ष्य के आधार पर इन्हें मलूकदास का समकालीन स्वीकार किया जाता है। मलूकदास का जन्मतिथि वैशाख बदी 5 संवत् 1631 है। इस आधार पर नाभादास का जन्म भी संवत् 1631 के आस–पास ठहरता है। प्रियादास इन्हें 'हनुमान वंश ही में जनम प्रशंस' बताते हैं अर्थात् वे उन्हें हनुमान वंशी मानते हैं। महाराज रघुराजसिंह ने 'सो शिशु लांगुली द्विज केरौ' अर्थात् हनुमान वंश का लांगुली ब्राह्मण अर्थ किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपना कोई स्पष्ट विचार न देते हुए लिखते हैं 'कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण तथा कुछ लोग क्षत्रिय कहते हैं।' विल्सन, गार्सा–द–तासी तथा ग्रियर्सन इन्हें डोम बताते हैं, जिनका मुख्य व्यवसाय टोकरियाँ बनाना था। विल्सन लिखते हैं – 'मारवाड़ी भाषा में बन्दर डोम के अर्थ में प्रयुक्त होता है।'[52] राधाकृष्णदास ने भी मारवाड़ी भाषा में हनुमान का अर्थ डोम किया है। यह जाति के क्या थे? यह प्रश्न संदेह के अंतर्गत आता है। इन्हें जन्म के उपरांत जंगल में छोड़ कर जाने की श्रुति प्रसिद्ध है। अग्रदास तथा कील्हदास के भ्रमण के समय उन्हें यह मिले तथा इनका पालन पोषण इन्होंने ही किया। प्रियादास के वर्णन में इन्हें जन्मांध बताया गया है। जो कि कील्हदेव की कृपा से पुनः दृष्टि सम्पन्न हुए। इनके गुरु अग्रदास थे। जिनका उल्लेख भक्तमाल तथा अष्टयाम दोनों में मिलता है। भक्तमाल के आरम्भ में अग्रदास का उल्लेख करते हुए वह लिखते हैं –

अग्रदेव आज्ञा दई, भक्तन कौ जस गाव।

भवसागर के तरन को, नाहिन और उपाव।।4।।[53]

उपर्युक्त दोहे से स्पष्ट है कि अग्रदास की आज्ञा से ही उन्होंने भक्तमाल की रचना की थी। भक्तों का यशगान ही मुक्ति का मार्ग है – यह दृष्टि ही भक्तमाल के मूल में दिखाई देती है। इनकी मृत्यु के विषय में भी कुछ नहीं ज्ञात होता। रामचन्द्र शुक्ल इन्हें तुलसीदास की मृत्यु के बहुत बाद तक जीवित होना स्वीकारते हैं। मिश्रबंधुओं के अनुमान से संवत् 1720 के लगभग इनका शरीरांत हुआ था। वहीं किशोरीलाल गुप्त संवत् 1719 को उनकी मृत्यु तिथि मानते हैं। यह सभी मत अनुमान पर आधारित है।

नाभादास कृत भक्तमाल वार्ता–साहित्य परंपरा में मील का पत्थर है। भक्तमाल भक्तों का श्रद्धासंवलित वर्णन है। सम्पूर्ण रचना को दो खण्डों में बाँट कर देख सकते हैं। पहला, पूर्वार्द्ध जिसमें सतयुग, त्रेतायुग तथा द्वापरयुग के भक्तों का स्मरण किया गया है तथा दूसरा, उत्तरार्द्ध जिसमें कलियुग के भक्तों का वर्णन किया गया है। कलियुग के भक्तों का वर्णन भक्तमाल के केन्द्र में है। इसीलिए पूर्वार्द्ध अंश को मंगलाचरण के हिस्से के रूप में भी देख सकते हैं। भक्तमाल का परिचय देते हुए गार्सा–द–तासी लिखते हैं –

[52] दुबे, डॉ. लालता प्रसाद, हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य, प्रकाशन – साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1968, पृ.स. 52
[53] नाभादास, भक्तमाल, गीताप्रेस, गोरखपुर, संस्करण संवत् 2073, पद संख्या 4

''परिपक्व अवस्था प्राप्त करने पर उन्होंने अपने गुरु, जो ऐसा प्रतीत होता है, उसे संस्कृत में लिख चुके थे, कि इच्छानुसार 'भक्तमाल' की रचना की। इस रचना, जिसके शीर्षक का अर्थ है 'भक्तों की माला' और जिसे संत चरित भी कहते हैं, में प्रधानतया हिन्दू, विशेषतः वैष्णव संतों की जीवनियाँ है। उसकी रचना छंदों में अत्यन्त कठिन हिन्दुई में हुई है। शाहजहाँ के राजत्वकाल में नारायणदास ने उसका शोधन तथा परिवर्धन किया।''[54]

भक्तमाल के रचयिता के नाम को लेकर भी विद्वानों में मतभेद है। रचना में कहीं भी नाभादास का उल्लेख नहीं हुआ है। परन्तु दोहा संख्या 214 में नारायणदास का नामोल्लेख अवश्य हुआ है जो इस प्रकार है –

काहू के बलजोग जग, कुल करनी की आस।

भक्तमाल माला अगर, उर बसौ नरायन दास।।

नारायणदास कौन है? क्या यह रचना नारायणदास की है? इनकी और कोई रचना प्राप्त है? क्या यह संयुक्त कृति है जिसे दो व्यक्तियों ने लिखा है? अथवा पूर्व में नाभादास ने तथा बाद में नारायणदास ने लिखा है? या फिर यह नारायणदास ही नाभादास हैं? क्या इनका एक नाम माता–पिता द्वारा तथा दूसरा नाम संप्रदाय द्वारा दिया गया है? उपर्युक्त प्रश्न भक्तमाल को लेकर वाद–विवाद के केन्द्र में रहे हैं। गार्सा–द–तासी नाभादास तथा नारायणदास को अलग–अलग व्यक्ति स्वीकारते हैं। वहीं अग्रदास का कोई संस्कृत ग्रन्थ भी प्राप्त नहीं होता। अतः गार्सा–द–तासी का मत संदेहात्मक हो जाता है। यदि दो व्यक्ति भक्तमाल की रचना करते तो दोनों का उल्लेख होता।

ग्रियर्सन भी भक्तमाल की रचना नाभादास द्वारा 108 छंदों में स्वीकारते हैं। वहीं वह उनके किसी शिष्य, जिसका नाम नारायणदास था, द्वारा शाहजहाँ के राजत्वकाल में सम्पादित किये जाने का विचार प्रस्तुत करते हैं। किन्तु इसका कोई पुष्ट आधार प्रस्तुत नहीं करते। लेकिन एक अन्य स्थान पर वह लिखते हैं –

''नारायणदास', जिसको श्री ग्राउज ने नाभादास का शिष्य कहा है देशी लेखकों के अनुसार नाभादास का असली नाम है। 'नाभादास' तो उनका उपनाम है। नाभादास सम्भवतः वही नारायणदास कवि है जिनको शिवसिंह वे 1558 ई. में उत्पन्न कहा है और जिन्हें हितोपदेश तथा राजनीति का भाषानुवाद करने वाला माना है। सम्भवतः यह वह नारायणदास है जिन्हें शिवसिंह ने 'छंदसार' नामक 52 छंदों के एक पिंगल ग्रन्थ का कर्ता वैष्णव माना है।''[55]

ग्रियर्सन का उपर्युक्त कथन अपने ही मत के विरोध में दिखाई देता है। किशोरीलाल गुप्त इन मतों से अलग भक्तमाल को तीन व्यक्तियों की कृति मानते हैं। वह लिखते हैं –

[54] दुबे, डॉ. लालता प्रसाद, हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य, प्रकाशन – साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1968, पृ.स. 56
[55] दुबे, डॉ. लालता प्रसाद, हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य, प्रकाशन – साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1968, पृ.स. 57

''सामान्यतया स्वीकार किया जाता है कि भक्तमाल नाभादास की रचना है और नाभादास तथा नारायणदास एक ही व्यक्ति के दो नाम है। पर भक्तमाल के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ किसी एक व्यक्ति की रचना न होकर कम–से–कम तीन व्यक्तियों की रचना है। ये तीन व्यक्ति हैं, अग्रदास और उनके शिष्य नारायणदास तथा नाभादास।''[56]

गुप्त जी भक्तमाल में प्रथम चौबीस छप्पय तथा अंतिम छप्पय संख्या 200–202 को अग्रदास द्वारा रचित स्वीकारते हैं। जबकि भक्तमाल में अग्रदास का उल्लेख मंगल–हेतु गुरु के रूप में हुआ है। अतः भक्तमाल को अग्रदास रचित कहना असंगत प्रतीत होता है। एक मत नारायणदास तथा नाभादास को एक ही गुरु के शिष्य कहता है। भक्तमाल के छंद संख्या 150 में अग्रदास के शिष्यों का वर्णन है। यदि नारायण अग्रदास के शिष्य होते तो उनका नाम भी यहाँ उल्लेख होता। वहीं भक्तमाल की रचना के दो वर्ष बाद संवत् 1717 में दादूपंथी भक्तमाल के रचयिता राघवदास नाभादास को भक्तमाल का एकमात्र रचयिता मानते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि भक्तमाल की रचना नाभादास ने की। नारायणदास उन्हीं का दूसरा नाम है।

भक्तमाल के रचनाकाल के संदर्भ में भी भिन्न–भिन्न मत उपलब्ध है। खोज रिपोर्ट इसका रचनाकाल संवत् 1652 स्वीकृत करती है। जबकि हिंदी साहित्यकार इसकी भिन्न–भिन्न तिथि देते हैं। वासुदेव गोस्वामी 'भक्तमाल का रचनाकाल' शीर्षक लेख में भक्तमाल के एक छप्पय द्वारा तिथि निर्धारण का प्रयास करते हैं। यह छप्पय वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी चतुर्भुजदास के परिचय में लिखा गया है। चतुर्भुजदास के 'द्वादश यश' में संगृहीत तीसरे यश का नाम 'भक्तिप्रताप यश' है। भक्तिप्रताप यश के प्रत्येक छंद के अंतिम चरण में 'भक्तिप्रताप गाइहौं' आता है, जो भक्तमाल के निम्न छप्पय से मेल खाता है –

गायौ भक्ति प्रताप सबहिं दासत्व दृढ़ायो।

राधावल्लभ भजन अनन्यता वर्ग बढ़ायो।[57]

इस भक्तिप्रताप की रचना चतुर्भुजदास की दूसरी कृति 'धर्म विचार यश' के आधार पर संवत् 1686 ठहरती है। इस आधार पर भक्तमाल का रचनाकाल संवत् 1686 से पूर्व नहीं माना जा सकता। हरिनारायण शर्मा गवेषणा द्वारा भक्तमाल का रचनाकाल संवत् 1640–90 स्थिर करते हैं। भक्तमाल में विट्ठलदास के बड़े पुत्र गिरिधर का भी वर्णन किया गया है। इस आधार पर राधाकृष्णदास लिखते हैं कि :–

''भक्तमाल – मेरे अनुमान से यह ग्रन्थ संवत् 1642 के पीछे और संवत् 1680 के पहले बना क्योंकि संवत् 1642 में विट्ठलनाथ गोसाई का परलोकवास हुआ और उनके पुत्र गिरिधर जी गद्दी पर बैठे।

[56] वही, पृ.स. 57

[57] नाभादास, भक्तमाल, गीताप्रेस, गोरखपुर, संस्करण संवत् 2073, पद संख्या 123

इन गिरिधर जी को लिखा है 'श्री बल्लभजू के वंश में सुरतरु गिरिधर भ्राजमान'। अतः संवत् 1642 के पीछे भक्तमाल का बनना निश्चित है।''[58]

महावीर सिंह गहलौत जसवंतसिंह के आधार पर भक्तमाल का रचनाकाल संवत् 1715 स्वीकार करते हैं। इनका कहना है कि :–

''संवत् 1716 से महाराज औरंगजेब से द्वेष करने से मुगलदरबार से दूर रहे क्योंकि संवत् 1715 में सम्राट की आज्ञा से औरंगजेब के विरुद्ध लड़े तथा संवत् 1716 में स्वयं औरंगजेब ने उनके विरुद्ध जोधपुर पर आक्रमण के लिए सेना भेजी। फलतः इसी समय हिन्दू हितैषी धर्मरक्षक के रूप में विख्यात हुए होंगे ओर संवत् 1715 में इनके नाम का छप्पय रचा गया होगा।''[59]

संवत् 1715 तक भक्तमाल की रचना समाप्त होने की पुष्टि को लेकर कुछ अन्य प्रमाण भी विचारणीय है। गार्सा–द–तासी तथा ग्रियर्सन भक्तमाल का संशोधन तथा परिवर्धन शाहजहाँ के काल तक मानते है। यह सर्वमान्य है कि शाहजहाँ का शासनकाल संवत् 1715 में समाप्त होता है। राघवदास का भक्तमाल संवत् 1717 तक समाप्त होता है तथा नाभादास कृत भक्तमाल का उल्लेख यह स्पष्ट करता है कि इससे पूर्व भक्तमाल की रचना हो चुकी थी। अतः यह स्पष्ट है कि भक्तमाल की रचना संवत् 1715 के पूर्व हो चुकी थी।

भक्तमाल में भक्तों का वर्णन–क्रम रामानुजाचार्य से आरम्भ होता है। यह वर्णन दो तरह से किया गया है। पहला, प्रभावशाली भक्तों का एक छप्पय में पूर्ण वर्णन तथा दूसरा, गौण भक्तों का एक छप्पय में सामूहिक वर्णन। कलियुग के भक्तों का वर्णन विशेष क्रम में नहीं है। इसके लिए उन्होंने क्षमा भी माँगी है।

श्री मूर्ति सब वैष्णव, लघु दीरघ गुनन अगाध।

आगे पीछे वरन तें जिनि मानौ अपराध।।205।।

पूर्ववर्ती भक्तों के साथ–साथ समकालीन भक्तों का भी वर्णन किया गया है। इन भक्तों का स्पष्ट संकेत वर्तमान कालिक प्रयोगों में देखा जा सकता है। लालता प्रसाद दुबे व्यक्तिक्रम निर्वाह न होने के पीछे के कारण पर विचार करते हुए लिखते हैं – ''इसकी रचना निरन्तर कई वर्षों तक शनैः शनैः होती रही और इसीलिए किसी क्रम विशेष का अनुसरण नहीं है।''[60] भक्तमाल के पूर्वार्द्ध में पौराणिक भक्तों का चित्रण ऐतिहासिक न होकर कल्पना का आधार ग्रहण करता है। नाभादास इनका वर्णन दैन्यभाव से करते हैं। प्रायः यह भाव सम्पूर्ण भक्तमाल में दिखाई देता है। भक्तमाल के पीछे की दृष्टि प्रथम दोहे में ही स्पष्ट हो जाती है। वह भक्त, भक्ति, भगवंत और गुरु के स्मरण को सर्वोपरी भक्ति स्वीकारते हैं। इसी कारण भक्तों का वर्णन संप्रदायबद्ध न होकर सगुण एवं निर्गुण दोनों को भक्तमाल की विषयवस्तु बनाता है। इन चरित्रों की भक्ति तथा

[58] दुबे, डॉ. लालता प्रसाद, हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य, प्रकाशन – साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1968, पृ.स. 64
[59] वही, पृ.स. 69
[60] दुबे, डॉ. लालता प्रसाद, हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य, प्रकाशन – साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1968, पृ.स. 72

भक्ति के द्वारा अलौकिक चमत्कारों का वर्णन नाभादास ने किया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं – ''इस पुस्तक में ही भक्तों के नाम के साथ सिद्धियों और चमत्कारों का बीज वपन हुआ है। सिद्धियों की कथा प्रत्येक नाथपंथी सिद्धि के साथ जुड़ी हुई थी।''[61] सिद्धों तथा कृष्णदास पयहारी के बीच के चमत्कारों की श्रुतियाँ लोक में विख्यात थीं। कृष्णदास के शिष्य अग्रदास तथा अग्रदास के नाभादास थे। अतः वैष्णवों की महिमा बतलाने के लिए इन सिद्धियों की कहानी का अवलम्बन लेना अनिवार्य हो गया होगा। यही कारण है कि भक्तों के साथ भी इन चमत्कारों को जोड़ा गया।

भक्तमाल इन ऐतिहासिक चरित्रों का पूर्ण परिचय नहीं कराता। अतः पूर्ण वृत्त की खोज भक्तमाल में करना गलत होगा। नाभादास का मुख्य ध्येय भक्तों की जीवनी प्रस्तुत करना न होकर उनके भक्तिपरक व्यक्तित्व को वर्णित करना था। अतः इस दृष्टि के इर्द–गिर्द ही भक्तमाल की विषयवस्तु भी निर्मित होती है। साथ ही यह चरित्र लोक में प्रशस्ति प्राप्त कर चुके भक्तों का वर्णन है। फिर भी इनमें अधिकतर चरित्र ऐतिहासिक है। जिनके बारे में आंशिक संकेत भक्तिकाल में बिखरे दिखाई देते हैं। भक्तमाल की विशेषता उसके कवित्व तथा परिचयात्मक वर्णन के सामंजस्य में भी है। आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय लिखते हैं –

> ''नाभादास का परिचय कोरा परिचय नहीं है। उसमें कवित्व की भरमार है। भक्तमाल को पढ़ते समय प्रतीत होता है कि कालिदास की सुनन्दा बोल रही है। जो सामने आता है वह प्रिय बन जाता है। उसमें ऐसे कुछ गुण दिखाई देते हैं कि मन कुछ काल के लिए उसी में रम जाता है। अन्त में पाठक रुचि तथा संस्कार के अनुरूप अपना प्रिय पात्र चुन लेता है और उसका परिचय पा प्रसन्न होता रहता है।''[62]

नाभादास कृत भक्तमाल वार्ता–साहित्य के केन्द्र में दृष्टिगोचर होता है। वार्ता–साहित्य की आगे की परंपरा पर भक्तमाल का प्रभाव अधिक है। विद्वानों का मानना है कि तुलसीदास के बाद नाभादास ही लोक में विख्यात हुए। इनके उपरांत भी कुछ महत्वूपर्ण भक्तमाल दिखाई देते हैं। राघोदास कृत भक्तमाल अग्रिम परंपरा में महत्वपूर्ण हैं। इनके जन्म तथा मृत्यु के संदर्भ में कोई उल्लेख नहीं मिलता। भक्तमाल की समाप्ति में वह अपने विषय में लिखते हैं –

पीपा बंसी चांगल गोत, हरि हिरदै कीन्हौ ऊदोत।

भक्तमाल कृत कलिमय हरणी। आदि अंत मति अनुक्रम–वरणी।।[63]

---

[61] वही, पृ.स. 73

[62] दुबे, डॉ. लालता प्रसाद, हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य, प्रकाशन – साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1968, पृ.स. 80

[63] वही, पृ.स. 94

इस कथन के आधार पर पुरोहित हरिनारायण तथा मोतीलाल मेनारिया इन्हें पीपावंशी चांगल गोत्र का क्षत्रिय लिखा है। यह दादूपंथी थे। भक्तमाल के आदि तथा अंत में इन्होंने दादू को श्रद्धाभाव से स्मरण किया है। भक्तमाल का रचनाकाल संवत् 1717 है, जिसका संकेत ग्रंथ में आता है।

संवत् सत्रह सौ सत्रहोतरा, सुकल पक्ष शनिवार।

तिथि त्रितिया आसाढ़ की, राघौ कियौ विचार।।

हिंदी साहित्य के संदर्भ में एक बात तो स्पष्ट है कि रचनाकार रचना में उसके समय, स्थान आदि का संकेत करता है। कुछ कृतियों में यह संकेत मिलते है तथा कुछ में नहीं। जिन रचनाओं का संरक्षण संभव हो सका वह कृतियाँ रचना के बारे में आंतरिक तथ्य प्रस्तुत कर सकी तथा जिन्हें संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ उनमें समयावधि आदि की सूचना कई बार लिखी जाने के साथ परिवर्तित होती रही। अतः यह स्पष्ट है कि समय को लेकर मध्यकाल में सजग दृष्टि वर्तमान थी। वर्तमान समय में भी लोक परिवार की वंशावलियों को संजोता आया है। जिनकी प्राप्ति आज भी परिवारों के पास तथा तीर्थ स्थानों पर नित्य गमन करने वाले कुलों की सूची देखी जा सकती है। वार्ता–साहित्य में समय को उद्धृत करने की परंपरा स्पष्ट दिखाई पड़ती है। लेकिन लोक–प्रशस्ति प्राप्त भक्तों की सूचना लोक की भावमूलकता में खो जाती है। अतः कई बार समकालीन भक्तों के संदर्भ में तथ्यात्मकता का आग्रह वार्ताकारों से किया जा सकता है।

राघोदास कृत भक्तमाल के वर्ण्य विषय को संक्षिप्त रूप में छः उपभाग में बाँट सकते हैं। प्रथम भाग में मंगलाचरण से प्रारम्भ होकर सतयुग, त्रेता और द्वापर के भक्तों का वर्णन है। दूसरे भाग में कलियुग के चार संप्रदायों का वर्णन है। इनमें रामानुजाचार्य, विष्णुस्वामी, माध्वाचार्य तथा निम्बार्काचार्य आ जाते हैं। तीसरा भाग षट् दर्शनों का वर्णन करता है। चौथा और छठा भाग में स्फुट भक्तों का वर्णन है। जबकि पाँचवे भाग में चतुर्पन्थ वर्णन किया गया है। इनमें नानक, कबीर, दादू तथा निरंजनी पंथ है। भक्तमाल परंपरा में नाभादास का प्रभाव सर्वज्ञात है। राघोदास के भक्तमाल में चार संप्रदायों का वर्णन नाभादास कृत भक्तमाल से प्रभावित है। राघोदास कृत भक्तमाल के टीकाकार चतुरदास ने अपने वक्तव्य में इस तथ्य की ओर संकेत भी किया है।

प्रथम ही कीन्हीं भक्तमाल सु निरांनदास

परवा सरूप संत नाम ग्राम गाईया।

सोई देखि सुनि राघोदास आप कृत मघि

मेल्हिया विवेक करि साधन सुनाईया।।[64]

[64] दुबे, डॉ. लालता प्रसाद, हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य, प्रकाशन – साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1968, पृ.स. 98

वहीं दोनों भक्तमालकार भक्त, भक्ति, भगवंत तथा गुरु को समान महत्व प्रदान करते हैं। इन दोनों के मत तुलनीय है। नाभादास भक्तमाल में लिखते हैं –

भक्त, भक्ति, भगवंत, गुरु, चतुर नाम वपु एक।

इनके पद वन्दन किए, नाशै विघ्न अनेक।।1।।

तो वहीं राघोदास लिखते हैं –

भक्त, भक्ति, भगवंत, गुरु ये सम मस्तक मीर।

राघव इनसे विमुख है, तिनको कतहु न ठौर।।9।।

यह स्पष्ट है कि नाभादास का प्रभाव राघोदास पर था। लेकिन निर्गुण भक्तों के परिचय में राघोदास अधिक विस्तार से वर्णन करते हैं। लालता प्रसाद दुबे लिखते हैं –

> ''इससे ज्ञात होता है कि नाभादास जी के भक्तमाल में निर्गुणिये भक्तों के परिचय का अभाव पूरा करने के लिए ही इसकी रचना हुई है और इसमें कोई संदेह नहीं कि दादूपंथ, कबीरपंथ, निरंजनी पंथ आदि का विवरण राघोदास के भक्तमाल में अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से मिलता है।''[65]

राघोदास का भक्तमाल वार्ता–साहित्य परंपरा में नाभादास के उपरांत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इनके अलावा भी कुछेक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, जिनमें एक दादूपंथी संत ब्रह्मदास के भक्तमाल का पता चलता है। इसका प्रकाशन प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर द्वारा हुआ है। ब्रह्मदास का समय संवत् 1813 के लगभग बताया जाता है। इनके भक्तमाल में भक्तों की नामगणना ही की गई है। यही कारण है कि इसका प्रारूप छोटा है। इनके अलावा उत्तमदास कृत 'रसिकमाल' राधावल्लभीय संप्रदाय के भक्तों का वर्णन करते हैं। वह राधावल्लभ संप्रदाय के गोस्वामी कुंजलाल के शिष्य थे। गोस्वामी जी का समय संवत् 1696 माना जाता है। अतः लालता प्रसाद दुबे इनके ग्रन्थ की रचना संवत् 1740–45 के मध्य संभव मानते हैं। रसिकमाल में हित चरित्र तथा भगवत मुदित कृत रसिकअनन्यमाल के आधार पर हित जी और उनके प्रमुख शिष्यों का वर्णन किया गया है। हित हरिवंश जी का चरित्र वर्णन इस ग्रन्थ की विशेषता है। इससे पूर्व हित जी का इतना विस्तृत वर्णन तिथि के साथ कहीं प्राप्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त हरिवंश जी के दस प्रधान शिष्यों का वर्णन भी इसमें मिलता है। प्रायः इन भक्तों का वर्णन रसिक अनन्यमाल में हो चुका है तथा इनके संबंध में सभी घटनाएँ समान ही है।

जयकृष्ण द्वारा रचित 'हित कुल शाखा' भी इसी परंपरा का ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल संवत् 1660 है। हित हरिवंश जी का वर्णन तथा घटनाएँ समान है। अतः यह संभव है कि हित हरिवंश जी के वर्णमन में

---

[65] दुबे, डॉ. लालता प्रसाद, हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य, प्रकाशन – साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1968, पृ.स. 98

या तो दोनों ग्रन्थों का कोई तीसरा स्रोत था। या फिर बाद की रचना होने से जयकृष्ण दास ने पूर्व में उत्तमदास के रसिकमाल का अनुकरण किया है। इस ग्रन्थ में हित हरिवंश जी के वंशजों का वर्णन कर रसिकमाल की कमी को पूरा किया गया है।

चन्ददास कृत 'भगत विहार' वार्ता–साहित्य परंपरा का ही ग्रन्थ है। यह हंसुआ अर्थात् फतेहपुर ग्राम के रहने वाले थे। ये सहगल खत्री परिवार के थे। इसका उल्लेख इन्होंने अपने ग्रन्थ 'राम विनोद' में इस प्रकार किया है –

गंगा यमुना मध्य में हंसध्वज को ग्राम।

हंस पुरी शुभ नाम तेहि, तहाँ किये निज धाम।।

वसंत राय मम पितामह, पिता सो साहबराय।

सहगल खत्री वंश यों कृत शरीर सुख पाय।।[66]

इनकी रचना पूर्व परंपरा का अनुकरण करती हुई पहले के युगों के भक्तों का संक्षिप्त परिचय के साथ नामोल्लेख करती है। बाद में कलियुग के 125 भक्तों का वर्णन किया गया है। इन भक्तों में अधिकतर का वर्णन नाभादास में मिलता है। इसका रचनाकाल संवत् 1807 है।[67] यह भी नाभादास का ही अनुकरण करते हुए पहले, पूर्व युगों के भक्तों का वर्णन तथा बाद में, कलियुग के भक्तों का वर्णन करते हैं। नाभादास भक्तमाल में केवल कुछ भक्तों के प्रसंगों का संकेत मात्र करते हैं। जबकि भक्तविहार में सभी प्रसंगों का विस्तृत वर्णन किया गया है। यह रचना प्रियादास की टीका के बाद की है। इसीलिए टीका का प्रभाव भक्तविहार पर पड़ना भी संभव है। दोनों रचनाओं में भक्त–प्रसंगों में भी समानता दिखाई देती है।

रामदास द्वारा रचित 'भक्तमाल' इसी परंपरा की एक कड़ी है। रामदास का जन्म संवत् 1783 में फाल्गुन वदी 13 को तथा मृत्यु संवत् 1855 में हुई थी। इस ग्रन्थ में लगभग सवा दो सौ भक्तों के नाम स्मरण किये गये हैं। रामदास आदि तथा अंत में रचना को भक्तमाल की संज्ञा देते हैं। किन्तु वास्तव में यह भक्तनामावली की तरह की कृति है।

वार्ता–साहित्य की अवधारणा विस्तृत है। भक्तमाल का रूप इसके केन्द्र में है। तो वहीं 'भक्तनामावली' का रूप भी इसमें अंतर्निहित है। इन दोनों रूपों का अंतर भक्तों के वर्णन के विस्तार को लेकर है। भक्तमाल में प्रसंग सहित भक्तों का वर्णन किया गया है। जबकि भक्तनामावली के नाम के अनुरूप आंशिक वर्णन के साथ नाम–स्मरण किया जाता है। भक्तनामावलियों में ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' चिरस्मरणीय है। यह

---

[66] दुबे, डॉ. लालता प्रसाद, हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य, प्रकाशन – साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1968, पृ.स. 124

[67] समो अठारह सै ब्रत ध्यानन। अपर सपत बरनी बर आनन।
सवन सुकुल पछ रवि वासर। बरनी कथा सुधार परावर।।

राधावल्लभ संप्रदाय में दीक्षित थे। यह हित हरिवंश के द्वितीय पुत्र गोपीनाथ के शिष्य थे। इसकी पुष्टि भक्तनामावली के आरंभ के दोहे से हो जाती है।

श्री गोपीनाथ पद उर धरै, महागोप्य रससार।

बिनु बिलम्ब आवै दियै, अदभुद जुगल बिहार।।

'रसिक अनन्यमाल' तथा 'रसिक अनन्यसार' द्वारा भी इस बात की पुष्टि होती है। इनका जन्म श्री वियोगीहरि के अनुसार संवत् 1650 है। लेकिन इनके अन्य ग्रन्थ 'रसानन्द' का समय संवत् 1650 मिलता है।

रसानन्द को नाम कहावै, कहत सुनत आनन्द रस पावै।

संवत सौ षोडस पंचासा, बरनत ध्रुव जस जुगल प्रकासा।।

शेष ग्रन्थों का रचना समय संवत् 1650 के उपरांत मिलता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि 'रसानन्द' उनकी संभवतः प्रथम रचना है। अतः इनका समय इससे पूर्व ही ठहरता है। इन्होंने 42 ग्रन्थों की रचना की है। इस ग्रन्थ में लगभग एक सौ छब्बीस भक्तों का नामोल्लेख किया गया है। परन्तु कहीं–कहीं इन भक्तों का परिचय भी दिया गया है। भक्तनामावली की रचना नाभादास के बाद की रचना है। ध्रुवदास पर भक्तमाल का प्रभाव था। इसीलिए अंतिम दोहे में वह नारायणदास अर्थात् नाभादास का स्मरण श्रद्धा के साथ उद्धृत करते हैं।

भक्त नरायन भक्त सब धरे हिये दृढ़ प्रीति।

बरने आछी भाँति सौ जैसी जाको रीति।।

भक्तमाल तथा भक्तनामावली में साम्य भी दृष्टिगोचर होता है। अंतर केवल इतना है कि भक्तमाल में भक्तों का उल्लेख एक–एक छप्पय में हुआ है। जबकि भक्तनामावली उनका केवल नामोल्लेख करती है। यह अवश्य है कि भक्तमाल में भक्तों की उपासना पद्धति का साम्य भक्तनामावली से है।

भक्तनामावली के स्वरूप को ग्रहण कर कुछेक ग्रन्थ और प्राप्त होते हैं। खेमदास कृत 'भक्तपचीसी' में कलियुग के कुछ भक्तों का ही वर्णन किया गया है, जिनमें पीपा, नामदेव, कबीर, रैदास आदि का वर्णन अनन्तदास की परिचाइयों, नाभादास तथा राघोदास के भक्तमाल के समान है। प्रायः उन्हीं प्रसंगों को दोहराया गया है। इसका रचनाकाल संवत् 1719 है। मलूकदास कृत 'ज्ञानबोध' तथा 'भक्तबछल' इसी परंपरा की कृतियाँ है। ज्ञानबोध में संभवतः चालीस के लगभग भक्तों का वर्णन मिलता है। इन भक्तों में कुछ भक्तों को छोड़कर शेष सभी का नाम नाभादास के भक्तमाल में मिलता है। इस ग्रन्थ की प्राप्त प्रतिलिपि की पुष्पिका इस प्रकार लिखी गई है –

''इति श्री ज्ञानबोध वैराग्य वर्णन पंचम विश्राम सम्पूर्णम संवत् 1784 अशु निशु द्वितिका आरम्भ किया वार मंगल वारि वदी मास आसुन दिनौ वार मंगल का लिखि सिद्ध भई जैमूलक।''[68]

ज्ञानबोध की दो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त होती है। एक प्रति मयूनिसिपल म्युजियम प्रयाग के संग्रहालय में संरक्षित है। 'भक्तबछल' की हस्तलिखित प्रति महाराजा काशीनरेश की लाइब्रेरी में संरक्षित है। इसमें ग्रन्थ का रचनाकाल नहीं दिया गया है। परन्तु लिपिकाल इस प्रकार दिया गया है –

''इति श्री पोथी भगत बछल संपूर्णन।। संवत् 1879 मिती कुआर बदी 15 वार सुमार।।''[69]

इस ग्रन्थ के भक्तों के नाम तथा प्रसंग ज्ञानबोध में मिलते हैं। आरम्भ में अन्य युगों के भक्तों का नाम आया है तथा कलियुग के कुछ भक्तों का वर्णन है। नागरीदास की 'पद प्रसंग माला' में कृष्ण तथा राधा के उपासक भक्तों का नाम लिखा गया है। वह इसलिए भी क्योंकि नागरीदास कृष्ण भक्त थे। इनका कविता काल संवत् 1780 से 1819 तक माना जाता है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य भक्तों का गुणगान करना था।[70] इन भक्तों में कुछ के प्रसंग नाभादास के भक्तमाल में मिलते हैं, किन्तु इसकी निकटता प्रियादास की टीका से है। नागरीदास ने प्रसंग गद्य में लिखे हैं। अतः ग्रन्थ में प्रसंग विस्तार के साथ दिखाई देते हैं।

संत भीखादास का 'राजहिंडोला' इसी क्रम की एक कड़ी है। भीखादास का जन्म लगभग संवत् 1770 में माना जाता है। इन्होंने संत गुलाल साहब से दीक्षा ली। गुलाल साहब के बाद यह संवत् 1817 में गद्दी पर बैठे तथा संवत् 1848 के आस–पास इनकी मृत्यु हुई। इस ग्रन्थ में भीखादास ने कलियुग के 50 से अधिक भक्तों के साथ–साथ नाथपंथी योगियों का भी नाम स्मरण किया है। इन्होंने इन भक्तों के बारे कोई वर्णन न कर केवल नामोल्लेख ही किया है। भगवत रसिक का 'निश्चयात्मक ग्रन्थ' है। इनका रचनाकाल 1830 से 1850 के बीच माना जाता है। इस ग्रन्थ में लगभग 123 भक्तों के नाम उद्धृत किये गये हैं। इन भक्तों में अन्य युग तथा कलियुग के भक्त सम्मिलित है। नामों में कोई क्रम निर्वाह नहीं किया गया है। उपर्युक्त नामावलियों के अतिरिक्त कुछ भक्तनामावलियों का भी परिचय प्राप्त होता है। इनमें लघुजन कृत 'भक्तमाल सन्त सुमिरिनी', चै नरायन की 'भक्त सुमिरनी', दयालदास का 'करुणासागर', भगत कृत 'भगत चालीसा', सुधीमुखी कृत 'भक्तनामावली या हरिजन जसावली' आदि प्रमुख हैं। राधावल्लभीय संप्रदाय की भक्तनामावलियों में चाचा वृंदावन दास कृत 'रसिक अनन्य परिचावली', गोस्वामी चन्द्रलाल कृत 'वृंदावन प्रकाशमाला', गोविन्द अलि कृत 'रसिकअनन्य गाथा' आदि ग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर वार्ता–साहित्य की विस्तृत परंपरा का निदर्शन स्पष्ट तौर पर हो जाता है। इस परंपरा में नाभादास वह केन्द्र है, जहाँ से वार्ता–साहित्य के 'पूर्व' और 'पर' को देखा जा सकता है।

---

[68] दुबे, डॉ. लालता प्रसाद, हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य, प्रकाशन – साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1968, पृ.स. 151

[69] वही, पृ.स. 152

[70] ''व्रजवधून के चित्त गनाहीं सौं आकर्षन करि बुलाई, गानहीं सो आकर्षन करि नारद श्री कृष्ण कौ हृदय में बुलावत हैं, अस शिव के गानहीं सौं रीझिकरि जल है, द्रव गये, जैसे गान प्रिय, स्याम सुजान, तिनको लीलापद छन्द बंध रचना करि कैं वैष्णव गावत आये हैं, तिनके कछुक पद प्रसंग लिषौ हौं।''

यह विस्तृत परंपरा मध्यकाल के ऐतिहासिक भक्त–चरित्रों को मौखिक तथा लिखित रूप में संरक्षित कर इतिहास की भारतीयधारा का क्रमिक विकास करती है।

3.4 वार्ता–साहित्य की समस्याएँ

मध्यकाल में 'वार्ता–साहित्य' की एक विस्तृत परंपरा मौजूद है, जिनमें अनेक काव्य–रूप स्थान पाते हैं। 'भक्तमाल' उन्हीं काव्यरूपों में से एक है। यह कोई ग्रन्थ विशेष का संज्ञा सूचक शब्द नहीं है। इसका स्पष्ट संकेत इस परंपरा में 'भक्तमाल' नाम से ही लिखि गई अनेक कृतियों से होता है। 'कृति' शब्द सामान्यतः साहित्य धारा में सृजनात्मक लेखन के संबंध में प्रयुक्त होता है, जबकि 'ग्रन्थ' का प्रयोग ज्ञान को केन्द्र में रखकर लिखे गये साहित्य के लिए होता आया है। भक्तमाल को कृति तथा ग्रन्थ के बीच के द्वंद्व में कृति कहना अधिक सार्थक प्रतीत होता है। इतिहास–साहित्य की दृष्टि से इसके लिए ग्रन्थ कहना अधिक समीचीन है, परन्तु काव्य–शैली का प्रयोग इसे सृजनात्मक साहित्य की सीमा में खड़ा कर देता है। उपर्युक्त दो शब्दों का द्वंद्व ही वार्ता–साहित्य के अध्ययन का भी द्वंद्व है। सृजनात्मक साहित्य तथा ज्ञान आधारिक साहित्य के बीच का द्वंद्व इसकी समस्या भी है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो यह इसके मूल में है। वस्तुतः यह द्वंद्व लेखन से संबंधित है। इतिहास तथा काव्य दो भिन्न लेखन–प्रारूप को स्वीकार करते हैं। आधुनिक दृष्टि इन दो भिन्न प्रारूपों के आधार पर दो भिन्न ज्ञान–क्षेत्रों के रूप में इसे सीमित करती है। ई. श्रीधरन इस संदर्भ में संकेत करते हुए लिखते हैं –

> ''ब्राह्मणवादी पुराणों, बौद्ध पालि धर्मग्रंथ और जैन पटावलियों में धार्मिक और सामाजिक महत्व की सामग्रियों के विशाल भंडार में भी ऐतिहासिक सामग्री पर्याप्त परिमाण में विद्यमान है हालांकि उनकी प्रस्तुति के आधार पर शायद ही उन्हें ऐतिहासिक माना जा सकता है।''[71]

वार्ता–साहित्य भी धार्मिक और सामाजिक महत्व का साहित्य है, जिसमें इतिहास का समृद्ध भण्डार संरक्षित है। परन्तु उसे इतिहास ना मानने के क्रम में उस समृद्ध भण्डार से हम अभी तक अछूते रहे हैं।

वार्ता–साहित्य मध्यकालीन हिंदी की एक प्रमुख परंपरा है, जो कि तत्कालीन इतिहास का प्रमुख स्रोत है। मध्यकालीन साहित्यिक इतिहास लिखते हुए विद्वान वार्ता–साहित्य से अपनी दिशा प्राप्त करते हैं। उनकी दृष्टि में यह ऐतिहासिक–स्रोत के रूप में स्वीकृति पाता है, ना कि इतिहास–ग्रन्थ के रूप में। यही इसकी सर्वप्रमुख समस्या है। कहने का तात्पर्य यह है कि वार्ता–साहित्य इतिहास न होकर साहित्यिक कृति है, जो कि इतिहास के कथ्य को प्रस्तुत करती है। इसीलिए वह इतिहास का स्रोत है ना कि इतिहास का ग्रन्थ। इस दृष्टि को स्वीकारने का कारण वार्ता–साहित्य का रूप है। यदि देखा जाये तो वार्ता–साहित्य की वस्तु ऐतिहासिक है, जबकि उसका रूप साहित्यिक। वार्ता–साहित्य पद्यात्मक ही अधिक दिखाई देता है। भक्तमाल, भक्तनामावली,

[71] ई.श्रीधरन, इतिहास–लेख एक पाठ्यपुस्तक, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, संस्करण 2011, पृ.सं. 277

भक्तमाल की टीकाएँ – पद्य में ही लिखे मिलते हैं। पद्य में होने के कारण छंदबद्धता इनका गुण हो जाता है। इसी छंदबद्धता को केन्द्र में रखकर वार्ता–साहित्य को साहित्य–श्रेणी में स्थान दे दिया जाता है।

साहित्य–श्रेणी में स्वीकारने का प्रमुख कारण आधुनिक दृष्टि है। आधुनिक चिंतक अकादमिक–जगत का विकास करते हुए ज्ञान–विज्ञान की धाराओं को नियमाबद्ध करते हैं। वह उन धाराओं का तात्विक निर्धारण करने के साथ–साथ रूपगत चिंतन को भी केन्द्र में रखते हैं। ऐसा करते हुए वह प्रत्येक विषय के लेखन को भी निश्चित करते हैं और उस आधार पर भी ज्ञान–विज्ञान की सीमाओं को परिभाषित करते हुए स्थिर करते हैं। इसी आधार पर मध्यकालीन वार्ता–साहित्य की श्रेणी 'साहित्यिक' निश्चित होती है। जबकि यही दृष्टि वार्ता–साहित्य की सटीक पहचान में बाधा उत्पन्न करती है।

वार्ता का स्वरूप मूलतः संश्लिष्ट है। वहाँ इतिहास की वस्तुनिष्ठता भी है तो साहित्य की रचनात्मकता भी। इतिहास की वस्तुनिष्ठता जहाँ वार्ता–साहित्य को यथार्थ एवं तथ्यात्मक बनाती है वहीं साहित्य की रचनात्मकता उसे नितनूतन दिखने की सार्वभौमिकता एवं सर्वकालिकता प्रदान करती है। एक तरफ इतिहास उसे क्षणिकता प्रदान करता है दूसरी ओर साहित्य उसे शाश्वत बनाता है। दरअसल वार्ता–साहित्य का यही संश्लिष्ट रूप उसे मध्यकालीन दृष्टि तथा आधुनिक चिंतन के मध्य में लाकर खड़ा कर देता है। मध्यकालीन दृष्टि उसे भिन्न रूप में परिभाषित करती है। (जो कि संस्कृत साहित्य–चिंतन का विकास है।) वहीं दूसरी ओर आधुनिक चिंतन के पश्चिमी मानदण्ड उसकी मूल चेतना के विपरीत उसे अपने साँचों में ढालना चाहते हैं। इस समस्या के समाधान की दिशा उत्तर–आधुनिकता में दिखाई देती है। उत्तर–आधुनिकता साहित्य का मनोवैज्ञानिक इतिहास मानकर साहित्याध्ययन पर जोर देता है। इस दृष्टि से वार्ता–साहित्य को परिभाषित करने पर उसे साहित्य–श्रेणी में स्थाई मानने को विवश होना पड़ेगा। उसी के उपरांत वार्ता–साहित्य का इतिहासोन्मुख व्याख्या संभव है। दरअसल उत्तर–आधुनिकता आधुनिकता की प्रतिक्रिया है। इसीलिए वार्ता–साहित्य के संकट को पूर्णतः समझने में अक्षम है। परन्तु फिर भी आधुनिक साँचों से निकलकर वार्ता–साहित्य का पुनर्पाठ करना उत्तर–आधुनिक स्थिति ही है। बहरहाल वार्ता–साहित्य का यह द्वंद्व (साहित्य एवं इतिहास में क्या माने?) उसका मूल संकट है, जिसका निदान मध्यकालीन दृष्टिगत भूमि को समझे बिना संभव नहीं।

वार्ता–साहित्य का ऐतिहासिक कथ्य तथा साहित्यिक रूप के द्वंद्व को पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। लेकिन रूपगत तथा दृष्टिगत समस्या होते हुए भी समकालीन इतिहास के रूप में इसकी व्याख्या भी एक समस्या है। कहा जाये तो यह वार्ता–साहित्य की व्यावहारिक समस्या है। भक्तमाल तथा अन्य कृतियाँ साहित्यिक आवरण में इतिहास को संरक्षित करती हैं। चूँकि साहित्य का गुण सृजन है। सृजन में नवीनता का गुण सहज ही संश्लिष्ट होता है। किसी वस्तु की पुनरावृत्ति सृजन के अंतर्गत नहीं आती। इसीलिए साहित्य में रचनाकार की रचनाशीलता आवश्यक मानी गई है। यह सृजनात्मकता स्थाई तथ्यों से दूर होती है, जो कि वार्ता–साहित्य में भी दिखाई देती है। वह इसलिए भी ताकि साहित्य को अधिक–से–अधिक सृजनात्मक बनाया

जा सके। साहित्यकार रचना में नितनूतन होने का चमत्कार पैदा करता है। इसके लिए वह अलंकार, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, आदि का प्रयोग करता है। कभी यह चमत्कार रचना के बाह्य पक्ष (अभिव्यक्ति पक्ष) से संबंधित होता है तो कभी उसके आंतरिक पक्ष से (दृष्टिगत या अनुभूति पक्ष)। रचनाशीलता के साथ–साथ शब्द–शक्ति का चमत्कार भी साहित्य को उत्कृष्टता प्रदान करता है। इसीलिए सत्य की सन्निकटता एवं सटीकता थोड़ी दूर पड़ती है। वार्ता–साहित्य में कई बार अर्थ–ध्वनियों का विस्तार कथ्य के ऐतिहासिक स्वर तक पहुँचने में भी बाधा उत्पन्न करता है, इसीलिए उसका विश्लेषण–संश्लेषण साहित्यिक–व्याख्या द्वारा ही संभव है।

वार्ता–साहित्य में सामूहिक दृष्टि एक विशेषता के रूप में दिखाई देती हैं, जिसे लोक–दृष्टि के रूप में पहचाना जा सकता है। रचनाकार जिन भक्तों का वर्णन करता है, वह सभी भक्त लोक में भक्ति के मानदण्ड पर प्रशस्ति प्राप्त कर चुके रहते हैं या फिर उन भक्तों को संप्रदाय–विशेष में सम्मान प्राप्त हो चुका रहता है। वार्ताकार इन्हीं भक्तों को वार्ताओं में स्थान देता है। सामूहिक–दृष्टि या लोक–दृष्टि के हावी होने से कथ्य में स्थूल तथ्यात्मकता तो समाप्त हो जाती है पर अनुभूतिगत–ऐतिहासिकता वर्तमान रहती है। कहा जाये तो वार्ता–साहित्य इन्हीं अनुभूतिगत–ऐतिहासिकता को साहित्यिक प्रवृत्तिगत अनुकूलता में संरक्षित करता है। इस प्रकार की ऐतिहासिकता युग–बोध को समझने में सहायक सिद्ध होती है और जैसा कि ज्ञात है कि अनुभूति में तथ्यों के समान वस्तुनिष्ठता और यथार्थ की सटीकता का परिचय संभव नहीं, वैसे ही वार्ता–साहित्य में मौजूद अनुभूतिगत–इतिहास में अनेक प्रकार के व्याख्यात्मक संकट तथा किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचना सरल नहीं।

पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि वार्ता–साहित्य सामूहिक–दृष्टि (लोक–दृष्टि) का विकास है। वहीं उसका कथ्य का विस्तार भी व्यापक है। कहने का अभिप्राय यह है कि लोक में भक्तों की उपस्थिति अनगिनत है। इसीलिए वार्ताकार भक्तों में चयन कर उनका वर्णन करता है। ऐसा करते हुए उसका उद्देश्य 'सम्पूर्ण' को कहने का नहीं होता। बल्कि वह जो प्रस्तुत है उसे ही अभिव्यक्ति प्रदान करने के उद्देश्य से रचता है। दूसरी ओर छंदोंबद्ध रचना भी उसे सीमांकित करती है। इसीलिए रचनाकार सबकुछ नहीं कह पाता वह केवल आंशिक यथार्थ को ही प्रस्तुत करता है। यह आंशिक सत्य वार्ता–साहित्य में पूरकता की प्रवृत्ति को जन्म देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वार्ता–ग्रन्थों में सत्य आंशिक–आंशिक होने के कारण बिखरा मिलता है। खण्डित सत्य होने के कारण विभिन्न ग्रन्थों में 'पूरकता' एक पूल का कार्य करता है, जिसके माध्यम से अखण्ड सत्य के अधिक–से–अधिक निकट पहुँचने का प्रयास किया जाता है। इसीलिए वार्ता–साहित्य का अध्ययन करते हुए संश्लेषण–पद्धति का प्रयोग महत्वपूर्ण हो जाता है। परन्तु यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि विश्लेषण के बिना संश्लेषणात्मकता संभव नहीं। खण्डित सत्य का निदर्शन विश्लेषण द्वारा ही संभव है और उस खण्ड–खण्ड से अखण्ड तक का सफर संश्लेषणात्मकता द्वारा।

वार्ता–साहित्य का एक अन्य संकट उसके कथ्य का संकट है। यदि आधुनिक इतिहास–लेखन पर विचार करें तो इतिहास का अर्थ केवल 'राजनीतिक इतिहास' से ही लिया जाता था, जो अर्द्ध–शताब्दी पूर्व से व्यापक

हुआ है। वर्तमान में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और विषय–विशेष के इतिहास भी लिखे जाने लगे हैं। परन्तु अंतर्मन में कहीं आज भी 'राजनीतिक इतिहास' की चेतना प्रबल रूप से वर्तमान है। इतिहास से अभिप्राय 'राजनीतिक इतिहास–लेखन' मानने के कई कारण थे। इतिहास अतीत में हुए युग–परिवर्तन के पीछे राजनीतिक परिवर्तन को प्रमुख रूप से देखता आया है। इसीलिए हेरोडोतस से होते हुए मध्यकालीन ईसाई–लेखन तथा आधुनिक युग तक राजनीति को इतिहास–लेखन में महत्वपूर्ण माना गया। जबकि वार्ता–साहित्य का कथ्य इसके विपरीत ठहरता है। दूसरी इतिहास–लेखन व्यक्ति को भी केन्द्र में रखकर अतीत की व्याख्या करता है। पर इसके लिए उस व्यक्ति की प्रभावशीलता भी महत्वपूर्ण हो जाती है। गाँधी एक युग पुरूष है, जिनका प्रभाव भारत में युग परिवर्तन की दिशा तय करता है। लेकिन वार्ता–साहित्य में ऐसे युग पुरूष का स्मरण सामान्य भक्तों के साथ ही हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वार्ता–साहित्य उन धूरियों को नहीं रचता जो युग परिवर्तन अथवा प्रभावोत्पादक रहें। बल्कि उसका केन्द्र भक्ति ही ठहरता है। वह अतीत को पुनर्निर्मित नहीं करना चाहता। बल्कि अतीत माध्यम है उसके उच्चतम लक्ष्यों तक पहुँचने का। इसीलिए वार्ता–साहित्य का कथ्य भी लोक–सामान्य है न कि युग–विशेष। समकालीन दृष्टि में यह भक्त अतीत को परिभाषित करने में कोई भूमिका अदा नहीं करते। विद्वानों द्वारा इनके माध्यम से भक्ति के व्यापक प्रभाव को ही समझे जाने का प्रयास किया गया है।

वार्ता–साहित्य को इतिहास के रूप में महत्व देने की दृष्टि से यह कथ्य अतीत की समकालीन दृष्टि से व्याख्या करने में अक्षम है। इसीलिए भी इतिहास–चिंतक वार्ता–साहित्य को इतिहास–ग्रन्थ के रूप में नहीं स्वीकार करते।

वार्ता–साहित्य के इतिहास–ग्रन्थ के रूप में अध्ययन करने की तीसरी समस्या उसकी प्रासंगिकता के कारण है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि समकालीन दृष्टि अतीत में युग–परिवर्तन तथा उनके पीछे के कारणों को महत्व देती है। यह कारण वर्तमान संदर्भों मे ंप्रसांगिक होते हैं। दरअसल इतिहास अतीत की व्याख्या वर्तमान प्रासंगिकता को दृष्टिगत कर करता है। कहा जाये तो ज्ञान की सभी धाराओं का अध्ययन उनकी समकालीन प्रासंगिकता के कारण किया जाता है। वार्ता–साहित्य पर विचार करें तो भक्त चरित्रों की उज्ज्वलता ही समकालीन संदर्भों में व्याख्यायित होती है। या फिर भक्ति में मौजूद क्रान्तिकारिता वर्तमान में प्रसांगिक होती है। ऐसे में वार्ता–साहित्य में मौजूद भक्तों का वर्णन सामूहिक चिंतन भूमि पर युगीन–चिंतन प्रस्तुत करता है। परन्तु भक्त–विशेष पर व्यष्टिगत विचार करने पर उनकी प्रासंगिकता चारित्रिक गुणों के आदर्श तक ही सीमित हो जाती है। इस कारण भी इतिहासकार वार्ता–साहित्य को इतिहास के रूप में नहीं देखते।

वार्ता–साहित्य का एक प्रमुख संकट उसका स्वरूप है। पहले ही इंगित किया जा चुका है कि वार्ता–साहित्य इतिहास और साहित्य की प्रवृत्तिगत विशेषताओं को अपने में समाहित करता है। यहाँ एक स्पष्टीकरण आवश्यक है कि वार्ता–साहित्य में इतिहास की प्रवृत्तिगत विशेषताएँ इतिहास–पुराण परंपरा से

विकसित हुई हैं। वह समकालीन इतिहास–चिंतन के प्रतिरूप को नहीं अपनाती। भारतीय इतिहास–दर्शन की प्रमुख विशेषता शाश्वतता है। वह कथ्य को समय अथवा स्थान–विशेष में बाँधने से इतर इतिहास के सार्वभौमिक तथा सर्वकालिक रूप का विकास करता है। ऐसा करते हुए वह समकालीन इतिहास–चिंतन में मौजूद वस्तुनिष्ठता के आग्रह से दूर हो जाता है। इसीलिए वार्ता–साहित्य का स्वरूप स्थूल से सूक्ष्मता को प्राप्त करता है। कहा जाये तो वार्ता–साहित्य (भारतीय साहित्य) मूलतः सूक्ष्म इतिहास है, जो कि स्थूल इतिहास–लेखन की तथ्यात्मकता से दूर कथ्य की शाश्वतता को निर्मित करती है। भक्तों का चरित्र इसका प्रबल उदाहरण है। वार्ता में उनका चरित्र आदर्श स्थापना के रूप में ही निर्मित होता है। यह आदर्श केवल युग–सापेक्षता में महत्ता नहीं पाते बल्कि वार्ता–साहित्य की समकालीन प्रसांगिक भी होते है। कहा जाये तो वार्ता–साहित्य का शाश्वत स्वरूप ही उसे वर्तमान संदर्भ में प्रसांगिक बनाता है।

वार्ता–साहित्य की शाश्वतता ही उसका गुण है। इस शाश्वतता के निर्माण में साहित्य की प्रवृत्ति भी सहायक होती है। साहित्य का कार्य सृजन है। सृजनत्व उसका गुण है। इसीलिए उसका नितनूतन होने का आग्रह उसे वैशिष्ट्य प्रदान करता है। यह नितनूतनता कथ्य को यथावत् रखते हुए लेखन की भूमि पर चमत्कार पैदा करना चाहती है। इसीलिए वह छंद, अलंकार आदि का प्रयोग चमत्कार पैदा करने के लिए करता है। वहीं दूसरी ओर वस्तु की भूमि पर वह उसे सहृदय के लिए रचता है। इसीलिए वह उस वस्तु को संवेदना की भूमि पर प्रस्तुत करता है ताकि पाठ्य एवं पाठक के बीच तादात्मय स्थापित कर उसे रसास्वाद्य प्राप्त हो सके। जबकि इतिहास इन विशेषताओं को साहित्य–श्रेणी में स्थान देता है।

चतुर्थ अध्याय

वार्ता–रूप 'भक्तमाल' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

4.1 नाभादास कृत 'भक्तमाल' तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' का सामान्य परिचय

4.2 नाभादास कृत 'भक्तमाल' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

4.3 भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

मध्यकालीन वार्ता–साहित्य में 'भक्तमाल' सर्वाधिक प्रशस्ति प्राप्त वार्ता–रूप है। इस रूप–परंपरा में नाभादास मील के पत्थर के समान है, जिनके रचित 'भक्तमाल' को बाद के अनेक वार्ताकार ने अनुकरण किया। परन्तु उन्हें वार्ता–रूप 'भक्तमाल' का आरम्भकर्ता नहीं कहा जा सकता। इनसे पूर्व भी कुछेक भक्तों ने भक्तमाल की रचना की थी। अर्थात् उनसे पूर्व भी लोक में इस प्रकार की परंपरा वर्तमान थी, जिसका संकेत पूर्व अध्याय में किया गया है। बहरहाल नाभादास का प्रभाव बाद के वार्ताकारों पर भी रहा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' पर भी नाभादास का प्रभाव द्रष्टव्य है। अतः आधुनिककाल तक वार्ता–रूप 'भक्तमाल' की परंपरा स्पष्ट दिखाई देती है।

4.1 नाभादास कृत 'भक्तमाल' का सामान्य परिचय

मध्यकाल में वार्ता–साहित्य के अंतर्गत 'भक्तमाल' की विस्तृत परंपरा वर्तमान थी, जिसका उद्देश्य मध्यकालीन भक्तों के चरित्रों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए 'भगवद्–भक्ति' करना था। वार्ता–साहित्य के अंतर्गत 'भक्तमाल' एक प्रमुख साहित्यिक–रूप है। नाभादास इसी रूप को ग्रहण करते हुए 'भक्तमाल' शीर्षक से वार्ता–साहित्य की रचना करते हैं। 'वार्ता' का शाब्दिक अभिप्राय 'बातचीत' है। अर्थात् दो या दो से अधिक के बीच बातचीत। भक्तमाल का लेखन भी लोक को संबोधित करता है। इसीलिए भक्तमाल को वार्ता–साहित्य की पारिभाषिक शब्दावली में सम्मिलित किया गया है। नाभादास कृत 'भक्तमाल' इस रूप की प्रशस्ति प्राप्त रचना है। इसका प्रभाव भक्तमाल की सम्पूर्ण परंपरा पर पड़ा है। कहा जाये तो भक्तमाल–परंपरा को रूपाकार देने में नाभादास की अहम भूमिका है। इसीलिए नाभादास के संबंध में बहिर्साक्ष्य अनेक ग्रन्थों में बिखरे हुए हैं। नाभादास ने भक्तमाल में 214 छंद रचे। इन छंदों में 17 दोहे तथा 197 छप्पय हैं। इसकी प्रशस्ति लोक में इतनी अधिक हुई कि प्रियादास ने इस पर कवित्तों में टीका लिखी। यह टीका भक्तमाल में चित्रित भक्तों का तथ्यपूर्ण वर्णन प्रस्तुत करती है। टीका होते हुए भी वह अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। इसीलिए भक्तमाल के साथ–साथ प्रियादास की टीका को भी स्मरण किया जाता है तथा इन दोनों ग्रन्थों को पूरक रूप में निर्दिष्ट किया जाता है।

बहरहाल रचनाकार के संबंध में जानकारी दो दिशाओं से प्राप्त होती है – अंतर्साक्ष्य तथा बहिर्साक्ष्य। नाभादास के संबंध में अंतर्साक्ष्यों से अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती। उनकी रचनाओं में जीवनी विषयक तथ्य नहीं के बराबर है। अंतर्साक्ष्यों के आधार पर उनका अग्रदास का शिष्यत्व ग्रहण करना तथा गुरु–प्रेरणा से भक्तमाल की रचना करने का पता चलता है। परन्तु बहिर्साक्ष्य स्रोत काफी संख्या में उपलब्ध हैं। कैलाशचन्द्र शर्मा इन स्रोतों को प्राचीन तथा अर्वाचीन अध्ययन में विभाजित करते हैं। वह लिखते हैं –

''नाभादास जी विषयक बहिर्साक्ष्य दो प्रकार के हैं – प्रथम प्राचीन उल्लेख दूसरे अर्वाचीन अध्ययन या परिचय जिन्हें क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है।''[1]

दरअसल प्राचीन स्रोत के अंतर्गत मध्यकालीन साहित्य को ही आधार बनाया गया है। नाभादास के संबंध में उल्लेख्य सामग्री की सूची नीचे निर्दिष्ट की गई है –

1. भक्तनामावली – ध्रुवदास
2. भक्तमाल – राधवदास
3. भक्तमाल भक्तिरसबोधिनीटीका – प्रियादास
4. भक्तदामागुणचित्रणीटीका – बालक राम (हस्तलिखित प्रति)
5. भक्तमाल – द्यालबाल (हस्तलिखित प्रति)
6. रसिक प्रकाश भक्तमाल – जीवाराम युगलप्रिया
7. भक्तमालमहात्म्य – भागवतदास
8. भक्तमाल की वचनिकाटीका – सेवाहितदास (हस्तलिखित प्रति)
9. भक्तमाल रामरसिकावली – महाराजा रघुराजसिंह
10. भक्तमाल भक्तकल्पद्रुम – प्रताप सिंह
11. उत्तरार्द्ध भक्तमाल – भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
12. भक्तमाल हरिभक्तिप्रकाशिकाटीका – ज्वाला प्रसाद मिश्र
13. भक्तमालिका व्याख्या – विष्णु वुवा मारेगाँवकर (हस्तलिखित प्रति)
14. भक्तमाल महात्म्य – सिद्धिनाथ
15. भक्तमाल भक्तिसुधास्वादतिलक – रूपकला
16. भक्तमाल–नाभादास – लिपिकार अज्ञात (हस्तलिखित प्रति)

दरअसल इन कृतियों में नाभादास को लेकर सूचनाएँ तो प्राप्त होती हैं परन्तु यह सूचनाएँ अधिकतर पुनरुद्धृत हुई हैं। ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' में नाभादास का अपर नाम नारायणदास बताया गया है। वहीं राघवदास के भक्तमाल में नाभादास को क्षीर–नीर–विवेकी तथा भक्तमाल का रचयिता कहा गया है। प्रियादास की टीका (रचनाकाल संवत् 1769) के संबंध में कैलाशचन्द्र शर्मा लिखते हैं –

''इस ग्रन्थ में कवि ने नाभादास जी के जीवन के संबंध में कुछ कवित्त किए हैं। कवित्त संख्या 7 भक्तचरित्रों के वर्णन में नाभादास जी की निष्पक्षता, उनकी अर्थ–गर्भ भरी काव्यकला तथा समकालीन सन्तों और भक्तों के बीच भक्तमाल की लोकप्रियता को ही प्रकाश में लाता है।''[2]

---

[1] शर्मा, कैलाशचन्द्र, भक्तमाल और हिंदी काव्य में उसकी परम्परा, मंथन पब्लिकेशन, रोहतक, प्रथम संस्करण 1983, पृ.सं. 16
[2] शर्मा, कैलाशचन्द्र, भक्तमाल और हिंदी काव्य में उसकी परम्परा, मंथन पब्लिकेशन, रोहतक, प्रथम संस्करण 1983, पृ.सं. 17

परन्तु इसी के साथ प्रियादास ने नाभादास की आद्यावस्था का भी वर्णन कियाा है। वह उन्हें हनुमानवंश में उत्पन्न बताते हैं, जिन्हें उनकी माता पाँच वर्ष की अवस्था में अकाल से पीड़ित होने के कारण वन में छोड़ गई थीं। कील्हदास तथा अग्रदास को मार्ग में नाभादास मिले तथा उन्हीं ने इनका पालनपोषण भी किया। प्रियादास बताते हैं कि यह जन्मजात सूर थे, जो कि कील्हदास के प्रताप से पुनः दृष्टि प्राप्त करते हैं। नाभादास गलता में इन दोनों महात्माओं की सेवा करते थे। इसी के साथ–साथ वह संतों के चरण धोते, सेवा करते और अनूठी वाणी में भक्तों का चरित्रगान भी करते। कील्हदास की आज्ञा पाकर इन्हे अग्रदास ने अपना शिष्य बनाया। प्रियादास यह भी बताते हैं कि जयपुर का महाराजा मानसिंह अग्रदास के दर्शन करने गया था जहाँ नाभादास भी थे। प्रियादास वृंदावन में नाभादास की तुलसीदास से भेंट होने की सूचना भी देते हैं। बालकराम की 'भक्तदामगुणचित्रणी टीका' (रचनाकाल संवत् 1833) में प्राप्त सूचनाओं को पुर्नावृत्त करते हैं। लेकिन एक अलग तथ्य देते हुए वह नाभादास को हीन–जाति 'ढोली' में उत्पन्न बताते हैं। जबकि अधिकतर उनका जन्म हनुमान कुल में माना गया है। इस ग्रन्थ में अकाल पीड़ित क्षेत्र का नाम 'मरुवास' बताया गया है, जिसकी सहायता से नाभादास के जन्म को निर्धारित किया जा सकता है। इसी क्रम में 'रसिकप्रकाशभक्तमाल और उसकी टीका' (रचनाकाल संवत् 1898) से नाभादास की रचनाओं, रसिकसंप्रदाय में उनकी अवस्थिति तथा उनके प्रभावशील व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। सेवाहितदास कृत 'भक्तमाल की वचनका टीका' (रचनाकाल संवत् 1912) में प्रियादास कृत भक्तिरसबोधिनीटीका की गद्य–व्याख्या की गई है। इसीलिए यह कृति प्रियादास की टीका का ही अनुकरण करती है। परन्तु यह एक नवीन सूचना प्रेषित करते हैं। वह माता–पिता द्वारा मारवाड़ में अन्न का अकाल पड़ने पर जयपुर के समीप गलता के वन में नाभादास को छोड़े जाने की सूचना देते हैं। जबकि इससे पूर्व यह जंगल दक्षिण के होने की सूचना कई कृतियों में दी गई है। महाराजा रघुराजसिंह कृत 'भक्तमाला रामरसिकावली' (रचनाकाल संवत् 1914) में नाभादास को लाँगूली ब्राह्मण होना, गलता गद्दी का अधिकारी बनना, राजा मानसिंह का नाभादास के पास सत्संग के लिए आना, नाभादास का काशीगमन तथा तुलसीदास की भेंट होना बताया गया है। दरअसल इससे पूर्व नाभादास की तुलसीदास से भेंट होने की सूचना मिलती है। जो कि दोनों पक्षों की दृष्टि से सही नहीं ठहरती। या तो नाभादास के स्थान गलता में भेंट हो या फिर काशी में। परन्तु वृंदावन में भेंट होने की सूचना प्रमाणित नहीं जान पड़ती। साथ–ही–साथ रघुराजसिंह 'नाभा' नाम गुरुप्रदत्त बताते हैं।

प्रतापसिंह कृत 'भक्तमाल अर्थात् भक्तिकल्पद्रुम' की भूमिका में वह नाभादास का वृत्तांत प्रस्तुत करते हैं। इनके अनुसार –

> ''नाभादास का अन्य नाम नारायणदास, हनुमानवंश में उनका जन्म, दक्षिण में तैलंग देश गोदावरी के निकट रामभद्राचल निवासी महाराष्ट्री ब्राह्मण और हनुमान जी के अंशावतार श्री रामदास जी के पुत्र, जन्म से सूर, पिता के निधन के बाद अकाल के समय इनकी माता द्वारा

इन्हें जंगल में छोड़ दिया जाना, कील्हदास और अग्रदास द्वारा जल छिड़के जाने पर इन्हें नेत्र लाभ होना।''[3]

उपलब्ध जानकारियों को प्रतापसिंह की सूचनाएँ विस्तृत रूप प्रदान करती हैं। विष्णुबुबा मारैगाँवकर कृति 'भक्तमालिका व्याख्या' में कुछ भिन्न सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इन नवीन सूचनाओं में नाभादास को ग्वालियर निवासी, जन्मांध, ग्वालियर में अकाल पड़ने पर जयपुर के जंगलों में इन्हें छोड़ देना तथा भक्तमाल की रचना ग्वालियेरी भाषा में करना कहा गया है। दरअसल ग्वालियेरी ब्रजभाषा की एक शैली है।

बहरहाल उपर्युक्त सूचनाओं से कुछ सामान्य तथ्य जरूर स्पष्ट होते हैं। जैसे कि इनके पिता का नाम रामदास था, जिनकी मृत्यु उपरांत इनकी माता ने अकाल के कारण इन्हें जंगल में छोड़ दिया। यह जन्मांध थे। मार्ग में इन्हें अग्रदास तथा कील्हदास मिले, जहाँ कील्हदास के प्रताप से इन्हें नेत्रलाभ प्राप्त हुआ। अग्रदास तथा कील्हदास इन्हें अपने साथ गलता ले आये। यहीं इनका पालन–पोषण हुआ। भक्ति की चेतना इनमें यहीं जगी। भक्तों की सेवा एवं गुणगान इनके जीवन–संस्कार हुए, जो कि बाद में भक्तमाल के रूप में प्रस्फुटित हुए। अग्रदास ने इन्हें अपना शिष्य बनाया और 'नाभा' नाम दिया। पूर्व में इनका नाम नारायणदास था। बाद में यह लोक में 'नाभादास' नाम से प्रसिद्ध हुए। मानसिंह एवं तुलसीदास से इनकी भेंट हुई थी। यही कुछ सामान्य तथ्य है जो कि भिन्नता के साथ अलग–अलग ग्रन्थों में समान रूप से दिखाई देते हैं।

प्राचीन उल्लेखों के बाद अर्वाचीन उल्लेखों पर दृष्टि डालना आवश्यक है। कैलाशचन्द्र इन बाह्य स्रोतों की एक सूची तैयार करते हैं –

1. विलसन – रिलिजस सेक्ट्स आव् हिन्दूज
2. गार्सां द तासी – इस्त्वार द लॉ लितरेत्यूर ऐन्दुई ऐं ऐंन्दुस्तानी
   (अनुवादक – डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय)
3. ग्रियर्सन – हिंदी का प्रथम इतिहास
   (अनुवादक – श्रीकिशोरी लाल गुप्त)
4. एफ.ई.के – ए हिस्ट्री ऑव हिंदी लिटरेचर
5. जे.एन.फर्कुहर – एन आउट लाइन ऑव रेलिजस सेक्ट्स ऑव इण्डिया
6. के.एम.सेन – मिडीवल मिस्टीसिज्म
7. मिश्रबंधु – मिश्रबन्धुविनोद, द्वितीय भाग
8. रामचन्द्र शुक्ल – हिंदी साहित्य का इतिहास
9. श्यामसुन्दरदास – हिंदी भाषा और साहित्य

[3] शर्मा, कैलाशचन्द्र, भक्तमाल और हिंदी काव्य में उसकी परम्परा, मंथन पब्लिकेशन, रोहतक, प्रथम संस्करण 1983, पृ.सं. 20

10. विश्वनाथप्रसाद मिश्र – हिंदी का अतीत; वाङ्गमय विमर्श
11. डॉ. रामकुमार वर्मा – हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
12. डॉ. दीदयालु गुप्त – अष्टछाप और वल्लभसंप्रदाय, प्रथम भाग
13. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी – हिंदी साहित्य की भूमिका
14. डॉ. माताप्रसाद गुप्त – हिंदी साहित्य, द्वितीय खण्ड; तुलसीदास
15. डॉ. मोतीलाल मेनारिया – राजस्थानी भाषा और साहित्य
16. श्री वासुदेव गोस्वामी – भक्तकवि व्यास जी
17. कृष्णस्नेही – भक्तमाल भाषा
18. कल्याण संतांक, सन्तवाणी अंक और भक्तचरितांक
19. हरिहरनिवास द्विवेदी – मध्यकालीन भाषा
20. रामलाल – भारत के संत महात्मा
21. डॉ. बदरीनारायण श्रीवास्तव – रामानन्दसंप्रदाय और हिंदी साहित्य पर उसका प्रभाव
22. डॉ. केदारनाथ द्विवेदी 'यतीन्द्र' – श्रीहित ध्रुवदास और उनका साहित्य (अप्रकाशित)

विल्सन ने अपने ग्रन्थ में नाभादास के संबंध में अनेक सूत्र दिये हैं।[4] परन्तु यह विवरण प्राचीन उल्लेखों से ही साम्य रखता है। कैलाशचन्द्र इन सूचनाओं को महाराजा रघुराजसिंह कृत 'भक्तमाला रामरसिककावली' पर आश्रित मानते हैं। गार्सा–द–तासी भी नाभादास पर अपने विचार प्रस्तुत करते हैं।[5] वह नाभादास से पूर्व भी संस्कृत–भक्तमाल की रचना स्वीकारते हैं। लेकिन इसके अतिरिक्त उनकी सूचनाओं में बहुत भ्रान्तियाँ हैं। इन भ्रान्तियों में एक भ्रान्ति यह भी है कि वह वल्लभ संप्रदाय के आचार्य अग्रदास के शिष्य थे। इसके अतिरिक्त जीवनी विषयक अन्य सूचनाएँ रघुराजसिंह कृत 'रामरसिकावली' और रूपकला कृत 'भक्तिसुधास्वादतिलक' पर आधारित है। ग्रियर्सन भी रघुराजसिंह, रूपकला जी और गार्सा–द–तासी का अनुकरण करते हैं। ग्रियर्सन नाभादास के अन्य नाम के संबंध में संभावनाओं पर विचार करते हैं –

---

[4] ''भक्तमाल के प्रणेता नाभादास जी जन्म से डोम जाति के थे, कुछ आलोचकों का मत है कि नाभादास जी हनुमानवंशी या वानर जाति के थे। आधुनिक विचारकों की दृष्टि से मारवाड़ी भाषा में वानर का प्रयोग डोम के अर्थ में होता है और किसी वैष्णव की जाति का नाम देना भी यथोचित नहीं है। नाभादास जी नेत्रहीन पैदा हुए थे। जब नाभादास पाँच वर्ष के हुए अकाल के समय उनके माता–पिता द्वारा उन्हें छोड़ दिया गया था। अग्रदास और कील्हदास, दो वैष्णवमतानुयायियों ने नाभा को असहाय स्थिति में पाया। कील्ह ने अपने कमण्डलु के जल को नाभाजी के नेत्रों पर छिड़का और बालक (नाभा) ने देखा और उसे अपने मठ में ले आए जहाँ भरण पोषण हुआ तथा अग्रदास ने उन्हें कुछ मन्त्र दिए। प्रौढ़ होने पर नाभा जी ने अपने गुरू की इच्छानुसार भक्तमाल लिखा। नाभादास का काल लगभग 200 या 250 वर्ष पूर्व होना चाहिए। नाभा जी जयनगर के राजा मानसिंह और अकबर के समकालीन थे। शाहजहाँ के समकालीन तुलसीदास जी ने वृंदावन में नाभादास से भेंट की।'' शर्मा, कैलाशचन्द्र, भक्तमाल और हिंदी काव्य में उसकी परम्परा, मंथन पब्लिकेशन, रोहतक, प्रथम संस्करण 1983, पृ.सं. 25

[5] ''वे जाति के डोम या डोमरा थे जो टोकरियाँ बुनने का व्यवसाय तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य करते थे। कहा जाता है वे अन्धे उत्पन्न हुए थे और जब वे केवल 5 वर्ष के थे उनके माता–पिता गरीबी के दिन बिता रहे थे, उन्हें एक जंगल में छोड़ गए जहाँ उनका अन्त हो जाना निश्चित था। ऐसी अवस्था में ही वल्लभ सम्प्रदाय के उत्साही प्रचारक अग्रदास और कील ने अपने कमंडल का पानी उनकी आँखों पर छिड़का, जिससे आँखे ठीक हो गई। वे उन्हें अपनी मठ में ले गए जहाँ वे अग्रदास द्वारा वैष्णव सम्प्रदाय में शिक्षित हुए। परिपक्व अवस्था प्राप्त होने पर उन्होंने अपने गुरू, जो ऐसा प्रतीत होता है उसे संस्कृत में लिख चुके थे, कि इच्छानुसार भक्तमाल की रचना की। शाहजहाँ के काल में नारायणदास ने उसका शोधन किया और परिवर्द्धन किया और सं. 1713 में कृष्णदास ने टीका की, उसका एक अन्य सम्पादन प्रियादास द्वारा हुआ।'' वही, पृ.सं. 25

''नारायणदास, जिनको श्रीग्राउस ने नाभादास का शिष्य कहा है, देशी लेखकों के अनुसार नाभादास का असली नाम है, नाभादास तो उनका उपनाम है। नाभादास संभवतः वही नारायणदास कवि हैं, जिनको शिवसिंह ने 1558 ई. में उत्पन्न कहा है।''[6]

उपर्युक्त मत की आलोचना में किशोरीलाल गुप्त का मत भी द्रष्टव्य है –

''नाभादास और नारायणदास दो व्यक्ति हैं। दोनों अग्रदास के शिष्य हैं। नारायणदास ज्येष्ठ हैं, नाभादास कनिष्ठ। नारायणदास ने संवत् 1649 में भक्तमाल लिखी, उसमें 108 छप्पय थे। तदन्तर नाभादास ने इसमें कुछ और परिवर्द्धन किया। आज भक्तमाल जिस रूप में उपलब्ध है वह नाभादास का दिया हुआ है। नाभादास की मृत्यु संवत् 1719 के बीच किसी समय संवत् 1700 के आसपास हुई। सरोज में वर्णित हितोपदेश एवं राजनीति के अनुवादक नारायणदास इन नाभादास और नारायणदास से निश्चित ही भिन्न हैं।''[7]

दरअसल इस प्रकार की मत–भिन्नता के पीछे भक्तमाल स्वयं हैं। भक्तमाल में कुछ पदों में नारायणदास का उल्लेख तृतीय पुरूष के रूप में सम्मान के साथ हुआ है। कोई भी रचनाकार स्वयं को सम्मान के साथ संबोधित नहीं करेगा। इसीलिए नाभादास और नारायणदास को दो भिन्न व्यक्ति मानने का मत सामने आता है। परन्तु अपने मत को पुष्ट करने के लिए किशोरीलाल गुप्त पर कोई प्रमाण नहीं है। इसीलिए यह सभी मत संदिग्ध हो जाते हैं। गार्सा–द–तासी के मतों का अनुकरण जे.एन.फर्कुहर के ग्रन्थ 'एन आउटलाइन ऑव रेलिजस सेक्ट्स ऑव इण्डिया' में भी दिखाई देता है। मिश्रबंधु भी प्राचीन स्रोतों का अवलंबन करते हैं। वह तुलसीदास और नाभादास को समकालीन बताते हैं। इसका आधार वह भक्तमाल के साक्ष्य से लेते हैं। वह नाभादास का निधनकाल संवत् 1720 बताते हैं, जो कि साक्ष्यों के अभाव में सदिग्ध ही रहता है। इन्होंने मूल भक्तमाल में 316 छंदों को स्वीकार किया है, जिसकी संदिग्धता पर उन्होंने विस्तृत चर्चा की है। साथ–ही–साथ इन्होंने नाभादास की अन्य रचनाओं का भी उल्लेख मिश्रबंधु विनोद में किया है।

रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' साहित्येतिहास की परंपरा में मील का पत्थर साबित हुआ है। रामचन्द्र शुक्ल नाभादास का समय संवत् 1657 वि. के लगभग मानते हैं, जो कि तुलसीदास की मृत्यु के बहुत बाद तक वर्तमान थे। शुक्ल जी ने भी पूर्ववत् सूचनाओं को उद्धृत किया है। वह भक्तमाल का रचनाकाल संवत् 1642 के पीछे मानते हैं, परन्तु इसके पीछे कोई तर्क या प्रमाण नहीं देते। यह अवश्य है कि रामचन्द्र शुक्ल इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास के जीवनकाल में ही इन्हें साधु–समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। यही स्थिति लगभग सभी हिंदी आचार्यों की रही। वह प्राचीन स्रोतों से प्राप्त ऐतिहासिक सूचनाओं को ही सत्य–असत्य के विमर्श में

---

[6] शर्मा, कैलाशचन्द्र, भक्तमाल और हिंदी काव्य में उसकी परम्परा, मंथन पब्लिकेशन, रोहतक, प्रथम संस्करण 1983, पृ.सं. 26
[7] वही, पृ.सं. 26

मूल्यांकित करते रहे। चाहे वह श्यामसुन्दरदास हो या विश्वनाथप्रसाद मिश्र। दीनदयालगुप्त 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' में नाभादास का परिचय देते हुए लिखते हैं –

> ''भक्तमाल ग्रन्थ की रचना सं. 1680 विक्रमी के लगभग हुई। भक्तमाल के रचयिता नाभादास की अष्टछाप कवियों के समकालीन रामोपासक भक्त थे, उन्होंने अपने समय के पूर्ववर्ती तथा समकालीन भक्तों के गुणगान किए हैं। नाभादास जी ने जो वृत्तान्त इस ग्रन्थ में दिए हैं, वे बहुत अपूर्ण और केवल भक्तों की महिमा–सूचक हैं फिर भी हिंदी के भक्त कवियों का जो कुछ भी वृत्तान्त इस ग्रन्थ में दिया हुआ है वह ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ को हिंदी के सभी विद्वानों ने प्रामाणिक माना है।''[8]

अतः कथन में भी नाभादास की नवीन सूचना प्राप्त नहीं होती। परन्तु हजारीप्रसाद द्विवेदी 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में भक्तमाल पर अपने विशद दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं –

> ''नाभादास का भक्तमाल बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। कुछ लोगों के मत से ये भी नीच समझी जाने वाली जातियों से आए थे। इनका भक्तमाल और इस पर इनके शिष्य प्रियादास जी की टीका भक्तों का हियहार रही है। तुलसीदास जी की रामायण के बाद भक्तमाल ही मध्ययुग की सर्वाधिक लोकप्रिय भक्ति पुस्तक थी। इसका अनुवाद बंगला और मराठी में भी हुआ। बंगला अनुवाद के लेखक श्रीलालदास ने (किसी–किसी के मत से इनका नाम कृष्णदास था) नाभादास के लगभग सवा सौ वर्ष बाद इस सटीक ग्रन्थ के अनुवाद को लिखा। परन्तु चैतन्यदेव के मतानुयायी होने के कारण अपने सिद्धांतों के समर्थन के लिए उन्होंने एक नया विभाग और जोड़ा। नाभादास जी के भक्तमाल में बहुत से भक्तों के जीवनवृत्त संकलित हुए हैं। इसमें नानक, दादू, आदि भक्तों का नाम नहीं आया है। बाद में इस ग्रन्थ के अनुकरण पर और भी बहुत से भक्तमाल लिखे गये।''[9]

हजारीप्रसाद द्विवेदी भक्तमाल के अनुवाद तथा बाद की परंपरा को चिह्नित करते हुए नाभादास कृत भक्तमाल के प्रभाव–विस्तार को सूचित करते हैं। वह नाभादास की ऐतिहासिकता, रचनाकाल आदि पर अपने मत प्रस्तुत नहीं करते। बल्कि उनका केन्द्र भक्तमाल ही है। नाभादास के संबंध में लगभग सभी विद्वानों के एक से मत है। लेकिन इन्हीं समान मतों के बीच कृष्णस्नेही नाभादास के संबंध में कुछ नवीन दृष्टि रखते हैं। वह 'भक्तमाल भाषा' में लिखते हैं –

> ''नाभादास जी दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे, उनका जन्म संवत् 1440 में हुआ था। वैराग्य उत्पन्न होने पर इन्होंने स्वामी अग्रदास जी से दीक्षा ली थी। जब इन्होंने अपना भक्तमाल रचकर सुनाया तो अग्रदास जी बड़े प्रसन्न हुए, उन्होंने इस ग्रन्थ के महत्व को स्वीकार करते हुए इस पर एक

---

[8] शर्मा, कैलाशचन्द्र, भक्तमाल और हिंदी काव्य में उसकी परम्परा, मंथन पब्लिकेशन, रोहतक, प्रथम संस्करण 1983, पृ.सं. 29

[9] द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2016, पृ.सं. 58

पद्यात्मक टीका लिखी है। भक्तमाल में 108 छप्पय है। नाभादास जी स्वयं अपनी माला के सुमेरू हैं; यह कहना गलत न होगा।''[10]

इससे पूर्व तक नाभादास को निम्न जाति में उत्पन्न बताया गया है। जबकि उपर्युक्त कथन में उन्हें दाक्षिणात्य ब्राह्मण कहा गया है। लेकिन यह अवश्य है कि पूर्व में कई जगह इन्हें ब्राह्मण भी बताया गया है। इसी प्रकार पूर्व में नाभादास को बाल्यावस्था में अग्रदास एवं कील्हदास से भेंट होने की सूचना मिलती है। जबकि कृष्णस्नेही उन्हें वैराग्य के बाद अग्रदास से भेंट होने की बात कहते हैं। वहीं नाभादास का समय संवत् 1440 बताया गया है जो कि अग्रदास के समय संवत् 1613 से पूर्व नहीं हो सकता। इसलिए यह तथ्य भ्रामक लगता है। साथ ही साथ कृष्णस्नेही अग्रदास द्वारा भक्तमाल पर टीका लिखे जाने को भी कहते हैं। जबकि नाभादास आत्मकथन में भक्तमाल को अग्रदास की आज्ञा प्राप्त होने के बाद लिखते हैं। अतः कृष्णस्नेही कुछ नए तथ्यों को कहते जरूर हैं लेकिन वह तथ्य भ्रामकपूर्ण अधिक है। इसलिए यह तथ्य संदिग्ध है।

बहरहाल नाभादास एवं उनके भक्तमाल के संबंध में प्राप्त सूचनाएँ या तो जनश्रुतियों पर अवलंबित हैं, या फिर बाद के रचनाकारों ने उनके संबंध में लिखा है। परन्तु उनके समकालीन किसी व्यक्ति, कवि अथवा भक्त के द्वारा उनका जीवन–वर्णन नहीं मिलता। अंतर्साक्ष्य तथा बाह्यर्साक्ष्य के परिवर्तनशील सूचनाओं से आधार पर कैलाशचन्द्र शर्मा कुछ सामान्य निष्कर्ष तक पहुँचते हैं –

1. नाभादास का जन्म संवत् 1605 वि. के आसपास दक्षिण के तैलंग देश में गोदावरी के निकट रामभद्राचल में हुआ और वे जन्मांध थे।
2. उनके पिता श्रीरामदास जी महाराष्ट्री ब्राह्मण थे।
3. नाभादास हनुमानवंशी और ड़ोम जाति के थे जिनके अन्य नाम नारायणदास, नभभूज और नाभाअली भी थे।
4. अकाल से पीड़ित इन्हें पाँच वर्ष की अवस्था में अग्रदास और कील्हदास गलता लेकर आए जहाँ आपने अपने गुरु अग्रदास की आज्ञा से भक्तमाल की रचना की।
5. वे रामानन्द संप्रदाय के अनुयायी तथा तुलसीदास के समकालीन थे।
6. नाभादास का उपस्थितिकाल सत्रहवीं शताब्दी के अंतिम दशक तक अनुमानित है।

नाभादास कृत 'भक्तमाल' के सबंध में कुछ विवाद भी सामने आते हैं। दरअसल एक विवाद भक्तमाल के रचनाकार को लेकर खड़ा होता है। जनश्रुति एवं बाह्यर्साक्ष्यों के आधार पर भक्तमाल की रचना नाभादास द्वारा स्वीकारी गई है। परन्तु रचना में कहीं भी नाभादास का नाम नहीं आता बल्कि रचना के अंत में नारायणदास का नाम प्राप्त होता है। जबकि प्रियादास ने नाभादास को लेखक रूप में उद्धृत किया है।

---

[10] शर्मा, कैलाशचन्द्र, भक्तमाल और हिंदी काव्य में उसकी परम्परा, मंथन पब्लिकेशन, रोहतक, प्रथम संस्करण 1983, पृ.सं. 32

नाभाजू को अभिलाष पूरन लै कियो मैं तो, ताकि साषि प्रथम सुनाई नीकै गाइकै,

भक्ति विश्वास जाके, ताही को प्रकास कीजै, भीजै रंग हियौ लीजै संतति लड़ाइकै।

संवत् प्रसिद्ध दस सात उनहत्तर फाल्गुन ही मासबदी सप्तमी बिताइकै,

नारायणदास सुख रास भक्तमाला लैकै प्रियादास दास उर बसौ रहौ छाइकै।।

अतः भक्तमाल से दो नाम जुड़े होने की वजह से यह विवाद खड़ा होता है। इस संदर्भ में विद्वानों के मत तीन कोटियों में विभाजित है। प्रथम कोटि में आने वाले विद्वान निर्विवाद रूप से नाभादास को भक्तमाल का रचयिता स्वीकारते हैं। इनमें पं. महेशदत्त शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, हजारीप्रसाद द्विवेदी, माताप्रसाद गुप्त, दीनदयाल गुप्त, अगरचन्द नाहटा आदि प्रमुख हैं। जनश्रुति भी इसी मत का समर्थन करती है। इन विद्वानों ने नाभादास का ही दूसरा नाम नारायणदास माना है। दूसरी कोटि में आने वाले विद्वान नाभादास और नारायणदास को दो भिन्न व्यक्ति मानते हैं। उनके अनुसार नाभादास इसके मूल लेखक हैं और भक्तमाल का संशोधित वर्तमान रूप नारायणदास ने प्रस्तुत किया। इनमें गार्सा–द–तासी[11], एच.एच.विल्सन[12], डॉ नरेन्द्र झा[13], ग्रियर्सन[14] प्रमुख हैं। तीसरी कोटि में किशोरीलाल ग ुप्त आते हैं जो उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से भिन्न मत रखते हैं। उनके अनुसार 'भक्तमाल' अग्रदास, नाभादास तथा नारायणदास की संयुक्त कृति है। वह लिखते हैं –

> ''सामान्यतया स्वीकार किया जाता है कि 'भक्तमाल' नाभादास की रचना है और नाभादास तथा नारायणदास एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। पर भक्तमाल के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ किसी एक व्यक्ति की रचना न होकर कम–से–कम तीन व्यक्तियों की संयुक्त कृति है। ये तीन व्यक्ति हैं – अग्रदास और उनके शिष्य नारायणदास तथा नाभादास।''[15]

उपर्युक्त तीनों दृष्टि में प्रथम को छोड़कर बाकी दोनों संदेहास्पद है।

---

[11] ''परिपक्व अवस्था प्राप्त करने पर अपने गुरु, जो ऐसा प्रतीत होता है कि उसे संस्कृत में लिख चुके थे, की इच्छानुसार 'भक्तमाल' की रचना की।... शाहजहाँ के राजत्वकाल में नारायणदास ने इसका शोधन परिवर्द्धन किया और 1713 में कृष्णदास ने टीका की।'' गार्सा–द–तासी, हिन्दुई साहित्य का इतिहास, अनु. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (सिंह, शान्ता, नाभादास कृत भक्तमाल एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, अभिनव भारती, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1978, पृ. सं. 46)

[12] "The work in its present form has reced some modifications and obvious additions from a later teacher Narayan Das, whose share in the compostion is, no doubt considerable but cannot be distinguished from Nabhaji' own, beyond the evidence furnished by the specifications of persons unquestionably subsequent to his time. Narayan Das probable wrote in the reign of Shahjahan" – Religious sects of Hindus by H.H.Wilson (सिंह, शान्ता, नाभादास कृत भक्तमाल एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, अभिनव भारती, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1978, पृ. सं. 47)

[13] ''नाभाजी एक मशहूर हिंदी मुसन्निफ हैं..... जब वह जवान हुआ उस वक्त उसने भक्तमाल अपने गुरू के कहने से तसनीफ की। इस किताब (मौलवी करीमुद्दीन कृत तजकिर–ए–शुअरा–ए–हिंदी) में बड़े–बड़े गुरुओं का हाल लिखा है। नारायणदास ने इसको इस्लाह (संशोधन) देकर शाहजहाँ के वक्त में और मजमीन जियाद किए।'' भक्तमाल : पाठानुशीलन एवं विवेचन – डॉ. नरेन्द्र झा (वही, पृ. सं. 47)

[14] ''अपने वर्तमान रूप में यह नाभादास के एक शिष्य नारायणदास द्वारा स्वीकृत रूप में संपादित तथा संभवतः पुनर्लिखित जान पड़ती है। नारायणदास शाहजहाँ के राजत्वकाल (सन् 1628–58) में जीवित थे।'' मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान – ग्रियर्सन (वही, पृ. सं. 48)

[15] सिंह, शान्ता, नाभादास कृत भक्तमाल एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, अभिनव भारती, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1978, पृ. सं. 50

अतः इन्हीं विवादों के साथ भक्तमाल की रचना नाभादास द्वारा सर्वस्वीकृत है। आधुनिक शोध का आधार भी प्राचीन स्रोत ही है। जबतक नवीन स्रोत सामने नहीं आते तब तक प्राचीन स्रोतों पर आश्रित तथ्य ही असंदिग्ध हैं। प्रस्तुत शोध भी जनश्रुति एवं प्राचीन स्रोतों को महत्व देता है और स्वीकार करता है।

4.2 नाभादास कृत 'भक्तमाल' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

नाभादास कृत 'भक्तमाल' वार्ता–साहित्य में सर्वाधिक प्रशस्ति प्राप्त करता है। भक्तमाल के कारण ही नाभाजन आमजन की स्मृति में स्थान बनाते हैं। प्रस्तुत कृति में वह मध्यकालीन भक्त–चरित्रों का कवित्वपूर्ण वर्णन करते हैं। नाभादास का 'भक्तमाल' को रचने का उद्देश्य भक्ति था। वह इन चरित्रों का गुणगान कर भगवद्–भक्ति में लीन होते हैं। 'भक्ति' ही इसका मूल उद्देश्य है। भक्तों को स्मृत करने के क्रम में वह अप्रत्यक्षीय इतिहास–लेखन करते हैं। अप्रत्यक्षीय कहने से अभिप्राय यह है कि वह पूर्व में हुए भक्तों के प्रति सजग–चेतना तो रखते हैं परन्तु उनकी सजग–दृष्टि इतिहास का लेखन न होकर 'भक्ति' करने में ही है। अतः सर्वप्रथम भक्तमाल की इतिहास–दृष्टि को समझने की आवश्यकता है।

भारतीय इतिहास–लेखन में इतिहासकार जैसे पारिभाषिक शब्द की अनुपस्थिति रही है। महाभारत में इतिहास–लेखक को 'आर्ष' कहा गया है वहीं पुराण–परंपरा में 'मुनि' को इतिहासकार की भूमिका में रखा गया है। दरअसल यह शब्द (मुनि) सामान्यतः शास्त्रीय विद्वान तथा साधक के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतः वर्तमान–दृष्टि में 'इतिहासकार' की परिभाषा में भारतीय इतिहास–लेखक को व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। भारतीय ज्ञान–परंपरा में विद्वतता प्राप्त व्यक्ति ही इतिहास–लेखन का कार्य करता है। लेखक दर्शन की शास्त्रीय चिंतन परंपरा से अवगत रहता है। अतः उसकी दृष्टि दर्शन को मूल में रखते हुए निर्मित होती है। वहीं भारतीय इतिहास में लेखक की दृष्टि समूह द्वारा भी प्रभावित होती है क्योंकि उसका स्रोत समाज का सामूहिक–मानस ही है, जो कि विश्वास की भूमि पर तथ्यों की प्रमाणिकता को स्वीकार करता है। अतः इस प्रक्रिया में इतिहास–लेखक की दृष्टि संश्लिष्ट एवं जटिल हो जाती है।

भक्तमाल के मूल में नाभादास की दृष्टि भी संश्लिष्टता में निर्मित होती है। इसीलिए उनकी रचना–दृष्टि को समझना आवश्यक है। मध्यकाल में संप्रदायों का प्रभाव भक्तों पर गहनता से पड़ा है। नाभादास की दृष्टि भी संप्रदाय के दर्शन से प्रभावित होती है। यह पहली धुरी है, जो नाभादास की इतिहास–दृष्टि को निर्मित करती है। नाभादास रामानुजाचार्य की शिष्य परंपरा में आते हैं। यह क्रम कुछ इस प्रकार है कि रामानुजाचार्य की शिष्य परंपरा में रामानन्द आते हैं और उनकी शिष्य परंपरा में नाभादास। इसका स्पष्ट उल्लेख नाभादास ने भक्तमाल में किया है। वह श्रीसंप्रदाय के आचार्यों तथा

भक्तों को प्रमुख रूप से 'भक्तमाल' में स्थान देते हैं। रामानन्द के इष्ट 'राम' है। इनकी शिष्य परंपरा में होने के कारण नाभादास के इष्ट भी 'राम' हैं। यह वह धुरी है जो कि भक्तों के चयन के समय उनकी दृष्टि को प्रभावित करती है। दोहा संख्या 200 में वह राम–भक्ति को सबसे ऊपर रखते हैं। अतः वह भक्त जो कि राम को अपना इष्ट बनाते हैं, उनको नाभादास सबसे पहले स्थान देते हैं। दरअसल यह पद भक्तिकाल के एक प्रमुख विवाद को भी उजागर करता है कि 'सबसे बड़ा कौन है, जिसका भजन–कीर्तन किया जाये?'

नाभादास की दृष्टि भक्तमाल के अंतिम पदों से स्पष्ट हो जाती है। यह पद सामान्यतः उनकी दृष्टिगत आधारभूमि को समझने में सहायक हैं। पद संख्या 200[16] में नाभादास भक्तों की सर्वश्रेष्ठता के साथ 'राम' की भक्ति को महत्वपूर्ण बताते हैं। दरअसल यह पद भक्तिकाल के एक प्रमुख विवाद को सामने रखता है। 'सबसे बड़ा कौन है? जिसका भजन–कीर्तन किया जाये?' – दरअसल यह मध्यकालीन संप्रदायों का प्रमुख केन्द्र था। मध्यकाल में प्रत्येक संप्रदाय स्वयं को उत्कृष्ट दिखाने की अभिलाषा रखता था। इसलिए संप्रदायों का उद्देश्य अधिक–से–अधिक लोगों तक अपने मत को प्रचारित करना था। अपना प्रभाव–विस्तार करने के लिए वे मोक्ष (अर्थात् भक्ति द्वारा भगवद्–प्राप्ति के लक्ष्य) प्राप्ति में स्वयं के मार्ग को ही सर्वोपरि बताते थे। नाभादास भी संप्रदाय के मत का अनुकरण करते हुए संप्रदाय को महत्ता देते हैं। चतुःसंप्रदायाचार्य का वर्णन करने के उपरांत नाभादास गुरु–परंपरा का स्मरण करते हैं। वह संप्रदाय के आदिआचार्य से आरम्भ करके अग्रदास तक गुरु–परंपरा का वर्णन करते हैं। दरअसल मत को सर्वोपरि बताते हुए इष्ट को प्रचारित करने का कार्यभार इन संप्रदाय के आचार्यों एवं भक्तों पर था। नाभादास का प्रस्तुत दोहा भी इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर 'रामभक्त' को सर्वोपरि बताता है।

दरअसल भजन–कीर्तन भक्ति का ही व्यावहारिक पक्ष है, जिसके माध्यम से 'भक्त' भगवद्भक्ति एवं भक्तों के पदों को गाता तथा उसमें झूमता है। ऐसा करते हुए वह ईश्वर की विविध लीलाओं की रसानुभूति करता है। वह भक्त–प्रसंगों में भी उसी रसानुभूति को महसूस करता है जो भगवद्–लीलाओं में करता है। बल्कि भक्तों के आम प्रसंग उसके अधिक निकट पड़ते हैं। वह उनसे तादात्म्य कर पाता है। संभवतः इसलिए भी 'भक्तमाल' (वार्ता–साहित्य रूप) का विकास मध्यकाल में होता है। वार्ता–साहित्य लोक की मांग का परिणाम है। यह मांग सामूहिक शिक्षक के वृहत् उद्देश्य से प्रेरित है। 'अतीत की ओर' जाने का भी इसी उद्देश्य का परिणाम है। यह लक्ष्य सामूहिक सत्संग का व्यवस्थित विकास करता है। धार्मिक सम्मेलनों में वक्ताओं द्वारा महापुरूषों का चरित्र–वर्णन उपदेश–प्रधान होता

---

[16] कबिजन करत बिचार बड़ो कोउ ताहि भनिज्जै।
कोउ कह अवनी बड़ी जगत आधार फनिज्जै।।
सो धारी सिर सेस सेस सिव भूषन कीनो।
सिव आसन कैलास भुजा भरि रावन लीनो।।
रावन जीत्यो बालि (पुनि) बालि राम इक सर दँड़े।
अगर कहै त्रैलोक में हरि उर धारैं ते बड़े।।200।।

है। यह उपदेशात्मकता सामूहिक शिक्षण के उद्देश्य को पूर्ण करता है। अतः भक्ति का सामाजिक–धार्मिक–व्यावहारिक रूप 'सत्संग' के रूप में दिखाई देता है, जिसमें इन भक्तों के जीवन का स्मरण भजन–कीर्तन के माध्यम से किया जाता था। यह व्यवस्था ही 'भक्तमाल' में साहित्यिक रुपांतरण लेती है। इसीलिए उपर्युक्त प्रश्न (सबसे बड़ा कौन, जिसका भजन–कीर्तन किया जाय?) के उत्तर में नाभादास 'भक्त' को महत्व देते हैं। वह लिखते हैं – 'अगर कहै त्रैलोक में हरि उर धारैं ते बड़े।' अर्थात् 'कहे तो इस त्रिलोक में वह सबसे बड़ा है जो भगवान को अपने हृदय में धारण करता है।' ऐसा कहते हुए वह 'भक्त' को सबसे ऊपर स्थान देते हैं।

भक्त–चरित्र को भजन–कीर्तन के लिए सबसे उपयुक्त मानने का नाटकीय विमर्श रोचक है। इस प्रश्न से जुझते हुए कवि पृथ्वी को सबसे बड़ा विचारता है। इसके बाद वह विचारकर उस पृथ्वी को धारण करने वाले शेष भगवान् को बड़ा सोचता है। वह वहीं नहीं रूकता बल्कि शेष जी को धारण करने वाले शिवजी को ऊँचा स्थान देने पर विचार करता है। वह और विचार करके शिवजी के निवास स्थान कैलाश को अपने हाथों से उठाने वाले रावण और रावण को भी अपने बल से हराने वाले बालि को बड़ा मानकर आगे बढ़ता है। कवि बालि का वध करने वाले श्रीराम को सबसे आगे रखता है और अंत में श्रीराम को हृदय में स्थान देने वाले 'भक्तों' को भजन और कीर्तन के लिए उपयुक्त बताता है। दरअसल यह पूरा नाटकीय–विमर्श राम को महत्व देते हुए रामभक्त को सर्वोपरि बताता है। भक्त को भजन–कीर्तन के लिए सर्वोत्तम मानते हुए भी वह उस भक्त को ऊँचा दर्जा देते हैं जो राम–भक्ति में तल्लीन है। अतः 'राम' उनके दृष्टि का केन्द्र हैं। इसी बिन्दू पर वह श्रीसंप्रदाय तथा रामानन्द की शिष्य–प्रशिष्य परंपरा को भक्तमाल में उद्धृत करते हैं। कहा जाये तो यही उनकी इतिहास–दृष्टि भी है जो कि भक्त–चयन की कसौटी बनती है। अप्रत्यक्षीय इतिहास–लेखन के समान यह उनकी अप्रत्यक्षीय इतिहास–दृष्टि है, जो युग–परिवेश के साथ निर्मित होती है। रामानन्द की प्रगतिशीलता को नाभादास भी ग्रहण करते हैं। भक्त चयन के आधार पर कहा जा सकता है। वह तुलसी को स्थान देते है, तो कबीर भी उनके द्वारा वर्णित हुए हैं। मध्यकाल के कट्टर परिवेश के बावजूद वह भक्तमाल में प्रत्येक धारा के भक्तों का सम्मान करते हैं। लेकिन उनका प्रमुख केन्द्र रामभक्तिधारा ही रहता है।

इतिहास–लेखन होते हुए भी भक्त का आदर्शात्मक वर्णन मध्यकाल की विशेषता है। या कहा जाये तो यह भारतीय इतिहास की प्रवृत्ति है। नाभादास भी आदर्श–स्थापन के लिए उनके सुयश का वर्णन करते है। पद में वह इसे स्पष्ट करते हैं। 'भक्त' को भजन–कीर्तन के लिए सर्वोत्तम बताते हुए नाभादास उनके 'सुयश की महिमा' पर विचार करते हैं।[17] दरअसल ये पद भक्तमाल के अंत में लिखे

---

[17] नेह परसपर अघट निबहि चारौं जुग आयो।
अनुचर को उतकर्ष स्याम अपने मुख गायो।।
ओत प्रोत अनुराग प्रीति सबही जग जानैं।
पुर प्रबेस रघुबीर भृत्य कीरति जु बखानैं।।
अगर अनुग गुन बरनते सीतापति नित होयँ बस।
हरि सुजस प्रीति हरि दास के त्यों भावैं हरि दास जस।।201।।

गये हैं। इन पदों के माध्यम से नाभादास भक्तमाल के लिखे जाने की दृष्टि को स्पष्ट तथा प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं। पद क्रमांक 201 'भक्तों के सुयश की महिमा' भक्तमाल को प्रमाणिक सिद्ध करने के उद्देश्य लिखा जान पड़ता है। साथ ही यह पद भक्तों के प्रसंग अथवा चरित्र को कहे जाने की प्रमाणिकता भी प्रस्तुत करता है। वह भक्त–वर्णन को ईश्वरीय कार्य मानते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उनके द्वारा किया गया भक्तों का गुणगान महत्तीय कार्य है, जिसे स्वयं भगवान ने भी किया है। (पुर प्रबेस रघुबीर भृत्य कीरति जु बखानैं।) भक्तों के यशगान को वह ईश्वर की सबसे प्रिय वस्तु बताते हैं। (हरि सुजस प्रीति हरिदास के त्यों भावैं हरिदास जस।) नाभादास अग्रदास के कथन को बताते हुए कहते हैं कि भक्तों का वर्णन करने से रामचन्द्रजी भी वश में हो जाते हैं। (अगर अनुग गुन बरनते सीतापति नित होयँ बस।) ऐसा कहते हुए वह भक्तों के चरित्र–वर्णन को बड़ा कार्य बताते हैं। यह अतीत का प्रमाणिकरण नहीं है बल्कि लोक में भक्तमाल के कथ्य का प्रमाणिकरण है। ताकि आमजन का विश्वास भक्तमाल के प्रति उत्पन्न हो सके। साथ–ही–साथ वह अपने कर्म (वार्ता–लेखन) को भी प्रशस्त करते हैं। मध्यकाल में ईश्वर केन्द्र है। अतः केन्द्र से जोड़कर वार्ता–कर्म को दिखाना वार्ता–रूप में भक्तमाल को महत्ता प्रदान करता है। बल्कि वह इन चरित्रों को स्मरण कर गौरवांवित से दिखते हैं कि जो कर्म स्वयं भगवान का प्रिय है वही कर्म मेरे द्वारा भी हुआ। अतीत के प्रति गौरवान्वित होने की भारतीय–दृष्टि इन्हीं आदर्शात्मक भूमि पर खड़ी होती है। इसीलिए वह अग्रिम पद में सन्तों के उत्कर्ष पर विचार करते हैं।

नाभादास 'भक्तमाल' में भक्त एवं संतों के आदर्श को प्रस्तुत करते हुए उनकी बड़ाई करते हैं। आदर्शात्मक वर्णन करते हुए कथ्य का प्रशंसात्मक हो जाना सामान्य है। लेकिन वर्तमान इतिहास इस प्रकार की प्रशंसात्मकता को वस्तुनिष्ठता से दूर ले जाने वाला मानता है। यह सहज भी अतीत का यथार्थ वर्णन में प्रशंसा की गुंजाइश कम होती है जबकि अतीत का आदर्श–वर्णन अच्छाइयों को खोजकर प्रस्तुत करता है। अतः रचनाकार की दृष्टि में अच्छा वर्णन के दौरान स्वतः प्रशंसनीयता प्राप्त कर लेता है। भक्तमाल में इस प्रकार के प्रशंसनीय वर्णन उपमा, रूपकों में स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। वह अतिश्योक्ति न लगे इसलिए उसका स्पष्टीकरण पद–विषय 'सन्तों का उत्कर्ष'[18] (पद क्रमांक 202) में करते हैं। वह कहते हैं कि 'सन्तों की बड़ाई का वर्णन सुनकर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।' (उतकर्ष सुनत संतनि को अचरज कोऊ जिनि करौ।) इससे यह स्पष्ट है कि नाभादास भक्तों के प्रशंसात्मक

अर्थात् ''जिस प्रकार भगवद्भक्तों को भगवान् के सुयश में प्रीति होती है, उसी प्रकार भगवान् को भी अपने प्रेमी भक्तों की कथा बहुत ही अच्छी लगती है। भक्तों के और भगवान् के पारस्परिक प्रेम का चारों युगों में निर्वाह हुआ है – यह सर्वदा पूर्ण और एक–सा रहता है। अपने भक्तों की महिमा को भगवान् ने बार–बार अपने श्रीमुख से गाया है। भगवान् भक्तों के अनुराग में सदा ही सराबोर रहता हैं। इसको सारा संसार जानता है। वनवास की अवधि पूरी होने पर श्रीआयोध्यापुरी में प्रवेश करते समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने अपने अनुचरों की कीर्ति का वर्णन किया है। श्रीअग्रदेवाचार्यजी कहते हैं कि उक्त प्रमाणों से यह सिद्ध है कि भक्तों के गुणों का वर्णन करने से श्रीसीतापति श्रीरामचन्द्र जी सदा के लिए वश में हो जाते हैं।''

[18] दुर्बासा प्रति स्याम दासबसता हरि भाषी।
ध्रुव गज पुनि प्रह्लाद राम सबरी फल साषी।।
राजसूय जदुनाथ चरन धोय जूँठ उठाई।
पांडव बिपति निवारि दिए बिष बिषया पाई।।
कलि बिसेष परचो प्रगट आस्तिक ह्वै कै चित धरौ।
उतकर्ष सुनत संतनि को अचरज कोऊ जिनि करौ।।202।।

वर्णन के प्रति सजग हैं। पर उनकी दृष्टि में भक्तों की यह बड़ाई अतिश्योक्ति न होकर सहज है। इसके सप्रमाण रूप में वह कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वह लिखते हैं –

ध्रुव गज पुनि प्रह्लाद राम सबरी फल साषी।

राजसूय जदुनाथ चरन धोय जूँठ उठाई।।

अर्थात् 'ध्रुव, गजेन्द्र, प्रह्लाद आदि के चरित्र एवं श्रीराम का शबरी के फलों का सादर खाना आदि संतों की बड़ाई के साक्षी हैं। युधिष्ठर के राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण ने साधु–ब्राह्मणों के चरण धोये और उनकी जूठी पत्तलें उठाई।' नाभादास इन प्रसंगों को प्रस्तुत कर भक्तों के श्रेष्ठ कर्मों को महत्ता देते हैं, जिनसे उनका चरित्र उत्कृष्टता को प्राप्त करता है। यही वह अच्छाइयाँ हैं, जो कि रचनाकार की दृष्टि से प्रशंसनीय हैं। इसीलिए वह कहते हैं भगवान स्वयं उन उत्कृष्ट संत एवं भक्तों के वश में है। (दुर्बासा प्रति स्याम दासबसता हरि भाषी।) इस पद में वह सतयुग, त्रेतायुग तथा द्वापरयुग से अलग कलियुग को विशेष रूप से इंगित करते हुए कहते हैं कि 'ये तो पिछले तीन युगों की बातें हुई। इस कलियुग में तो विशेष सन्तों के चमत्कार प्रकट हुए। अतः कुतर्क त्यागकर विश्वासपूर्वक आस्तिक–बुद्धि से भक्तचरित्रों को हृदय में धारण करो।' (कलि बिसेष परचो प्रगट आस्तिक ह्वै कै चित धरौ।) नाभादास जब आस्तिक–बुद्धि से भक्तचरित्रों में मन को स्थिर करने की बात कहते हैं तो 'आस्तिक' शब्द व्याख्या की मांग रखता है। दरअसल हिन्दूधर्म में आस्तिक से अभिप्राय वेदों में विश्वास करने से लिया जाता है। नाभादास के लिए यही वह आस्तिक बुद्धि है, जिसका आग्रह वह श्रोताओं एवं पाठकों से करते हैं। इस प्रकार के संकेत नाभादास की इतिहास–दृष्टि को स्पष्ट करते हैं। इसके अतिरिक्त कलियुग में प्रगट हुए संतों के चमत्कार को कहते हुए अपनी दिशा का भी संकेत कर देते है। यह दिशा उन्हें कलियुग के भक्तों को कथ्य रूप में स्वीकार करने का कारण देती है। इससे यह भी स्पष्ट है कि नाभादास का ध्येय भक्तमाल में कलियुग के भक्तों का स्मरण करना रहा।

नाभादास दोहों में भक्तों से विनय–प्रार्थना करते हैं। दरअसल यह मध्ययुग की साहित्यिक प्रवृत्ति थी, जिसे कार्य के दौरान हुई गलतियों और उसके लिए क्षमा याचना के लिए लिखा जाता था। यह भारतीय वाङ्गमय की सामान्य विशेषता है। इसी परंपरा का निर्वाह करते हुए नाभादास भी विनय–प्रार्थना के दोहे लिखते हैं। इस विनय प्रार्थना से भक्तमाल के संबंध में उनकी दृष्टि भी स्पष्ट होती है। वह जानते थे कि सम्पूर्ण भारत में भक्तों की संख्या अनगिनत है और सभी का वर्णन करना संभव नहीं।[19] इसलिए जितने भी भक्तों का उल्लेख भक्तमाल में हुआ है उन्हें ही सभी का प्रतिनिधित्व मानकर संतोष करना चाहिए – ऐसा नाभादास का कहना था।[20] लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए

---

[19] भक्त जिते भूलोक में कथे कौन पै जायँ।
समुँद पान श्रद्धा करै कहँ चिरि पेट समायँ।।204।।

[20] पादप पेड़हिं सींचते पावै अँग–अँग पोष।
पूरबजा ज्यों बरनते सब मानियो सँतोष।।203।।

कि उन्होंने किसी भी भक्त को उठाकर भक्तमाल में स्थान दे दिया है। वह भक्त–वर्णन में कालानुक्रम का निर्वाह भी करते हैं। खासतौर से रामानुजाचार्य की शिष्य–प्रशिष्य परंपरा में। लेकिन किसी भक्त एवं संत की उत्कृष्टता उनके क्रम को निश्चित नहीं करती। इस विनय–प्रार्थना में वह इसे स्वयं स्पष्ट करते हैं। वह लिखते हैं –

श्रीमूरति सब बैष्नव लघु बड़ गुननि अगाध।

आगे पीछे बरनते जिनि मानौ अपराध।।205।।[21]

ऐसा लिखते हुए वह सबको समान भूमि पर स्वीकार करते हैं। संत एवं भक्तों को समान मानने की उनकी दृष्टि भक्ति को महत्ता देने के कारण है। यह इससे भी प्रभावित नहीं होती कि इन भक्तों का प्रभाव लोक पर कितना है। बल्कि वह आध्यात्मिकता में कितनी ऊँची भूमि पर है, यह भक्तों को महत्ता देने का कारण बनता है। भक्ति के माध्यम से आध्यात्मिक उच्चता को प्राप्त करना ही भक्तों का आद्यान्त लक्ष्य है। अतः किसी के आध्यात्मिक उत्थान का निर्धारण असंभव है। यह सही भी है क्योंकि किसी की भक्ति का अंदाजा लगा पाना मुश्किल है। इसीलिए भक्तमाल तथा अन्य वार्ता–साहित्य किसी प्रकार का समयानुक्रम का निर्वाह नहीं करते। यदि कहीं क्रम दिखता भी है तो वह संप्रदायानुक्रम के कारण अधिक है। यदि कहीं उत्कृष्टता के आधार पर क्रम–निर्धारण की अनुभूति होती है तो वह उसके लिए क्षमा माँगते हैं।

मध्यकाल में गुरु–शिष्य परंपरा को विशेष सम्मान दिया गया है। भक्तमाल की एक विशेषता उसी गुरु–शिष्य क्रम में भक्तों का वर्णन करना भी है। नाभादास का कहना है कि ऐसा नहीं है कि गुरु के साथ शिष्य का प्रशस्तिपूर्ण वर्णन नहीं किया जा सकता। बल्कि ऐसे वर्णन को देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। संभव है कि मध्यकाल में गुरु एवं शिष्य को एक समान भूमि पर रखकर नहीं देखा जाता होगा, जिस कारण उन्हें इस प्रकार के दोहे लिखकर विनय–प्रार्थना करने की जरूरत पड़ी। लेकिन ऐसा कहे जाने के पीछे भी ध्वंसकारी आलोचकों से बँचना ही है। इसीलिए वह कृति के संबंध में पैदा होने वाली भ्रान्तियों से बचने की बात कर रहे हैं। वह लिखते हैं – 'गुरू सिष्य की कीर्ति में अचरज नाहीं कोय।' अर्थात् 'गुरुजनों की महिमा और कीर्ति से शिष्यों की महिमा और कीर्ति बढ़ती है तथा शिष्यों की कीर्ति से गुरुजनों की। इसमें कोई आश्चर्य नहीं।' दरअसल इस प्रकार का वर्णन युगीन–दृष्टि का परिणाम है, जिसके माध्यम से तत्कालीन युगबोध को समझा जा सकता है। नाभादास का प्रस्तुत पद देखकर स्पष्ट होता है कि उन्होंने गुरु–शिष्य क्रम का निर्वाह 'भक्तमाल' में किया है। अतः साहित्य की इन्हीं प्रवृत्तियों को पहचानकर नाभादास की इतिहास–दृष्टि की व्याख्या संभव है।

---

[21] 'भगवद्विग्रह या तुलसीदल चाहे छोटा हो अथवा बड़ा, सबकी एक–जैसी महान् महिमा है, उसी प्रकार वैष्णवजन चाहे छोटे हों या बड़े, सभी अनन्त गुणों के कारण महा महिमावाले हैं। इस भक्तमाल में किसी का वर्णन आगे–पीछे, बड़े–छोटे की दृष्टि से नहीं किया गया है। इसलिए यदि कहीं आगे वर्णनीयता पीछे वर्णन दिखायी पड़े तो पाठकजन इसमें दासता अपराध न मानें।'

भक्तों की महिमा का गान करने के लिए नाभादास ने दोहे लिखे हैं। इन दोहों में भक्तों की महिमा तो गाई ही गई है। साथ–ही–साथ इनसे नाभादास की समाज–सापेक्षीय दृष्टि का भी परिचय मिलता है। नाभादास भक्तों के चरित्र–वर्णन को मंगलकारी रूप में देखते हैं। वह लिखते हैं –

जग कीरति मंगल उदै तीनौं ताप नसायँ।

हरिजन को गुन बरनते हरि हृदि अटल बसायँ।।208।।

'एक ओर इन भक्तों के गुणों का स्मरण तथा भजन करने से हृदय में अटल रूप से भगवान का वास होता है तो वहीं भक्तों के वर्णन करने से जगत–कीर्ति, सभी प्रकार के कल्याण तथा त्रितापों से मुक्ति मिलती है।' उपर्युक्त दोहे से वार्ता–साहित्य का स्वान्तसुखाय होना स्पष्ट है। शोध के क्रम में कई बार यह संकेत किये गये हैं कि मध्यकालीन हिन्दी वार्ता–साहित्य का पहला उद्देश्य भगवद्–भक्ति ही है। भक्त 'भक्ति' के माध्यम से भगवान को प्रसन्न करने का प्रयास करता है। इसीलिए नाभादास भगवान का प्रिय विषय 'भक्त–वर्णन' को कवि–कर्म का अंश बनाता हैं। साहित्य–सृजन का पहला चरण भी स्वांतःसुखाय ही है। लेकिन इसके बाद भारतीय आचार्यों का दूसरा चरण मंगलकारी होना है। मंगलकारी होना ही वार्ताओं का समाज–सापेक्षीय होना है। नाभादास उपर्युक्त दोहे में दार्शनिक शब्दावली 'त्रिताप' का उल्लेख करते हैं। दरअसल यह त्रिताप क्रमशः दैहिक, दैविक तथा भौतिक है। इन तीन तापों के अंतर्गत मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, जगतिक (चोरी होना, अर्थ का नाश आदि) तथा प्राकृतिक (भूकंप, सूनामी आदि) संकट समाविष्ट हो जाते है। नाभादास का मानना है कि भक्त–चरित्रों के स्मरण तथा भजन से इन तीनों तापों का नाश हो जाता है और व्यक्ति एवं जगत का मंगल होता है। वर्तमान समय में इस प्रकार का वर्णन कुछ प्रश्न भी खड़े करता है। समकालीन दृष्टि वस्तुगत रूप से सहयोग को ही मंगलकारी मानती है। जबकि भारतीय–दर्शन पुरूषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति तथा मध्यकाल भगवद्–प्राप्ति को मंगल मानता है। अतः भक्तमाल भी मंगलकर्म ही है, जो कि लोक को त्रितापों से मुक्ति प्रदान करता है। मध्यकालीन इतिहास–लेखन इसी मंगलकर्म के निमित्त लिखा गया है। अतः नाभादास की इतिहास–दृष्टि में यह विचार भी गहनता से स्थापित है। यही उनकी समाज–सापेक्षीय दृष्टि भी है।

भक्तों की महिमा बताते हुए वह भक्त–चरित्रों को ईश्वर प्राप्ति का माध्यम बताते हैं[22] और सभी तरह के कष्टों से मुक्ति की बात कहते हैं।[23] इतिहास–पुराण परंपरा का मूल ध्येय मोक्ष प्राप्ति है। इसी अर्थ में भारतीय इतिहास मंगलदायी रहा है। इसी चेतना को लेकर ऐतिहासिक चरित्र मध्यकाल में अनुकरणीय रूप में लेते हैं। आदर्श–चित्रण का उद्देश्य अनुकरण ही है इसीलिए संप्रदाय इन भक्त–चरित्रों के अनुकरण से कष्ट–मुक्ति की बात कहते हैं। यही नहीं भक्तों के वर्णन को सुनना तथा

---

[22] (जो) हरि प्रापति की आस है तौ हरिजन गुन गाव।
नतरु सुकृत भुंजे बीज ज्यौ जनम जनम पछिताव।।210।।

[23] हरिजन को गुन बरनते (जो) करै असूया आय।
इहाँ उदर बाढ़ै बिथा औ परलोक नसाय।।209।।

उसे संरक्षित करना भी बड़ा पुण्य का काम माना गया है। अर्थात् वार्ता–लेखन भी पुण्यकर्म है। वार्ता–लेखन के प्रति इस प्रकार का श्रद्धाभाव ही उसे मध्यकाल की भीषण–परिस्थिति में संरक्षित करता है। वह कहते हैं – 'जो कोई भक्त–चरित्रों का संग्रह करे अथवा कथन–श्रवण एवं समर्थन करे, वह भगवान् को पुत्र के समान प्रिय है, उसे भगवान् अपनी गोद में बैठा लेते हैं।'[24] इस कथन से अतीत के प्रति नाभादास और लोक की सजगता का परिचय मिलता है। अर्थात् 'भक्ति' वार्ताओं की मूल प्रेरणा भले ही है परन्तु पूर्व–पुरूषों को जनस्मृतियों में संरक्षित करना भी नाभादास की दृष्टि का केन्द्र है। इस केन्द्र से ही नाभादास इतिहास–लेखन का कार्य करते दिखते हैं। अतः यही नाभादास का भक्तमाल लिखे जाने का उद्देश्य भी है। वह उनके जीवन–क्षणों को भक्तमाल में कहते हैं।[25] वह मानते हैं कि ऐसा पुण्य–कर्म करने वाले व्यक्ति को किसी भी योग, बल, कुल और पवित्र कर्मों की आशा नहीं करनी चाहिए।[26] अर्थात् अतीत का भक्तिपूर्ण–लेखन एक प्रकार का निस्वार्थ कर्म है। किसी पद–प्रतिष्ठा की आशा उस कर्म को दूषित करती है। यही दृष्टि इतिहास–पुराण के प्रति श्रद्धाजनित सम्मान को उपजाति है। मध्यकाल में यही सम्मान वार्ताओं को प्राप्त होता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जाये तो भक्तमाल लिखे जाने के पीछे यही नाभदास की इतिहास–दृष्टि है, जो कि साहित्यिक, धार्मिक, दार्शनिक आवरण में आभासित होती है। इसी के माध्यम से नाभादास द्वारा भक्त–वर्णन के कारण का पता चलता है। परन्तु उनकी यह दृष्टि व्यक्तिगत कम तथा तत्कालीन परिवेश (भक्ति) का परिणाम अधिक है। लेकिन स्पष्ट तौर पर इस प्रकार का सीमांकन करना भी सही नहीं। सही शब्दों में कहा जाये तो परिवेशगत दृष्टि ही नाभादास द्वारा अनुकृत होकर भक्तमाल का कारण बनती है।

नाभादास कृत 'भक्तमाल' : एक अध्ययन :– नाभादास कृत 'भक्तमाल' भक्तिकालीन रचना है, जो कि मध्यकाल में इतिहास–पुराण परंपरा का विकास करती है। इतिहास–पुराण परंपरा में होते हुए भी वार्ता–रूप 'भक्तमाल' विशिष्ट स्वरूप ग्रहण करता है। मध्यकालीन परिस्थितियाँ लोकभाषा का उत्थान करती हुई इतिहास–लेखन की भारतीय धारा को विकसित करती है। पुराणों में मौजूद वंश–वर्णन तथा वंशानुचरित की परंपरा मध्यकाल में भक्त–वर्णन का रूप लेती है। भक्ति की केन्द्रीय चेतना के साथ 'भक्तमाल' इन चरित्रों में लोक की श्रद्धाजनित बुद्धि को निर्मित करता है। यह श्रद्धा ही 'भक्तमाल' के निर्माण का कारण बनती है। भक्तमाल का शाब्दिक अभिप्राय भक्तों की माला से है। ऐसी माला जिसे स्वयं ईश्वर अपने कण्ठ में धारण करते है। इस माला का प्रत्येक मणि प्रत्येक भक्त को इंगित है। राधेश्याम खेमका इन मणियों के पीछे के उद्देश्य को इंगित करते हुए लिखते हैं –

---

[24] भक्तदास संग्रह करै कथन श्रवन अनुमोद।
सो प्रभु प्यारौ पुत्र ज्यों बैठै हरि की गोद।।211।।
[25] भक्त दास जिन जिन कथी तिन की जूँठनि पाय।
मो मति सार अच्छर द्वै कीनौं सिलौ बनाय।।213।।
[26] काहू के बल जोग जग्य, कुल करनी की आस।
भक्त नाम माला अगर (उर) बसौ नारायनदास।।214।।

''ऐसे भक्तों का नामस्मरण, उनके चरित्रों का मनन, उनके उपदेशों का पालन और उनकी भगवत्प्रेमविषयक रहनी–करनी का अनुसरण करने से अन्तःकरण पवित्र हो जाता है और भगवच्चरणारविन्दों में सहज ही अनुदित वर्धमान अनुराग उत्पन्न हो जाता है।''[27]

यह चरित्र एक तरफ भक्तों के गुण एवं उनकी लीलाओं का गान करते हैं तो दूसरी ओर लोक–सापेक्षता में अर्थवान होते हैं। इनका अनुकरण कर 'भक्त' भगवद्भक्ति में लीन होता है।

भक्तिकाल में 'भक्ति' युगीन केन्द्र है। 'भक्ति' भले ही धार्मिक आंदोलन के रूप में विकसित हुई हो। लेकिन उसका प्रभाव सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक रूप से चहुमुखी है। भक्ति–चेतना मनुष्य को स्वतंत्र करती है। इसीलिए विश्लेषणात्मक रूप में उसे धार्मिक कह देना न्यायसंगत नहीं है। संश्लेषणात्मकता में यह अवश्य कहा जा सकता है कि धर्म इसके केन्द्र में होते हुए भी सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों के साथ विकसित होता है। भारतीय संस्कृति में दर्शन तथा धर्म एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। धर्म यदि शरीर है तो दर्शन उसकी आत्मा। भक्ति आन्दोलन के संदर्भ में भी यह मत द्रष्टव्य है। भक्त की भगवान के प्रति एकनिष्ठता को बनाये रखने के लिए भक्तों द्वारा किये गये कार्य भक्तमाल का शरीर है। तो इन कार्यों को पूर्ण करने के निमित्त आंतरिक रूप से गतिमान भक्ति–दर्शन भक्तमाल की आत्मा। कहने का तात्पर्य यह है कि 'भक्तमाल' का लक्ष्य मध्यकालीन जीवों का भौतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान है।

भक्तमाल का पूर्वार्द्ध :– मध्यकाल में 'भक्ति' के व्यापक प्रभाव को निर्मित करने में तत्कालीन भक्तों की आधारभूत भूमिका रही है। भक्त वह कड़ी है जो अंशों में बिखरे भक्ति–सूत्रों को एक दूसरे से जोड़ता है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो वह आकाशीय आश्रय के अनगिनत स्तम्भ हैं। भक्तमाल उन्हीं आधारभूत स्तम्भों का गुणगान है। ईश्वर की उपासना के विभिन्न मार्गों में भक्त का स्मरण भी एक मार्ग है, जिसे ईश्वर की भक्ति के रूप में ही स्वीकार किया गया है। वहीं दूसरी ओर भक्तमाल की परंपरा मध्यकालीन इतिहास–लेखन है, जो पूर्व परंपराओं (इतिहास–पुराण परंपरा) तथा दृष्टियों (भारतीय इतिहास–दर्शन) द्वारा पुष्ट होता है। भक्ति के उद्देश्य से प्रेरित भक्तमाल विशिष्ट धारा (मध्यकालीन परिस्थितियों में निर्मित) का निर्वाह करता है। विशिष्ट धारा इसलिए भी क्योंकि जब सभी ईश्वर के प्रति श्रद्धानत होकर भावभक्ति के स्तम्भ खड़े कर रहे थे, उस समय भक्तों का गुणगान भी भक्ति का एक प्रकार बनकर भक्तमाल में प्रवाहित हो रहा था।

भारतीय परंपरा में 'मंगलाचरण' वाङ्मय की एक सामान्य विशेषता है, जो मध्यकाल की साहित्यिक कृतियों द्वारा अनुकृत हुई है। किसी भी रचना के आरम्भ में मंगलाचरण के अंतर्गत ईश्वर अथवा गुरु को स्मरण कर आशीष ग्रहण करने की प्रवृत्ति रही है। भक्तमाल में भी यह परंपरा अनुकृत

[27] नाभादास, भक्तमाल; राधेश्याम खेमका, भक्तमाल – एक परिचय; गीताप्रेस, गोरखपुर, द्वितीय पुनर्मुद्रण संवत् 2073, पृ.सं. 13

होती है। नाभादास 'भक्तमाल' के मंगलाचरण में भक्तों को स्मरण करने की बात कहते हैं। आरम्भिक दोहों के बाद के छप्पयों में यह द्रष्टव्य भी है। मंगलाचरण के रूप में सामान्यतः उपर्युक्त चार दोहे माने जाते हैं। इनकी रचना तथा भावार्थ धार्मिक है। परन्तु इन दोहों का वस्तुनिष्ठ अध्ययन इन्हें तत्कालीन परिस्थितियों को प्रकट करने वाला बनाता है। काव्य–शैली में होते हुए भी यह दोहे समकालीन परिदृश्य को स्पष्ट करने के लिए काफी है। वहीं समकालीन परिदृश्य के साथ–साथ रचना के उद्देश्य को भी इससे समझा जा सकता है। युगानुकरण तथा ग्रन्थोद्देश्यता के चिह्न मंगलाचरण के आरम्भिक दोहों से स्पष्ट होता है। भक्ति आन्दोलन प्रवृत्तिगत रूप से लोकोन्मुखी है। भक्तों का गुणगान एक ओर जहाँ लोक की भावमूलक भक्ति को आत्मसात करता है वहीं वह शास्त्रसम्मत भक्तों के गुणगान की परंपरा को आगे बढ़ाता है। इसीलिए 'भक्तमाल' को भारतीय इतिहास की लोकधारा कहा जाये तो गलत नहीं होगा। नाभादास इतिहास की शास्त्रीय धारा को लोकभाषा में प्रवाहित करते हैं। 'भक्तमाल' के मंगलाचरण में अपने मत को स्पष्ट करते हुए वह उसे शास्त्रसम्मत दिखाते हैं –

संतन निरनै कियो मथि श्रुति पुरान इतिहास।

भजिबे को दोई सुघर कै हरि कै हरिदास।।3।।

शास्त्र सम्मत होना भी तत्कालीन युग में स्वयं को स्थापित करने का एक तरीका था। चतुःसंप्रदायों से जोड़कर ही संप्रदाय की स्थापना सम्भव है ऐसी दृष्टि भक्तिकाल में मौजूद थी। इसी दृष्टि को उपर्युक्त दोहा पुष्ट करता है। शास्त्र सम्मत होते हुए भी चरित्रगान की परंपरा भारतीय वाङ्ग्मय का केन्द्र रहा है। इतिहास–पुराण का एक लक्षण चरित प्रस्तुत करना भी था। राजा–महाराजाओं के साथ–साथ ऋषि–मुनियों का भी स्मरण इतिहास–पुराण की सहज प्रवृत्ति थी। यह ऋषि–मुनि भारतीय ज्ञान परंपराओं के 'साधन' थे, जो कि ब्रह्मज्ञान की आकांक्षा से नित्य साधना में लगे रहते थे। इसी प्रकार मध्यकाल में भक्त हुए जिनका लक्ष्य भगवद्प्राप्ति था। इसी परंपरा का विकास मध्यकाल में वार्ता–साहित्य के रूप में होता है। बहरहाल भक्तों का गुणगान भक्ति का केवल एक प्रकार नहीं है। अपितु प्रेरणा रूप में लोक की आदर्शात्मक प्रतिमूर्ति है। आदर्श–स्थापना सामान्यतः लोकप्रवृत्ति है। लोक समाज को सभ्य बनाने के लिए अपने अन्दर से ही आदर्शों को निर्मित करता है। यह आदर्श समाज के मानस का हिस्सा बनकर अमर हो जाते हैं। इसी प्रक्रिया का अनुगमन वार्ता–साहित्य को विस्तार देता है। बहरहाल 'भक्ति' अवश्य इस परंपरा का उपजीव्य है, जो तत्कालीन युगबोध के साथ विकसित होता है। परन्तु लोकप्रवृत्ति भक्तमाल के वैशिष्ट्य का आधार है। लोक वार्ता–साहित्य को भारतीय इतिहास–धारा में विशिष्ट बनाता है। लेकिन साथ–ही–साथ वह इतिहास–पुराण में मौजूद भक्तों को भी पुनःस्मृत करता है। ताकि समयांतराल में छाई हुई धूल को जनमानस की स्मृति में पुनोद्धृत किया जा सके। यही कारण है कि एक ही भक्त, संत अथवा महान चरित्रों का बारम्बार हुआ है। नाभादास भी

पौराणिक भक्तों का स्मरण भक्तमाल में करते हैं। भक्त–स्मरण की यह परंपरा भक्ति–आन्दोलन को मजबूत बनाती है। कहा जाये तो यह पौराणिक भक्त भक्तमाल की भूमिका बनाते हैं।

'भक्ति' केन्द्र में होने से रामचन्द्र शुक्ल इस युग का नामकरण 'भक्तिकाल' करते हैं। इसका स्पष्ट संकेत 'भक्तमाल' में भी मिलता है। वह लिखते हैं :–

भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक।

इन के पद बंदन किएँ नासत बिघ्न अनेक।।1।।

उपर्युक्त दोहा भक्ति के मूल को स्पष्ट करता है। दरअसल मंगलाचरण का प्रथम दोहा युगीन प्रवृत्ति के अनुरूप है। नाभादास भक्त, भक्ति, भगवान तथा गुरु को चार नाम तथा एक शरीर कहते हैं। भक्त–भगवंत–भक्ति संबंध मूलतः प्रिय–प्रियतम–प्रेम संबंध है। भक्ति के इर्द–गिर्द ही भक्त तथा भगवंत का स्वरूप निर्मित होता है। भक्त प्रिय है जो भगवंत रूपी प्रियतम से प्रेम करता है। भक्त एवं भगवंत के बीच का प्रेम भक्त–भगवंत के बीच का 'संबंध' है। यही श्रद्धायुक्त प्रेम 'भक्ति' की पूर्ण परिभाषा है। नाभादास 'भक्तमाल' के प्रथम दोहे में भक्त, भक्ति, भगवंत शब्द का प्रयोग करते हैं। वह इनके पर्यायवाची शब्दों का भी प्रयोग कर सकते थे। लेकिन संबंधवाचक शब्द 'भक्ति' के आलंबन पर वह भक्त और भगवंत शब्द का प्रयोग करते हैं। गुरु की भूमिका मध्यकाल में एक प्रकार से मध्यस्थ की है। वह भक्त को भगवद्–मार्ग को बताने वाला है। इसी कारण गुरु का महत्व निर्गुण तथा सगुण दोनों धाराओं ने स्वीकार किया है।

भक्तिकाल में गुरु का स्वरूप उदात्त माना गया है। वह किसी भी प्रकार के सामाजिक अथवा धार्मिक भेदों को नहीं मानता है। नाभादास भी अपने गुरु अग्रदेव की आज्ञा पर ही भक्तमाल की रचना करते हैं।

श्रीगुरु अग्रदेव आग्या दई भक्तन को जस गाउ।

भवसागर के तरन को नाहिन और उपाउ।।4।।

नाभादास भक्तों के स्मरण को ईश्वर भक्ति के रूप में देखते हैं। उनकी दृष्टि में यह भगवद्भक्त ही मंगलरूप हैं। उनका मानना था कि भगवान जगत में अपने भक्तों से सर्वाधिक प्रेम करते हैं तथा उन भक्तों का गुणगान कर उन्हें प्रसन्न किया जा सकता है। इसीलिए वह भक्तों एवं संतों के गायन को ईश्वर भक्ति ही मानते हैं। भगवद्भक्त ही उनके लिए महत्वपूर्ण है।

मंगल आदि बिचारि रहि बस्तु न और अनूप।

हरिजन को जस गावते हरिजन मंगलरूप।।2।।

अर्थात् 'ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण के संबंध में विचार करने पर यही समझ में आता है कि भक्त–चरित्रों के समान दूसरी और कोई वस्तु नहीं है, जिससे मंगलाचरण का आरम्भ किया जाये। भगवद्भक्तों का चरित्रगान करने में भगवद्भक्त ही मंगलरूप है।'

सम्पूर्ण भक्तमाल को दो भागों में विभाजित कर देखा गया है – पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध। उत्तरार्द्ध में कलियुग के भक्तों का वर्णन है। जबकि पूर्वार्द्ध में अन्य युगों के भक्तों का स्मरण किया गया है। पूर्वार्द्ध का वर्णन एक प्रकार से मंगलाचरण का ही अंग प्रतीत होता है। दूसरे दोहे में जहाँ नाभादास मंगलाचरण लिख रहे हैं उस स्थान पर वह भक्तों के यशगान को मंगलाचरण के रूप में स्वीकार करते हैं। बाद में यह गान किया भी गया है। दरअसल मंगलाचरण ग्रन्थ की रूपरेखा का पूर्व–संकेत है। कहा जाये तो ग्रन्थ का कथ्य एवं दिशा का संकेत मंगलाचरण से ही हो जाता है। अतः मंगलाचरण के उपरांत छप्पयों में भक्तों का वर्णन किया गया है, जिन्हें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभाजित किया गया है। पूर्वार्द्ध में जिनका वर्णन हुआ है, वह कलियुग के भक्तों से पूर्व है। भक्तमाल का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभाजन छप्पय–वर्णन से भी हो जाता है। पूर्वार्द्ध में अधिकतर नाम–स्मरण ही किया गया है जबकि उत्तरार्द्ध में एक छप्पय के अंतर्गत एक भक्त का वर्णन ही अधिक है। कहने का तात्पर्य यह है कि नाभादास का लक्ष्य कलियुग के भक्तों का वर्णन है। इसीलिए भी वह पूर्वार्द्ध में उल्लिखित पौराणिक भक्तों का विस्तृत वर्णन नहीं करते। केवल नाम–स्मरण कर स्वयं को सीमित करते हैं। पूर्वार्द्ध छप्पयों की विषयवस्तु के आधार पर इसे स्पष्ट कहा जा सकता है। पूर्वार्द्ध के छप्पयों में विषयवस्तु को क्रमशः निम्नतः उल्लिखित किया गया है – 'चौबीस अवतारों की कथा, श्रीरामजी के चरण चिह्न, द्वादश प्रधान भक्त, षोडश पार्षद, हरिवल्लभ – भगवान् के प्रिय भक्त, श्रीहरिध्याननिष्ठ भक्तगण, प्रभुप्राप्ति के मार्ग का अनुसरण करने वाले भक्त, भगवान् की माया को जीत लेने वाले भक्त, राजर्षि निमि और नौ योगीश्वर, नवधाभक्ति के आचार्य, भगवत्प्रसाद के तत्व को जानने वाले श्रेष्ठ भक्त, भक्ति तथा ज्ञान के प्रकाशक आचार्य, अठारह पुराण, अठारह स्मृतियाँ और उनके रचयिता आचार्य, श्रीरामसचिव – श्रीराम के मंत्रिगण, श्रीराम–सहचरवर्ग, नौ नन्दजी, भगवान् श्रीकृष्ण की लीला के सहचर– व्रजवासी गण, श्रीकृष्ण के षोडशसखा, सप्तद्वीप के भक्त, जम्बूद्वीप के भक्त, श्वेतद्वीप के भक्त, अष्टनाग।' आरम्भिक चार दोहों के बाद नाभादास ने छप्पयों में भक्तमाल की रचना की है। मंगलाचरण के उपरांत छंद–परिवर्तन की परिपाटी भी वाङ्मय की प्रवृत्ति है। इसी कारण प्रथम चार दोहों को मंगलाचरण के रूप माना गया है। जबकि कलियुग वर्णन तथा उससे पूर्व के युगों में छप्पय का ही प्रयोग किया गया है। अतः छप्पयों में लिखा गया पूर्वार्द्ध अंश मंगलाचरण में गिना नहीं जाता। लेकिन यदि इन छप्पयों पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट होगा कि पूर्वार्द्ध अंश भक्तमाल की भक्तिमय पृष्ठभूमि को निर्मित करने के साथ–साथ नाभादास की दृष्टि–सापेक्ष उदाहरणों को प्रस्तुत करता है।

भक्तिकाल में वैष्णव संप्रदाय का विस्तार अधिक रहा है। विष्णु के चौबीस अवतारों में राम तथा कृष्ण अधिक लोकाश्रय प्राप्त करते हैं। नाभादास चौबीस अवतारों का स्मरण तथा वंदन कर ईश्वर को

नमन करते हैं क्योंकि बिना भगवंत के भक्ति संभव नहीं। वैष्णव परंपरा में होने के कारण वह भगवान विष्णु के चौबीस अवतारों का उल्लेख करते हुए उनके आशीष प्राप्ति की बात कहते हैं।[28] नाभादास मूलतः रामानंद परंपरा में आते हैं। अतः इनके आराध्य राम हैं। वह राम के चरणचिह्न को बताते हैं।[29] दरअसल यह चिह्न भक्ति के प्रतीक है। वह लिखते हैं –

सीतापति पद नित बसत एते मंगलदायका।

चरन चिह्न रघुबीर के संतन सदा सहायका।।6।।

नाभादास द्वारा उद्धृत किये गए चरणचिह्नों की प्रियादास भी व्याख्या करते हैं। इसी के साथ–ही–साथ वह प्रत्येक चिह्न की महत्ता भी इंगित करते हैं। भगवान और उनके चिह्नों या प्रतीकों का वर्णन करने के उपरांत वह पौराणिक भक्तों का नाम उल्लेख करते हैं। द्वादश भक्तों का नामोल्लेख करते हुए नाभादास उनकी प्रचलित कथाओं का संकेत करते हैं। इन नामों के स्मरण करने के पीछे नाभादास का उद्देश्य मात्र उनकी कथाओं से भक्त की प्रेरणा ग्रहण करना है। इन बारह भक्तों में ब्रह्माजी, नारद, शंकर जी, सनकादिक, कपिलदेव, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्मपितामह, बलि, शुकदेव, अजामिल और धर्मराज सम्मिलित हैं।[30] अजामिल की कथा द्वारा भक्ति के प्रभाव को इंगित करते हैं। भगवान नारायण के पार्षदों का आगे के छप्पयों में स्मरण किया गया है। इन षोडश पार्षदों का वर्णन करते हुए वह उन्हें मंगलकारी, भवरोगों को हरने वाले, परम विनीत एवं अति कृपालु, भावुक भक्तों के प्रतिपालक के रूप में चित्रित करते हैं।[31] प्रत्येक गुण सभी में नहीं है अपितु अलग–अलग पार्षदों को अलग–अलग गुणों वाला बताया गया है। नाभादास इन्हीं पार्षदों में अपने चित्त को लगाये रखने की बात कहते हैं।

---

[28] जय जय मीन बराह कमठ नरहरि बलि–बावन।
परसुराम रघुबीर कृष्ण कीरति जग पावन।।
बुद्ध कलक्की ब्यास पृथू हरि हंस मन्वंतर।
जग्य रिषभ हयग्रीव धुरुव बरदैन धन्वंतर।।
बद्रीपति दत कपिलदेव सनकादिक करुना करौ।
चौबीस रूप लीला रुचिर (श्री) अग्रदास उर पद धरौ।।5।।

[29] अंकुस अंबर कुलिस कमल जव धुजा धेनुपद।
संख चक्र स्वस्तिक जंबूफल कलस सुधह्रद।।
अर्धचंद्र षटकोन मीन बिंदु ऊरधरेखा।
अष्टकोन त्रयकोन इंद्रधनु पुरूषविशेषा।।
सीतापति पद नित बसत एते मंगलदायका।
चरन चिह्न रघुबीर के संतन सदा सहायका।।6।।

[30] बिधि नारद संकर सनकादिक कपिलदेव मनुभूप।
नरहरिदास जनक भीषम बलि सुकमुनि धर्मस्वरूप।।
अंतरंग अनुचर हरिजू के जो इन कौ जस गावै।
आदि अंत लौं मंगल तिन को श्रोता बक्ता पावै।।
अजामेल परसँग यह निरनै परम धर्म को जान।
इन की कृपा और पुनि समझै द्वादस भक्त प्रधान।।7।।

[31] बिष्वकसेन जय बिजय प्रबल बल मंगलकारी।
नंद सुनंद सुभद्र भद्र जग आमयहारी।।
चंड प्रचंड बिनीत कुमुद कुमुदाच्छ करुनालय।
सील सुसील सुषेन भाव भक्तन प्रतिपालय।।
लक्ष्मीपति प्रीणन प्रबीन भजनानँद भक्तन सुहृद।
मो चितबृति नित तहँ रहौ जहँ नारायन (पद) पारषद।।8।।

लोक मानस तथा भक्तमाल में इनका नामोल्लेख एक प्रकार से साझा ज्ञान पर आश्रित है। नाभादास का उद्देश्य केवल संकेत करना है। लेकिन इस विश्वास के साथ कि इन संकेतों के माध्यम से लोक अवश्य कथाओं को पुनःस्मृत करेगा। यह मौखिकता का गुण है। भागवद्सप्ताह का आयोजन इसी प्रक्रिया को आत्मसात् करता है। इन कथाओं में वक्ता उल्लिखित घटनाओं की व्याख्या करता हुआ उसे कहता है। इस प्रक्रिया में कथावक्ता स्रोत तथा श्रोता के बीच माध्यम हो जाता है। यह माध्यम सजग मस्तिष्क एवं हृदय के साथ कथा को प्रभावित करता है। भक्तमाल की कथाओं का आयोजन भी भागवद्कथा के समान किया जाता है। वर्तमान में भी कई भक्तमाल कथावाचक इस प्रकार की कथाओं को वर्णन करते हैं लेकिन यह आयोजन धार्मिक रूप में ही आयोजित किये जाते रहे हैं। यदि इन आयोजनों को देखें तो इनका उद्देश्य अतीत को आमजनमानस में गहनता से स्थापित करना होता है। कहा जाये तो आमजनमानस का इतिहास–बोध इन कथाओं के माध्यम से निर्मित होता है। यह भक्त–वर्णन एक ओर जहाँ युगीन–चेतना (मध्ययुगीन युगबोध) के प्रति श्रोताओं में सजग–दृष्टि का विकास करते हैं, वहीं दूसरी ओर उनका शाश्वत स्वरूप समकाल में आवश्यक मूल्य–बोध की सर्वकालिक पृष्ठभूमि भी निर्मित करते हैं। यह सर्वकालिकता ही मध्यकालीन हिन्दी इतिहास–लेखन को विशिष्ट बनाता है।

भक्तमाल की रचना मुक्तकों में हुई है। प्रत्येक छप्पय पूर्वापर क्रम में स्वतंत्र है। यह छप्पय एक–दूसरे पर आश्रित न होते हुए भी आपस में जुड़ते हैं। द्वादश प्रधान भक्तों में अजामिल की कथा के अंतर्गत पार्षदों का उल्लेख हुआ है, जिसमें तुरंत बाद ही नाभादास षोडस पार्षदों का स्मरण करते हैं। षोडश पार्षदों का स्मरण करने के उपरांत नाभादास हरिभक्तों का स्मरण करते हैं। इस छप्पय की प्रथम पंक्ति में वह षोडश पार्षदों को याद करते हैं, जो कि इससे पूर्व के पद में उल्लिखित किये गये हैं। मुक्तक में होते हुए भी इन पदों के क्रम को निश्चित किया जा सकता है। यह स्पष्ट होना भी आवश्यक है कि इनके क्रम के पीछे कोई लेखन का नियम लागू नहीं है। ना ही यह क्रम उनके समय को लेकर है। नाभादास का उद्देश्य मात्र जनमानस में व्याप्त भक्तों को पुनःस्मृत करना है।

पौराणिक भक्तों के नामों को स्मरण कर कार्य–पूर्ण करने की दृष्टि ही पूर्वार्द्ध के छप्पयों में दिखाई देती है। इसीलिए कई स्थानों पर समूह वर्ग के आधार पर भक्तों का स्मरण किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे जल्दी–जल्दी सभी का स्मरण कर आगे बढ़ा जाय। इसीलिए भक्तमाल का केन्द्र मध्यकाल के ऐतिहासिक भक्त ही ठहरते हैं। उपर्युक्त छप्पयों के समान अग्रिम छप्पय भी कई नामों का एक साथ उल्लेख करते हैं।

छप्पय संख्या	**छप्पय का विषय**	**छप्पय में भक्तों का उल्लेख**
12	भगवान की माया को जीत लेने वाले भक्त	ऋभु जी, इक्ष्वाकुजी, ऐल जी, गाधि जी, रघुजी, रयजी, शतधन्वाजी, अमूर्तजी, रन्तिदेवजी, उत्तंकजी, भूरिश्रवाजी, पिप्पलजी, निमिजी,

		भरद्वाजजी, दक्षजी, शरभंगजी, संजय जी, शमीकजी, उत्तानपादजी और याज्ञवल्क्यजी
छप्पय संख्या 13	राजर्षि निमि और नौ योगीश्वर	कवि, हरि और करभाजन/भक्ति के अथाह समुद्र; अंतरिक्ष और चमसजी/वैष्णव उपासन में अनन्यता की परिपाटी को चलाने वाले; आविर्होत्री जी/ज्ञान और भक्ति के उदारदाता; पिप्पलायन जी और द्रुमिलजी/प्राणियों को भवसागर से पार करने वाले प्रसिद्ध जहाज; श्रीऋषभदेव जी की पत्नी जयन्ती देवी जी को आनन्दित करने वाले नौ पुत्र/संसार के तीनों तापों को तथा मानसिक रोगों को हरने वाले।
छप्पय संख्या 14	नवधाभक्ति के आचार्य	परीक्षित जी/श्रवणभक्ति के आचार्य, व्यासपुत्र शुकदेव जी/कीर्तनभक्ति के, प्रह्लाद जी/सुन्दर रूप का स्मरण करने वाले, लक्ष्मी जी/अष्टयाम भगवच्चरणसेवन में मन देने वाले, पृथु जी/विधिसमेत पूजन–भक्ति के आचार्य, श्वफल्क–पुत्र अक्रूर जी/वन्दनभक्ति के आचार्य, हनुमान जी/दास्यभक्ति को प्रकाशित करने वाले आचार्य, अर्जुन/सख्य रस के उपासकों में, राजा बलि/सर्वस्वसमवेत आत्मसमर्पण करने वाले।
छप्पय संख्या 15	भगवत्प्रसाद के तत्व को जाननेवाले श्रेष्ठ भक्त	शंकर जी, शुकदेव जी, सनकादिक जी, कपिल जी, नारद जी, हनुमान जी, विष्वक्सेन जी, प्रह्लाद जी, बलि जी, भीष्म जी, अर्जुन जी, ध्रुव जी, अम्बरीष जी, विभीषण जी, अक्रूर जी और उद्धव जी।
छप्पय संख्या 16	भक्ति तथा ज्ञान के प्रकाशक आचार्य	पुलह जी, अगस्त्य जी, पुलस्त्य जी, च्यवन जी, सौभरि जी, वसिष्ठ जी, कर्दम जी, अत्रि जी, ऋचीक जी, माण्डव्य जी, विश्वामित्र जी, दुर्वासा जी, शौनकादि अट्ठासी हजार ऋषि, जाबालि जी, जमदग्नि जी, मार्कण्डेय जी, कश्यप जी, पर्वत जी और पराशर जी।
छप्पय संख्या 19	श्री रामसचिव	धृष्टी जी, विजय जी, जयन्त जी, राष्ट्रवर्धन, सुराष्ट्र, अशोक, धर्मपालक और सुमन्त्र।
छप्पय संख्या 20	श्रीराम–सहचरवर्ग	सूर्य पुत्र वानरराज सुग्रीव जी, बालि पुत्र अंगद जी, केशरी पुत्र हनुमान जी, दधिमुख जी, द्विविद जी, मयंद जी, रिछों के राजा जाम्बान् जी/जिनके समान कोई साहसी और बलवान नहीं है, उल्कामुख जी, सुषेण जी, दरीमुख, कुमुद, नील, नल, शरभ, गवय, गवाक्ष, पनस और महाबलवान् गंधमादन आदि अठारह पद्म जो सेनापति है।
छप्पय संख्या 21	नौ नन्द जी	धरानन्द जी, ध्रुवनन्द जी, उपनन्द जी/परम चतुर, अभिनन्द जी, नन्द जी/प्रसिद्ध यशस्वी तथा सुख के सागर, सुनन्द जी/पशुओं के पालक आनन्दप्रद निर्मल और निश्चल बुद्धिवाले, कर्मानन्द जी, धर्मानन्द जी तथा बल्लभ जी।
छप्पय संख्या 22	भगवान् श्रीकृष्ण की लीला के सहचर–व्रजवासीगण	नन्दगोप, उपनन्द, ध्रुवनन्द, धरानन्द, यशोदा, वृषभानु की पत्नी कीर्ति/कीर्ति देने वाली, वृषभानु/बरसाने के राजा, बृषभानु कुमारी श्रीराधिका, सखियाँ, मधुमंगल, सुबल, सुबाहु, भोज, अर्जुन, श्रीदामा और सम्पूर्ण ग्वाल–मण्डली/जिनके नाम अनेक हैं।
छप्पय संख्या 23	श्रीकृष्ण के षोडश सखा	रक्तक, पत्रक और पत्री – ये सबके मन को प्रिय है। मधुकण्ड, मधुवर्त, रसाल, विशाल, प्रेमकन्द, मकरन्द, सदानन्द, चन्द्रहास, पयद, बकुल, रसदान, शारदा और बुद्धिप्रकाश।
छप्पय संख्या 27	अष्टनाग	इलापत्र और अनन्त मुख वाले शेषनाथ जी/अनन्तभगवान् की कीर्ति का विस्तार करने वाले; पद्म और शंकु/इनका प्रण प्रसिद्ध है। यह हृदय से भगवान के रूप का ध्यान कभी नहीं टालते; अंशुकम्बल और वासुकि/ये भगवान के आज्ञाकारी है; कर्कोटक और तक्षक/ये बड़े वीर है। सेवारूपी भूमि को सदा अपने सिरपर धारण करते हैं।

उपर्युक्त छप्पयों की विषयवस्तु एवं भक्तों के वर्णन में समानता दिखाई देती है। भक्तों के नाम ही एकमात्र बदलाव है। इनके मूल में भी भक्तों के गुणगान की दृष्टि ही गतिमान है। इन छप्पयों का

संदर्भ मंगलाचरण से इतर भी महत्वपूर्ण है। पाँच छप्पय ऐसे है जिनमें राम तथा कृष्ण के सखा, सचिव आदि का उल्लेख किया गया है। इसका कारण संभवतः राम तथा कृष्ण काव्यधारा का तत्कालीन प्रभाव है। यह उल्लेख उनसे जुड़ी कथाओं को स्मरण करने के निमित्त उद्धृत हुए है। राम तथा कृष्ण की लीलाओं में इनके सहचारी भक्तों (गोप–ग्वाल तथा अन्य चरित्र) का विशेष स्थान है। इसी प्रकार अन्य उल्लिखित भक्तों के मूल में भी लोक–प्रचलित कथाओं का अनुसरण किया गया है। प्रत्येक भक्त की अपनी कथा है।

भक्तमाल के पूर्वार्द्ध में पूर्व मध्ययुगीन भक्तों का उल्लेख करने के साथ–साथ कुछ विषयांतर के साथ पुराण तथा स्मृतियों का भी उल्लेख किया गया है। पुराणों और स्मृतियों के उल्लेख करने के पीछे उनकी लोक में महत्तीय उपस्थिति का होना है। पुराणों में भी भागवत पुराण का प्रभाव मध्यकाल में सर्वाधिक है। इसीलिए नाभादास सत्रह पुराणों को साधन रूप तथा भागवतपुराण को फलरूप स्वीकारते हैं। मध्यकाल में वैष्णव भक्त एवं संत भागवत से ही भक्ति–दर्शन अनुभूत करते हैं। सूरदास श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध से विषयवस्तु ग्रहण करते हैं। श्रीमद्भागवत पुराण की भक्तिकाल में महत्ता को इंगित करते हुए डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं –

> ''हिंदी साहित्य के संदर्भ में भक्तिकाल से तात्पर्य उस काल से है, जिसमें मुख्यतः भागवत धर्म के प्रचार तथा प्रसार के परिणामस्वरूप भक्ति–आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था . . .।''[32]

स्मृतियाँ भी भारतीय समाज की नियामक रही हैं। देखा जाये तो स्मृतियाँ भारतीय वाङ्गमय में आचार साहित्य के अंतर्गत स्वीकारी जाती है। आचार साहित्य से अभिप्राय मनुष्य को व्यावहारिक ज्ञान कराने वाले साहित्य से है। भक्तिकाल में भी आचारपक्ष पर जोर रहा है। तुलसी के राम तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप लोक के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करते हैं। भक्तिकाल के सम्पूर्ण साहित्य की लोकोन्मुखता उनकी आध्यात्मिक दृष्टि के साथ–साथ व्यावहारिक पक्ष से भी संबंधित है। कबीर की समतामूलक दृष्टि सभी प्रकार के भेदों के विरूद्ध है। इसी दृष्टि के अनुरूप वह धार्मिक, सामाजिक, राजनीति आदि के आचार पक्ष पर भी प्रहार करते हैं।

साहित्यिक ग्रन्थों के उल्लेख के साथ–साथ भारतीय भूगोल दृष्टि का परिचय भी पूर्वार्द्ध में स्पष्ट रूप से होता है। छप्पय संख्या 24, 25 एवं 26 में क्रमशः सप्तद्वीप के भक्त, जम्बूद्वीप के भक्त तथा श्वेतद्वीप के भक्तों का उल्लेख हुआ है। दरअसल सप्तद्वीप, जम्बूद्वीप, श्वेतद्वीप – यह शब्दावली पौराणिक भूगोल से संबंधित है। नाभादास इन स्थानों में मौजूद कुछेक भक्तों के उल्लेख के साथ सम्पूर्ण द्वीप में मौजूद भक्तों का नमन कर आगे बढ़ जाते हैं। इसीलिए इस परिपाटी से वह अपना कार्यपूर्ण करते हैं।

---

[32] डॉ. नगेन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, तीसरा संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण 2009, बावनवाँ पुनर्मुद्रण संस्करण 2016, मयूर पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पृ.सं. 81

भक्तमाल का उत्तरार्द्ध :– 'भक्तमाल' के मंगलाचरण में आरम्भिक चार दोहे स्वीकार किये गये हैं, जो कि नाभादास तथा रचना के पीछे की इतिहास दृष्टि को स्पष्ट करने में सहायक हैं। मंगलाचरण के उपरांत छंद–परिवर्तन के साथ छप्पय में मुख्य रचना का आरम्भ किया जाता है। तुलसीदास कृत रामचरितमानस का मंगलाचरण संस्कृत के अनुष्टुप छंद में तथा सम्पूर्ण रचना अवधी भाषा के दोहा–चौपाई में लिखी गई है। ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती का स्मरण तथा वंदन करने के उपरांत वह रामचरितमानस का आरम्भ करते है। नाभादास भी छप्पयों में कृति आरम्भ करते हुए पौराणिक युग के भक्तों एवं साहित्य का स्मरण करते हैं। इसी को भक्तमाल का पूर्वार्द्ध माना गया है। देखा जाये तो यह पूर्वार्द्ध मंगलाचरण का अंग जान पड़ता है। क्योंकि मूल कृति उत्तरार्द्ध से आरम्भ होती है। नाभादास कलियुग के भक्तों का आरम्भ अट्ठाईसवें छप्पय से करते है।

चतुःसंप्रदायाचार्य से कलियुग का आरम्भ होता है। भक्तिकाल की पूर्वपीठिका में इन चार संप्रदायों की महत्वपूर्ण स्थिति रही है। इसी को ध्यान में करते हुए नाभादास लिखते हैं :–

जनम करम भागवत धरम संप्रदाय थापी अघट।

चौबीस प्रथम हरि बपु धरे चतुर्ब्यूह कलिजुग प्रगट।।28।।

'इन्होंने जन्म लेकर और सत्कर्मों का स्वयं आचरण करके वैष्णवधर्म के संप्रदायों की सर्वथा अक्षय एवं सुदृढ़ स्थापना की। जिस प्रकार तीन युगों में भगवान् ने चौबीस अवतार धारण किये, उसी प्रकार कलियुग में आचार्यों का चतुर्व्यूह प्रकट हुआ।' मध्यकाल में बाह्य आक्रमण के कारण धर्म की संकटग्रस्त स्थिति को यह संप्रदाय सहारा देते हैं। रामानुजाचार्य का 'श्रीसंप्रदाय', विष्णुस्वामी का 'रूद्रसंप्रदाय', माध्वाचार्य का 'ब्रह्मसंप्रदाय' तथा निम्बार्काचार्य का 'सनकादिक संप्रदाय' भक्ति की स्थापना दार्शनिक नवीनता के साथ करते हैं। इन संप्रदायों का उद्देश्य लोक से ओर अधिक निकटता से जुड़ना है। भक्ति की लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के साथ यह व्यापक रूप से उत्तर भारत में प्रचारित होते हैं। नाभादास लिखते हैं :–

रामानुज ऊदार सुधानिधि अवनि कल्पतरु।

बिष्नुस्वामि बोहित्थ सिंधु संसार पार करु।।

मध्वाचारज मेघ भक्ति सर ऊसर भरिया।

निम्बादित्य अदित्य कुहर अग्यान जु हरिया।।

इन चारों संप्रदायों का उल्लेख करते हुए नाभादास इन्हें भक्ति के अलग–अलग गुणों से सुसज्जित मानते हैं। रामानुजाचार्य परंपरा में रामानंद आते हैं, जिनका प्रभाव उत्तर भारत में सबसे व्यापक रहा है।

वह भक्तों को जातिभेद की नकार के साथ अपनाते हैं। रामानंद रामानुजाचार्य का ही अनुकरण करते हैं। इसी कारण नाभादास 'रामानुजाचार्य' को उदार (अर्थात् शरणागतों को अपनाने में इनका दृष्टिकोण संकुचित नही था) सुधानिधि अर्थात् प्रेमामृत और ज्ञानामृत के अगाध समुद्र तथा अवनि कल्पतरु अर्थात् पृथ्वी पर भक्तों की अभिलाषाओं को पूर्ण करने के लिए साक्षात् कल्पवृक्ष के समान कहते हैं। इसी प्रकार 'रूद्रसंप्रदाय' के विष्णुस्वामी को वह भक्तों को सिंधु सागर अर्थात् भवसागर से पार कराने वाला बताया है। वहीं ऊसर भूमि को जिस प्रकार मेघ जलमग्न कर उसे उर्वरक बनाते हैं उसी प्रकार माध्वाचार्य ने भक्ति रूपी मेघ से भक्ति का संचार निरस जनता में किया तथा 'निम्बार्काचार्य' ने अज्ञानता रूपी कोहरे को हरके भक्ति की धारा प्रवाहित की। नाभादास का यह वर्णन भावपूर्ण है। लेकिन इसके पीछे की वस्तुनिष्ठ सत्यता इसी भावार्थ के साथ प्रस्तुत होती है। वस्तुनिष्ठ सत्य की मात्रात्मक सीमा का भान उपर्युक्त पंक्तियों से संभव नहीं है। भक्तमाल की यह विशेषता साहित्य और इतिहास की संश्लिष्टता को दिखाती है। यह वर्णन साहित्यिक होने के कारण पाठक को काव्य–सौष्ठव से आनन्दित करती है, वहीं इन पदों में मौजूद ऐतिहासिक यथार्थ का अनुभूतिपूर्ण वर्णन इन्हें इतिहास की वस्तु भी बनाता है। उस ऐतिहासिकता का निदर्शन उपर्युक्त पद में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इसी छप्पय के उपरांत नाभादास एक दोहे में इन संप्रदायों की विशिष्ट पद्धति का भी उल्लेख करते हैं। यह दोहा पिछले छप्पय से स्वतंत्र होते हुए भी इसी क्रम में अर्थगर्भित होता है।

रमा पधति रामानुज बिष्नुस्वामि त्रिपुरारि।

निंबादित्य सनकादिका मधुकर गुरु मुखचारि।।29।।

रामानुजाचार्य राम को, विष्णुस्वामी त्रिपुरारी अर्थात् शिव को तथा निम्बाकाचार्य सनकादिक को अराध्यदेव स्वीकारकर अराधना पद्धति निर्मित करते हैं। वस्तुनिष्ठता का पक्ष यहाँ महत्वपूर्ण हो जाता है।

मध्यकाल में चतुःसंप्रदायों की उपस्थिति धार्मिक तथा सामाजिक स्थितियों को प्रबल रूप से प्रभावित करती है। देखा जाये तो भक्ति के उद्‌भव तथा प्रचार–प्रसार में इन संप्रदायों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। भक्ति के ऐतिहासिक विकास का परिचय इन्हीं संप्रदायों से होकर गुजरता है। नाभादास भी इसी कारण इनका स्मरण श्रद्धाभाव से करते हैं। एक ओर जहाँ ये संप्रदाय मध्यकाल की धार्मिक स्थितियों को प्रभावित करते हैं वहीं दूसरी ओर यह संप्रदाय तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक रूढ़ियों की प्रतिक्रिया स्वरूप जान पड़ते हैं। यह प्रतिक्रिया ही इन्हें प्रगतिशील बनाती है। बहरहाल मध्यकाल की ऐतिहासिकता वार्ता–साहित्य के विशिष्ट स्वरूप में भावमूलक अभिव्यक्ति पाती है। इसी कारण वार्ता–साहित्य इतिहास–कोटि से इतर साहित्य–कोटि में परिगणित किया जाता है।

वार्ता–साहित्य के संबंध में पहले भी कहा गया है कि मध्यकाल का यह साहित्य–रूप इतिहास तथा साहित्य की जटिलता का परिणाम है। नाभादास के शब्दों में कहा जाये तो भक्तमाल में कलियुग

के भक्तों का वर्णन किया गया है। ऐसा कहते हुए वह कलियुग की शुरूआत चतुःसम्प्रदाचार्यों से करते हैं। अर्थात् इनके बाद के सभी भक्त की ऐतिहासिकता भारतीय–मध्यकाल ही ठहरती है। जबकि इससे पूर्व नाभादास पुराणकालीन चरित्रों का नाम–स्मरण करते हैं, जिनकी ऐतिहासिकता को प्रमाणित करना मुश्किल है। यदि देखा जाये तो नाभादास श्रीसंप्रदाय में आते हैं। इसीलिए वह अपनी गुरु परंपरा का स्मरण सबसे पहले करते हैं। इससे 'श्रीसंप्रदाय' में हुए आचार्यों एवं भक्तों का क्रमवार इतिहास भी पता चलता है। श्रीसंप्रदाय की शिष्य–प्रशिष्य परंपरा पद–क्रमांक 30 से 41 तक वर्णित की गई है। पद क्रमांक 30 (श्रीसंप्रदाय के आचार्य) में श्रीसंप्रदाय के प्रमुख एवं प्रशस्ति प्राप्त आचार्यों का उल्लेख हुआ है। इन आचार्यों में विष्वकसेन, शठकोपाचार्य, बोपदेव, नाथमुनि, पुण्डरीकाक्ष, राममिश्र, यमुनाचार्य स्मरणीय हैं। इनमें बहुत–से आचार्यों की ऐतिहासिकता प्रमाणित है। दरअसल यह सभी आचार्य रामानुजाचार्य से पूर्व में आते हैं। श्रीसंप्रदाय अपने को पुराणों से जोड़ता है। इसीलिए इस पद में रामानुजाचार्य से पूर्व तक के आचार्यों का उल्लेख प्रस्तुत पद में किया गया है। इनमें विष्वक्सेन सबसे पहले आते हैं, इन्हें भगवान विष्णु के पार्षदों में परिगणित किया गया है। इनका उल्लेख पूर्वार्द्ध के पद क्रमांक 15 (भगवत्प्रसाद को जानने वाले श्रेष्ठ भक्त) में भी हुआ है। अतः यह स्पष्ट है कि यह पुराणकालीन भक्त हैं, जिनसे श्रीसंप्रदाय अपनी परंपरा को जोड़ता है। इसलिए इनकी महत्ता श्रीसंप्रदाय में स्थापित है। दूसरे आचार्य शठकोप हुए, जिनका तमिल नाम नम्मालवार है। दरअसल यह बारह आलवारों में से एक थे। भक्ति का उद्भव एवं उत्तर–भारत में प्रचारित होना इन्हीं आलवारों से जुड़ता है। इनके बाद नाभादास बोपदेव का उल्लेख करते हैं। गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित भक्तमाल अंक में इन्हें तेरहवीं शताब्दी का बताया गया है। इनका उल्लेख भागवत के पुनरूद्धार करने के कारण हुआ है। नाभादास लिखते हैं – 'बोपदेव भागवत लुप्त उधर्‌यौ नवनीता।' इन्होंने धर्मप्रधान अनेक ग्रन्थों की रचना की। बहरहाल बोपदेव के उपरांत नाभादास मंगलदायक नाथ मुनि का उल्लेख करते हैं। कुछ विद्वान श्रीसंप्रदाय का उद्भव रामानुजाचार्य के पीछे नाथमुनि से जोड़ते हैं। प्रस्तुत पद में श्रीसंप्रदाय के ऐतिहासिक विकासक्रम का परिचय नाथमुनि से ही दिखाई देता है। नाथमुनि के उपरांत पुण्डरीकाक्ष तथा राममिश्र आते हैं। यह दोनों भक्त मूलतः नाथमुनि के शिष्य थे। इसके उपरांत संप्रदाय में महत्ता प्राप्त आचार्यों में यमुनाजाचार्य आते हैं। यह नाथमुनि के प्रपौत्र तथा रामानुजाचार्य के गुरु थे। इस एक पद में नाभादास श्रीसंप्रदाय में रामानुजाचार्य से पूर्व के आचार्यों का श्रद्धानत वर्णन करते हैं।

अतः पद–क्रमांक 30 में श्रीसंप्रदाय में रामानुजाचार्य से पूर्व हुए आचार्यों का ऐतिहासिक क्रम का परिचय मिलता है। दरअसल यह ऐतिहासिक क्रम उनके क्रमवार उल्लेख में परिलक्षित होता है। जबकि इस क्रम में बोपदेव अपवाद रूप में दिखाई पड़ते हैं। लेकिन संप्रदाय के प्रमुख आचार्य परंपरा का परिचय प्रस्तुत पद से हो जाता है। इस पद में नाभादास का उद्देश्य साहित्यिक–सौष्ठव पैदा करना ना होकर श्रीसंप्रदाय के आचार्यों का नामोल्लेख करना था। किस प्रकार इन नामों को एक छंद में स्थान दिया जाये? यही उनका लक्ष्य है। वैसे तो वार्ता–साहित्य का मूल उद्देश्य ही इतिहास कहना रहा है,

जहाँ साहित्य केवल माध्यम के रूप में आता है। पर बीच–बीच में वार्ताकार साहित्यिक–सौष्ठव भी पैदा करने का प्रयास करता है। उसकी सृजनशीलता इतिहास–कथ्य को अभिव्यक्त करने के कारण बाधित होती है। इसी ऐतिहासिकता का निर्वाह नाभादास रामानुजाचार्य के पद में भी करते हैं।

रामानुजाचार्य श्रीसंप्रदाय के संस्थापक आचार्य हैं। इनके संबंध में बताते हुए नाभादास कहते हैं कि गुरुदेव ने मंत्र देकर जिसे गुप्त रखने के लिए कहा था, उसका रामानुजाचार्य ने सबके आगे ऊँचे स्वर से प्रचार किया। यही श्रीसंप्रदाय का वैशिष्ट्य भी था। श्रीसंप्रदाय में सभी समान भूमि पर 'भक्ति' के अधिकारी माने गये। रामानन्द के शिष्यों को स्वीकार करने का दृष्टिगत विस्तार इसी भूमि पर निर्मित होता है। कहा जाये तो रामानन्द की दृष्टिगत स्वतंत्रता रामानुजाचार्य की दृष्टि का ही विकास है। रामानंद केवल सगुण भक्ति के शिष्यों को ही दीक्षित नहीं करते बल्कि निर्गुण भक्तों को भी शिष्यों के रूप में स्वीकारते हैं। इनके शिष्यों में कुरूतारक (कूरेशाचार्य) प्रसिद्ध हुए हैं। इसके अलावा नाभादास लिखते हैं –

'गोपुर ह्वै आरूढ ऊँच स्वर मंत्र उचार्यो।

सूते नर परे जागि बहत्तरि श्रवननि धार्यो।।

तितनेई गुरुदेव पधति भइँ न्यारी न्यारी।'

उपर्युक्त पद लोक–स्मृति में रामानुजाचार्य से संबंधित प्रसंग का उल्लेख करता है। नाभादास कहते हैं कि मन्दिर द्वार के ऊपर चढ़कर उन्होंने मंत्र का ऊँचे स्वर में उच्चारण किया जिसे बहत्तर भक्तों ने सुनकर हृदय में धारण किया। दरअसल ऐतिहासिक घटना इसी क्रम में घटित नहीं होगी। परन्तु इस वर्णन में 'बहत्तर' शब्द की ऐतिहासिकता जरूर रही होगी। संभव है कि रामानुजाचार्य के बहत्तर शिष्य हुए जिन्हें प्रतीकात्मक रूप में इस कथा के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। अग्रिम पंक्ति में नाभादास लिखते हैं – 'तितनेई गुरुदेव पधति भइँ न्यारी न्यारी।' यदि इस पंक्ति का अर्थ पूर्वापर क्रम में लिया जाए तो बहत्तर शिष्यों से बहत्तर पद्धतियों के विकास होने का अर्थ लिया जा सकता है। लेकिन यह तो स्पष्ट है कि विभिन्न दृष्टियों के अनुरूप अनेक पद्धतियों का विकास श्रीसंप्रदाय में हुआ था। अतः इस प्रसंग के माध्यम से वार्ता–साहित्य की विशिष्ट लेखन–रीति को निर्दिष्ट किया जाना चाहिए। भक्तमाल इसी प्रकार का प्रसंगात्मक इतिहास–लेखन है, जहाँ ऐतिहासिकता प्रसंगों के अंदर छिपी होती है तथा प्रसंग साहित्यिक रूपांतरण लेते हुए वस्तुनिष्ठता की सीमा से बाहर हो जाते हैं। यह प्रसंग कथा की इतिवृत्तात्मकता को अपने में बसाये रहते हैं। इसीलिए कथा–वाचक के लिए पद्यों की व्याख्या कहीं अधिक सरल हो जाती है। यही 'भक्तमाल' में मौजूद इतिहास का साहित्यिक रूप है, जो कि समकालीन इतिहास–दर्शन से दूर ठहरता है।

ऐतिहासिक दृष्टि के साथ–साथ अपनी गुरु परंपरा के माध्यम से नाभादास 'श्रीसंप्रदाय' के इतिहास को भी प्रस्तुत करते हैं। आगे के पदों में चार महान संत – श्रुतिप्रज्ञ, श्रुतिदेव, श्रुतिधाम तथा श्रुतिउदधि – का उल्लेख हुआ है।[33] यह संत रामानुजाचार्य के गुरुभाई थे। (रामानुज गुरुबंधु बिदित जग मंगलकारी) नाभादास इन्हें शास्त्रज्ञाता–विद्वत के रूप में स्थान देते थे। इसके अलावा नाभादास क्रमशः भक्त लीलाचार्य तथा पादपद्म का उल्लेख स्वतंत्र पद में करते हैं। इनके संबंध में नाभादास बताते हैं कि यह रामानुजाचार्य के दामाद थे। (आचारज जामात की कथा सुनत हरि होइ रति) इनके चारित्रिक गुण को दिखाने के लिए नाभादास एक प्रसंग का भी उल्लेख करते हैं। दरअसल लीलाचार्य नदी में बहकर आए अज्ञात शव का संस्कार कर भोज का आयोजन करते हैं, जिसका जाति–धर्म के अंधभक्त लोग बहिष्कार करते हैं। परन्तु उस भोज में भगवान के पार्षद सम्मिलित होकर उसे पूर्ण करते हैं। इस प्रसंग में एक ओर जहाँ लालाचार्य के उत्कृष्ट व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। वहीं समानांतर में यह पद भक्ति के प्रताप को भी दिखाता है। यही भक्तमाल के पदों की द्वै–अर्थक निर्मिति है। एक ओर जहाँ वह क्षणिक होता है वहीं दूसरी ओर शाश्वतता को प्राप्त करता है। बहरहाल इसी क्रम में नाभादास पादपद्म का उल्लेख करते हैं, जो कि श्रीसंप्रदाय के अनुयायी थे। इनको लेकर भी लोक में प्रचलित प्रसंग का उल्लेख पद में हुआ है। इनका वर्णन नाभादास ने स्वतंत्र पद में किया है।

भक्तमाल के सभी पद एक ओर अपने मूल अर्थ में भक्ति–सापेक्ष–व्याख्या रखते हैं, जो कि उनके स्वरूप को शाश्वतता प्रदान करते हैं। तो दूसरी ओर भक्तों के ऐतिहासिक प्रसंग उनकी तत्कालीन (मध्यकालीन) व्याख्या करते हैं, जो कि उसे क्षणिकता प्रदान करते है। यह क्षणिकता ही आधुनिक इतिहास–दर्शन की आधारभूमि है।

बहरहाल श्रीसंप्रदाय की शिष्य–प्रशिष्य परंपरा अग्रदास तक जाती है, जो कि नाभादास के गुरु हैं। अग्रदास से पहले वह श्रीसंप्रदाय के सिद्धांत मतावलम्बी आचार्यों – देवाचार्य, हर्यानन्द, राघवाननद और रामानन्दाचार्य – का उल्लेख करते हैं। भक्तिकाल में रामानन्द युग–आचार्य के रूप में दिखाई देते है। कहने का अभिप्राय यह है कि वह भक्ति–चेतना को प्रभावित करते हैं। रामानन्द की मुक्त दृष्टि सगुण तथा निर्गुण दोनों धाराओं को पोषित करती है। उनकी यही स्वच्छंदता भक्तिकाल में प्रवाहित होती है। भक्तिकाल में रामानन्द के बारह शिष्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित करते हैं। यह बारह शिष्य – अनन्तानन्द, कबीरदास, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, पद्मावती, नरहरियानन्द, पीपा, भावानन्द, रैदास, धन्ना, सेन, सुरसुरी (सुरसुरानन्द की पत्नी) – हैं।[34] नाभादास इन बारह शिष्यों में से पद्मावती तथा भावानन्द

---

[33] श्रुतिप्रज्ञा श्रुतिदेव रिषभ पुहकर इभ ऐसे।
श्रुतिधामा श्रुति उदधि पराजित बाम जैसे।।
रामानुज गुरुबंधु बिदित जग मंगलकारी।
सिवसंहिता प्रनीत ग्यान सनकादिक सारी।।
इँदिरा पधति उदारधी सभा साखि सारँग कहैं।
चतुर महँत दिग्गज चतुर भक्ति दाबे रहैं।।32।।

[34] अनँतानंद कबीर सुखा (सुरसुरा) पद्मावति नरहरि।
पीपा भावानँद रैदास धना सेन सुरसुर की घरहरि।।

के अतिरिक्त सभी को स्वतंत्र पद में वर्णित करते हैं। अनन्तानन्द की परंपरा में नाभादास आते हैं। अतः उनका उल्लेख वह सबसे पहले करते हैं। ताकि वह अपनी गुरु–परंपरा का उल्लेख कर सके। अनन्तानन्द का वर्णन करते हुए वह उनके शिष्यों का भी उल्लेख करते हैं। इन शिष्यों में – योगानन्द, गयेश, कर्मचन्द, पयहारी, रामदास, श्रीरंग – प्रमुख हैं।[35] अनन्तानन्द के शिष्यों में कृष्णदास पयहारी भी हुए हैं।[36] रामानन्दी संप्रदाय में इनका विशेष सम्मान है। अग्रिम पद में नाभादास कृष्णदास तथा उनके शिष्यों का वर्णन करते हैं। इन शिष्यों में कील्हदेव, अग्रदेव, चरणदास, हठीनारायण, सूरजदास, टीला, गंगादेवी, विष्णुदास और श्रीरंगदास प्रमुख हैं।[37] इन शिष्यों में कील्हदेव तथा अग्रदास नाभादास के पालक थे। नाभादास ने अग्रदास से नाम–दीक्षा ली थी। अग्रदास तक गुरु–परंपरा का स्मरण करने के उपरांत वह रामानंद के अन्य शिष्यों का वर्णन पद क्रमांक 59 से 67 में करते हैं।

नाभादास चतुःसंप्रदायों से लेकर अग्रदास तक श्रीसंप्रदाय में हुए शिष्यों को प्रमुख रूप से उद्धृत करते हैं तथा उसके उपरांत शंकराचार्य का उल्लेख करते हैं। जबकि शंकराचार्य का समय रामानुजाचार्य से पूर्व ठहरता है। यहाँ भले ही समयानुक्रम का पालन नहीं हुआ है परन्तु श्रीसंप्रदाय में दीक्षित भक्त एवं आचार्यों का उल्लेख करते हुए उनके समय क्रम को अवश्य ध्यान में रखा गया है। रामानुजाचार्य की परंपरा उनकी गुरु परंपरा भी है। यह वर्णन गुरु–परंपरा का स्मरण करने के उद्देश्य से ही सबसे पहले किया गया है। इसीलिए वह शंकराचार्य को बाद में उद्धृत करते हैं। अतः यही वह ऐतिहासिक क्रम है जिसका निर्वाह नाभादास करते हैं। लेकिन यह क्रम इतिहास के काल को आधार नहीं बनाता। बल्कि भक्तमाल में यह क्रम गुरु–शिष्य परंपरा के निर्वाह के साथ निर्मित होता है। श्रीसंप्रदाय का उपर्युक्त क्रम भी गुरु–परंपरा–स्मरण की रीति के कारण बनता है। मध्यकालीन रचना में गुरु–परंपरा का स्मरण करना साहित्यिक–प्रवृत्ति भी है।

औरौ सिष्य प्रसिष्य एक ते एक उजागर।
बिस्वमँगल आधार सर्वानँद असधा आगर।।
बहुत काल बपु धारि कै प्रनत जनन कौं पार दियो।
(श्री) रामानँद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग तरन कियो।।36।।

[35] जेगानंद गयेस करमचँद अल्ह पैहारी।
(सारी) रामदास श्रीरंग अवधि गुन महिमा भारी।।
तिन के नरहरि उदित मुदित मेहा मंगलतन।
रघुबर जदुबर गाइ बिमल कीरति संच्यो धन।।
हरिभक्ति सिंधु बेला रचे पानि पद्मजा सिर दए।
अनँतानँद पद परसि कै लोकपाल से ते भए।।37।।

[36] जाके सिर कर धर्‌यो तासु कर तर नहिं अड्डयो।
आप्यो पद निर्बान सोक निर्भय करि अड्डयो।।
तेजपुंज बल भजन महामुनि ऊरधरेता।
सेवत चरन सरोज राय राना भुवि जेता।।
दाहिमा बंस दिनकर उदय संत कमल हिय सुख दियो।
निर्बेद अवधि कलि कृष्नदास अन परिहरि पय पान कियो।।38।।

[37] कील्ह अगर केवल्ल चरन ब्रत हठी नरायन।
सूरज पुरूषा पृथू तिपुर हरि भक्ति परायन।।
पद्मनाभ गोपाल टेक टीला गदाधारी।
देवा हेम कल्यान गंग गंगासम नारी।।
बिष्नुदास कन्हर रँगा चाँदन सबिरि गोबिंद पर।
पैहारी परसाद तें सिष्य सबै भए पार कर।।39।।

इतिहास की दृष्टि से 'भक्तमाल' में अनेक युग–पुरूषों का वर्णन हुआ है। शोध–लेखन की सीमा होने के कारण सभी पर सविस्तार विचार करना संभव नहीं। प्रस्तुत शोध का लक्ष्य वार्ता–साहित्य में मौजूद इतिहास के स्वरूप को समझना है। मध्यकालीन हिंदी में इतिहास किस प्रकार लिखा गया है? यह विचार का केन्द्र है। प्रश्न को समझे बिना वार्ताओं में मौजूद इतिहास का सटीक अर्थ लगा पाना कठिन है। अतः प्रस्तुत शोध मध्यकालीन हिंदी इतिहास–लेखन को प्रस्तुत करने के साथ–साथ उसके स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। इसीलिए वार्ता–साहित्य के प्रवृत्तिगत वैशिष्ट्य का संकेत करना ही इस शोध का मूल लक्ष्य है। बहरहाल युग–पुरूषों में शंकराचार्य का स्थान प्रमुख है। उनकी भूमिका वैदिक धर्म के पुनरूद्धार तथा भक्तिकाल की पूर्वपीठिका के नजरिये से महत्वपूर्ण है। नाभादास भी इसे वर्णित करते हैं। वह बताते हैं कि शंकराचार्य ने अनिश्वरवादी बौद्ध एवं जैनों को दंड देकर वेदशास्त्र की मर्यादाओं की स्थापना की। वह उन्हें कलियुग के धर्मपालक की उपाधि देते हैं। दरअसल मध्यकाल में यह शंकराचार्य को लेकर हिन्दू धर्म की सामान्य दृष्टि है, जो कि नाभादास के पद में अभिव्यक्त हुई है। युगपुरूषों को लेकर लोक–दृष्टि समय के प्रवाह में निर्मित होती है। भक्तमालकार उसी दृष्टि को 'भक्तमाल' में प्रस्तुत करता है। लोक–दृष्टि होने के कारण इसमें बदलाव भी रफ्तार भी कम होती है या कहा जाये तो ना के बराबर होती है। अतः भक्तमाल या कहा जाये तो वार्ता–साहित्य लोक–दृष्टि का इतिहास बनकर सामने आता है।

शंकराचार्य के संबंध में नाभादास की यह दृष्टि दरअसल युग–दृष्टि है, अर्थात् लोक–दृष्टि है। इसीलिए समकालीन इतिहास–चिंतन जिस तटस्थता की माँग करता है, वह भक्तमाल में नहीं मिलती। बल्कि लोक की कसौटी पर कसकर प्रचारित दृष्टि ही भक्तमाल में स्थान पाती है। यह वार्ता–साहित्य की प्रमुख विशेषता है, जो भारतीय इतिहास तथा समकालीन इतिहास को दो विपरीत छोरों पर खड़ा करती है।

विष्णुस्वामी भी चतुःसंप्रदायाचार्यों में प्रमुख हैं। नाभादास इनकी शिष्य–परंपरा में ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन तथा वल्लभाचार्य का उल्लेख करते हैं।[38] लेकिन आधुनिक शोधों के आधार पर ज्ञानदेव नाथ परंपरा में आते हैं। इनके गुरु निवृत्तिनाथ थे, जो कि निर्गुण भक्ति में विश्वास करते थे। अतः नाभादास द्वारा ज्ञानदेव तथा नामदेव को विष्णुस्वामी की शिष्य–परंपरा में कहना अनैतिहासिक हो जाता है। किसी एक भक्त पर लिखे गये छप्पय को देखें तो शुरूआती पंक्तियाँ भक्त से संबंधित दिखाई देती है तथा अंतिम पंक्ति में उनका उल्लेख किया गया है। अतः व्याख्या में अंतिम पंक्ति सबसे पहले परिचयात्मक उल्लेख के रूप में आती है तथा शेष पंक्तियाँ उसके उपरांत संत अथवा भक्त का वर्णन

---

[38] नाम तिलोचन सिष्य सूर ससि सदृस उजागर।
गिरा गंगा उनहारि काब्य रचना प्रेमाकर।।
आचारज हरिदास अतुल बल आनँद दायन।
तेहिं मारग बल्लभ्भ बिदित पृथु पधति परायन।।
नवधा प्रधान सेवा सुदृढ़ मन बच क्रम हरि चरन रति।
बिष्णुस्वामी सँप्रदाइ दृढ़ ग्यानदेव गंभीर मति।।48।।

करती हैं। इसी पद्धति को स्वीकारें तो क्रम ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन तथा वल्लभाचार्य का रहेगा, जो कि ऐतिहासिक कालक्रम के अनुरूप ही है। लेकिन इसे भक्तमाल की लेखन–प्रवृत्ति के रूप में स्थिर नहीं कर सकते। वहीं प्रथम पंक्ति में नामदेव तथा त्रिलोचन का उल्लेख शिष्य के रूप में हुआ है जो सूर्य और चन्द्र के समान है। पद्य को पड़ने की क्रमिक पद्धति से इनके गुरु का संकेत पंक्तियों से स्पष्ट नहीं होगा। यदि अंतिम पंक्ति को सबसे पहले तथा शेष छप्पय को बाद में पड़े तो 'नाम तिलोचन सिष्य सूर ससि सदृस उजागर' का अर्थ स्पष्ट होगा कि नामदेव तथा त्रिलोचन ज्ञानदेव के शिष्य थे। वहीं अग्रिम दो पंक्तियाँ भी ज्ञानदेव से संबंधित हो जाती हैं, जहाँ उनकी रचना का नामोल्लेख किये बिना ही रचना को भगवत्प्रेम की खान कहा है। अतः ज्ञानदेव ने किसी कृति की रचना की थी इसकी सूचना अवश्य यह छप्पय देता है। इसी मार्ग का अनुसरण वल्लभाचार्य ने किया। नाभादास लिखते हैं – 'तेहिं मारग बल्लभ्भ बिदित पृथु पधति परायन।' अर्थात् 'श्रीपृथुजी की अर्चन–पद्धति के अनुसार उपासना करने वाले परम प्रसिद्ध वल्लभाचार्य जी इसी संप्रदाय में हुए।' पृथु की कौन–सी पद्धति? यह जिज्ञासा भी इसी के साथ उत्पन्न होती है। इसे मात्र सूचना कहना ही संगत होगा जो कि शोध की आवश्यकता को महसूस करती है। नाभादास इन भक्तों में नामदेव (पद क्रमांक 43) का उल्लेख स्वतंत्र पद के अंतर्गत करते हैं।

'इतिहास' युगदृष्टि को केन्द्र में रखता है। इसीलिए वह व्यापक प्रभाव वाली घटनाओं एवं चरित्रों को महत्व देता है। जबकि भक्तमाल की दृष्टि सर्वसामान्य के लिए सुलभ तथा लोक–प्रशस्ति प्राप्त चरित्रों का वर्णन करती है। लोक भी युगीन प्रभाव को पहचानकर उन चरित्रों को स्मरण में संरक्षण देता है, जिन्होंने युग को प्रभावित किया। इन चरित्रों का प्रभाव अंचल विशेष तक सीमित भी हो सकता है और संभव है कि वह व्यापक क्षेत्र पर अपना प्रभाव छोड़ते हों। वार्ता–साहित्य ऐसे ही भक्त–चरित्रों का गान करता है। भक्तिकाल में यह भक्त एवं संत सम्मिलित रूप से व्यापक प्रभाव पैदा करते हैं। भक्ति–आन्दोलन किसी एक भक्त या संत के द्वारा प्रभाव उत्पन्न नहीं करता। अधिकतर भक्तों का प्रभाव अपने गाँव, संप्रदाय, समाज आदि पर ही होता है। उसे देशव्यापी रूप में चिंह्ति नहीं किया जा सकता। अतः यह भक्त लघु ईकाई है। ऐसे ही अनेक बिखरी लघुत्तम ईकाईयाँ भक्ति–आन्दोलन रूपी वृहत् ईकाई को खड़ा करती हैं।

मध्यकाल में कुछ ओर प्रमुख भक्त हुए हैं जिनका वर्णन नाभादास स्वतंत्र छप्पय में करते हैं। इनमें जयदेव (1200 ई. के आसपास), श्रीधरस्वामी (13वी शती), बिल्वमंगल (8वी शती), विष्णुपुरी (14वी शती का अंत और 15वीं शती का प्रारम्भ) प्रमुख हैं। इनका समय हिंदी साहित्येतिहास में भक्तिकाल के पूर्व या आरम्भ में ठहरता है। यह संत भक्तिकाल के उपजीव्य रचनाकार हैं। कहा जाये तो भक्तिकाल की धाराएँ इनके साहित्य–कर्म से दिशा प्राप्त करती हैं। जयदेव की प्रशस्ति उनकी कृति 'गीतगोविन्द' के कारण है। गीतगोविन्द में राधा–कृष्ण का श्रृंगारपूर्ण चित्रण किया गया है। (प्रचुर भयो तिहुँ लोक गीतगोबिंद उजागर।/कोक काब्य नव रस्स सरस सिंगार को सागर।।) नाभादास जयदेव के

ऐतिहासिक महत्व को पहचानते हुए उस महत्व को पद में अभिव्यक्त करते हैं। वह उनकी रचित 'अष्टपदी' का भी उल्लेख करते हैं। (अष्टपदी अभ्यास करैं तेहि बुद्धि बढ़ावैं।) जयदेव मूलतः कवि हैं और उनकी प्रशस्ति कवि के रूप में ही है। ऐतिहासिक तथ्यों की उपस्थिति नाभादास के पदों में उस प्रशस्ति को प्रमाणिकता प्रदान करती हैं। गीतगोविन्द और अष्टपदी वह रचनाएँ हैं जिनके आधार पर उनकी ऐतिहासिकता निर्धारित होती है। इसी प्रकार की ऐतिहासिकता का परिचय श्रीधर स्वामी के पद में भी मिलता है। श्रीधर स्वामी मूलतः टीकाकार के रूप में प्रशस्ति पाते हैं। इन्होंने 'परमहंससहिता' की प्रसिद्ध टीका 'भावार्थ–दीपिका' की रचना की थी। (परमहंस संहिता बिदित टीका बिस्तार्‌यो।) इन्होंने भागवत की भी व्याख्या की थी। नाभादास लिखते हैं –

तीनि कांड एकत्व सानि कोउ अग्य बखानत।

कर्मठ ग्यानी ऐंचि अर्थ कौ अनरथ बानत।।

विद्वानों का मानना था कि 'श्रीभागवत धर्म के रहस्यों को ठीक प्रकार से न जानने के कारण कुछ विद्वानों ने तीनों (कर्म, ज्ञान, उपासना) काण्डों को एक में मिश्रित करके श्रीमद्‌भागवत की व्याख्या की। कर्मकाण्डी और शुष्क ज्ञानी लोग खींचातानी एवं कठिन कलपनाएँ करके अर्थ का विपरीत अर्थ करते थे।' भक्तिकाल पर श्रीमद्‌भागवत का सीधा प्रभाव दिखाई देता है। श्रीधरस्वामी भागवत की भक्ति प्रधान व्याख्या प्रस्तुत कर शुष्क कर्मकाण्ड को दूर करते हैं। नाभादास श्रीधर के समय की धार्मिक स्थिति को भी रेखांकित करते हैं। इसी युगस्थिति के आलोक में श्रीधरस्वामी का कार्य प्रकाशित हो जाता है। दरअसल पद की उपर्युक्त पंक्तियाँ व्याख्या की माँग रखती हैं। यही माँग भक्तमाल की लोक–पूरकता अर्थात् लोक में कथावाचक द्वारा व्याख्या की आवश्यकता को जन्म देती है। इस वर्णन में श्रीधरस्वामी के संबंध में कहा गया है कि

षट सास्त्रनि अबिरुद्ध बेद संमतहि बिचार्‌यो।

नाभादास वेद–शास्त्र सम्मतता को महत्व देते हैं। इसीलिए उनके लिए श्रीधरस्वामी ओर ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाते हैं और वह उनकी इस विशेषता को प्रशस्ति रूप में कहते हैं। इसी प्रकार बिल्वमंगल का उल्लेख करते हुए नाभादास उन्हें करूण रसपूर्ण कवित्त का रचनाकार बताते हैं। इन्होंने 'श्रीकृष्णकर्णामृत' की रचना की थी। नाभादास ने इस कृति का उल्लेख नहीं किया है परन्तु प्रियादास की टीका में कृति का नामोल्लेख हुआ है।

अतः एक बात तो स्पष्ट है कि भक्तमाल वस्तुनिष्ठ ना होते हुए भी वस्तुनिष्ठता का निर्वाह करता है, परन्तु वह किसी स्थाई प्रवृत्ति का रूप नहीं लेता। जैसा कि उपर्युक्त भक्त–कवियों के संबंध में द्रष्टव्य है। इन भक्तों की लोकप्रियता इनका लेखन–कर्म है। दरअसल यही उनका वस्तुनिष्ठ सत्य भी है, जिसे नाभादास बखूबी वर्णित करते हैं।

मोक्ष प्राप्त करना भक्तिकाल का परम ध्येय माना गया। मोक्ष देने वाला ईश्वर था। अतः ईश्वर की भक्ति ही उस परब्रह्म तक पहुँचने का मार्ग तथा लक्ष्य दोनों बना तथा शेष जगत्, गुरु आदि उसका माध्यम। किसी ने भक्ति को साधन माना तो किसी ने साध्य। दोनों रूपों में भक्ति चिंतन तथा साहित्य दोनों के केन्द्र में स्थापित होती है। यही ध्येय नाभादास को रचना के लिए भी प्रेरित करता है। अतः भक्तों के वर्णन में उन्हें भक्ति को ही स्थापित करने, जीव को जगत् के प्रपंचों से बचाने वाला, जीव को गति प्रदान करने वाला आदि रूपों में दिखाई देता है। श्रीभट्ट[39] के वर्णन में भी उन्हें अज्ञानरूपी अंधकार को नष्ट करने वाला बताया गया है। भक्ति का विषय धर्म तथा दर्शन दोनों के साथ गहन रूप से संश्लिष्ट है। एक कारण यह भी है कि वार्ता–साहित्य को इतिहास–ग्रन्थ के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। वर्तमान ऐतिहासिक ग्रन्थ वस्तुनिष्ठता के साथ–साथ लेखन में भी वस्तुनिष्ठ प्रवृत्ति का आश्रय ग्रहण करते हैं। जबकि वार्ता–साहित्य में धर्म तथा दर्शन की शैली इसे कथा प्रधानता के साथ–साथ दार्शनिक तथा गूढ़ बनाने का कार्य करती है। श्रीधर व्यास के छप्पय में 'हरत अति तम भ्रम श्रम चित' इसी प्रवृत्ति को इंगित करता है।

मध्यकाल की एक सामान्य प्रवृत्ति लोकोन्मुखता है। लोक ही भक्तिकाल का केन्द्र है। अतः लोक तथा शास्त्र के बीच की खाई को कम करना ही संतों तथा भक्तों ने अपना कर्तव्य समझा। यही कारण है कि काव्य एवं मुक्तकों आदि के गान की परंपरा पुष्ट हुई। यह परंपरा पूर्व में भी विद्यमान रही है। परन्तु इसका आश्रय लोक ही रहता आया है। यही प्रवृत्ति भक्तमाल के निर्माण में आंतरिक रूप से गतिमान होती है। इसी कारण छप्पयों में प्रसंगों का संकेत भर ही मिलता है। गान की यह प्रवृत्ति उपर्युक्त छप्पय में भी दिखाई देती है। जब नाभादास विष्णुपुरी का परिचय 'भक्तिरत्नावली' के तेरह अध्यायों को गाने से कराते हैं। वह लिखते हैं – 'कोटि ग्रंथ को अर्थ तेरह बिरचन में गायो।' 'सत्संग' इसी लोकोन्मुख होने की प्रक्रिया का एक पक्ष है। कहा जाये तो मौखिकता के तत्वों में सत्संग भी एक व्यवस्था है, जो मध्यकाल में धर्म तथा लोक के बीच के संबंधों को मजबूत करने के उद्देश्य से प्रेरित रहा है।

भक्तमाल तथा वार्ता–साहित्य में बहुत–से ऐसे भक्तों का वर्णन हुआ है, जिनकी कोई पहचान नहीं, अर्थात् उनका कोई नाम नहीं है। उन्हें स्वतंत्र भक्त के रूप में चित्रित किया गया है। उनकी ऐतिहासिकता का निर्धारण असंभव है। 55 से 58 तक के पद में वर्णित भक्त–चरित्र ऐसे ही हैं। इनमें क्रमशः 'ब्राह्मण दम्पती का भगवद्विश्वास'[40], 'वेषनिष्ठ एक राजा'[41], 'अन्तर्निष्ठ नरपाल'[42] तथा 'गुरुनिष्ठ

---

[39] मधुर भाव संमिलित ललित लीला सुबलित छबि।
निरखत हरषत हृदै–प्रेम बरषत सुकलित कबि।।
भव निस्तारन हेतु देत दृढ़ भक्ति सबनि नित।
जासु सुजस ससि उदै हरत अति तम भ्रम श्रम चित।।
आनंद कंद श्रीनंदसुत श्रीबृषभानुसुता भजन।
श्रीभट्ट सुभट प्रगट्यो अघट रस रसिकन मन मोद घन।।76।।

[40] बीच दिए रघुनाथ भक्त सँग ठगिया लागे।
निर्जन बन में जाय दुष्ट कर्म कियो अभागे।।

शिष्य'[43] का वर्णन किया गया है। दरअसल इन भक्तों के संबंध में कोई–न–कोई घटना लोक–प्रशस्ति पाती है, जो कि भक्ति के महत्व को स्थापित करने में सक्षम है। 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' में भी ऐसी अनेक वार्ताएँ मिलती हैं। उदाहरण के लिए 'वेषनिष्ठ एक राजा' का पद द्रष्टव्य है। नाभादास पद की सीमा को ध्यान में रखकर एक ओर राजा के व्यक्तित्व को सीधे चित्रित करते हैं। दूसरी ओर वह प्रसंग के माध्यम से उनकी भक्ति का परिचय देते हैं। राजा के व्यक्तित्व को चित्रित करते हुए नाभादास लिखते हैं कि 'वह ऐसा वेषनिष्ठ था कि जो कोई भी तिलक और कण्ठी धारण करता, उसे वह गुरुदेव और भगवान के समान मानता था। कोई कैसा भी षट् दर्शन का ज्ञाता क्यों न हो, पर राजा उसे वैष्णव–भक्त से छोटा ही मानता था।' (तिलक दाम धरि कोइ ताहि गुरु गोबिंद जानै।/षटदरसनी अभाव सर्बथा घट करि मानै।।) इनका वैष्णवों के प्रति सेवाभाव इतना अधिक था कि एक बार भाँड़ द्वारा भक्त–वेश धारण करके इनके समक्ष जाने पर भी वह उसकी भक्तों के समान सेवा करते हैं। इनकी भक्ति से प्रभावित होकर वह भाँड़ वैष्णव–भक्ति में स्वयं को तल्लीन करता है।

अतः उपर्युक्त राजा कौन है? उसका क्या नाम है? उसका शासन अथवा उसका स्थान आदि का कोई परिचय नाभादास नहीं देते। संभवतः लोक की मौखिक परंपरा में यह ओझल हो गया है। ऐसे अनेक भक्त हैं जिनके संबंध में अभी कोई जानकारी ज्ञात नहीं। लेकिन उनके प्रसंग लोक में प्रशस्ति पाते हैं। नाभादास उन्हीं असंख्य भक्तों में से कुछ भक्तों को भक्तमाल में स्थान देते हैं। अतः इन भक्तों को ऐतिहासिक–चरित्र के रूप में न देखकर भक्ति के व्यावहारिक–पक्ष के रूप में देखना चाहिए। ऐतिहासिक चरित्रों का वर्णन भक्तों के रूप में करने के अतिरिक्त कुछेक वर्णन ऐसे भी प्राप्त होते हैं जिनकी ऐतिहासिकता का निर्णय करना असम्भव है। लोक की प्रवृत्तिगत विशेषता इन वर्णनों में देखी जा सकती है। इन अनैतिहासिक चरित्रों के प्रसंग लोक में प्रशस्ति तो पाते हैं परन्तु इनके नाम, स्थान, कार्य आदि का परिचय लोक में नहीं फैलता। इन भक्तों का उल्लेख भी नाभादास ने बीच–बीच में किया

बीच दियो सो कहाँ राम कहि नारि पुकारी।
आए सारँगपति सोक सागर ते तारी।।
दुष्ट किए निर्जीव सब दास प्रान संग्या धरी।
और जुगन तें कमलनैन कलिजुग बहुत कृपा करी।। 55।।

[41] तिलक दाम धरि कोइ ताहि गुरु गोबिंद जानै।
षटदरसनी अभाव सर्बथा घट करि मानै।।
भाँड़ भक्त को भेष हाँसि हित भँड़ कुट ल्याए।
नरपति कै दृढ़ नेम ताहि ये पाँव धुवाए।।
भाँड़ भेष गाढ़ो गह्यो दरस परस उपजी भगति।
एक भूप भागौत की कथा सुनत हरि होय रति।। 56।।

[42] हरि सुमिरन हरि ध्यान आन काहू न जनावै।
अलग न इहि बिधि रहै अंगना मरम न पावै।।
निद्रा बस सों भूप बदन तें नाम उचार्यो।
रानी पति पर रीझि बहुत बसु तापर वार्यो।।
रिषिराज सोचि कह्यो नारि सों आज भक्ति मेरी कजी।
अंतरनिष्ठ नृपाल इक परम धरम नाहिन धुजी।। 57।।

[43] अनुचर आग्या माँगि कह्यो कारज कों जैहौं।
आचारज इक बात तोहि आए तैं कहिहौं।।
स्वामी रह्यो समाय दास दरसन कों आयो।
गुरु की गिरा बिस्वास फेरि सब घर मैं ल्यायो।।
सिषपन साँचो करन कों (बिभु) सबै सुनत सोई कह्यो।
गुरु गदित बचन सिष सत्य अति दृढ़ प्रतीति गाढ़ो गह्यो।।58।।

है। प्रियादास अवश्य इनके नाम आदि सहित वर्णन करते है। परन्तु छप्पय की शैली अन्य छप्पयों से अलग ही दिखाई देती है। इन छप्पयों में वस्तुनिष्ठ सूचनाओं का संकेत न होकर मात्र प्रसंगोल्लेख किया गया है। अतः ऐसे छप्पयों का विश्लेषण अलग से करना ही संगत होगा।

नाभादास की दृष्टि हिन्दू–धर्म की आधारभूमि पर निर्मित होती है। वह वेद–सम्मत धाराओं को महत्ता देते हैं। इसीलिए सगुण–निर्गुण दोनों धाराओं को भक्तमाल में स्थान देते हैं। परन्तु वहीं वेद को अस्वीकार करने वाले अवैदिक धर्म एवं संप्रदायों को महत्ता नहीं देते। यदि देखा जाये तो वेद–सम्मत सगुण–निर्गुण धारा में भी वह सगुण–धारा के भक्तों का वर्णन अधिक करते हैं। सगुणधारा में भी वह राम तथा कृष्ण भक्तों का उल्लेख करते हैं। यदि कहीं निर्गुण भक्त दिखाई भी देते हैं तो वह भी सगुणधारा के संपर्क में होने के कारण। उदाहरण के लिए कबीर आदि रामानंद के प्रमुख शिष्यों में होने के कारण भक्तमाल में स्थान पाते हैं। अतः रामभक्तों के अतिरिक्त कृष्णभक्तों की बड़ी संख्या भक्तमाल में दिखाई देती हैं। मध्यकाल में मौजूद लगभग सभी कृष्णभक्ति–संप्रदायों के प्रवर्तकों का वर्णन नाभादास ने किया है। श्रीनित्यानन्द एवं श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु (वार्ता 72); सूरदास (वार्ता 73); परमानन्ददास (वार्ता 74); हरिव्यासदेव (वार्ता 77); गोस्वामी विट्ठलनाथ (वार्ता 79); कृष्णदास (वार्ता 81); रूप सनातन (वार्ता 89); हितहरिवंश गोस्वामी (वार्ता 90); स्वामी हरिदास (वार्ता 91); हरिरामव्यास (वार्ता 92); जीवगोस्वामी (वार्ता 93); आदि कृष्णभक्त के रूप में लोक–विख्यात हैं। नाभादास इनका वर्णन स्वतंत्र पद के अंतर्गत करते हैं। इन भक्तों का वर्णनक्रम किसी संप्रदाय का आधार लेकर निर्मित नहीं हुआ है। ना ही समय–विशेष के आधार पर उनका क्रम निश्चित किया जा सकता है। अतः नाभादास किसी क्रम को निर्धारित करने से इतर भक्त–वर्णन को ही अपना उद्देश्य बनाते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि नाभादास भक्त–वर्णन को ही अपना उद्देश्य बनाते हैं। इसीलिए वह किसी धूरि पर क्रमिक वर्णन नहीं करते। लेकिन इन भक्तों की खोजबीन से स्पष्ट होता है कि प्रसिद्ध संप्रदायों के भक्तों को भक्तमाल में वर्णित किया गया है। यह संप्रदाय भक्तों को जोड़े रखने में अहम भूमिका अदा करते हैं। इसीलिए नाभादास कृत 'भक्तमाल' में मध्यकालीन संप्रदायों की धूरी पर भक्तों का वर्णन हुआ मिलता है। इन संप्रदायों में पुष्टि संप्रदाय, सखी संप्रदाय, राधावल्लभ संप्रदाय, चैतन्य–संप्रदाय, रामानंदी संप्रदाय आदि प्रमुख हैं। इन संप्रदायों के भक्तों को नाभादास 'भक्तमाल' में स्थान देते हैं। इनके अतिरिक्त संप्रदाय–निरपेक्ष भक्तों का उल्लेख आनुपातिक रूप से कम ही है।

ऐतिहासिक चरित्रों में नाभादास रैदास का भी वर्णन करते हैं।[44] चरित्र–चित्रण भक्तमाल की विशेषता है। चारित्रिक वैशिष्ट्य को सूचित करने वाले शब्दों का प्रयोग इसी प्रवृत्ति को चिंह्ति करता

---

[44] सदाचाय श्रुति सास्त्र बचन अबिरुद्ध उचारयो।
नीर खीर बिबरन्न परम हंसनि उर धारयो।।
भगवत कृपा प्रसाद परम हंसनि उर धारयो।
श्राजसिंहासन बैठि ग्याति परतीति दिखाई।।
बरनाश्रम अभिमान तजि पद रज बंदहिं जासु की।

है। रैदास की वाणी संदेह की ग्रंथि के खंडन में निपुण थी। अतः स्पष्ट है कि इन्होंने पदों की रचना कर लोक में भक्ति की ओर दृढ़ता बढ़ाई। इनका सदाचार श्रुति अर्थात् वेद–शास्त्रों के अनुकूल था तथा इसी को उन्होंने बिना किसी विरोध के भी वर्णित किया। दूध और पानी को भिन्न करने वाले परमहंसों के स्वभाव को अपनाकार इन्होंने सत्–असत् के बीच के अंतर दिखाया। रैदास ने भगवान की कृपा, प्रसाद और परमगति इसी मर्त्य शरीर से प्राप्त की। वर्णाश्रम अभिमान को छोड़कर महान् पुरूषों ने इनकी चरण–धूलि की वन्दना की। यह निम्न जाति के थे। लोक में जाति–भेद की दृष्टि होते हुए भी इन्हें लोक–प्रशस्ति प्राप्त होती है। यह रामानन्द के शिष्य थे। रामानंद की दृष्टि वर्णगत तथा जातिगत भेदभाव को नहीं स्वीकारती।

छप्पय को देखें तो रैदास लोक के प्रति कार्यभावना के साथ दिखते हैं। संदेह ग्रन्थि का खंडन किया, नीर–क्षीर विवरण प्रस्तुत किया आदि इसी ओर इंगित करता है। वहीं मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक लोक–कल्याण ही भारत का सांस्कृतिक चरित्र रहा है। महाभारत में इतिहास की परिभाषा भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की उपदेशात्मक शैली में शिक्षा देने के उद्देश्य से संवलित है। लोकमंगल का भाव मध्यकाल की दृष्टि भी है। नाभादास का चयन भी इससे प्रभावित है। इसका संकेत रैदास के वर्णन में दिखाई देता है। इससे पूर्व भी इस तरह की दृष्टि दिखाई देती है, जहाँ भक्त का उल्लेख लोक–कल्याणकारी के रूप में हुआ है। अतः इसे ही तत्कालीन चयन की दृष्टि के रूप में देखें तो यह गलत नहीं होगा। यह चयन केवल नाभादास की दृष्टि हो ऐसा भी नहीं है। यह लोक की दृष्टि है तथा लोक इसी आधार पर भक्तों एवं संतों को स्वीकार–अस्वीकार करता है। राम की स्वीकृति मध्यकाल में विस्तृत रूप से हुई है, जो कि वर्तमान समय तक गाँव–गाँव में दिखाई देती है। उसका कारण उनका लोकमंगलकर्त्ता के रूप में होना है।

अतीत के प्रति गौरवान्वित होने की दृष्टि मध्यकाल में भी दिखाई देती है। इसलिए भी इन आचार्यों तथा उनकी परंपराओं का नाम–स्मरण करना नाभादास अपना कर्तव्य मानते हैं, भले ही वह उनका वर्णन न कर पाये। इसीलिए बहुत–से पदों में केवल नामों का ही उल्लेख किया गया है। इन नामों के स्मरण के साथ–साथ भक्ति की व्यावहारिक दृष्टि प्रस्तुत करना भी नाभादास का उद्देश्य रहा है। उदाहरण के लिए पद–क्रमांक 49 से 54 तक के पद द्रष्टव्य है। इनके विषय क्रमशः – 'कलियुग के प्रेम की प्रधानता प्रकट करने वाले भक्त', 'भक्ति से भगवान को वश में करने वाली भक्तिन', 'सन्तवेश का आदर करने वाले भक्त', 'भगवान द्वारा भक्तों की वाणी को सत्य करना', 'भगवान का भक्तप्रेम', 'भक्त के वश भगवान' – हैं। यह पद लोक द्वारा भक्ति का अर्थ ग्रहण करने के उद्देश्य से लिखे गये हैं। लोक इन भक्तों के जीवन को देखकर महसूस करता है कि यह सभी उसकी पहुँच में है। उसे यह एहसास होता है कि जिस प्रकार इन भक्तों ने भक्ति के माध्यम से भगवान को प्राप्त किया उसी प्रकार वह उस ईश्वर से मिल सकता है। यही नहीं स्वयं भगवान भी भक्ति के कारण भक्त के सहायक हो

संदेह ग्रंथि खंडन निपुन बानि बिमल रैदास की।।59।।

जाते हैं। (भगवान द्वारा भक्तों की वाणी को सत्य करना) कई बार तो वह भक्त के वश में हो जाते हैं और यह भक्ति के माध्यम से ही संभव है। (भक्ति से भगवान को वश में करने वाली भक्तिन; भगवान का भक्त प्रेम; भक्त के वश भगवान) अतः इन पदों का उद्देश्य भक्त–वर्णन से अधिक भक्ति का प्रचार–प्रसार ही अधिक प्रतीत होता है।

ऐसे पद जिनमें एक विषय केन्द्र में रखकर भक्त–नामों को उद्धृत किया जाता है, इसे वार्ता–रूप भक्तमाल की विशेषता के रूप में भी चिंह्ति किया जा सकता है। इस प्रकार के पद सम्पूर्ण भक्तमाल में थोड़े–थोड़े अंतर पर दिखाई देते हैं। पिछले अनुच्छेद में ऐसे ही पदों के एक समूह पर चर्चा की गई है। ऐसे ही पदों का एक समूह पद–क्रमांक 96 से लेकर 106 तक में मिलता है। इनके पद–विषय क्रमशः – 'भवसागर से पार कराने वाले भगवद्भक्त'; 'सच्चे संत'; 'परोपकारी भक्त'; 'अभिलाषा पूर्ण करने वाले भक्त'; 'भक्तों के पालक महन्त'; 'भगवद्भजनपरायण सन्त'; 'भक्त कविगण'; 'श्रीमथुरामण्डल के भक्त'; 'कलियुग की भक्त नारियाँ'; 'श्रीहरि के सम्मत भक्त'; 'सन्तसेवा को भगवत्सेवा से बढ़कर मानने वाले भक्त' – हैं। इन विषयों में भी एक प्रकार से भक्ति के प्रति रूझान पैदा करने का उद्देश्य निहित दिखता है। बहरहाल इन विषय–केन्द्रीत पदों का उद्देश्य बहुमुखीय है। एक तरफ भक्ति के दर्शन को स्थापित करते चलना तथा दूसरी ओर अधिक–से–अधिक भक्तों का स्मरण करने की लालसा। इन पदों का तीसरा कारण यह भी है कि भक्त–वर्णन करते हुए कथ्य की मूल दार्शनिकता (भक्ति की) लुप्त ना हो जाये इसीलिए भी इस प्रकार के विषय–केन्द्रीय पदों की रचना नाभादास करते हैं। लेकिन इतिहास की दृष्टि से इन पदों से भक्तों के नाम के अतिरिक्त कोई जानकारी नहीं मिलती। बल्कि प्रियादास भी कुछ भक्तों का विस्तारपूर्वक वर्णन कर आगे बढ़ जाते हैं। इसीलिए इन भक्तों को केवल नाम–स्मरण के सीमित उद्देश्य के रूप में देखना चाहिए।

सरल शब्दों में कहा जाये तो संश्लेषात्मक रूप में नाभादास भक्ति की अवधारणा को भी भक्त–चरित्रों के माध्यम से स्थापित कर रहे हैं। अतः भक्ति के विविध स्वरूप पर भी दृष्टि डाली जाये तो मध्यकालीन भक्ति के विविध रूपों का अध्ययन भक्तमाल के माध्यम से संभव है। वह चरित्र जिनका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है, जिनके संदर्भ में नाभादास ने नामोल्लेख किए बिना प्रसंगों का वर्णन किया है। साथ ही वह भक्त भी जिनका नाम उनके प्रसंगों से प्रेरित है जैसे 'पादपद्म'। इस नाम के पीछे एक प्रसंग है जिसके अनुरूप यह नाम अर्थ ग्रहण करता है। ऐसे छप्पयों को भक्ति के विविध स्वरूपों तथा उसकी विस्तृत सीमा के मूल्यांकन की दृष्टि से ही अध्ययन किया जाना चाहिए।

दूसरी ओर इन भक्तों के प्रसंग 'लोक' की मौखिक परंपरा का परिणाम है। कथावाचन की परंपरा इन भक्तों को लोक में जीवित रखते हैं। नाभादास इन्हीं परंपराओं को साहित्यिक–रूप प्रदान करते हैं। अतः वह पद जिनमें केवल नामों का ही स्मरण किया गया है वह भी लोक–परंपरा का ही रूप है। भक्तमाल मौखिक परंपरा में निसृत होकर मौखिकता में ही विस्तार पाती है। अर्थात् भक्तमाल की

रचना कथावाचन के उद्देश्य से रची गई है। भक्तमाल–वाचक पद संकेतों के माध्यम से भक्तों की उपदेशात्मक व्याख्या करता है। देखा जाये तो भारत में कथा–कहने की सामाजिक–परंपरा रही है। 'व्यास' शब्द ऐसे ही वक्ताओं के लिए प्रयुक्त होता है जो साहित्य का लोक के समक्ष मौखिक वर्णन करते हैं। भक्तमाल भी उसी परंपरा का अंग है। इसीलिए भक्तमाल की पूर्णता वक्ता के साथ ही आती है। वक्ता वह स्रोत है जो लोक में प्रचलित भक्त–प्रसंगों को जानता है और पद संकेतों से जोड़कर उसकी कथा कहता है। इसीलिए इस प्रकार के पद–समूह वक्ता के लिए भक्ति पर चर्चा करने के अवसर भी प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए 'परोपकारी भक्त'; 'सच्चे संत'; 'भगवद्भजन परायण भक्त'; 'सन्तसेवा को भगवत्सेवा से बढ़कर मानने वाले भक्त' आदि। यह सभी पद भक्तों के गुणों को विश्लेषित कर कुछ सामान्यकृत बिन्दुओं अथवा गुणों को प्रस्तुत करते हैं, जो कि भक्त के गुण माने गये हैं।

अतः विषय–केन्द्रित पद मूलतः विषय–प्रवर्तक अधिक हैं। इसीलिए कई बार भक्तमाल को इतिहास से अधिक भक्ति–विषयक–ग्रन्थ कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। यही भारतीय इतिहास–दर्शन की संश्लिष्टता है। पुराणों में उद्धृत चरित आदि एक ओर ऐतिहासिकता का निर्वाह करते हैं दूसरी ओर उनमें विषयगत–वैशिष्ट्य का भी निर्वाह है। यह विषयगत–वैशिष्ट्य उन्हें समय के बंधन से मुक्त करता है। भक्तमाल में उद्धृत भक्त एवं संत इसी कारण सर्वकालिक नजर आते हैं। यही भक्तमाल तथा वार्ता–साहित्य का अखण्डात्मक स्वरूप है जो क्षणिक होते हुए भी शाश्वत है।

भक्तमाल को इतिहास–लेखन के रूप में अस्वीकार करने के विभिन्न आक्षेप है। इतिहास में तथ्यों के संकलन के साथ–साथ उसकी प्रामाणिकता का प्रश्न महत्वपूर्ण है। यही प्रश्न वार्ता–साहित्य के संदर्भ में भी खड़े होते हैं। प्रामाणिकता के संदर्भ में इतिहासकार भक्तमाल के इतिहास–लेखन पर आक्षेप करते हैं। भक्तमाल को लेकर यह सामान्य दृष्टि है कि छप्पयों में मौजूद ऐतिहासिक सूचनाएँ तथा उसकी साहित्यिक शैली यथार्थ एवं कल्पना के बीच भ्रामक स्थितियाँ पैदा करती हैं। अतः आवश्यकता इन बिखरे तथ्यों की प्रमाणिकता का संधान है। भक्तमाल इन सूचनाओं का प्रमाणिकरण एक–दूसरे की पूरकता में भी निश्चित करता है। रामानंद के शिष्यों में सुरसुरी और सुरसुरानंद भी सम्मिलित हैं। अतः नाभादास इनका ऐतिहासिक तथ्यों से पूर्ण वर्णन नहीं करते, बल्कि इनसे संबंधित प्रसंगों का ही उल्लेख करते हैं। छप्पय में सुरसुरी[45] को सुरसुरानंद की पत्नी के रूप में परिचित कराया गया है। परन्तु उनकी ऐतिहासिकता को प्रमाणित करते तथ्य वहाँ अनुपस्थित रहे हैं। लेकिन सुरसुरानंद से इनका दाम्पत्य जीवन का होना तथा रामानंद की शिष्या के रूप में इनकी प्रशस्ति इन्हें स्वतः प्रमाणिकता प्रदान कर देती है, तब सुरसुरी कोई काल्पनिक चरित्र नहीं रहती।

---

[45] अति उदार दंपती त्यागि गृह बन को गवने।
अचरज भयो तहँऐ संत सुन जिन हो बिमने।।
बैठे हुते एकांत आय असुरनि दुख दीयो।
सुमिरे साराँगपानि रूप नरहरि को कीयो।।
सुरसुरानंद की घरनि को सत राख्यो नरसिंह जह्यो।
महासती सत ऊपमा (त्यों) सत्त सुरसुरी को रह्यो।।66।।

भक्तमाल मुक्तक रचना है, जिनमें भक्तों के जीवन–चरित्र को उद्धृत किया गया है। अतः इनमें भक्त–वर्णन की पद्धति को समझना भी आवश्यक हो जाता है। इन पदों की मूल चेतना 'भक्ति' है – यह स्पष्ट ही है। इसीलिए भक्तों के भक्ति–अनुकूल गुणों को चित्रित करने का प्रयास नाभादास ने किया है। मध्यकालीन आचार्यों एवं संतों की दृष्टि में भक्ति केवल भगवद्–भाव उपजाने का परिणाम नहीं है, बल्कि इसके लिए भक्त में चारित्रिक वैशिष्ट्य होना जरूरी है। इसीलिए जब भी पदों में भक्त–वर्णन दिखाई पड़ता है, तब भक्तमालकार मूल्यांकनपरक कथन कहता है। यह कथन देखा जाये तो निष्कर्षात्मक है। अर्थात् रचनाकार ने भक्त के गुणों को पहचान कर उन्हें रेखांकित किया है। लाखाजी (वार्ता 107) का वर्णन करते हुए नाभादास लिखते हैं –

राम नाम बिस्वास भक्त पद रज ब्रतधारी।।

इसी प्रकार भक्त यशोधर का वर्णन करते हुए नाभादास कहते हैं –

सेवत हरि हरिदास द्रवत मुख राम रसायन।।

भक्त नंददास के संबंध में वह कहते हैं –

लीलापद रस रीति ग्रंथ रचना में नागर।

सरस उक्ति जुत जुक्ति भक्ति रस गान उजागर।।

उपर्युक्त पदांशों से भक्त के गुणों को रेखांकित करती उक्तियों का आभास सहज ही हो जाता है। अतः भक्त–वर्णन में इस प्रकार की उक्तियाँ सहज ही दिखाई दे जाती हैं। यही भक्तमाल की सामान्य प्रवृत्ति है। अतः इन उक्तियों में नाभादास तृतीय पुरूष के रूप में मौजूद हैं। लेकिन यह तृतीय पुरूष 'इतिहासकार' की भूमिका में नहीं है। अर्थात् नाभादास इन भक्तों का कोई आलोचनात्मक वर्णन नहीं कर रहे। बल्कि वह इन भक्तों के गुणों को बताते हुए उनको लोक–सापेक्षता में मूल्यांकित करते हैं। कहा जाये तो यह मूल्यांकन भी नहीं है बल्कि आदर्श की स्थापना का प्रयास है। ताकि लोक इन आदर्शों का अनुकरण कर सके।

भक्तों के गुणों का उल्लेख करने के अतिरिक्त उनके प्रसंगों को भी चित्रित करना भक्तमाल की प्रवृत्ति है। यह प्रसंग भक्त के गुणों को परिभाषित करने के निमित्त आते हैं। छप्पयों की अंतिम पंक्ति में नाभादास सम्पूर्ण पद का निष्कर्ष सौंपने की कोशिश करते हैं। भक्त राजा रामरयन के संबंध में नाभादास लिखते हैं –

और भूप कोउ छ्वै सकै दृष्टि जाय नाहिन धरी।

कलिजुग भक्ति कररी कमान रामरैन कैं रिजु करी।।119।।

अर्थात् 'आपने जैसी भक्ति का आचरण किया, दूसरे राजा लोग उसे मन में ला भी नहीं सकते, आचरण करना तो बहुत दूर रहा। इस ओर दृष्टि करके वे लोग देख भी नहीं सकते। इस कलियुग में भक्ति का और धर्म का पालन बहुत कठिन है, परंतु श्रीरामरयनजी ने इस कठिन कार्य को बड़ी सरलता के साथ सम्पन्न किया।' उपर्युक्त पंक्ति को देखने से ही उसके निष्कर्षात्मक रूप का परिचय मिल जाता है। जबकि इस निष्कर्ष तक पहुँचने की प्रक्रिया ऊपर के चार पंक्तियों में दिखाई देती है। नाभादास लिखते हैं –

अजर धर्म आचर्यो लोक हित मनो नीलकँठ।

निंदक जग अनिराय कहा (महिमा) जानैगो भूसठ।।

बिदित गँधर्बी ब्याह कियो दुसवंत प्रमानै।

भरत पुत्र भागवत स्वमुख सुकदेव बखानै।।

इनमें जो कहा गया है वह सभी विशेषताएँ अंतिम दो पंक्तियों के निष्कर्ष की ओर ही संकेत करती हैं। बहरहाल यह भक्तमाल की रचनाप्रक्रिया है, जिसमें आरम्भ में भक्त के गुणों और प्रसंगों पर चर्चा की जाती है और अंत में उनके गुणों पर निष्कर्षात्मक कथन प्रस्तुत किया जाता है। यह मौखिक प्रवृत्ति के अनुरूप भी है। पहले प्रसंगों को कथा के रूप में कहना और फिर उसका शिक्षाप्रद निचोड़ लोक के समक्ष प्रस्तुत करना। ऐसे ही गुणों को पुष्ट करते हुए प्रसंगों के साथ भी है। प्रसंग के साथ गुणों की व्याख्या करने की रीति मौखिक परंपरा की ही देन है।

वार्ता–साहित्य प्रमुखतः साहित्य कोटि में स्वीकार की जाती है। इन्हें इतिहास नहीं माना जाता (वर्तमान दृष्टि के अनुसार)। इतिहास की वर्तमान कसौटी वस्तुनिष्ठ सत्य को स्वीकारती है। वह अतीत को उसी रूप में ग्रहण करने पर जोर देती है जैसा वह पूर्ववत् था। इस कठोर वस्तुवादी दृष्टि का परिणाम तथ्य प्रस्तुति की ओर झुकाव की ओर भी इतिहास–लेखन को ले जाता है। जबकि साहित्य का वैशिष्ट्य उसका संवेदनामयी होना है। भक्तमाल में इसी कारण चरित्र–वर्णन में सजीवता का तत्व दिखाई देता है। जैसा कि उपर्युक्त छप्पय वर्णन के अंतर्गत दिखाई देता है। यह चित्रण वस्तुवादी रूप में सपाट नहीं है, अपितु साहित्यिक गुणों से संवलित उपमेय–उपमान आदि साहित्यिक वैशिष्ट्य से युक्त हैं।

4.3 उत्तरार्द्ध भक्तमाल : सामान्य परिचय

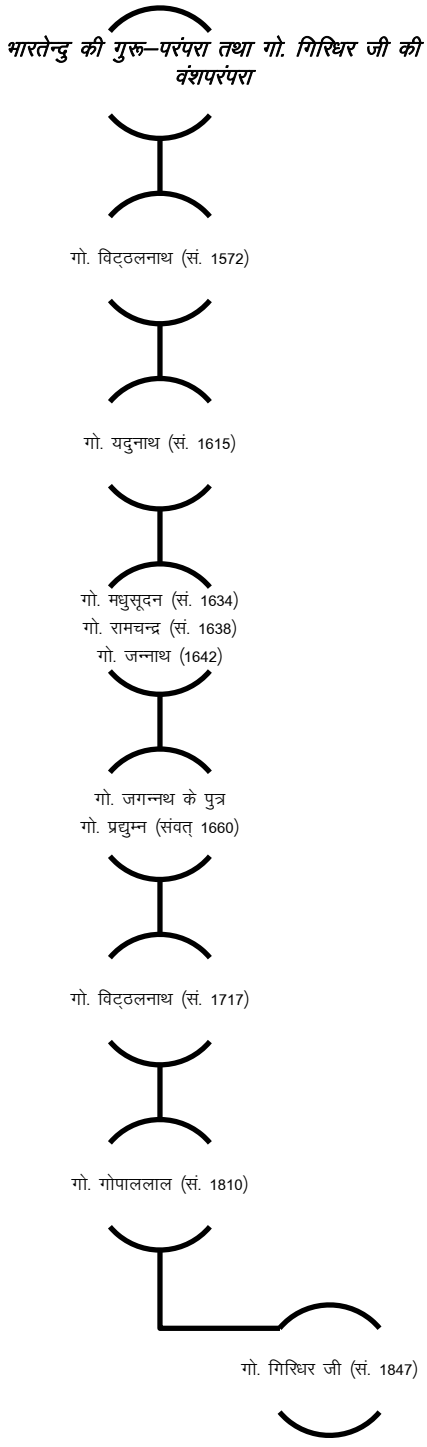

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' वार्ता–परंपरा का साहित्य है। वर्ण्यविषय की दृष्टि से आरम्भिक 23 दोहों में मंगलाचरण लिखा गया है। इसके उपरांत वल्लभ संप्रदाय की परंपरा का उल्लेख हुआ है, जिसके उपरांत 10 दोहों में नाभादास कृत 'भक्तमाल' के महात्म्य को कहने के बाद 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' के महात्म्य को कहा गया है। महात्म्य बताने के बाद भारतेन्दु स्ववंश–वर्णन भी प्रस्तुत करते हैं। भारतेन्दु के संबंध में प्राप्त होने वाली प्रमाणिक जानकारियों में इसे भी सम्मिलित किया जाता है। प्रस्तुत कृति में कुल 234 भक्तों का उल्लेख हुआ है। 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' में मौलिक–वर्णन कम ही हुआ है। बल्कि यह कृति गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' का पद्यानुवाद ही अधिक है। अंत में गुसांई विट्ठलनाथ के प्रमुख शिष्य, सेवकों का उल्लेख 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' में करते हैं। यदि मौलिकता को चिंह्ति करें तो भारतेन्दु से संबंधित तथ्य 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' में जरूर आये हैं। यह तथ्य उनके आत्मकथनात्मक हैं। भारतेन्दु का रचनाकाल 1868ई. से आरम्भ किया जाता है। उत्तरार्द्ध भक्तमाल का रचनासमय 1877–78 है। अतः साहित्येतिहास में यह आधुनिक कालीन रचना है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का परिचय भी आधुनिकता के प्रवर्तक के रूप में कराया जाता है। जबकि उत्तरार्द्ध–भक्तमाल मध्यकालीन प्रवृत्तियों का साहित्य है। भारतेन्दु की इसी विशेषता को साहित्याचार्य चिंह्ति करते आये हैं। उत्तरार्द्ध भक्तमाल में वह पुष्टिमार्गीय भक्त के रूप में दिखाई देते हैं। बल्कि भारतेन्दु के वंशज गिरीशचन्द्र चौधरी भारतेन्दु भवन काशी में अपने पत्र में स्पष्ट लिखते हैं कि हमारे यहाँ दीक्षा पाँच वर्ष की बाल्यावस्था में ही ग्रहण कर ली जाती है। यदि भारतेन्दु के वंश में दीक्षा की यही परंपरा बँधी थी तो भारतेन्दु भी पाँच वर्ष की आयु में ही भक्ति–पथ पर अग्रसर हो चुके थे। भक्ति का बीज उनमें जन्म के बाद से ही डाल दिया गया था। यही बीज 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' रूपी वृक्ष बनता है।

संवत् 1711 में नाथद्वारे के तिल्कायत दामोदरजी हुए, जो बड़े दाऊजी कहे जाते थे। इन्हीं के समय दक्षिणा रूप श्रीमुकुन्दराय जी का विग्रह गो. गिरिधर जी को मिला था। यह भगवद् स्वरूप श्रीनाथजी के गोद का स्वरूप था। इस स्वरूप को वे नाथद्वारे से काशी बहुत राजसी वैभव के साथ लाये थे। गो. गिरिधर जो शुद्धाद्वैत मार्तण्ड के रचयिता थे। वे भारतेन्दु के पिता गोपालदास उपनाम 'गिरिधरदास' तथा भारतेन्दु के गुरु थे। इसीलिए भारतेन्दु और उनके पिता के दीक्षा–गुरु एक ही थे। गो. गिरिधर का काशी में गहरा प्रभाव था। वह शुद्धाद्वैत के प्रकाण्ड पण्डित तथा भक्त दोनों थे। यह वल्लभाचार्य के वंशज थे। 'श्री वल्लभाचार्य जी ना वंशनी वंशावली' में वल्लभाचार्य की वंशपरंपरा दिखाई देती है। गो. गिरिधर वल्लभाचार्य के दसवीं पीढ़ी में हुए। भारतेन्दु के पितामह बाबू हर्षचन्द्र ने गिरिधर जी महाराज की आज्ञा से ठाकुर मदनमोहन जी की सेवा की थी। इन्होंने ही भारतेन्दु को नाम–दीक्षा दी थी।

पुष्टि संप्रदाय का प्रभाव भारतेन्दु पर गहरा था। उन्होंने संवत् 1930 में 'तदीय समाज' की स्थापना की थी। तदीय शब्द वल्लभाचार्य के 'सेवाफल ग्रन्थ' का सातवाँ श्लोक है। इसका तात्पर्य है कि 'तदीय वैष्णवों को कतिपय कर्तव्य निभाने होते हैं तभी उनकी तदीयता सफल होती है।' तदीयता को परिभाषित करते हुए आचार्य लिखते हैं –

''समर्पणेनात्मनोहि तदीयत्वंभवेत् ध्रुवस्।'' (बाल बोध, श्लोक 18)

अर्थात् 'अपने संपूर्ण समर्पण करने के कारण अपना तदीयत्व सिद्ध होता है।' यह समर्पण ही पुष्टिमार्ग में ईश्वर–अनुग्रह प्राप्ति का माध्यम है। तदीय समाज के नौ नियम थे, जिसमें आस्तिकता पर जोर था। प्रेमोपासना, समाज में द्रव्य का विनियोग भगवान का गुणानुवाद गुरुओं के नामों का संकेत, भगवद्गीता एवं श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का पाठ और नाम संकीर्तन एवं मांस–मदिरा रहित शुद्ध खानपान – इस समाज के अनिवार्य नियम थे। तदीय समाज से ही 'भगवत भक्ति तोषिणी' पत्रिका भी प्रकाशित हुई थी। भारतेन्दु स्वयं को 'तदीयनामांकित अनन्य वीर वैष्णव' कहते थे। दरअसल यह पुष्टिमार्ग की उपाधि थी। इस उपाधिधारक को सोलह नियमों का पालन करना पड़ता था। अतः उपर्युक्त संकेतों से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का पुष्टिमार्ग में दीक्षित होना सिद्ध है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कवि के साथ–साथ एक भक्त भी थे। इसीलिए वह 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' की रचना करते हैं। वह भक्तमाल की रचना कर प्रत्यक्ष रूप से भगवद्भक्ति ही करते हैं। इसके साथ–साथ उनका लक्ष्य नाभादास के बाद के भक्तों का वार्ता–परंपरा में सम्मिलित करना था। परन्तु कुछेक नवीन भक्तों का स्मरण करने के बाद वह 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में आये भक्तों का ही रचनात्मक दोहराव प्रस्तुत करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कथ्य का तो दोहराव होता है परन्तु रचनात्मक पद्यानुवाद के साथ। दरअसल जिस भक्ति को भारतेन्दु प्रदर्शित करते हैं, वह उनके जीवन की दैनंदिन संस्कार थे।

ऊपर बताया गया है कि 'तदीयनामांकित अनन्य वीर वैष्णव' के लिए सोलह नियमों के पालन की बात कही गई है।[46] यह सोलह नियम निम्न हैं –

1. हम केवल परम प्रेममय भगवान श्रीराधिकारमण जी का ही भजन करेंगे।
2. बड़ी–से–बड़ी आपत्ति में भी अन्याश्रय नहीं करेंगे।
3. हम भगवान से किसी कामना हेतु प्रार्थना न करेंगे।
4. जुगल स्वरूप में हम भेददृष्टि न देखेंगे।
5. वैष्णव में हम जाति बुद्धि न करेंगे।
6. वैष्णव के सब आचार्यों में से एक पर पूर्ण विश्वास रखेंगे। परन्तु दूसरे आचार्य के मत में कभी निंदा न करेंगे।
7. किसी प्रकार की हिंसा वा मांस भक्षण कभी न करेंगे।
8. किसी प्रकार की मादक वस्तु कभी न खायेंगे न पीयेंगे।
9. श्रीमद्भागवतगीता और श्रीभागवत को सत्य शास्त्र मानकर नित्य मनन शीलन करेंगे।
10. महाप्रसाद में अन्न बुद्धि न रखेंगे।
11. हम आमरणान्त अपने प्रभु और आचार्य पर दृढ़ विश्वास रखकर विशुद्ध भक्ति के फैलाने का उपाय रखेंगे।
12. वैष्णव मार्ग के अविरूद्ध सब कर्म करेंगे और इस मार्ग के विरुद्ध श्रौत स्मार्त का लौकिक कोई कर्म न करेंगे।
13. यथाशक्ति सत्य शौच दयादिक का सर्वदा पालन करेंगे।
14. कभी कोई वाद, जिससे रहस्य उद्घाटन होता हो अनधिकारी के सामने न कहेंगे और न कभी ऐसा वाद अवलम्बन करेंगे जिससे आस्तिकता की हानि हो।
15. चिह्न की भाँति तुलसी की माला और कोई पीतवस्त्र धारण करेंगे।
16. यदि ऊपर लिखे नियमों को हम भंग करेंगे तो जो अपराध बन पड़ेगा, हम समाज के सामने कहेंगे ओर उसकी क्षमा चाहेंगे और उसकी घृणा करेंगे।

इन नियमों का निर्धारण करने की तिथि मिती भाद्रपद शुक्ल 11 संवत् 1930 लिखी गई है। भारतेन्दु ने इन नियमों को तदीय समाज के प्रतिज्ञा–पत्र पर अंकित किया था। अतः भारतेन्दु भक्ति को जीवन–संस्कार के रूप में रूपांतरित करना चाहते थे। पुष्टिमार्ग में भक्ति केवल अध्यात्म का विषय हो ऐसा नहीं है। बल्कि पुष्टिमार्गीय वार्ताओं में प्रसंगात्मक भक्ति को जीवन का अभिन्न अंग बनाने के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। अतः 'भक्ति' भारतेन्दु के भावात्मक अंश को गहनता से प्रभावित करती है। उनकी प्रगतिशीलता भी भक्ति का परिणाम है। उनमें लोकरूढ़ियों से टकराहट की चेतना भी 'भक्ति' के माध्यम से उपजती है। इसीलिए 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' उनके आत्मसुख का भी ग्रन्थ है।

---

[46] राधाकृष्ण, भारतेन्दु बाबू का जीवन चरित्र, पृ.सं. 69

भारतेन्दु के भक्ति–काव्य का लक्ष्य द्विविध है – स्वांतसुखाय और लोगमंगलकारी। स्वांतसुखाय के लिए उन्होंने परंपरा से चली आती हुई साहित्यिक प्रवृत्तियों का अनुकरण किया। यह अनुकरण युगबोध और समसायिक–बोध के साथ रूपाकार लेता है। इसीलिए वह पूर्व परंपरा से भिन्न दिखाई देते हैं। युगबोध के अनुरूप ही उनका काव्य लोकमंगलकारी होता है। परंपरा का अनुकरण करते हुए उनका साहित्य भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन दोनों प्रवृत्तियों से संवलित होता है। भारतेन्दु श्रीकृष्ण को पूर्ण ब्रह्म रूप में देखते थे। उन्हें निर्गुण रूप में जरा भी विश्वास नहीं था। इसलिए वह एक जगह कहते हैं – 'कहो अद्वैत कहाँ सो आयो'। (भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा भाग) जगत् में सतपथ निर्माण के लिए वह ब्रह्मावतार को आवश्यक मानते हैं। श्रीकृष्ण वही ब्रह्मावतार हैं। श्रीकृष्ण उनकी भक्ति के मूल में है। कहा जाये तो श्रीकृष्ण उनकी रचना–दृष्टि भी हैं। 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' में भी वह कृष्णभक्तों का ही अधिक वर्णन करते हैं। यही नहीं भारतेन्दु कृष्ण–लीलाओं का भी लेखन करते हैं। इन्हीं रचनाओं के आधार पर उन्हें रसिक कवियों की परंपरा में स्थान दिया गया है। लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय लिखते हैं –

> ''वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आचार्य कवियों की परंपरा में न होकर केवल प्रेम की परिपाटी ग्रहण करने वाले रसिक कवियों की परंपरा में थे।''[47]

भक्त–चरित्रों का रसात्मक स्मरण ही भारतेन्दु का स्वांतसुखाय पक्ष है। दूसरी ओर भक्त–चरित्रों का चारित्रिक गुण वर्णन पूर्व परंपरा के समान भक्तमाल का मंगलकारी कर्म है। ब्रह्म की प्राप्ति भी इसी लोकमंगल का प्रमुख पक्ष है। भक्तमाल की रचना इसी मंगल कर्म को ध्यान रखकर की गई है।

4.4 भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

वार्ता–साहित्य की विस्तृत परंपरा में भारतेन्दु हरिश्चंद्र कृत 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' आधुनिक काल की रचना है। यह परंपरा मौखिक रूप में आज भी गतिमान है। भक्तमाल की कथाएँ आज भी कही जाती है, जिसका प्रसारण इलैक्ट्रॉनिक माध्यमों से भी किया जा रहा है। यह अवश्य है कि इनकी विषयवस्तु भक्तिकाल की सीमाओं में आज भी बद्ध है। 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' का समय 1877ई. है। सामान्यतः भारतेन्दु को मध्यकाल तथा आधुनिक काल के बीच की कड़ी के रूप में भी देखा जाता रहा है। उनका अधिकतर पद्यात्मक साहित्य ब्रजभाषा में तथा गद्यात्मक साहित्य खड़ी बोली में रचा गया है। ब्रजभाषा–साहित्य मूलतः मध्यकालीन प्रवृत्तियों एवं साहित्य–रूपों को प्रस्तुत करता है। अतः 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' आधुनिक काल में मध्यकालीन प्रवृत्ति का साहित्य है। इसीलिए इसमें आधुनिकाल तथा मध्यकाल का संश्लेषण भी प्रकट होता है। मूलतः यह कृति गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' का पद्यानुवाद है। जबकि इसमे मंगलाचरण, अथ परंपरा, अथ उपक्रम, स्ववंश–वर्णन तथा कुछ आरम्भिक

---

[47] वार्ष्णेय, लक्ष्मी सागर, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1951, पृ.सं. 176

छप्पय मौलिक हैं। सामान्यतः मंगलाचरण के उपरांत छंद–परिवर्तन की रीति भारतीय वाङ्ग्मय की विशेषता रही है। लेकिन भारतेन्दु 55 दोहों के उपरांत छंद–परिवर्तन करते हैं। इन दोहों में वह वल्लभाचार्य का वर्णन, गुरु–परंपरा का स्मरण, भक्तमाल की परंपरा का उल्लेख तथा स्ववंश वर्णन करते हैं। आरम्भिक तीन विषय तो मंगलाचरण के अंतर्गत स्वीकार किये जा सकते हैं। लेकिन स्ववंश–वर्णन मंगलाचरण की परंपरा से दूर ठहरता है। मंगलाचरण में श्रद्धानत पुरूषों एवं भगवान का नमन किया जाता है। अतः इसी भूमि पर स्ववंश–वर्णन की परंपरा को भी स्थान दिया जा सकता है, जहाँ वह अपने वंश के पूर्व–पुरूषों को नमन करते हैं।

गुरु–परंपरा का स्मरण मध्यकाल की विशेषता है, जबकि स्ववंश–वर्णन आधुनिक काल की है। मध्यकाल में स्वयं को प्रदर्शित करने की परंपरा हीन–दृष्टि से देखी जाती थी। जबकि आधुनिक काल में रचना के साथ–साथ रचनाकार को भी महत्व दिया गया है। यही कारण है कि मध्यकाल में रचनाकारों के संबंध में आत्मकथनात्मक–वर्णन कम ही मिलते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्रस्तुत कृति में स्ववंश–वर्णन के अंतर्गत अपनी वंश–परंपरा का उल्लेख करते हैं। इसी कारण भारतेन्दु को मध्यकाल तथा आधुनिक काल का संश्लेषण–बिन्दु माना गया है।

पुष्टिसंप्रदाय में वार्ता–लेखन संप्रदाय–मत के प्रचार–प्रसार में अहम भूमिका अदा करता है। इसका संकेत पुष्टिमार्गी–वार्ताओं का विश्लेषण करते हुए किया गया है। इसी क्रम में भारतेन्दु कृत 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' भी सम्मिलित है। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने से यह कृष्णभक्त थे। इसका स्पष्ट संकेत प्रथम दोहे से हो जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्ववंश के अंतर्गत इसे स्वीकार भी किया है। भारतेंदु लिखते हैं –

राधाबल्लभ बल्लभी बल्लभ बल्लभताइ।

चार नाम बपु एक पद बंदत सीस नवाइ।।1।।

भारतेन्दु इस दोहे को अलंकृत करते हैं। इस दोहे में चार शब्दों का प्रयोग किया गया है – राधाबल्लभ, बल्लभी, बल्लभ तथा बल्लभताइ। बल्लभ का अर्थ प्रिय है। इस प्रकार राधाबल्लभ अर्थात् राधा के प्रिय से अभिप्राय श्रीकृष्ण है। वहीं दूसरा शब्द बल्लभी है जो कि राधाबल्लभ के साथ जुड़कर आता है। अतः 'राधाबल्लभ बल्लभी' अर्थात् श्रीकृष्ण की प्रिय से अभिप्राय 'राधा' है। आगे बढ़ते हुए भारतेन्दु तीसरा शब्द 'बल्लभ' प्रयोग करते हैं। यह भी पूर्व के दो शब्दों से जुड़कर अर्थवान होता है, अर्थात् राधाबल्लभ और बल्लभी का प्रिय। राधा–कृष्ण का प्रिय 'भक्त' है और उसकी बल्लभताइ अर्थात् 'भक्ति'। अतः बल्लभ तथा बल्लभताइ क्रमशः भक्त और भक्ति को सूचित करते हैं। इस प्रकार भारतेन्दु श्रीकृष्ण, राधा, इनके भक्त तथा भक्ति को चार नाम तथा एक शरीर मानते हैं। नाभादास कृत मंगलाचरण के प्रथम दोहे की छाप उपर्युक्त दोहे में दिखाई देती है। नाभादास लिखते हैं –

भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक।

इनके पद बंदत किएँ नासत बिघ्न अनेक।।

नाभादास भक्त, भक्ति, ईश्वर तथा गुरु को चार नाम तथा एक शरीर मानते हैं। भारतेन्दु इन चारों में गुरु को छोड़कर भक्त, भक्ति एवं भगवान को अपने दोहे में स्थान देते हैं। दोहे में वह भले ही गुरु को स्थान नहीं देते परन्तु वह गुरु–परंपरा का स्मरण करते हुए उनके प्रति कृतज्ञ होते हैं।

भारतेन्दु के भक्ति में प्रवृत्त होने की सूचना इसी मंगलाचरण में मिलती है। 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' के परिचय में उनके गुरु गोस्वामी गिरिधर का उल्लेख किया गया है। वहीं साथ–ही–साथ परिवार से ही 'भक्ति' प्राप्त होने की बात स्पष्ट कही गई है। वह पाँच वर्ष की उम्र में नाम–दीक्षा प्राप्त करते हैं। यह दीक्षा उन्हें घर के समीप ही प्राप्त हुई थी। 'ह्वै प्रतच्छ बसि गृह निकट दियो प्रेम को दान। जय जय जय हरि मधुर बपु गुरु रस रीति निधान।।' भक्ति ने उन्हें जगत–विषय से विमुख कर भगवद्–प्रेम में लीन किया। 'जग के बिषय छुड़ाइ सब सुद्ध प्रेम दिखराइ। बसे दूर ह्वै सहज पुनि जै जै जादवराइ।।' सांसारिक जगत् में जीवनयापन के लिए वह निश्चिंत थे। उन्हें धन का अभाव नहीं था।[48] लेकिन भगवद्–भक्ति में रमने के पीछे वह श्रीकृष्ण की योजना ही मानते हैं। पुष्टिमार्ग में भक्त द्वारा इसी प्रकार का समर्पण स्वीकार किया गया है कि मेरे सभी कर्म उन्हीं द्वारा नियंत्रित हैं। ऐसा विचारते हुए वह भगवद्–अनुग्रह की इच्छा रखते हैं। पुष्टिमार्ग में भगवद्–अनुग्रह की प्राप्ति ही साधक का अंतिम लक्ष्य है। भारतेन्दु आगे वल्लभाचार्य द्वारा श्रीमद्भागवत की पुनर्व्याख्या कर शुद्ध प्रेम रसरीति को स्पष्ट करने वाला बताते हैं। वह उन्हें शुकदेव के समान बताते हैं, क्योंकि उन्होंने भी गीता का भाष्य कर भागवत में प्रेम रीति को प्रगट किया था।[49] वल्लभाचार्य के वंशजों ने उनकी धारा को जागृत रखा और सुप्त अवस्था के जगत को थामा।[50] गोस्वामी गिरिधर, वल्लभाचार्य के ही वंशज थे, जिनसे वह दीक्षा प्राप्त करते हैं। वह आगे कहते हैं वल्लभाचार्य के समान व्यास जी, कृष्णचैतन्य, हरिदास तथा हित हरिवंश ने प्रशंसनीय बपु (शरीर) धारण कर विविध गुप्त रस कहे।[51] व्यासजी ने ही गीता को महाभारत में लिखा था। इसके अतिरिक्त तीनों आचार्य मध्यकाल में कृष्णभक्ति संप्रदाय की स्थापना करते हैं। कृष्णभक्ति परंपरा में होने के कारण इनका उल्लेख यहाँ हुआ है। इन आचार्यों को स्मरण करने के उपरांत वह कुछ प्रसंगों का भी उल्लेख करते हैं। इन प्रसंगों में ऐतिहासिक सूचना कम तथा

---

[48] धन जन हरि निहचिंत करि फिर डार्‌यौ भव जाल।
सोचि जुगति कछु मोहि जिन जै जै सो नँदलाल।।4।।

[49] कछु गीता मैं भाषि कै सुक ह्वै करुना धारि।
कही भागवत मैं प्रगट प्रेम रीति निरुवारि।।5।।
पुनि बल्लभ ह्वै सो कही कबहूँ कही जु नाहिं।
सुद्ध प्रेम रस रीति सब निज ग्रंथन के माहिं।।6।।

[50] बंस रूप करि कै द्विबिध थापी पुनि जग सोय।
अब लौं जाके लेस सों पामर प्रेमी होय।।7।।

[51] ब्यास कृष्नचैतन्य हरिदास सु हित हरिबंस।
बिबिध गुप्त रस पुनि कहे धरि बपु परम प्रसंस।।8।।

भक्त–लीला में खो जाने का भाव अधिक दिखाई देता है। कई बार तो यह कृष्णलीला ही प्रतीत होती है। पुष्टिमार्गीय वार्ताओं में श्रीकृष्ण लीलाओं के समान ही भक्त–लीला को महत्ता दी गई है। गोकुलनाथ की वार्ताद्वै में श्रीकृष्ण और भक्त के बीच छेड़छाड़ का वर्णन इन्हीं भक्त–लीलाओं को इंगित करता है। निम्न प्रसंग भले ही वल्लभाचार्य से संबंधित हैं परन्तु इनमें भी भक्त–लीला सहज ही द्रष्टव्य है। कुछ दोहों में श्रीकृष्ण की उपस्थिति लौकिक रूप में दिखती है। पुष्टिमार्ग में लिखे गये वार्ता–साहित्य भक्त–लीलाओं का वर्णन भी है। यह लीलाएँ कथ्य को आधुनिक अर्थ में 'इतिहास' से दूर ले जाती है परन्तु इन लीलाओं में स्थानादि की सूचनाएँ भक्त से संबंधित ऐतिहासिक तथ्यों का परिचय जरूर दे जाती है। इन लीलाओं में साहित्य–सौष्ठव पैदा करना भी वार्ताकार का लक्ष्य हो जाता है। वह भक्ति में रस पैदा करने के उद्देश्य से कल्पना का आश्रय लेता है। इसीलिए इन भक्त–लीलाओं में मौजूद इतिवृत्तों को ऐतिहासिक घटनाओं के रूप में ग्रहण करना असंभव है। बल्कि इन लीलाओं के संश्लेषणात्मक अध्ययन द्वारा वस्तुनिष्ठ सत्य को प्राप्त करना संभव है।

भारतेन्दु आरम्भ से कुछ दोहों के अंतर्गत राधा–कृष्ण के मनोहारी दृश्यों का वर्णन करते हैं। कभी वह बाग में बैठे हैं, तो कभी गोप–ग्वालों से मिलने आ रहे हैं। कहीं उनकी पंचनदी पोशाक सबके मन को हर रही है तो कभी बसंत में राधा–कृष्ण श्याम के समय चले आ रहे हैं। ऐसे कई दोहों की रचना भारतेन्दु आरम्भ में ही कर देते हैं। इन दोहों से स्पष्ट है कि भारतेन्दु का उद्देश्य काव्य–सौष्ठव पैदा करना है। वह राधा–कृष्ण का मनोहारी चित्र खींचते हैं ताकि उस श्रृंगारिक वर्णन से पाठकों की सौन्दर्य–चेतना झंकृत कर सके। मध्यकालीन वार्ताओं में सौन्दर्य पैदा करने की प्रवृत्ति कम ही दिखती है बल्कि उनका आग्रह भक्त–चरित्रों का गायन करते हुए 'भक्ति' करना था। इस प्रवृत्ति–भेद को आधुनिक काल तथा भक्तिकाल के युग अंतराल के रूप में देख सकते हैं। रीतिकाल का प्रभाव भी भारतेन्दु पर परिलक्षित होता है। इन दोहों को भारतेन्दु पुष्टिमार्गीय वार्ताओं की रीति पर ही लिखते हैं, जहाँ भगवान भक्त से लौकिक रूप में मिलने आते हैं। यह लौकिक वर्णन लोक द्वारा भक्त–प्रसंगों को आत्मसात् करने में सहायक होते हैं। राधा–कृष्ण का मनोहारी चित्र खींचने के बाद वह वल्लभाचार्य का वर्णन करते हैं। वह वल्लभाचार्य को मायावाद का मद हरने वाला कहते हैं।

मायाबाद मतंग मद हरत गरजि हरि नाम।

जयति कोऊ सो केसरी बृंदाबन बन धाम।।22।।

वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना शंकराचार्य के मायावाद के विरोध में करते हैं। संवत् 1565–66 में दक्षिण के विजयनगर जाकर इन्होंने शास्त्रार्थ में मायावाद का खण्डन किया था, जिसके लिए कृष्णदेव राय द्वारा उनका कनकाभिषेक किया गया और उन्हें 'आचार्य चक्र चूडामणि जगद्गुरु श्रीमदाचार्य महाप्रभु' की उपाधि दी गई। उपर्युक्त दोहा भी वल्लभाचार्य द्वारा हरि नाम प्रस्तुत कर मायावाद के मद को हरने की बात कहता है।

तम पाखंडहि हरत करि जन मन जलज बिकास।

जयति अलौकिक रबि कोऊ श्रुति पथ करन प्रकास।।23।।

इस दोहे से तत्कालीन धार्मिक रूढ़िता का भी परिचय मिलता है। भारतेन्दु वल्लभाचार्य को अलौकिक सूर्य के रूप में देखते हैं और उन्हें वेदपथ को पुनः प्रकाशित करना वाला बताते हैं। यह पुनः प्रकाश तत्कालीन समय की मांग भी थी, क्योंकि चारों ओर पाखण्डी लोग आमजन के कमल रूपी मन के विकास को हर रहे थे। इसी संदर्भ में वह श्रुतिपथ को प्रकाशित करने वाला बताते हैं। भक्तमाल की यही विशेषता है कि भक्तमालकार भक्तों का श्रद्धायुक्त निरूपण करता है। परन्तु इस भावमयी साहित्यिक–लेखन में इतिहास के अनगिनत तथ्य बिखेरता जाता है। वल्लभाचार्य के संदर्भ में कही गई उक्तियाँ भले ही उनकी महिमा के बखान के लिए उद्धृत हुई है। परन्तु उन महिमामयी वर्णन में इतिहास बखूबी दिखाई पड़ते हैं।

अथ परंपरा :– भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मध्यकाल के साहित्यिक–रूप एवं प्रवृत्तियों का विकास आधुनिक काल में करते हैं। भक्तिकालीन–चेतना उन्हें 'भक्तमाल' परंपरा से जोड़ती है। भक्ति की प्रमुख धारा 'वार्ता–साहित्य' का अनुकरण करते हुए वह उसे पुनः स्मृत करते हैं। दरअसल पुनः स्मरण का यह प्रयास व्यक्तिगत–रूचि के साथ–साथ समाजिक सोद्देश्यता लिये है। भक्त–चरित्रों के माध्यम से सामाजिक–उत्थान का लक्ष्य उनके समक्ष है। भारतीय इतिहास–लेखन की दृष्टि का अनुकरण करते हुए यह भक्त सामाजिक–चरित्र को गढ़ने में सहायक हैं। वार्ताकार इन प्रसंगों के माध्यम से गुणचर्चा को अपना विषय बनाते हुए आदर्श–स्थापना का प्रयास करता है। अतः इस चेतना से अनुप्राणित होकर भारतेन्दु 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' की रचना करते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मध्यकाल और खासतौर से भक्तमाल की विशेषता 'गुरु–स्मरण' को 'अथ परंपरा' शीर्षकांतर्गत स्थान देते हैं। इसकी शुरूआत वह श्रीकृष्ण से करते हैं, जो कि मन में सदा राधिका जी का ही नाम जपते रहते हैं।[52] इसके बाद वह गोपीजन अर्थात् राधा–कृष्ण के समकालीन ग्वालों को स्मृत करते हैं और उन्हें गुप्त प्रेम–रस को प्रगट करने वाला बताते हैं।[53] वह भगवान शिव[54], नारद, वेद व्यास, सुकदेव को भी स्थान देते हैं। दरअसल इन सभी को वह गुरु रूप में ही याद करते हैं, जिन्होंने कृष्ण भक्ति को अग्रसरित किया। नारद का स्मरण कृष्ण गुणगाान करने के लिए[55]; वेद व्यास

---

[52] तन्नमामि निज परम गुरु कृष्न कमल दल नैन।
जाको मन श्रीराधिका नाम जपत दिन रैन।।24।।

[53] श्रीगोपीजन पद जुगल बंदत करि पुनि नेम।
जिन जग मैं प्रगटित कियो परम गुप्त रस प्रेम।।25।।

[54] श्रीसिव पद निज जानि गुरु बंदत प्रेम प्रमान।
परम गुप्त निज प्रगट किय भक्ति पंथ अभिधान।।26।।

[55] बंदौं श्री नारद चरन भव पारद अभिराम।
परम बिसारद कृष्न गुन गान सदा गतकाम।।27।।

को कृष्ण–तत्व के ज्ञान–सूत्र को रचने के लिए[56] और शुकदेव जी को भागवत ग्रन्थ कहने के लिए[57]। यह सभी पुराणकालीन हैं तथा कृष्णभक्ति के उपजीव्य हैं। इसीलिए इनका स्मरण गुरु रूप में किया गया है। इनके बाद की गुरु–परंपरा में आये आचार्य एवं भक्त ऐतिहासिक हैं। रूद्र संप्रदाय के प्रवर्तक विष्णुस्वामी पुष्टिमार्ग के दार्शनिक तथा आदि आचार्य माने गये हैं। विष्णुस्वामी शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना करते हैं, जिसका अनुकरण बाद में वल्लभाचार्य करते हैं। शुद्धाद्वैत की दार्शनिक भूमि पर वल्लभाचार्य पुष्टि–संप्रदाय की स्थापना करते हैं। इसीलिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र विष्णुस्वामी को प्रेमपथ को प्रगट करने वाला बताते हैं।[58] इनका समय 13वीं शती अनुमान किया गया है। अग्रिम दोहे में भारतेन्दु गोपीनाथ, जयदेव तथा बिल्वमंगल के साथ–साथ सात गुरुओं को भी प्रणाम करते हैं।[59] गोपीनाथ वल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र हुए तथा जयदेव की प्रशस्ति गीतगोविन्द के कारण है। इनका समय बारहवीं शती है। विष्णुस्वामी द्वारा स्थापित विष्णुस्वामी संप्रदाय में ही आचार्य बिल्वमंगल ठाकुर हुए, जिनका उल्लेख भारतेन्दु में किया है। बिल्वमंगल दक्षिण के कृष्णभक्त थे। इनके समय का कोई स्पष्ट निर्धारण नहीं हुआ है। परन्तु कुछेक जगह उनका समय आठवीं शती बताया गया है, जो कि विष्णुस्वामी (तेरहवीं शती) से भी पूर्व ठहरता है। इन तीनों नामों में दो का समय वल्लभाचार्य से पूर्व है। अतः संभव है कि गोपीनाथ कोई ओर भक्त या आचार्य हो, ना कि वल्लभाचार्य के पुत्र। बहरहाल आगे बढ़ते हुए वह एक अलग दोहे में बिल्वमंगल के चरणों को नमन करते हैं।[60] बिल्वमंगल के उपरांत भारतेन्दु वल्लभाचार्य और वल्लभवंश को नमस्कार करते हैं। वह लिखते हैं –

यह मारग डूबत निरखि जिन प्रगटायो रूप।

नमो नमो गुरुबर चरन श्रीबल्लभ द्विजभूप।।33।।

* * *

एक भक्ति के दान हित थापित परम प्रसंस।

भयो अहै अरु होइगो जै श्री बल्लभ बंस।।35।।

वल्लभाचार्य के द्वारा प्रस्तुत मार्ग (पुष्टिमार्ग) डूबते हुए को उबारने वाला है। इसीलिए वह वल्लभाचार्य को बार–बार नमन करते हैं। भारतेन्दु वल्लभवंश को भी भक्ति–प्रेम को प्रगट करने वाला बताते हैं,

---

[56] पुनि बंदत श्री ब्यास पद बेद भाग जिन कीन।
कृष्न तत्व को ग्यान सब सूत्र बिरचि कहि दीन।।28।।

[57] बंदत श्री सुकदेव जिन सोध प्रेम को पंथ।
हमसे कलि मल ग्रसित हित कह्यो भागवत ग्रंथ।।29।।

[58] बिष्नुस्वामि पद जुगल पुनि प्रनवत बारंबार।
जिन प्रगटायो प्रेम पथ बहत जानि संसार।।30।।

[59] गोपीनाथ अरंभि जैदेवादिक मध थामि।
बिल्बमँगल लौं सप्त सत गुरु अवली प्रनमामि।।31।।

[60] नमो बिल्बमंगल चरन भक्ति बीज उतकर्ष।
सूक्ष्म रूप सों तरु रहे जो अनेक सत बर्ष।।32।।

जिससे सभी प्रकार के रोग–दोष नष्ट हो जाते हैं। ऐसे हरिपदों में अनुरक्त भक्तों का स्मरण करने से कृपा बनी रहती है।[61]

'अथ परंपरा' शीर्षकांतर्गत भारतेन्दु भक्तमाल की रीति का ही अनुसरण करते हैं। वह अपनी गुरु–परंपरा की शुरूआत राधा–कृष्ण से करते हैं तथा पौराणिककाल में मौजूद गुरुओं से होते हुए मध्यकाल तक आते हैं। पुराणों में उपस्थित चरित्र भले ही इतिहास की सीमा से पार जा चुके हैं लेकिन उनकी स्मृति लोक में पूर्व–पुरूष के रूप में ही गृहित है। नाभादास भी श्रीसंप्रदाय का वर्णन करते हुए उसे बिष्वसेन से जोड़ते हैं जो कि श्रीराम के सचिव कहे गये हैं। अतः पुराणों की वर्णन–रीति चरित्रों को ऐतिहासिक रूप से कम तथा आदर्श रूप में अधिक कहती है। इसी कारण इन चरित्रों का महत्व क्षण विशेष में न रहकर शाश्वतता में होता है। समय प्रवाह में मौखिक रूप से प्रचारित होने के कारण उनकी ऐतिहासिकता भी खण्डित होती है। अतः युग इन चरित्रों का युगीन चेतना के अनुरूप रूपांतरण करता रहता है। लेकिन मध्यकालीन वार्ता में भक्त–चरित्र अपनी ऐतिहासिकता को भी बनाए रखते हैं। इन ऐतिहासिकताओं में भी उनके कर्मों को वार्ताकार ज्यादा स्मरण करता है बरक्स ऐतिहासिक तथ्यों के। ऐतिहासिक तथ्यों की अनुपस्थिति के कारण वार्ता–साहित्य की ओर इतिहासकारों का ध्यान नहीं जाता। कल्पना की संश्लिष्टता के कारण वह वार्ताओं को 'इतिहास' नहीं स्वीकारते। परन्तु वार्ताकार मध्यकाल में उनकी ऐतिहासिक उपस्थिति को रेखांकित करते हुए उसे पुराण परंपरा से भी जोड़ता है। अतः इनका क्रम शाश्वत चरित्र (पौराणिक चरित्र) से होते हुए ऐतिहासिक चरित्र (ऐतिहासिक चरित्र) तक आता है। भारतेन्दु द्वारा प्रस्तुत गुरु–परंपरा में इसे सहज ही देखा जा सकता है। नाभादास भी इसी रीति से 'भक्तमाल' की रचना करते हैं। वह भक्त–वर्णन के पदों में पौराणिक चरित्रों को भी ऐतिहासिक चरित्रों की सापेक्षता में स्मरण करते हैं। अतः भक्तमाल परंपरा पूर्व–पुरूषों तथा मध्यकालीन चरित्रों का जुड़ाव भी दिखाती है, जिसके माध्यम से भारतीय संस्कृति की धारा विकास करती दिखती है।

अथ उपक्रम :– शोध के क्रम में कई बार कहा गया है कि भक्तमाल परंपरा में नाभादास का नाम सबसे ऊपर आता है। इसका कारण नाभादास कृत 'भक्तमाल' का आगामी परंपरा पर विशेष प्रभाव का होना है। ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली', भक्तमाल पर 'प्रियादास की टीका' तथा पुष्टिमार्ग पर भी नाभादास का प्रभाव रहा है। वैसे तो पुष्टिमार्ग में 'वार्ता–लेखन' की एक अलग परंपरा रही है। लेकिन भारतेन्दु उस परंपरा से अधिक 'भक्तमाल' को तरजीह देते हैं। वह 'भक्तमाल' को एक उपक्रम स्वीकारते हुए नाभादास का स्मरण करते हैं। अतः 'भक्तमाल' मध्यकाल में एक साहित्यिक–रूप लेता है तथा अन्य भक्तमालकार उसे रूप का प्रयोग भक्त–वर्णन में करते हैं। बहरहाल इसका प्रमाण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'उत्तरार्द्ध भक्त्माल' है। 'भक्तमाल' को नाभादास रचित बताते हुए वह लिखते हैं –

---

[61] प्रगट न प्रेम प्रभाव नित नासन सोग कुरोग।
जै जै जग आरति हरन बिदित बल्लभी लोग।।36।।
जे प्रेमी जन कोउ पथ हरि पद नित अनुरक्त।
बंदत तिन के चरन हम करहु कृपा सब भक्त।।37।।

नाभा जी महाराज ने भक्तमाल रस जाल।

आलबाल हरि प्रेम की बिरची होइ दयाल।।38।।

भारतेन्दु भक्तमाल को भगवद् प्रेम का रस जाल कहते हुए उसे नाभादास की दयालुता का परिणाम बताते हैं। यह दयालुता मध्यकालीन मंगलकर्म है। इस मंगलकर्म के अनुसार 'भक्ति' के माध्यम से जीवोद्धार संभव है। इसीलिए अधिक–से अधिक जीवों में भक्ति का बीज रोपना ही मंगलकार्य है। अतः भगवद्–भक्ति की ओर जीव को प्रवृत्त करना ही उसका उद्धार करना है। यही मंगलकर्म नाभादास की दयालुता है। भारतेन्दु कहते हैं कि 'इनके बाद अब तक (भारतेन्दु के समय तक) भी हरि–पद में रमने वाले संत हुए, जिनका यश–वर्णन हरि (भगवान) कह गये हैं।'[62] इस नवीन ग्रन्थ (उत्तरार्द्ध भक्तमाल) में प्रसंगवश प्रेम–नाम का पुनः वर्णन हुआ है जिसका पूर्व में ही सुन्दर वर्णन हो चुका है।[63] भारतेन्दु को यह भान भी है कि वह उस प्रेम–नाम को पुनःस्मृत कर रहे हैं। यदि सम्पूर्ण कृति को देखें तो वह गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' का पद्यानुवाद ही प्रतीत होती है। लेकिन भारतेन्दु 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' को नाभादास रचित 'भक्तमाल' का उत्तर भाग बताते हैं। अर्थात् ऐसे भक्त जो भक्तमाल रचना के बाद हुए या फिर जिनका उल्लेख भक्तमाल में नहीं हुआ उनको भारतेन्दु 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' में उद्धृत करते हैं।[64] इसी आधार पर वह ग्रन्थ के नाम की सार्थकता को सिद्ध करते हैं और आगे कहते हैं –

भक्तमाल उत्तर अरध याही सों सुभ नाम।

गुथी प्रेम की डोर मैं संत रतन अभिराम।।42।।

भक्तमाल का उत्तरार्द्ध होने के साथ–साथ भारतेन्दु कृष्णभक्ति के निमित्त भी इस ग्रन्थ की रचना करते हैं। इसीलिए वह कहते हैं –

नव माला हरि गल दई नाभाजी रचि जौन।

दुगुन आजु करि कृष्न कों पहिरावत हौं तौन।।43।।

अतः भक्तों की जो माला नाभादास ने पहनाई थी। ऐसे ही दुगुने भक्त–समूह की माला भारतेन्दु भगवान श्रीकृष्ण को पहनाते हैं। क्योंकि भगवान के हृदय में तो भक्त ही रमते हैं।[65] समय–समय पर यह

---

[62] ता पाछें अब लौं भए जे हरि पद रत संत।
तिन के जस बरनन करत सोइ हरि कहँ अति कंत।।39।।

[63] कबहूँ कबहुँ प्रसंग बस फिर सों प्रेमी नाम।
ऐहैं या नव ग्रंथ मैं पूरब कथित ललाम।।40।।

[64] भक्तमाल जो ग्रंथ है, नाभा रचित बिचित्र।
ताही को एहि जानियो उत्तर भाग पबित्र।।41।।

[65] लिखे कृष्न हिय मैं सदा जदपि नवल कोउ नाहिं।
नाम धाम हरि भक्त के आदि समय हू माँहि।।44।।

भक्त–चरित्र पृथ्वी पर निजप्रेम के पथ–प्रदर्शक का कार्य करते हैं[66] तथा इन भक्तों के नाम एवं गुणों को सुनकर इस जगत् के सभी भय–रोगों का नाश होता है।[67] भारतेन्दु अपने रचनाकर्म को इन्हीं भक्तों के दयाबल का परिणाम बताते हैं तथा उन्हीं में से कुछ पवित्र–चरित्रों को गाते हैं।[68]

उपर्युक्त विश्लेषण से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचना–दृष्टि का परिचय मिलता है, जो कि मध्यकालीन वार्ता–साहित्य को ही अनुकृत करता है। भारतेन्दु 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' को रचते हुए भगवद्–भक्ति से ही अनुचालित हैं। उनका वार्ता–कर्म प्रत्यक्षतः भक्ति ही है और अप्रत्यक्षतः मंगलकर्म। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का संश्लेषण ही वार्ता–साहित्य की विशेषता है, जिसका शोध के दौरान बार–बार उल्लेख किया गया है। लेकिन यहाँ भारतेन्दु जिसे भक्तमाल का उत्तरार्द्ध कह रहे हैं वह मूलतः 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' का पद्यानुवाद है। इन चौरासी भक्तों की शुरूआत भारतेन्दु 'अथ चौरासी वैष्णव–प्रसंग' शीर्षक के अंतर्गत करते हैं। वह इन भक्तों का क्रम भी परिवर्तित नहीं करते। इसीलिए जिस नवमाला का संकेत उन्होंने उपर्युक्त दोहों में किया है वह केवल रूपगत नवीनता है। अर्थात् 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' गद्य में लिखी गई हैं और भारतेन्दु उन्हें पद्य में रूप–नवीनता प्रदान करते हैं। वहीं चौरासी भक्तों का उल्लेख करने से पूर्व वह कुछ भक्तों का वर्णन छप्पय में भी करते हैं। यह भक्त शंकराचार्य, चतुःसम्प्रदाचार्य, विट्ठलनाथ, बल्लभाचार्य के वंशज, चैतन्य महाप्रभु (चैतन्य–संप्रदाय), माध्वाचार्य के शिष्य–प्रशिष्य, हरिदास (सखी संप्रदाय), वृंदावन के संत, देवकीनंदन, बादींद्रजित, द्वारकेस, हरिराय (प्रसिद्ध टीकाकार), बिट्ठल, आचार्य गिरिधर, गिरिधर की पुत्री श्यामा, बल्लभाचार्य के कुल–रत्न तथा अष्टछाप कवि (सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, नंददास, चतुर्भुजदास) हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतेन्दु ने भक्तमाल का उत्तरार्द्ध लिखने के उद्देश्य से रचना की शुरूआत की थी। लेकिन बाद में वह 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' का पद्यानुवाद कर केवल वार्ता–उपक्रम का ही दोहराव कर अपने को स्थगित करते हैं। इनमें कुछ भक्त ऐसे दिखाई देते हैं जिनका पूर्व की वार्ताओं में उल्लेख नहीं हुआ है। लेकिन अधिकतर भक्त एवं आचार्यों के प्रसंग पूर्व–वार्ताओं में सहज ही उपलब्ध है। इसीलिए भक्तमाल उनका मौलिक कर्म कम प्रतीत होता है। बल्कि देखा जाये तो मध्यकालीन भक्तों को पुनःस्मृत करने का प्रयास ही 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' में हुआ है। वैसे भी वार्ता–साहित्य में इस प्रकार का दोहराव एक सामान्य प्रवृत्ति है, क्योंकि वार्ताकार का उद्देश्य भगवद्–भक्ति है।

---

[66] तदपि सदा निज प्रेम पथ दीपक प्रगटन काज।
समय समय पठवत अवनि निज भक्तन ब्रजराज।।45।।

[67] ताही सों जब आवहीं भुव तब जानहिं लोग।
भक्त नाम गुन आदि सब नासन भव भय रोग।।46।।

[68] तिनही भक्त दयाल की परम दया बल पाइ।
तिन को चरित पवित्र यह कहत अहौं कछु गाइ।।47।।

स्ववंश–वर्णन[69] **:–** भक्तमाल परंपरा में स्ववंश वर्णन की कोई प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती। जबकि भारतेन्दु हरिश्चंद्र अपने वंश का परिचय 'स्ववंश–वर्णन' के अंतर्गत करते हैं। भारतेन्दु का आत्मकथन होने के कारण इसे विद्वानों ने प्रमाणित माना है। वैसे तो अन्य कृतियों में भी भारतेंदु का परिचय प्राप्त होता हैं परन्तु वंश का क्रमवार वर्णन इसी के अंतर्गत प्राप्त हुआ है। इसका कारण भक्तमाल जैसे ऐतिहासिक–रचना का होना है। कल्पना से इतर ऐतिहासिक होने के कारण उन्होंने स्ववंश–वर्णन 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' में किया है। यह ध्यान रखना जरूरी है कि उत्तरार्द्ध–भक्तमाल का स्ववंश–वर्णन भक्तमाल की प्रवृत्ति को लक्षित नहीं करता अपितु यह भारतेन्दु का विशेष्य भाग है, जिसे उन्होंने स्वयं ही जोड़ा है।

लेखक द्वारा कृति में स्वयं का परिचय देने की परंपरा मध्यकाल में मौजूद नहीं रही है। संभव है इसके पीछे अहं के त्याग की दृष्टि रही हो। आत्मवर्णन के साथ अहं का आना एक सहज व्यवहार है। जबकि अहं को नकारात्मक भाव से प्रपंची माया का ही रूप माना गया है। बल्कि स्वयं को दैन्य, निस्वार्थ तथा पूर्ण समर्पण भाव से ईश्वर के समक्ष प्रगट करना मध्यकाल की एक सामान्य प्रवृत्ति थी। इसी भावभूमि का प्रत्यक्ष उदाहरण तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' है। अतः भगवान के समक्ष स्वयं को दीन दिखाते हुए उद्धार करने का आग्रह करना भी भक्ति मानी गई। यह दैन्यभाव भगवान के समक्ष भक्त का आत्मसमर्पण है। भक्ति इसी अनुग्रह को प्रेषित करती है। यही कारण है कि आत्मवर्णन की परंपरा हिंदी साहित्य में कम ही दिखाई देती है। कहा जाये तो स्ववंश–वर्णन की कोई परंपरा भारतेन्दु के पूर्व दिखाई नहीं देती।

'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' में भारतेन्दु के आत्मकथन के आधार पर उनके वंशवृक्ष का एक चित्र भी खींचा जा सकता है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र का जन्म वैश्य अग्रकुल में हुआ था। बालकृष्ण से कुल के आरम्भ होने का पता चलता है। बालकृष्ण के पुत्र 'गिरिधर' हुए जो कृष्ण–भक्त थे। गिरिधर के अमीचंद हुए। यह इतिहास–विख्यात अमीचंद थे, जिनका संबंध मुर्शिदाबाद के नवाबों से था। अमीचंद के पुत्र फतेहचंद तथा फतेहचंद के पुत्र हर्षचंद हुए। हर्षचंद की प्रशंसा में भारतेंदु लिखते हैं –

अमीचंद तिन के तनय फतेचंद ता नंद।

हरषचंद जिन कें भए निज कुल सागर चंद।।49।।

---

[69] बैस्य अग्रकुल मैं प्रगट बालकृष्न कुलपाल।
ता सुत गिरिधर चरन रत बर गिरधारीलाल।। 48।।
श्रीगिरिधर गुरु सेइ कै घर सेवा पधराइ।
तारे निज कुल जीव सब हरि पद भक्ति दृढ़ाइ।। 50।।
तिन श्रीबल्लभ बर कृपा बिरची माल बनाइ।
रही जौन हरिकंठ मैं नित नव ह्वै लपटाइ।। 54।।
लहिहैं भक्त अनंद अति ह्वैहैं पतित पबित्र।
पढ़ि पढ़ि कै हरिभक्त को चित्र बिचित्र चरित्र।। 55।।

हर्षचंद भी श्रीकृष्ण के भक्त थे। इन्होंने परिवार में भक्ति को दृढ़ किया था। अतः भारतेन्दु को भगवद्–भक्ति पूर्वजों से प्राप्त हुई थी। हर्षचंद के पुत्र गोपालचंद्र उपनाम गिरधरदास हुए। यह भारतेंदु हरिश्चंद्र के पिता, परम भगवद्–भक्त तथा कवि थे।[70] इन्होंने अपने परिवार की कुल रीति से हटकर कृष्ण पदों से प्रेम किया। वैसे तो भारतेंदु को इनका अधिक सान्निध्य नहीं मिला क्योंकि भारतेंदु के दस वर्ष की आयु में ही इनका निधन हो गया। परन्तु कृष्ण भक्ति का प्रभाव इनपर रहा। भारतेन्दु की माता पार्वती थी।[71] माता पार्वती की कोख से अनुज गोकुलचंद्र तथा अग्रज हरिश्चंद्र हुए।

अतः इस प्रकार बालकृष्ण से लेकर स्वयं तक की वंश–परंपरा का उल्लेख भारतेन्दु ने किया है। उनके इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि उन्हें भक्ति–चेतना पारिवारिक–परंपरा से ही मिली थी। इससे एक बात तो स्पष्ट है कि 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' के लिखने के पीछे उनकी भगवद्–भक्ति ही प्रबल रही है। इससे भक्तिकाल के व्यापक प्रभाव का अंदाजा लगाया जा सकता है। साथ–ही–साथ आधुनिक काल में भी मध्यकालीन साहित्यिक रूपों की स्वीकृति को पहचाना जा सकता है।

छप्पय :– भारतेंदु हरिश्चंद्र वार्ता–लेखन के लिए वार्ता–रूप भक्तमाल (साहित्यिक रूप) का अनुकरण करते हैं। इस परंपरा में वह नाभादास का स्मरण करते हैं। जबकि वह पुष्टि–संप्रदाय में नाम–दीक्षा लेते हैं। पुष्टि–संप्रदाय में वार्ता–लेखन के अलग रूप का विकास होता है। इस वार्ता–रूप को 'पुष्टिमार्गीय वार्ता' के रूप में स्मरण किया जाता है। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के बावजूद भारतेन्दु वार्ता–रूप 'भक्तमाल' का अनुकरण करते हैं। मध्यकालीन साहित्यिक–रूपों को अधिक–से–अधिक प्रस्तुत करना ही इसके पीछे का कारण जान पड़ता है। इसीलिए वह गद्यात्मक रचना का पद्यानुवाद करते हैं।

बहरहाल वह नाभादास की तरह संप्रदायाचार्यों से ऐतिहासिक भक्तों का आरम्भ करते हैं। छंद–परिवर्तन भी इन आचार्यों के वर्णन से आरम्भ होता है। प्रथम छप्पय में भारतेन्दु विष्णुस्वामी का उल्लेख करते हैं। इनका समय 13वीं शताब्दी माना गया है। शुद्धाद्वैत को स्थापित करने वाले आदि आचार्य विष्णुस्वामी ही हैं। वल्लभाचार्य इन्हीं के दर्शन को मध्यकाल में प्रचारित एवं प्रसारित करते हैं। इसके उपरांत वह क्रमशः निम्बार्काचार्य, रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य का वर्णन करते हैं। इन आचार्यों का भक्तिकालीन संतों एवं भक्तों पर विशेष प्रभाव पड़ा है। भक्तिकाल में अनेक संप्रदायों के उपजीव्य–रूप में इन्हीं आचार्यों के दर्शन को स्वीकारा गया है। वार्ता–रूप भक्तमाल में इन्हीं आचार्यों से कलियुग का आरम्भ होता है। इसे नाभादास रेखांकित भी करते हैं। वहीं भारतेन्दु भी ऐतिहासिक भक्तों

---

[70] तिन के सुत गोपाल ससि प्रगटित गिरिधरदास।
कठिन करम गति मेटि जिन कीनी भक्ति प्रकास।। 51।।
मेटि देव देबी सकल छोड़ि कठिन कुल रीति।
थाप्यौ गृह हमैं प्रेम जिन प्रगटि कृष्न पद प्रीति।।52।।

[71] पारबती की कूख सों तिन सों प्रगट अमंद।
गोकुलचंद्राग्रज भयो भक्त दास हरिचंद।।53।।

की आरम्भिक सीमा इन संप्रदायाचार्यों के साथ निश्चित करते हैं। अतः भक्तमाल मोटे तौर पर मध्यकाल की युगीन–चेतना का आरम्भिक बिन्दु इन आचार्यों को स्वीकारता है। देखा जाये तो यह आचार्य मध्यकालीन ऐतिहासिकता की सीमा भी है, क्योंकि इनसे पूर्व के भक्त पुराणों के अंतर्गत स्थान पाते हैं। अतः यह आचार्य मध्यकाल को पुराणकाल से अलग करते हैं। मध्यकाल का आरम्भ इन आचार्यों से होता है। इसीलिए वार्ता–साहित्य में भक्त एवं संतों का वर्णन करने से पूर्व इनका उल्लेख सर्वप्रथम किया गया है। भारतेन्दु भी छप्पयों में ऐतिहासिक चरित्रों का वर्णन इन्हीं से करते हैं। वह प्रथम पाँच छप्पयों में विष्णुस्वामी, निंबादित्य अर्थात् निम्बार्काचार्य, रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य का उल्लेख करते हैं। इन आचार्यों के साथ वह शंकराचार्य को स्थान नहीं देते। शंकराचार्य सातवीं शती में आते हैं। वह पौराणिक चरित्र नहीं है परन्तु लोकमानस उनकी सीमा को निश्चित कर देता है। शंकराचार्य के दार्शनिक मत के विरोध में आये अन्य संप्रदायाचार्य लोक में महत्व प्राप्त करते हैं। अतः समय की धुरी पर भले ही मध्यकाल की आरम्भिक सीमा निश्चित ना हो परन्तु भक्तमाल की दृष्टि एक सीमा जरूर निर्धारित करती है जिसका आधार लोकमानस ठहरता है।

इन आचार्यों के ऐतिहासिक तथ्यों के साथ–साथ भक्ति में दृढ़ करने वाले प्रसंगों को अलौकिक रूप में कहा गया है। विष्णुस्वामी[72] का जन्म आंध्र भूमि में हुआ था जहाँ इन्हे सुक जी से ज्ञान प्राप्त हुआ। यह सुक जी पौराणिक शुकदेव है। पौराणिक चरित्रों तथा मध्यकालीन भक्तों के बीच इसी प्रकार के संबंध का निरूपण भक्तमाल की सहज प्रवृत्ति है। लोक में शुकदेव एक अलौकिक चरित्र है जबकि विष्णुस्वामी ऐतिहासिक। अतः मध्यकालीन भक्तों को अलौकिक भूमि में स्थापित करने के लिए इसी प्रकार का वर्णन वार्ताकारों द्वारा किया गया है। लेकिन वहीं उनके कर्मों की सार्थकता की ओर भी भारतेन्दु संकेत करते है। वह लिखते हैं –

जग मैं अनेक सत बरस बसि नाम दान भुव उद्धरी।

श्रीबिष्नुस्वामि संसार मैं प्रगट राजसेवा करी।।

'वह जगत में अनेक वर्षों तक रहे। नाम दान करके जगत का उद्धार किया।' विष्णुस्वामी ने 'रुद्र संप्रदाय' की स्थापना की थी। इस संपदाय में अनेक मनुष्यों ने भगवद्–नाम की दीक्षा प्राप्त की थी। भारतेन्दु इसे ही उनका मंगलकर्म मानते हैं। दरअसल यही उनकी ऐतिहासिक उपस्थिति थी, जिसे वह रेखांकित करते हैं। अतः भक्त की सामाजिक एवं धार्मिक भूमिका में उनके कर्म ही वह ऐतिहासिकता है, जिसे भक्तमाल में रेखांकित किया गया है। नाम–दीक्षा देकर वह जगतोद्धार करते हैं। भक्तिकाल में

---

[72] श्रीसुक सों लहि ग्यान आंध्र भुव पावन कीनी।
नृप प्रधानता जगत जाल गुनि कै तजि दीनी।।
हठ करि हरि कों अपुने कर नित भोग लगायो।
भक्ति प्रचारन द्विबिध बंस भुव माहिं चलायो।।
जग मैं अनेक सत बरस बसि नाम दान भुव उद्धरी।
श्रीबिष्नुस्वामि संसार मैं प्रगट राजसेवा करी।।1।।

भक्त की उत्कृष्टता जगत–प्रपंच से बाहर होने में है। वहीं मनुष्य का उद्धार भी जगत की मोहमाया से मुक्त होने में है। विष्णुस्वामी, अन्य आचार्य तथा भक्त इसी ज्ञान से प्रकाशित होकर भगवान की प्राप्ति करते हैं।

दार्शनिक–निरूपण के साथ–साथ भक्तमाल में इसी प्रकार की वर्णनात्मकता दिखाई देती है। भारतेंदु हरिश्चंद्र निंबादित्य अथवा निम्बार्काचार्य[73] का परिचय देते हुए उन्हें दक्षिण का बताते हैं। इन्होंने दस छंदों (वेदांतकामधेनुदशश्लोक) में सम्पूर्ण वेद के सार को लिखा तथा अंधकार रूपी अज्ञान तथा पाखंड को समाप्त करके 'सुदर्शन बपु' की उपमा पाई। (तम पखंड दल मलन सुदरसन बपु कहवाए।) इनके एक प्रसंग का संकेत करते हुए भारतेंदु लिखते हैं – 'बनि अरक बृच्छ चढ़ि दरस दै अतिथि संक सब हरि लई।' यह पंक्ति लोक–प्रचलित प्रसंग को प्रस्तुत करती है। यह प्रसंग निम्बार्काचार्य को चमत्कारी पुरूष के रूप में दिखाता है। यह प्रसंग कुछ इस प्रकार है – 'एक समय एक महात्मा आचार्य जी से शास्त्रचर्चा करने लगे। चर्चा करते–करते सूर्यास्त हो गया। नियमतः सूर्यास्त होने के उपरांत महात्माजी भिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते थे। जब आचार्यजी ने उनसे भोजन ग्रहण करने को कहा तब उन्होंने अपने नियम के अनुरूप असमर्थता प्रकट की। निम्बार्काचार्य जी को यह देखकर अच्छा नहीं लगा कि कोई महात्मा उनसे गृह से भूखा जाये। इसीलिए इन्होंने नीम के वृक्ष पर चढ़कर चारो ओर प्रकाश फैला दिया। अतिथि के प्रसाद ग्रहण कर लेने पर सूर्यमण्डल अदृश्य हो गया।' इस प्रकार के अनेक प्रसंग लोक में सामान्य रूप से प्रचलित रहे हैं। दरअसल मध्यकाल में चमत्कार दिखाकर प्रभाव जमाना एक सामान्य प्रवृत्ति थी। इसीलिए इस प्रकार के चमत्कारिक प्रसंगों का प्रचार मध्यकाल में अधिक हुआ है। इन प्रसंगों के माध्यम से भक्त की उत्कृष्टता प्रमाणित करना ही उद्देश्य रहा है। निम्बार्काचार्य का यह प्रसंग एक ओर उनकी लोक प्रशस्ति को दिखता है तो दूसरी ओर उनके प्रभाव को आमजनमानस में स्थापित करता है। ऐसे ही प्रसंगों का संकेत कर भक्त एवं वैष्णवों के प्रभाव को स्थापित करना भी वार्ता–साहित्य का प्रमुख उद्देश्य है।

मध्यकाल की पृष्ठभूमि में शंकर–सम्मत तथा शंकर–विरोधी दो धाराएँ प्रवाहित थी। शंकराचार्य के विरोध में चतुःसंप्रदायाचार्यों का उल्लेख समय–समय पर हुआ है। यह आचार्य प्रमुख रूप से सगुणवादी थे, इसीलिए इनका विरोध शंकराचार्य के विरूद्ध था। यही जनस्मृति भी थी। इसीलिए भारतेन्दु भी उसी स्मृति का दोहराव करते हैं। वह रामानुजाचार्य[74] का उल्लेख शंकराचार्य के मायावाद

---

[73] द्रावड़ि भुव मैं अरुन गेह द्विज ह्वै प्रगटाए।
तम पखंड दल मलन सुदरसन बपु कहवाए।।
सकल बेद को सार कह्यौ दसही छंदन महँ।
सुक मुख सों भागवत सुनी नृप देवरात जहँ।।
बनि अरक बृच्छ चढ़ि दरस है अतिथि संक सब हरि लई।
श्रीनिंबादित्य सरूप धरि आपु तुंगबिद्या भई।।2।।

[74] अगनित तम पाखंड प्रगट ह्वै धूरि मिलायो।
बीर बनक सों सुदृढ़ भक्ति को पंथ चलायो।।
बादी गगन प्रतच्छ सेस बनि दरसन दीनो।
गुरु को चार मनोरथ पन करि पूरन कीनो।।

के खण्डनकर्त्ता के रूप में करते हैं। भारतेंदु लिखते हैं – 'मायाबादी घननाद मद रामानुज मर्द्दन कियो।' दरअसल भक्तों के संबंध में बन चुके मत का दोहराव ही भक्तमाल–परंपरा में दिखाई देता है। जनता की स्मृति में बने चित्र में भक्तमालकार कोई बदलाव नहीं लाता अपितु वह यथावत बना रहता है। कई बार समय के साथ प्रसंगादि का जुड़ाव और घटाव भी दिखाई देता है। लेकिन इससे भक्त के बने मानसचित्र में कोई बदलाव नहीं आता। ना ही वार्ताकार कोई संधान ही करता है। अपितु लोक–स्मृति को यथावत् लोक के समक्ष प्रस्तुत कर देता है। इन्हीं दोहराव में भक्त की ऐतिहासिकता बची रहती है। इसीलिए रचनात्मकता के अलावा ऐतिहासिक तथ्य यथावत् बना रहता है। यह रचनात्मकता ही इतिहास को नवीनीकृत करती रहती है।

नितनवीनीकृत होते हुए भी भारतेन्दु कई नई सूचनाएँ भी जोड़ते जाते हैं। इस संबंध में वल्लभाचार्य का वर्णन द्रष्टव्य है। भक्ति को प्रमुखता देने वाले आचार्य वल्लभ का वर्णन सबसे अंत में करते हैं।[75] वैसे तो भारतेंदु पुष्टि–संप्रदाय में दीक्षित थे। परंतु चतुसंप्रदायाचार्यों के समयानुक्रम में वल्लभाचार्य सबसे बाद में आते हैं। भारतेंदु द्वारा उपलब्ध सूचनाओं में इन्हें तिलँग–वंशी (ब्राह्मण वंश), भारद्वाज गोत्रीय, यजुर शाखा (यजुर्वेद को मानने वाले ब्राह्मण) का बताया गया है। इसी के साथ भारतेंदु इन्हें 'तैत्तिर कल' का भी बताते हैं। (भारद्वाज सुगोत्र यजुर साखा तैत्तिर कल।) ब्रज का 'तैत्तिर' यजुर्वेद के एक ऋषि तैत्तिरि को सूचित करता है जो कि कृष्ण यजुर्वेद के प्रवर्तक ऋषि तथा वैशंपायन के बड़े भाई थे। वहीं कृष्ण यजुर्वेद की छियासी शाखाओं में से एक तैत्तिरिक शाखा भी है, जिन्हें तित्तिरी या तैत्तिरि नामक ऋषि द्वारा आरंभ माना जाता है। अतः तैत्तिर कल से अभिप्राय इसी शाखा से है। भारतेंदु यज्ञनारायण को इनके कुलमणि अर्थात् कुल–पुरूष, लक्ष्मणभट्ट को इनके पिता, माता का नाम इल्लमगारू तथा लक्ष्मी को इनकी पत्नी बताया है। यह सूचनाएँ प्रामाणित हैं। वह आगे लिखते हैं –

'श्रीगोपीनाथ विट्ठल पिता भाष्यादिक बहु ग्रंथकर।

श्रीबिष्नुस्वामि पथ उद्धरन जै जै बल्लभ राजबर।।'

अर्थात् यह गोपीनाथ तथा विट्ठल के पिता, अनेक ग्रन्थों के प्रणेता तथा विष्णुस्वामी के पथ का उद्धार करने वाले हुए। नाभादास 'भक्तमाल' में वल्लभाचार्य का उल्लेख चतुःसंप्रदायाचार्यों के साथ ही कर देते हैं। वह स्वतंत्र पद में उनका उल्लेख नहीं करते। जबकि भारतेन्दु उनकी कुल, जाति, गोत्र, शाखा आदि

जा सरन जाइ निरदुंद ह्वै जीव नरक भय तजि जियो।
मायाबादी घननाद मद रामानुज मर्द्दन कियो।।3।।

[75] तिलँग बंस द्विजराज उदित पावन बसुधा तल।
भारद्वाज सुगोत्र यजुर साखा तैत्तिर कल।।
जग्यनारायन कुलमनि लछिमनभट्ट तनूभव।
इल्लमगारू गर्भ रत्नसम श्रीलक्ष्मी धव।।
श्रीगोपीनाथ बिट्ठल पिता भाष्यादिक बहु ग्रंथकर।
श्रीबिष्नुस्वामि पथ उद्धरन जै जै बल्लभ राजबर।।5।।

तक का वर्णन करते हैं। इस प्रकार की सूचनाओं का जनमानस में संरक्षित रहना असंभव है। परन्तु संप्रदायों के अंतर्गत वस्तुनिष्ठ सूचनाएँ बची रहती हैं। इन्हीं सूचनाओं का प्रयोग वार्ताकार करता है।

वल्लभाचार्य का वर्णन करने के बाद भारतेन्दु गुरु–परंपरा का स्मरण करते हैं। गुरु–परंपरा का स्मरण करते हुए भारतेंदु वल्लभाचार्य के पुत्रों का वर्णन दो छप्पयों में स्वतंत्र रूप से करते हैं। गोपीनाथ बड़े तथा विट्ठलनाथ छोटे बेटे हैं। जबकि संप्रदाय में विट्ठलनाथ का स्थान वल्लभाचार्य के बाद स्वीकार किया गया है। इसीलिए भारतेंदु भी विट्ठलनाथ के संबंध में पहले कहते हैं।[76] वल्लभ सुअन अर्थात् वल्लभ पुत्र कर्मनिष्ठ तथा धार्मिक कुल (विप्र) के तिलक हैं। जिन्होंने माया मत अर्थात् अद्वैतवाद के स्थान पर भक्ति के मार्ग को प्रकट किया। वह सखी भाव से स्वामिनी–दास्य रूप में ईश्वर की भक्ति करते थे। भारतेन्दु उनकी भक्ति की रीति का उल्लेख करते हैं। विट्ठलनाथ के वर्णन के साथ–साथ वह वल्लभ वंश का नामोल्लेख करते हैं। इनमें गोपीनाथ, गिरिधर, गोविन्दराय, बालकृष्ण, रघुपति, जदुनाथ, मुरलीधर, दामोदर, सुकल्याणराय का नामोल्लेख हुआ है। इनके अतिरिक्त भी बाद के एक पद में भारतेन्दु वल्लभकुल के रत्नों का नामोल्लेख करते हैं।[77] इस पद में वह रणछोर, पुरूषोत्तम, विट्ठलनाथ, गोविन्दलाल तथा जीवनी जी को स्थान देते हैं।

इसके अतिरिक्त मध्यकाल में मौजूद कृष्णभक्ति संप्रदायों को भी भारतेन्दु 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' में स्थान देते हैं। अग्रिम पदों में वह चैतन्य महाप्रभु तथा स्वामी हरिदास का स्वतंत्र पदों में वर्णन करते है। इसके अतिरिक्त वह माध्व संप्रदाय तथा वृंदावन के भक्तों का नामोल्लेख दो पदों में करते हैं। वृंदावन के भक्तों को 'बल्लभदास अनन्य' कहते हैं। इससे इन भक्तों का पुष्टिसंप्रदाय में दीक्षित होना स्थिर होता है।

यदि देखा जाये तो भारतेन्दु 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' का वर्णन करने से पूर्व वल्लभकुल तथा पुष्टिमत के विद्वान आचार्यों का मौलिक वर्णन प्रस्तुत करते हैं। अष्टछाप से पूर्व के भक्तों से यह स्पष्ट है। बाद के भक्तों में क्रमशः देवकीनन्दन, बादींद्रजित, द्वारकेस, हरिराय जी, आचार्य गिरिधर, गिरिधर की पूत्री श्यामा तथा वल्लभ कुल के रत्नों का वण्रन भारतेन्दु करते हैं। इन भक्तों में बादींद्रजित के संबंध में भारतेन्दु लिखते हैं –

---

[76] श्री श्री बल्लभ सुअन बिप्रकुल तिलक जगत बर।
माया मत तम तोम बिमर्दन ग्रीष्म दिवाकर।।
जन चकोर हित चंद भक्ति पथ भुव प्रगटावन।
अंतरंग सखि भाव स्वामिनी दास्य दृढ़ावन।।
दैवी जन मिलि अवलंब हित इक जा पद दृढ़ करि गह्यौ।
निज प्रेम पंथ सिद्धांत हरि बिट्ठल बपु धरि कै कह्यौ।। 6।।

[77] मोम चिरैया रचि कै श्री रनछोर उड़ाई।
पुरुषोत्तम प्रभु पद रचि लीला ललित सुनाई।।
बिट्ठलनाथ दयाल सतोगुनमय बपु धारे।
तैसेहिं गोबिंदलाल गोकुलनाधीस पियारे।।
जीवनजी जन जीवन करन बिधि ग्रंथ बिरचे नए।
ये बल्लभ कुल के रत्न मनि बालक सब भुव मैं भए।। 19 ।।

'श्रीबल्लभ पाछें बुधि बल आचार्य कहाए।'

* * *

'गाड़ा पै धुज रोपि जयति बल्लभ लिखि तापर।'

अर्थात् इन्होंने गाड़ा में पुष्टिमत की पताका फैराई तथा वल्लभाचार्य के बाद बुद्धि बल से यह आचार्य कहलाए। इन्हें भारतेन्दु पितांबर सुत कहते हैं। परन्तु यह पितांबर बल्लभ वंश में हुए है, इसकी कोई सूचना वह नहीं देते। इसी प्रकार द्वारकेस को वल्लभाचार्य के सिद्धांत में मन को स्थिर करने वाला बताया गया है।

'श्रीबल्लभ को सिद्धांत सब थित जिनके चित नित बिमल।'

अतः यह भी वल्लभाचार्य की पुष्टि को अनुभव करते है। इन्हें भारतेन्दु 'निजकुलकमल' कहते हैं। लेकिन इससे वल्लभवंश का संकेत नहीं होता।

वल्लभ कुल में हुए हरिराय जी का उल्लेख भारतेन्दु अग्रिम पद में करते हैं। इन्होंने गोकुलनाथ कृत वार्ता–द्वै पर टीकाएँ रची थी। यह विट्ठलनाथ के दूसरे पुत्र गोविन्दराय जी के पौत्र थे अर्थात् विट्ठलनाथ के प्रपौत्र। इनके पिता कल्याणराय जी तथा माता यमुना बहूजी थी। अतः यह वल्लभवंश में आते हैं। इनको भी वल्लभाचार्य के वंशज के रूप में उल्लेख नहीं किया गया है। यह सूचनाएँ आधुनिक शोधों से प्राप्त होती हैं। भारतेन्दु इन्हें सौ ग्रन्थों की रचना करने वाला तथा संस्कृत के विद्वान के रूप में वर्णन करते हैं। यही नहीं आगे के पदों में भारतेन्दु जी श्रीगिरिधर तााि उनकी पुत्री श्यामा का वर्णन करते हैं। संभवतः यह गिरिधर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के गुरु है, जिन्होंने संस्कृत में ग्रन्थों की रचना की थी। इनके संबंध में वह लिखते हैं –

पूरे करि ग्रन्थ अनेक पुनि आपहुँ बहु बिरचे नए।

लखि कठिन काल फिर आपुहि आचारज गिरिधर भए।।

इसी पद में इनका काशी में निवास करना बताया गया हैं। वहीं इनकी पुत्री श्यामा को भी वाराणसी में भगवान के प्रगटीकरण का अनुभव होने की बात कही गई है। भारतेंदु पूर्व में ही गृह निकट भक्ति–प्राप्ति की बात कह चुके हैं। अतः यह गिरिधर विट्ठलनाथ के पुत्र ना होकर भारतेन्दु के गुरु है, जो कि वल्लभकुल में ही हुए हैं। इन्हें भी वल्लभ कुल का नहीं बताया गया है। यह सूचनाएँ बाह्य स्रोतों पर ही अवलंबित है। परन्तु इससे एक बात तो स्पष्ट है कि अष्टछाप से पूर्व भारतेन्दु वल्लभवंश का ही वर्णन करते हैं। इसीलिए देवकीनंदन, बादींद्रजित तथा द्वारकेश भी वल्लभवंश में हुए जान पड़ते हैं। अतः भारतेन्दु चौरासी वैष्णव की वार्ता से अलग कुछ मौलिक वर्णन करते भी है तो वह वल्लभकुल का वर्णन

ही अधिक मिलता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र वल्लभकुल के आचार्यों एवं भक्तों का वर्णन छप्पयों में अवश्य करते हैं परन्तु वह इन्हें समयानुक्रम अथवा वंशानुक्रम में वर्णित नहीं करते। बल्कि उनका उद्देश्य केवल वल्लभ कुल का वर्णन करने की ओर ही रहता है, जो कि भक्तमाल परंपरा में नहीं मिलता।

इसके उपरांत भारतेन्दु अष्टछाप कवियों का वर्णन तथा 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में उपस्थिति भक्तों का पद्य में वर्णन करते हैं। इन वर्णनों में वह कुछ नवीन तथ्य प्रस्तुत नहीं करते बल्कि गोकुलनाथ कृत वार्ता–द्वै का ही पद्य में वर्णन करते हैं। इनमें भी 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' का पद्यों में वर्णन क्रमानुसार ही हुआ है। जबकि 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' में उल्लिखित भक्तों में से कुछ का स्वतंत्र पद में वर्णन करा गया है। इन पदों को वार्ता–द्वै से मिलान कर पहचाना जा सकता है।

निष्कर्ष : नाभादास कृत 'भक्तमाल' तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' के विश्लेषणात्मक अध्ययन द्वारा वार्ता–साहित्य का स्वरूप स्पष्ट होता है। वस्तुनिष्ठ इतिहास–लेखन की दृष्टि से भक्तमाल लघु आकार की श्रेणी में आती है। लघु आकार की होने के कारण अतीत के वस्तुनिष्ठ तथ्य इनमें कम ही स्थान पाते हैं। परन्तु भारतीय इतिहास की मूल–चेतना के रूप में देखें तो यह कृतियाँ अपने प्रयोजनों को पूर्ण करती है। दरअसल वर्तमान इतिहास–चिंतन अतीत का यथावत् चित्रण करता है। इसीलिए समय विस्तार के साथ वस्तुनिष्ठ तथ्यों की आवश्यकता निरंतर बनी रहती है। कहा जाये तो तथ्यों की यह आवश्यकता किसी भी इतिहास को पूर्ण इतिहास नहीं बनाती। जबकि इसके विपरीत भारतीय इतिहास अतीत का आदर्शात्मक–चित्रण करता है। आदर्शात्मक होने के कारण भारतीय इतिहास में वस्तुनिष्ठ तथ्यों की अनिवार्यता नहीं रहती। यह वस्तुनिष्ठ तथ्य अतीत का क्षणिक निरूपण करते हैं। जबकि भारतीय इतिहास का लक्ष्य शाश्वत होने में है। भारतीय इतिहास की इसी पृष्ठभूमि पर वार्ता–रूप 'भक्तमाल' खड़ा होता है। नाभादास इतिहास–पुराण परंपरा का अनुकरण करते हैं। 'संतन निरनै कियो मथि श्रुति पुरान इतिहास' – इस कथन से भक्तमाल का शास्त्र सम्मत होना स्पष्ट है। यही नहीं नाभादास 'भक्तमाल' की शुरूआत में पौराणिक–चरित्रों का स्मरण भी करते हैं। इन चरित्रों का केवल नाम–स्मरण किया गया है, भक्तमाल में उनका वर्णन नहीं हुआ है। शास्त्र सम्मत होते हुए नाभादास पौराणिक दृष्टि को स्वीकार करते हैं। वह ऐतिहासिक भक्तों का वर्णन करते हुए भी उनकी साम्यता पौराणिक चरित्रों में देखते हैं। इस प्रकार भक्त–मूल्यांकन की दृष्टि वह पुराणों से ही प्राप्त करते हैं। इन्हीं संकेतों के आधार पर भक्तमाल पुराण–इतिहास परंपरा से जुड़ता है।

भारतीय इतिहास परंपरा का विकास मध्यकालीन हिन्दी इतिहास–लेखन में होता है। मध्यकाल में साहित्य के प्रवृत्तिगत विकास में लोक अहम भूमिका अदा करता है। इसी क्रम में भक्तमाल के चरित्र–चित्रण में लोक अहम भूमिका अदा करता है। दरअसल लोक की आंतरिक प्रक्रिया ही वार्ता–साहित्य को निर्मित करती है। अर्थात् वार्ताओं में जिन भक्तों को स्थान दिया गया है वह लोक स्मृतियों के हिस्से हैं। नाभादास अवश्य ऐतिहासिक भक्तों का वर्णन करते हैं, परन्तु यह भक्त उनके

समकालीन या उनके परिचित ना होकर लोक–स्मृति द्वारा उनके केन्द्र बनते हैं। इसी प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' का लोक नाभादास के लोक से भिन्न है। भारतेन्दु का लोक दरअसल पुष्टि–संप्रदाय है। कहने का तात्पर्य यह है कि पुष्टि–संप्रदाय की स्मृतियों में संरक्षित भक्त ही उनके केन्द्र है। जैसा कि पहले भी कहा गया है कि भारतेन्दु गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' का पद्यानुवाद ही करते हैं। अतः भारतेन्दु केवल वार्ता–रूप 'भक्तमाल' में गद्यात्मक कृति का पद्यानुवाद करते हैं, जिन्हें गोकुलनाथ लिखते हैं। इसीलिए भारतेन्दु लोक–स्मृतियों पर अवलंबित नहीं होते। जबकि नाभादास का लोक सीमाबद्ध नहीं है। नाभादास रामभक्त या कृष्णभक्त की लघु सीमा में नहीं बँधते। बल्कि उनकी सीमा सगुणवादी भक्त हैं। वह रामभक्त तथा कृष्णभक्त का वर्णन करते हैं, लेकिन उनकी दृष्टि निर्गुणवादी भक्तों को स्थान नहीं देती। बहरहाल वार्ता–साहित्य में वार्ताकार लोक से भक्त–चरित्रों को ग्रहण करने वाली छलनी है। नाभादास की इतिहास–दृष्टि ही वह छलनी है जो कि वार्ता–साहित्य में भक्त–चयन करती है। अतः नाभादास की इतिहास–दृष्टि को समझना आवश्यक है।

नाभादास की इतिहास–दृष्टि मूलतः उनकी जीवन–दृष्टि ही है। वह मूलतः भक्त हैं इसीलिए भक्ति ही वह केन्द्र है, जो कि उन्हें भक्त–वर्णन के लिए प्रेरित करती है। दरअसल 'भक्ति' ही उनकी जीवन–दृष्टि है। इसीलिए वह 'भक्तमाल' की रचना भी भक्ति के उद्देश्य से करते हैं। अर्थात् भक्तों का गुणगान करते हुए वह 'भक्ति' ही कर रहे हैं। इसे वह आत्मकथन में स्वीकार भी करते हैं। अतः उनकी जीवन–दृष्टि ही उनकी इतिहास–दृष्टि को निर्मित करती है। परन्तु यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि यह इतिहास–दृष्टि प्रत्यक्षीय प्रदर्शित नहीं होती। अपितु इसको जीवन–दृष्टि के अंदर से ही परिभाषित किया जा सकता है। अतीत का प्रत्यक्ष लेखन नहीं होने के कारण उनकी इतिहास–दृष्टि भी अप्रत्यक्षीय है। इसीलिए नाभादास की अप्रत्यक्षीय इतिहास–दृष्टि का विश्लेषण किया गया है। इसी क्रम में वार्ता–साहित्य को भी अप्रत्यक्षीय इतिहास–लेखन कहा जाये तो गलत नहीं होगा।

नाभादास के अप्रत्यक्षीय इतिहास–लेखन की निर्मिति में 'भक्ति' अहम भूमिका अदा करता है। भक्ति–दर्शन ही ऐतिहासिक भक्तों का स्मरण करने को प्रेरित करता है। अतः 'भक्तमाल' का एक उद्देश्य भक्ति–दर्शन की स्थापना भी है। दर्शन के मूल पर वार्ता–साहित्य खड़ा होता है। ऐतिहासिक भक्तों का चरित्र–चित्रण करते हुए भक्ति की स्थापना नाभादास का उद्देश्य है। इसीलिए नाभादास 'भक्त भक्ति भगवंत और गुरु' को वार्ताओं का विषय स्वीकारते हैं। परन्तु यह दर्शन भक्ति का स्वच्छंद निरूपण हो – ऐसा नहीं कहा जा सकता। बल्कि रामानुजाचार्य के 'विशिष्टाद्वैतवाद' तथा रामानन्द की शिष्य–परंपरा में होने के कारण उसी दर्शन को स्थापित करते हैं। यही कारण है कि वह भक्तमाल के अंतर्गत रामानन्द के निर्गुणवादी शिष्यों का वर्णन करते हैं। परन्तु रामानन्द के शिष्यों के अतिरिक्त किसी अन्य निर्गुणवादी भक्तों का वर्णन भक्तमाल में नहीं हुआ है। इसीलिए उनकी सीमा सगुणवादी भक्त ही ठहरते हैं। रामानुजाचार्य का 'विशिष्टाद्वैतवाद' वेद पर विश्वास करता है, इसीलिए आस्तिक–दर्शन है। इसी दृष्टि से नाभादास मध्यकाल में भक्त–चयन करते हैं, इसीलिए सगुणवादी भक्तों का उल्लेख उन्होंने किया है।

वह मूलतः रामभक्त है, लेकिन सगुणवादी भक्तों में उन्होंने राम–कृष्ण का भेद नहीं रखा है। अतः 'भक्तमाल' संप्रदाय–दर्शन का अनुकरण करते हुए सगुणधारा का साहित्य है। सगुणवादी सीमा ही उनकी इतिहास–दृष्टि की सीमा भी है। इस सीमा के साथ वह ऐतिहासिक चरित्रों का चयन करते हैं।

भारतीय इतिहास के दार्शनिक प्रयोजन के समान नाभादास भी 'भक्तमाल' में दार्शनिक प्रयोजन को सफल करते हैं। उनका प्रयोजन 'भक्ति–दर्शन' की स्थापना है। उसमें भी रामानन्द का भक्ति–दर्शन ही उनका प्रयोजन है। परन्तु अन्य वार्ता–साहित्य के बरक्स 'भक्तमाल' पर संप्रदाय–दर्शन की स्थापना का जोर कम ही दिखता है। वह मुक्त होकर केवल ऐतिहासिक भक्तों का वर्णन करते हैं। यह दार्शनिक प्रयोजन ही भक्तमाल को शाश्वतता प्रदान करता है। 'भक्ति–दर्शन' की स्थापना भक्तमाल के मूल में होने को नाभदास की दृष्टि नहीं कहा जा सकता। बल्कि यह उनका युग–बोध है, जिसके अनुरूप वह भक्त–वर्णन करते हैं। पहले भी कहा गया है कि वार्ता–साहित्य पर लोक का दबाव ज्यादा है। दरअसल तत्कालीन युग–बोध ही लोक–चेतना है, जो कि वार्ता–साहित्य में स्पष्ट परिलक्षित होती है। यह लोक–चेतना ही नाभादास की इतिहास–दृष्टि में परिलक्षित होती है। लोक जिन भक्तों को स्मृति में संरक्षित करता है नाभादास उन्हीं स्मृतियों से भक्त–वर्णन को 'भक्तमाल' में उद्धृत करता है।

लोक–चेतना ही 'भक्तमाल' की दृष्टि, कथ्य तथा प्रयोजन है। नाभादास 'भक्तमाल' की रचना लोक को दृष्टिगत रखते हुए करते हैं। वह एक ओर भक्त–वर्णन करते हुए 'भक्ति' करते हैं तो दूसरी ओर लोक में 'भक्ति' की उपजाना चाहते हैं। इसीलिए वह लोक स्मृतियों का पुनःसृजन करते हैं। उन चरित्रों के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति के लिए भक्ति को महत्वपूर्ण बताते हैं। वह भक्ति की व्याख्या भक्त–प्रसंगों के माध्यम से करते हैं। यह भक्त–प्रसंग दर्शन की स्थापना के साथ भक्ति के आचार–पक्ष को भी प्रस्तुत करते हैं। यह आचार–पक्ष या व्यावहारिक पक्ष लोक के आध्यात्मिक विकास को केन्द्रीत करता है। अतीत के माध्यम से वर्तमान को सुन्दर करने की दृष्टि इसी आध्यात्मिक उत्थान को लक्ष्य करती है। भक्तों का आदर्श–चरित्र अनुकरणीय रूप में लोक के समक्ष प्रस्तुत होता है।

दरअसल लोक में संरक्षित होते हुए इन स्मृतियों में दर्शन की पृष्ठभूमि तथा आध्यात्मिक उत्थान का लक्ष्य धुँधला होता है। वार्ताकार इस धुँधलके को साफ कर रचनात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। 'आदर्श–स्थापना' उद्देश्य होने के कारण 'काव्य' (साहित्य) साधन के रूप में दिखाई देता है। कल्पना के माध्यम से यह चरित्र आदर्श स्थिति को प्राप्त करते हैं। इस क्रम में ऐतिहासिक चरित्रों की वस्तुनिष्ठता खण्डित अवश्य होती है, लेकिन समाप्त नहीं होती। क्योंकि शाश्वत होना ही 'भक्तमाल' का लक्ष्य है इसीलिए वस्तुनिष्ठता का आग्रह नाभादास में नहीं दिखता। इन प्रसंगों का एक ओर उद्देश्य भक्ति–रीति को भी प्रस्तुत करना है। 'भक्तमाल' में वर्णित चरित्र जिन रीतियों से भगवद्–भक्ति करते हैं नाभादास उन रीतियों को रेखांकित करते हैं। लोक इन भक्ति–रीतियों का अनुकरण करता है।

लोक–चेतना ही उपजीव्य होने से 'भक्तमाल' को जन–चेतना का इतिहास कहा जाये तो गलत नहीं होगा। इसीलिए इन कृतियों के संश्लेषणात्मक अध्ययन से मध्यकाल की ऐतिहासिक चेतना का भी परिचय मिलता है। नाभादास कृत 'भक्तमाल' उत्तर–भारत की जन–चेतना को समझने में अहम भूमिका अदा करता है। वह इसलिए भी क्योंकि भक्तमाल में सम्मिलित भक्त उत्तर–भारत के अलग–अलग स्थानों से हैं। यह वस्तुनिष्ठ तथ्य भक्ति के आवरण के साथ प्रस्तुत होते हैं। 'भक्तमाल' का स्वरूप शाश्वत है। परन्तु इसके बावजूद भक्तमाल में अतीत से जुड़े ऐतिहासिक तथ्यों की पहचान संभव है। नाभदास भक्तों का वर्णन करते हुए कुछ ऐतिहासिक क्रम का निर्वाह करते हैं। जैसे कि गुरू–परंपरा का स्मरण करते हुए संप्रदायाचार्यों का ऐतिहासिक क्रम बताना। संप्रदाय में दीक्षित होने की वजह से भी उनका क्रमिक वर्णन भक्तमाल में हुआ है। इसके अतिरिक्त कुछ भक्त–वार्ता में स्थान विशेष का उल्लेख भी हुआ है। यह स्थान धार्मिक महत्ता के कारण लोक–स्मृति के अंग बनते हैं। इसीलिए इनका उल्लेख भक्तमाल में भी उनकी महत्ता के कारण होता है।

अतः नाभादास कृत 'भक्तमाल' का यही स्वरूप वार्ता–रूप भक्तमाल का प्रतिनिधित्व करता है। शेष भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' में गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' का पद्यानुवाद होने के कारण उसमें भारतेन्दु की इतिहास–दृष्टि की पहचान असंभव है। वह उन भक्तों का मूल कृति के अनुरूप क्रमशः वर्णन करते हैं। वह ना तो लोक से इन चरित्रों को उठाते हैं और ना ही संप्रदाय में प्रशस्ति पात्र चरित्रों का वर्णन करते हैं। उनका केन्द्र 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' ही है। यह अवश्य है कि वार्ता–रूप भक्तमाल की प्रशस्ति का उनपर प्रभाव पड़ा है। इसीलिए वह भक्तमाल को एक उपक्रम के रूप में देखते हुए उसकी परंपरा को निर्दिष्ट करते हैं। इसीलिए वह गद्यात्मक कृति का पद्यानुवाद करते हैं। यह अवश्य है कि वल्लभ–वंश का ऐतिहासिक क्रम इसमें जरूर देखने को मिलता है। साथ–ही–साथ भारतेन्दु स्ववंश वर्णन की परंपरा भी आधुनिककालीन दिखाई देती है, क्योंकि इससे पूर्व यह परंपरा वार्ता–साहित्य में अदृष्ट है। इसीलिए 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' पर अधिक विश्लेषण नहीं किया गया है।

पंचम अध्याय

वार्ता–रूप 'पुष्टिमार्गीय वार्ता' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

5.1 गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' का सामान्य परिचय

5.2 गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

5.3 गोकुलनाथ कृत 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

पंचम अध्याय : वार्ता–रूप 'पुष्टिमार्गीय वार्ता' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

'पुष्टिमार्गीय वार्ता' के नाम से ही उसके पुष्टि–संप्रदाय से जुड़ाव का परिचय मिल जाता है। वार्ता–साहित्य की निर्मिति में संप्रदायों की भूमिका अहम रही है। इनमें भी पुष्टिमार्ग एक स्वतंत्र वार्ता–रूप का प्रयोग करता है। देखा जाये तो गद्यात्मक वार्ताओं की परंपरा पुष्टिमार्ग में ही दिखाई देती है। इसीलिए इस रूप–परंपरा का नाम सहजता के लिए 'पुष्टिमार्गीय वार्ता' कहा गया है। संप्रदाय प्रभाव के कारण इन वार्ताओं में वस्तुनिष्ठ ऐतिहासिक तथ्य बहुत मिलते हैं। इसीलिए इस रूप–परंपरा का अध्ययन प्रस्तुत शोध में सम्मिलित है।

5.1 गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' का सामान्य परिचय

वार्ता–रूप 'पुष्टिमार्गीय वार्ता' में गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' का विशेष स्थान है। वार्ता–साहित्य के अंतर्गत पाँच रूपों में गद्यात्मक रचनाओं के अंतर्गत गोकुलनाथ की कृतियाँ प्राप्त होती हैं। गोकुलनाथ का जन्म संवत् 1608 में मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी के दिन हुआ है। यह वल्लभाचार्य के पौत्र तथा विट्ठलनाथ के पुत्र थे। हिंदी साहित्य में इनकी प्रशस्ति वार्ता–द्वै (चौरासी वैष्णव की वार्ता तथा दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता) के कारण है। गोकुलनाथ ने पुष्टिसंप्रदाय में दीक्षित भक्तों का वर्णन इन दो कृतियों में किया है। पुष्टि संप्रदाय में वल्लभाचार्य तथा विट्ठलनाथ का विशेष सम्मान है। इसीलिए गोकुलनाथ 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में वल्लभाचार्य के शिष्यों का वर्णन करते हैं तो 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' में विट्ठलनाथ के शिष्यों का। अतः इन कृतियों के माध्यम से पुष्टि संप्रदाय के इतिहास (विट्ठलनाथ के शिष्यों तक) का परिचय मिलता है। गद्यात्मक होने के कारण इनमें भक्तों का इतिवृत्त ऐतिहासिक सूचनाओं के साथ उपस्थित होता है। इन वार्ताओं में भक्तों के नाम, जाति, स्थान, नाम–दीक्षा, निर्वाह–कार्य, स्वभाव आदि के साथ–साथ संप्रदाय की रीति के अनुकरण का वर्णन हुआ है। पद्यात्मक रूपों के मुकाबले इनमें ऐतिहासिक–सूचनाएँ कहीं अधिक मिलती हैं। इनमें तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिचय मिलता है। यही नहीं युगीन परिस्थिति के साथ–साथ राजशाही–व्यवस्था आदि पर भी यह ग्रन्थ पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। ऐतिहासिक होते हुए भी इन वार्ताओं का

मूल पुष्टि–संप्रदाय में प्रचलित भक्ति–दर्शन की स्थापना ही है। अतः यह वार्ताएँ भक्ति के आवरण के साथ इतिहास–लेखन का कार्य करती हैं, जिसे अप्रत्यक्षीय इतिहास–लेखन कहा जाये तो गलत नहीं होगा।

'चौरासी वैष्णव की वार्ता' की लोकप्रियता का परिचय उसकी अनेक हस्तप्रतियों से हो जाता है। यह प्रतियाँ गोकुल, मथुरा, गिरिराज, नाथद्वारा, सिद्धपुर, पाटन, अहमदाबाद, बड़ौदा, डभोई, संखेड़ा, बहादुरपुर आदि स्थानों में मिलती हैं। इन प्रतियों का समय संवत् 1752, 1778, 1804, 1825, 1896, 1900 तथा 1940 है, जो कि समय विस्तार में इन वार्ताओं की उपस्थिति दिखाता है। इसी प्रकार 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' की प्रतियाँ बहादुरपुर, बड़ौदा, बम्बई तथा आगरा से प्राप्त होती हैं। बड़ौदा से सर्वाधिक आठ प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। इनका समय संवत् 1888, 1904, 1800, 1900, 1952, 1954 तथा कुछ अज्ञात हैं। वहीं बहादुरपुर वाली कृति का समय संवत् 1871 है। बहरहाल लोक में 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' ही अधिक प्रशस्ति पाती है। इसीलिए इसी की अधिक प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। अतः उपर्युक्त समय विस्तार से स्पष्ट है कि लोक में इन कृतियों को सम्मान प्राप्त था। यहाँ तक कि आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' का पद्यानुवाद करते हैं।

गोकुलनाथ कृत 'चौरासी और दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' अध्ययन से थोड़ा दूर भी रहीं। इसका कारण हिंदी विद्वानों की दृष्टि रही। मध्यकाल में सामान्यतः गद्य रचनाएँ कम ही मिलती हैं। इसीलिए हिंदी साहित्येतिहास में हिंदी के भाषागत–विकास को लेकर वार्ता–द्वै (चौरासी वैष्णव की वार्ता तथा दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता) पर विचार किया गया है। भाषा की दृष्टि से विद्वान इन कृतियों को परिनिष्ठित भाषा की श्रेणी में नहीं रखते और ना ही साहित्यिक–सौष्ठव से पूर्ण मानते हैं। इनका अध्ययन या तो गद्यात्मक–शैली में होने के कारण होता है या फिर अष्टछाप कवियों की जीवनी होने के कारण। बहरहाल हिंदी साहित्य के इतिहासकार इन कृतियों का अध्ययन साहित्येतिहास लिखने के लिए भी करते हैं। ऐसे में वह उन भक्तों को ही अपना केन्द्र बनाते हैं, जिन्होंने काव्य–जगत में सहयोग किया। अतः इन कृतियों में मौजूद इतिहास की ओर विद्वानों का ध्यान कम ही गया है।

गोकुलनाथ कृत वार्ताओं का पुष्टिसंप्रदाय में विशेष महत्व है। दरअसल यह संप्रदाय का केवल साहित्यिक–रूप हो – ऐसा नहीं है। बल्कि संप्रदाय में समय–समय पर इन वार्ताओं का विधिवत् आयोजन भक्त–मण्डलियों में किया जाता था। इनका उल्लेख वार्ताओं में हुआ है। इसीलिए साहित्यिक वार्ताएँ पुष्टिसंप्रदाय में आयोजित होने वाले उपदेशों का ही प्रतिरूप हैं। कहा जाये तो यह पुष्टि संप्रदाय में मौजूद एक व्यवस्था थी, जिसका निर्वाह गोकुलनाथ चौरासी तथा दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता में करते हैं।

यह वार्ताएँ पुष्टिमार्ग की दार्शनिक–दृष्टि का प्रतिरूपण भक्त–प्रसंगों के माध्यम से करती हैं। पुष्टिमत दार्शनिक सिद्धांत 'शुद्धाद्वैतवाद' का ही अनुकरण करता है, किन्तु स्वतंत्र विकास और भक्ति–तत्व की भिन्नता के कारण 'पुष्टि संप्रदाय' पृथक अस्तित्व ग्रहण करता है। विष्णु संप्रदाय के तत्कालीन आचार्य बिल्वमंगल के पश्चात् आचार्य वल्लभ संप्रदाय की आचार्य–गद्दी पर आसीन होते हैं। शंकराचार्य के मायावाद का खण्डन करते हुए वह नवीन दर्शन प्रस्तुत करते हैं। वल्लभाचार्य विष्णुस्वामी के ही सिद्धांत को विकसित और व्यवस्थित करते हैं। शंकराचार्य के 'अद्वैतवाद' तथा रामनानुजाचार्य के 'विशिष्टाद्वैतवाद' से अलग दिखाने के लिए अद्वैत में शुद्ध शब्द जोड़ते हैं। 'शुद्धाद्वैत' कहते हुए वह ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। पूर्व के आचार्य प्रस्थान त्रयी (वेद, गीता और ब्रह्मसूत्र) पर भाष्य लिखकर नवीन दर्शन की स्थापना करते हैं। वल्लभाचार्य इनके अतिरिक्त भागवत को भी सम्मिलित करते हुए 'प्रमाण चतुष्ट्य' पर विचार करते हैं।

'पुष्टि संप्रदाय' के नाम की प्रेरणा भागवत में उल्लिखित 'पोषणं तदनुग्रहः' से ली गई है। अर्थात् भगवान के अनुग्रह से ही जीवात्मा का वास्तविक पोषण (पुष्टि) होना संभव है। वल्लभाचार्य का मत था कि 'भगवान की कृपा से ही जीव के हृदय में भगवद्–भक्ति का संचार होता है और उसी से भगवद्–प्राप्ति भी होती है।' अतः यही भगवद्–अनुग्रह है, जिसकी आकांक्षा भक्त करता है। भगवद्–अनुग्रह ही साधन एवं साध्य है। वल्लभाचार्य भगवद्–प्राप्ति में काल, कर्म और स्वभाव को बाधक बताते हैं। सिद्धांत में 'आविर्भाव' और 'तिरोभाव' का विशेष महत्व है। आचार्य वल्लभ सृष्टि को दो प्रकार का बताते हैं – जीवात्मक और जड़ात्मक। इन्हीं दो तत्वों के मिश्रण से सृष्टि–उत्पत्ति होती है। चैतन्य, जड़ और प्रकृति के अतिरिक्त इस संसार में कुछ नहीं है। इन तीनों के द्वारा संसार दृश्यमान होता है और लोप होता है। इसे स्पष्ट किया जाये तो ब्रह्माण्ड में परमाणु नित्य है, उसका नाश नहीं होता। जिसे मनुष्य नाश कहते हैं दरअसल वह रूपांतरण है। परमाणु में रूपांतरण होने से वस्तुओं का तिरोभाव होता है। इसी रूपांतरण को वल्लभाचार्य आविर्भाव और तिरोभाव के रूप में बताते हैं।

शंकराचार्य 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः' कहते हैं। अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव भी ब्रह्म है, वह ब्रह्म से अलग नहीं हैं। जबकि इसके विपरीत वल्लभाचार्य का मत है – 'ब्रह्म सत्यं जगत् सत्यं, अंशो जीवो हि नापरः'। अर्थात् ब्रहम सत्य है, जगत् सत्य है और जीव भगवान का अंश है, वह परब्रह्म नहीं। अतः परब्रह्म एक है, किन्तु उसके अनेक नाम–रूप हैं। वह सगुण होते हुए भी निर्गुण तथा निराकार होते हुए भी साकार है। अक्षरतत्व, कर्मतत्व, कालतत्व और स्वभाव – ये सब परब्रह्म के ही स्वरूपांतर्गत हैं। इसके तीन मुख्य धर्म माने गये हैं – सत्, चित् और आनंद। इसीलिए ब्रह्म को सच्चिदानंद कहा गया है। शुद्धाद्वैतवाद सिद्धांत के अनुसार परब्रह्म के आधिदैविक स्वरूप को 'पुरूषोत्तम', आध्यात्मिक स्वरूप को 'अक्षरब्रह्म' और भौतिक स्वरूप को 'जगत्' कहते हैं। परब्रह्म को जब बाह्य प्रकार से रमण करने की इच्छा

होती है तब वह अपने आनंद धर्मों वाले आधिदैविक 'पुरूषोत्तम' रूप से कृष्ण के रूप में प्रकट होकर अपनी शक्तियों के साथ बाह्य रमण करता है। श्रीस्वामिनी, चन्द्रावती, राधा आदि को कृष्ण की आधिदैविक शक्तियाँ हैं, जिनसे अनंत भाव रूपी सखी–सहचरियाँ प्रकट होती हैं। इन शक्तियों के साथ क्रीड़ा करने के लिए पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण अवतार ग्रहण करते हैं।

शुद्धाद्वैत सिद्धांत जीव को ब्रह्म का चिदांश स्वीकारता है। वल्लभाचार्य ब्रह्म तथा जीव को क्रमशः अग्नि और चिंगारी के रूप में व्याख्यायित करते हैं। अर्थात् अग्नि की चिनगारियों की तरह ब्रह्म में से जीवों की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार अग्नि और चिंगारी के स्वरूप में भेद नहीं है उसी प्रकार ब्रह्म और जीव में स्वरूपगत भेद नहीं है। इसके बावजूद जीव ब्रह्म नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्म अंशी है। अर्थात् जिस प्रकार छोटी–बड़ी चिनगारियों में अग्नि का न्यूनाधिक अंश विद्यमान होता है, उसी प्रकार जीवों में ब्रह्म का अंश विद्यमान है। जीव और ब्रह्म में यह अंतर है कि जीव की शक्ति अपनी सत्ता के अनुसार सीमित है जबकि ब्रह्म की शक्तियाँ असीम और अनंत है। वल्लभाचार्य जीव की तीन अवस्थाओं को स्वीकार करते हैं – शुद्ध, संसारी और मुक्त।

- शुद्धावस्था :– इस अवस्था में जीवों में आनंदात्मक भगवद्–ऐश्वर्यादि धर्मों की स्थिति रहती है अर्थात् 'जीव' ब्रह्म रूप होता है।
- संसारी अवस्था :– जब ईश्वरीय इच्छा से जीव का माया से संबंध होता है तब उसमें ऐश्वर्यादि भगवत् धर्म तिरोहित हो जाता हैं। इस अवस्था में जीव 'मैं' और 'मेरे' में फँसकर सांसारिक मोह–माया में रम जाता है। इसे ही संसारी अवस्था कहा गया है।
- मुक्तावस्था :– इस अवस्था में जीव अपने को दीन, हीन और पराधीन मानकर अनेक प्रकार के दुख उठाता है। भगवत–अनुग्रह से जब वह भगवान की शरण लेता है तब माया के भ्रमजाल से मुक्त हो जाता है। वह अपने मूल स्वरूप को पुनः प्राप्त कर लेता है। यही जीव की मुक्तावस्था है।

'जगत्' को शुद्धाद्वैत में परब्रह्म का भौतिक रूप माना गया है। वल्लभाचार्य के मतानुसार भगवान सत्धर्म से 28 तत्व रूप में जगत् स्वरूप होते हैं। भगवत् कृति जन्य और भगवत् स्वरूपात्मक होने के कारण जगत् भी ब्रह्म के समान सत्य है। उनकी यह दृष्टि भी शंकराचार्य के विपरीत ठहरती है। शुद्धाद्वैत सिद्धांत 'जगत्' और 'संसार' को भिन्न रूप में देखता है। वह जगत् को ब्रह्मरूप होने के कारण सत्य स्वीकारता है जबकि 'संसार' मायाग्रस्त जीव के अविद्या–अज्ञानादि से माना हुआ 'मैं' और 'मेरेपन' की कल्पना मात्र है, इसलिए असत्य है। प्रलयकाल में जब भगवान आत्मरमण करते हैं तब भी जगत् का नाश नहीं होता बल्कि उसका 'तिरोभाव' हो जाता है।

'माया' को परिभाषित करते हुए शुद्धाद्वैतवाद सिद्धांत उसे परब्रह्म की स्वरूपा शक्ति मानता है। इसीलिए वह इसे आत्ममाया भी कहता है। यह माया परब्रह्म के अधीन है। सुबोधिनी टीका में वल्लभाचार्य माया के दो रूप बताते हैं – व्यामोहिका और करण। माया के 'व्यामोहिका' रूप में वह भगवान के चरणों की दासी है, जो भगवान के सेवक के पास जाने में लज्जित होती है। वहीं दूसरा 'करण' रूप जगत् की उत्पत्ति, उसका पालन तथा संहार करती है।

इसी दार्शनिक भूमि पर वल्लभाचार्य भक्ति के दो रूप बताते हैं – मर्यादा–भक्ति तथा पुष्टि–भक्ति। मर्यादा–भक्ति वेद–शास्त्र विहित साधनों की आवश्यकता और फल की आकांक्षा रखती है जबकि पुष्टि–भक्ति साधन निरपेक्ष और आकांक्षा रहित होती है। पुष्टि–भक्ति में भगवान का अनुग्रह ही सर्वसिद्धियों का हेतु है। भक्ति के साथ ही पुष्टिमार्गीय सेवा भी अपनी विशिष्टता रखती है। सामान्यतः 'सेवा' और 'पूजा' समानार्थक माने गये हैं। परन्तु पुष्टि संप्रदाय इनमें अंतर स्वीकार करता है। इसे स्पष्ट करते हुए उपास्य देव की स्नेहपूर्वक की गई परिचर्या 'सेवा' कहलाती है जो विधि–विधान की अपेक्षा भावात्मकता से की जाती है। जबकि स्नेह और भावना की उपेक्षा कर विधि–विधान के आग्रह से की गई परिचर्या 'पूजा' कहलाती है। सेवा पुष्टिमार्गीय संप्रदाय की विशेषता है जबकि पूजा मर्यादामार्गीय संप्रदायों में प्रचलित है। पुष्टिमार्ग में भी सेवा के भी दो प्रकार बताये गये हैं – क्रियात्मक सेवा तथा भावात्मक सेवा। क्रियात्मक सेवा के भी दो स्वरूप हैं – तनुजा और वित्तजा। तनुजा के अंतर्गत स्वयं द्वारा तथा स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादि द्वारा की गई शारीरिक सेवा आती है जबकि धन–सम्पत्ति और उनसे संबंधित साधनों से की गई सेवा वित्तजा कहलाती है। पुष्टिमार्ग में क्रियात्मक सेवा पर अधिक बल दिया गया है। पुष्टिमार्ग में सेवा के दो क्रम प्रचलित है। एक, प्रातःकाल से सायंकाल तक की 'नित्योत्सव सेवा' और दूसरी, बारह माह और छः ऋतुओं की 'वर्षोत्सव सेवा'। पुष्टिमार्ग में ब्रज की गोपियों को गुरु–रूप माना गया है इसीलिए उन्हीं की प्रेम भावना के अनुसार सेवा विधि का निर्माण किया गया है। नित्योत्सव सेवा में दिन के आठ प्रहर के आठ उत्सव होते हैं – मंगला, श्रृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या आरती तथा शयन। वर्षोत्सव सेवा में बारह माह और छः ऋतुओं के उत्सव, अवतारों की जयन्ती, लोक–त्योहारों और वैदिक पर्वों को शामिल किया गया है।

इसके अतिरिक्त पुष्टि संप्रदाय में नौ सेव्य स्वरूपों को भी विशेष मान्यता दी गई है। इन नौ स्वरूपों को नवनिधि रूप भी कहा जाता है। यह श्रीकृष्ण के ही भिन्न प्रतिरूप हैं। इनमें नवनीतप्रिय जी (नाथ द्वारा), मथुरेशजी (जतीपुरा ब्रज), विट्ठलनाथ जी (नाथ द्वारा), द्वारकाधीश जी (कांकरोली), गोकुलनाथ जी (गोकुल), गोकुलचन्द्रमा जी (कामबन, राजस्थान), मदनमोहन जी (कामबन, राजस्थान) तथा बालकृष्ण जी (सूरत, गुजरात) हैं। इन्हें मूर्ति ना कहकर 'स्वरूप' कहा गया है। इन स्वरूपों के अतिरिक्त पुष्टि–संप्रदाय में गिरिराज पहाड़ी और यमुना नदी की भी महत्ता है।

पुष्टि–संप्रदाय का उपर्युक्त दर्शन वार्ता–द्वै में भी स्पष्ट दिखाई देता है। इसका निरूपण विश्लेषण के दौरान किया गया है। वार्ताओं को देखकर स्पष्ट होता है कि दर्शन का आचार–पक्ष का निरूपण ही वार्ताओं का मूल उद्देश्य है। इसीलिए वार्ता–द्वै के अध्ययन से पूर्व पुष्टिमार्ग के दर्शन से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

5.2 गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' गद्यात्मक वार्ता–साहित्य है। मध्यकालीन वार्ताओं में पुष्टिमार्गीय वार्ताएँ ही गद्य में प्राप्त होती हैं, शेष सभी ग्रन्थ पद्यात्मकता ही हैं। गद्य के विकास की दृष्टि से वार्ता–द्वै (चौरासी वैष्णव की वार्ता तथा दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता) की महत्ता लगभग सभी विद्वानों ने मानी है। पुष्टिमार्गीय वार्ताओं का महत्व मध्यकाल में पुष्टि संप्रदाय के इतिहास को प्रस्तुत करने के कारण भी है। वार्ता–स्वरूप को पुष्टिमार्गीय संप्रदाय में विशेष महत्व दिया गया है। यहाँ वार्ता–स्वरूप से केवल साहित्यिक–रूप को निर्दिष्ट नहीं किया गया है, बल्कि पुष्टि–संप्रदाय में प्रचलित एक व्यवस्था को सूचित किया गया है, जिसका स्पष्टीकरण वार्ताओं को पढ़ते हुए हो जाता है। साहित्य में वार्ता–रूप के प्रभाव का परिचय वार्ता–ग्रन्थों के लेखन से हो जाता है, जिनमें – दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता, निजवार्ता, घरुवार्ता, बैठक चरित्र (आचार्य द्वय अर्थात् वल्लभाचार्य तथा विट्ठलनाथ के चरित्र), श्रीआचार्य जी की प्राकट्य वार्ता, भावसिंधु, श्रीनाथजी की प्राकट्य वार्ता – प्रमुख हैं। अतः समकालीन युग में जहाँ यह वार्ताएँ ऐतिहासिक महत्व रखती हैं, वहीं पुष्टिमार्गीय संप्रदाय में इनका धार्मिक एवं दार्शनिक महत्व भी है।

'वार्ता' का शाब्दिक अर्थ 'बातचीत' है, अर्थात् दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच बातचीत। परन्तु इसका मूल भावार्थ भारतीय परंपरा में भिन्न रहा है। यक्ष युधिष्ठर से अनेक प्रश्न करते हैं उनमें से एक प्रश्न वह यह भी करते हैं कि 'वार्ता क्या है?' इसके प्रतिउत्तर में युधिष्ठर कहते हैं कि

> ''काल पृथ्वी के पात्र में आकाश का ढंकना बंद करके रात–दिन के ईधन में सूर्य की आग जला कर, मास, ऋतु–रूपी डोई चला कर सब प्राणियों को पकाता है, यही वार्ता है।''[1] (महाभारत, वनपर्व, अ. 313, 15–20)

इस उत्तर में वार्ता का अर्थ उस विषय से लिया जाता है जो कि समाचार है, और जानने योग्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिसका जानना ज्ञान के लिए अत्यंत आवश्यक है। जो कि मनुष्य को पकाता अर्थात्

[1] टण्डन, डॉ. हरिहरनाथ, वार्ता साहित्य : एक वृहत् अध्ययन, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, 1960 (भूमिका), पृ.सं. 1

अनुभवी बनाता है। इससे एक बात तो स्पष्ट है कि महाभारत के समय वार्ता तथा कथा के बीच द्वैत था, जो कि मध्यकाल में भी द्रष्टव्य है। अतः वार्ता एक गूढ़ विषय के पर्याय रूप में प्रयुक्त होने वाला शब्द है। वार्ता के इसी भावार्थ को चौरासी वैष्णव की वार्ता में देखा जा सकता है। इस संबंध में कृष्णदास मेघनछत्री की वार्ता का निम्नांश द्रष्टव्य है –

> ''पाछें कदाचित गोप्य वार्ता होय तो सबनके आगे कहै। पाछें काहू वैष्णव ने श्रीआचार्यजी महाप्रभून सों कह्यो जो कृष्णदास सबनके आगे गोप्यवार्ता कहत है।''[2]

यह स्पष्ट था कि वार्ता से अभिप्राय ज्ञान विषयक आख्यान से था। भारतीय इतिहास भी ज्ञान आधारित उपदेश के कथन को महत्वपूर्ण मानता है। बहरहाल संप्रदाय में इन वार्ताओं के लिए समय–समय पर विशेष आयोजन हुआ करते थे, जिनमें वल्लभाचार्य संप्रदाय के शिष्यों के समक्ष 'वार्ता' कहते थे। अतः वार्ताएँ कहने की एक पुरानी परंपरा मध्यकाल में थी। इसकी पूर्वपीठिका संस्कृत, बौद्ध और जैन साहित्य से जुड़ती है। हरिहरनाथ टण्डन इस पूर्वपीठिका का विशद विश्लेषण करते हुए वार्ता साहित्य के तीन प्रकार बताते हैं – ऐतिहासिक वार्ता, काल्पनिक वार्ता तथा नाट्कीय वार्ता। वह इन्हें क्रमशः स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

> ''महाभारत की वार्ताएँ ऐतिहासिक अधिक हैं। ऐतिहासिक वार्ता में पात्र ऐतिहासिक होते हैं किन्तु उनके साथ प्रायः अलौकिक तत्व मिले रहते हैं। कल्पित वार्ताओं का उदाहरण गुणाह्य की रचनाओं में मिलता है। उसने अपनी कल्पना से ही पात्रों को सजाया है। तीसरे प्रकार की वार्ता नाट्य–प्रभाव छोड़ती है। उसमें कल्पना और ऐतिहासिकता का सम्मिश्रण होता है।''[3]

हरिहरनाथ टण्डन के इस विभाजन को स्वीकार किया जाये तो गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' ऐतिहासिक वार्ताओं की श्रेणी में आती है। इनका विषय मध्यकाल के पुष्टिमार्गीय भक्त हैं, जिनकी ऐतिहासिकता इन वार्ताओं में संरक्षित है। यह ऐतिहासिक चरित्र लोक–विख्यात है। इनके प्रसंग वार्ताओं के कथ्य हैं। अतः इन लोक–विख्यात भक्त का चित्रण ही वार्ताओं का मूल है। इससे वार्ता–स्वरूप का लोक–संबद्ध होना भी स्पष्ट है।

मध्यकालीन पुष्टिमार्गीय वार्ताएँ युगीन परिस्थितियों की देन हैं। लोक–संबद्धता वार्ताओं का गुण है। मध्यकाल के अंतर्गत 'लोक' केन्द्र में होने से ही वार्ता–साहित्य अपनी ऐतिहासिक उपस्थिति दर्ज कराता है। मध्यकालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक वातावरण में यह वार्ताएँ महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। मुस्लिम आक्रांताओं के आगमन से उत्पन्न विचलन भारतीय धर्मों के लिए एक संकट का रूप लेता है। यह विचलन

---

[2] गोकुलनाथ, गोस्वामी, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 7

[3] टण्डन, डॉ. हरिहरनाथ, वार्ता साहित्य : एक वृहत् अध्ययन, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, 1960 (भूमिका), पृ.सं. 37

धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक रूप से स्पष्ट दिखाई देता है। वृहत् रूप में यह संकट सांस्कृतिक है। वही सूक्ष्म रूप में यह लोक–विश्वास के ढिगने का भी संकट है। यह अविश्वास हतोत्साही वातावरण को निर्मित करता है, जो कि तत्कालीन आचार्यों एवं संतों के समक्ष एक समस्या बनकर खड़ा होता है। यह अवसादी–भाव सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक तीनो रूपों में फैलता है। भक्ति का उद्‌भव इसी हतोत्साही वातावरण की प्रतिक्रिया है। भक्ति के उद्‌भव पर विचार करते हुए रामचन्द्र शुक्ल इसी ओर इंगित करते हैं – वह भक्तिकाल को सांस्कृतिक–संकट की प्रतिक्रिया मानते हैं।[4] इस पतनोन्मुख वातावरण में किस प्रकार लोक का सहचर बन उत्साह को पैदा किया जाये? यही भक्तिकाल का अप्रत्यक्ष उद्देश्य बन जाता है। किस प्रकार लोगों का विश्वास धर्म, संस्कृति तथा सामाजिक व्यवस्था पर बनाए रखे? गोकुलनाथ कृत वार्ता–द्वै में भक्तों का ठाकुरजी पर विश्वास तथा ठाकुरजी का भक्तों के लिए सर्म्पण, उस विश्वास को दोबारा जिन्दा करने का ही एक प्रयास है। ऐसे अनेक प्रसंग वार्ता–द्वै में प्राप्त होते हैं। इस सांस्कृतिक–संघर्ष की पृष्ठभूमि में सामाजिक तथा धार्मिक रूढ़ियों से निजात दिलाना भी आवश्यक हो जाता है। ताकि अधिक–से–अधिक लोगों तक अपनी बात को पहुँचाया जा सके। उनका यही आग्रह उन्हें लोकभाषाओं की ओर ले जाता है। संप्रदाय लोकोन्मुख होते हैं। लोक की ओर उन्मुख होने की यही दृष्टि वार्ता–साहित्य को भी जन्म देती है। यह लोकोन्मुखता वार्ता–साहित्य को कथ्य एवं शिल्प दोनों धूरियों पर प्रभावित करती है। पुष्टिमार्ग इसी उद्देश्य से वार्ताओं के स्वरूप को अपनाकर उसे प्रचारित भी करता है। अतः गोकुलनाथ कृत वार्ता–द्वै लोक–दृष्टि में रखकर स्वरूप ग्रहण करता है।

पुष्टिमार्गीय वार्ताओं के संबंध में यह देखना जरूरी है कि इसका पाठक वर्ग कौन है? स्पष्ट है कि गोकुलनाथ कृत वार्ताएँ प्रमुखतः ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से उपदेशात्मक आख्यान प्रस्तुत करती है। इन उपदेशात्मक आख्यानों की चिंता पुष्टि–संप्रदाय के दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक मतों के आलोक में निर्मित होता है। इनका सम्मान चलताऊ कथा–कहानियों के तौर पर ना होकर संप्रदाय के महत्वपूर्ण ग्रन्थों के रूप में है तथा संप्रदाय में महत्वपूर्ण होने का कारण वार्ता–स्वरूप का होना है। मध्यकाल की विशेष परिस्थिति में वार्ता–साहित्य आकार लेता है। उसका उद्देश्य केवल ऐतिहासिक चरित्रों को कहना नहीं है, बल्कि उसका उद्देश्य युगीन है। वह भक्ति का उपदेशात्मक आख्यान प्रस्तुत करता है। भक्ति सबके लिए समान है। भक्ति किसी आयु अथवा स्त्री–पुरूष की बाह्य व्यवस्था को नहीं स्वीकारते। वह तो भक्त के हृदय से संबंधित है। इसी को बताते हुए पुरूषोत्तमदास क्षत्री के एक प्रसंग का उल्लेख गोकुलनाथ करते हैं। एक बार पुरूषोत्तमदास

---

[4] ''देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देवमंदिर गिराए जाते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुसलिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब उलटफेर के पीछे हिंदू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी–सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?'' शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2015, पृ.सं. 60

मंदिर में बैठे वस्त्र बना रहे थे। तब उनके पुत्र गोपालदास ने उन्हें वस्त्र बनाते देखा और उनके मन में ख्याल आया कि सेठजी तो अब वृद्ध हो गये हैं। अतः मुझे अब सेवा कार्य करना चाहिए। यह बात पुरूषोत्तमदास को पता चली और उन्होंने गोपालदास को अपने समीप बुलाया तो गोपालदास अचंभित होकर देखते हैं कि वह तो पच्चीस वर्ष की आयु के ही हैं। तब पुरूषोत्तमदास कहते हैं कि

> ''जो बेटा यह भगवदीयन की मन में न लावनी। भगवदीय सदा तरुन है। परि अवस्था होय ताको मान दीयौ चाहिये।''[5]

यह प्रसंग कहीं भी भक्त की भक्ति का गहन दार्शनिक विश्लेषण नहीं करता। बल्कि सहज सरल रूप में भक्ति के स्वरूप तथा भक्त के कर्तव्य को बता देता है। यह सहजता मध्ययुगीन परिवेश तथा लोक से जुड़ने की मांग थी। वल्लभाचार्य तथा अन्य मत सभी लोक से जुड़ना चाहते हैं। वह अपने दार्शनिक चिंतन–मनन को वार्ता के माध्यम से लोक में स्थापित करते हैं। यदि पुराणों की बात करें तो वह भी वेद की लोक–सापेक्ष–आग्रह के कारण लिखे गये। ताकि वैदिक–ज्ञान को सामान्य जन तक पहुँचाया जा सके। बौद्ध एवं जैन वार्ताएँ अधिक–से–अधिक लोकोन्मुखी होने के उद्देश्य से लिखी गई। भले ही यह पृष्ठभूमि अलौकिकता को प्राप्त करती है। परन्तु उसका मूल उद्देश्य लोक से जुड़ना ही रहा है। इस लोक–जुड़ाव की आकांक्षा के कारण वार्ता का मूल–भावार्थ (जानने योग्य समाचार) निर्मित होता है। गोकुलनाथ कृत वार्ता–द्वै (चौरासी वैष्णव की वार्ता तथा दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता) का स्वरूप लोकाग्रह के कारण विकसित होता है। अतः इससे एक बात स्पष्ट है कि वार्ता–साहित्य के पाठक लोकजन हैं। पुष्टिमार्गीय वार्ताएँ इन्हीं को लक्ष्य कर लिखे गये हैं। ताकि आमजन में भक्ति के बीज को रोपा जा सके और जिनमें भक्ति का बीज है उसे पुष्पित और पल्लवित किया जा सके।

पुष्टिमार्गीय वार्ताओं का विकास आचार्य वल्लभ के साथ आरम्भ होता है। आचार्य वल्लभ लोकभाषा में अपने शिष्यों के समक्ष भक्त–वार्ता कहते थे, ताकि दृष्टांतों के माध्यम से गूढ़ दार्शनिक विषयों को सहजता से समझाया जा सके। इसीलिए प्रत्येक भक्त–वार्ता में अनेक प्रसंगों को स्थान दिया गया है। यह प्रसंग एक ओर भक्त के चरित्र को सामने रखते हुए उन्हें ऐतिहासिकता प्रदान करते हैं वहीं दूसरी ओर उन प्रसंगों की सूक्ष्म चेतना उन्हें सार्वभौमिक मूल्य–व्यवस्था से जोड़ती है। बहरहाल यह वार्ताएँ संप्रदाय के दर्शन तथा पद्धति को दृष्टिगत रखते हुए उसकी व्यावहारिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि दार्शनिक वाद–विवाद के कई बिन्दु सहजता से भक्त–वार्ताओं में स्थान पा जाते हैं। दामोदरदास की वार्ता में

---

[5] गोकुलनाथ, गोस्वामी, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 33

आचार्य वल्लभ को ठाकुरजी की आज्ञा होती है कि वह जीव को ब्रह्म का ज्ञान कराये। इसी बातचीत में दार्शनिक समस्या का निदर्शन होता है –

> ''ता समय श्रीआचार्यजी महाप्रभून को महाचिंता उपजी जो श्रीठाकुरजी ने तो आज्ञा दीनी है जो तुम जीवन को ब्रह्म संबंध करावो तब श्रीआचार्यजी महाप्रभू अपने मन में विचारे जो जीवतो दोषवंत है और श्रीपुरूषोत्तमजी तो गुणनिधान हैं तातें केसें सम्बंध होय।''[6]

दरअसल आचार्य महाप्रभु की यह चिंता दर्शन की मूल समस्याओं में से एक है। इस समस्या को लेकर पूर्व तथा बाद के सभी आचार्यों ने दार्शनिक चिंतन–मनन से निदान खोजने की कोशिश की है। आचार्य वल्लभ अपने ग्रन्थों में दार्शनिक चिंतन–मनन के उपरांत शुद्धाद्वैतवाद को प्रस्तुत करते हैं। उनका यह चिंतन संस्कृत की क्लिष्ट दार्शनिक शब्दावली में लिखा गया है। अतः सामान्य जन के लिए यह दार्शनिकता बहुत दूर की वस्तु है। इसीलिए आचार्य वल्लभ वार्ताओं को संप्रदाय में विशेष स्थान देते हैं। उपर्युक्त दार्शनिक समस्या का निदान दामोदरदास की वार्ता में दार्शनिक रूप नहीं लेता। बल्कि आचार्य वल्लभ का अनुकरण ही समाधान कहा जाता है। ''जो मोकों श्रीठाकुरजी नें आज्ञा कीनी है जो तुम जीवन कौं ब्रह्मसंबंध करावोगे तिनकौं हों अंगिकार करूँगो तिनके सकल दोष निवृत्त होंयगे ताते ब्रह्मसंबंध अवश्य करनो।''[7] अर्थात् आचार्य महाप्रभु द्वारा प्रस्तुत मार्ग का अनुकरण ही भक्तों के लिए ठाकुरजी से साक्षात्कार होने का माध्यम है। यह कथन अंधानुकरण करने को अभिप्रेरित करता–सा दिखता है। परन्तु इसका उत्तर अन्य वार्ताओं से सहज ही मिल जाता है। भगवद् अनुग्रह तथा निस्वार्थ समर्पण का लक्ष्य ही वह वार्ता–साहित्य के माध्यम से लोक के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। यह अनुकरण किस दिशा में ले जायेगा? इसी के साथ दूसरा प्रश्न यह खड़ा होता है कि यह मार्ग कैसा है? इसका उत्तर स्वयं वार्ता–साहित्य है। 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' का पूर्ण अध्ययन करने पर भक्त के समक्ष एक मार्ग अवश्य प्रस्तुत हो जाता है। वार्ता–साहित्य ऐतिहासिकता, दर्शन तथा लोक की संश्लिष्टता के साथ निर्मित होता है। लोक–जुड़ाव होने के कारण वार्ताएँ सहज सरल होती जरूर है परन्तु दार्शनिक गूढ़ता इस सहजता के लिए समस्या बनी रहती है। वार्ताकार इसीलिए ऐतिहासिक चरित्रों का आश्रय लेता है ताकि दार्शनिक गूढ़ता को लोक के समक्ष सहज–सरल रूप में प्रस्तुत कर सके।

पुष्टिमार्गीय वार्ताएँ गद्य में होने के कारण इनमें ऐतिहासिक तथ्यों की उपस्थित बहुलता में मिलती है। बल्कि इन तथ्यों के आधार पर वार्ता–लेखन की प्रवृत्तियों को भी निश्चित किया जा सकता है। गोकुलनाथ वार्ताओं में समय–विशेष का उल्लेख भी बीच–बीच में करते हैं। परन्तु केवल उन महत्वपूर्ण क्षणों पर जिन क्षणों का संप्रदाय–दर्शन से विशेष महत्व है। उदाहरण के लिए आचार्य वल्लभ का ठाकुरजी से साक्षात्कार

---

[6] गोकुलनाथ, गोस्वामी, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 1

[7] गोकुलनाथ, गोस्वामी, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 2

महत्वपूर्ण है। इसीलिए गोकुलनाथ उस दिन की तिथि का उल्लेख करते हैं। ''ये बातैं श्रावणशुदि 11 के दिन अर्द्धरात्रि कौं भईं। प्रातकाल पवित्राद्वादशी हुती।''[8] इसी दिन से आचार्य 'सिद्धांत रहस्य' लिखना आरम्भ करते हैं। गोकुलनाथ सिद्धांत रहस्य के प्रथम श्लोक को भी उद्धृत करते हैं।[9] वह इस श्लोक का उद्धरण समय विशेष को प्रमाणित करने के लिए करते हैं। दामोदरदास की वार्ता से यह भी पहचानता है कि इसी दिन से आचार्य वल्लभ अपने शिष्यों को नाम–दीक्षा देना आरम्भ करते हैं। पुष्टिमार्ग में वल्लभ सिद्धांत तथा वार्ताएँ महत्वपूर्ण मानी गई है। दामोदरदास ही वह शिष्य थे जो कि आचार्य वल्लभ के साथ सदा रहे। इसीलिए आचार्य वल्लभ से संबंधित बहुत–सी ऐतिहासिक सूचनाएँ इनकी वार्ताओं में स्थान पाती हैं। वहीं वल्लभाचार्य दामोदरदास को संप्रदाय मत तथा गोप्य वार्ताओं से अवगत कराते हैं। इसके पीछे भी उनका एक उद्देश्य निहित रहता है।

> ''बहुर श्रीआचार्यजी महाप्रभून ने श्रीठाकुरजी के पास यह मांग्यो जो मेरे आगे दामोदरदास की देह न छूटे। और श्रीआचार्यजी महाप्रभून ने दामोदरदास सों कछू गोप्य न राखते और श्रीआचार्यजी महाप्रभू श्रीभागवत अहर्निस देखते कथा कहते और मार्गकौ सिद्धांत भगवतलीला रहस्य श्रीआचार्यजी महाप्रभू आप दामोदरदास के हृदय में स्थापन कीयो।''[10]

आचार्य वल्लभ दामोदरदास को संप्रदाय के ज्ञान से अवगत कराते हैं ताकि वह जब संयास ग्रहण करें तब उनके पुत्रों को संप्रदाय–मत से अवगत कराने वाला कोई हो। इसीलिए आचार्य वल्लभ तथा उनके भक्तों से जुड़ी सभी वार्ताएँ दामोदरदास से विट्ठलनाथ तक जाती हैं।[11] अतः यह स्पष्ट है कि पुष्टि संप्रदाय में वार्ता की यह परंपरा आचार्य वल्लभ से आरम्भ होती है तथा दामोदरदास और विट्ठलनाथ से होते हुए गोकुलनाथ तक जाती है। अतः गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' की पूर्वपीठिका का परिचय इन वार्ताओं से हो जाता है। उपर्युक्त तथ्यों से कुछ सामान्य विशेषताओं को भी रेखांकित किया जा सकता है। यह वार्ता–परंपरा पुष्टिमार्ग की केन्द्रीभूत विशेषता है। जैसा कि पहले भी कहा गया है कि पुष्टिमार्गीय वार्ताएँ गद्य में लिखी गई हैं। गद्य में होने के कारण वार्ताकार के पास कहने की सीमा समाप्त हो जाती है। इसीलिए वह प्रसंगों का इतिवृत्तात्मक वर्णन करता है। इतिवृत्त प्रस्तुत करने के क्रम में वह वस्तुनिष्ठ तथ्यों को भी वार्ताओं में स्थान देता है, जो कि पद्यात्मक वार्ताओं में संभव नहीं। पद्य में छंदों

---

[8] वही, पृ.सं. 2

[9] श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद्भगवताप्रोक्तमेतदक्षरमुच्यते।।1।।

[10] गोकुलनाथ, गोस्वामी, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 2

[11] ''श्रीआचार्यजी महाप्रभू सन्यास ग्रहण कीए। तब कितनेक दिना पाछै श्रीगुसांईजी ने अक्काजी सौं पूछौ, सो श्रीआचार्यजी महाप्रभून ने मार्ग प्रगट कीनो है सौ उच्छव कौ कहा प्रकार है। हमतो कछू जानत नाहीं। तब श्रीअक्काजी ने कह्यो जो मार्ग तथा उच्छव कौ प्रकार सब दामोदरदास सौं कहे है सो तुम उनसों पूछौ। तुमसौं दामोदरदास कहैगौ। तब श्रीगुसांईजी दामोदरदास ने बहुत सन्मानकरि भक्तिभाव सों घर में पधराये। पाछें उच्छव कौ प्रकार श्रीगुसांईजी नें पूछौ सो दामोदरदास ने सब कह्यौ।'' वही, पृ.सं. 3

का बंधन 'कहन' को सीमित कर देता है। उसका ध्येय वार्ता के मूल प्रयोजन को ही कहना हो जाता है। अतः पुष्टिमार्गीय वार्ताएँ अधिक तथ्यात्मक होती हैं। यह तथ्य उसे अधिक–से–अधिक ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता प्रदान करते हैं।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि वार्ता तथा कथा में मौलिक भेद है। वार्ता का विकास मौखिक रूप में होता है। इसीलिए दो के बीच के वार्तालाप से कथा कहने की प्रवृत्ति प्रबल होती है। कहा जाये तो मौखिकता का गुण कथात्मक होना है। यह प्रवृत्ति वार्ता को आख्यान का रूप देती है। आख्यान होने के कारण कथात्मकता का तत्व प्रबल रूप से दिखाई देता है। वहीं यह कथात्मकता समकालीन विद्वानों के समक्ष संकट भी पैदा करती है। वार्ता–साहित्य के संदर्भ में इतिहास तथा साहित्य के बीच भेदात्मक दृष्टि अपनाते हुए किसी एक पक्ष की तरफ खड़ा होना मुश्किल होता है, जिस कारण कुछ की दृष्टि में यह इतिहास–लेखन होता है तो कुछ के लिए साहित्य। बहरहाल 'वार्ता' कहते हुए उपदेशात्मक आख्यान कहने की प्रवृत्ति पूर्व परंपरा से ही विद्यमान रही है। दरअसल उपदेशात्मक आख्यान कहने की प्रवृत्ति भारतीय इतिहास की विशेषता रही है। काल्पनिक आख्यानों की भी विस्तृत परंपरा भारतीय वाङ्ंमय में दिखाई देती है। कहा जाये तो 'उपदेशात्मक आख्यान' भारतीय वाङ्ंमय की सामान्य विशेषता है, जो इतिहास–पुराण–परंपरा द्वारा भी आत्मसात होती है। परन्तु इन आख्यानों की इमारत ऐतिहासिक भूमि पर तैयार होती है। वार्ता–साहित्य भारतीय इतिहास–दर्शन का विकास होने के कारण आख्यान को अपनाता है। आख्यान या कथा कहने की प्रवृत्ति गद्यांशों में भी परिलक्षित होती है।

''एक समय श्रीआचार्यजी महाप्रभू पृथ्वीपरिक्रमा कौं पधारे हुते।''[12]

* * *

''तब पूरनमल्ल श्रीआचार्यजी महाप्रभून के पास आयौ और आयके कह्यो महाराज मोकों श्रीनाथजी आज्ञा ऐसी भई है जोत मेरो मन्दिर समराउ। तब श्रीआचार्यजी महाप्रभून ने कह्यौ जो मन्दिर बेग समरावो।''[13]

* * *

[12] गोकुलनाथ, चौरासी वैष्णव की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 1
[13] वही, पृ.सं. 65

''और एक दिन अच्युतदास श्रीनाथजी के दर्शन को आवत हुते। तब श्रीगोवर्द्धननाथ जी की एक दंडौती परिक्रमा करते ऐसे भवदीय है। और जब श्रीगुसांईजी के पास आवते तब श्रीगुसांईजी अच्युतदास को दंडौत न करन देते और कहते जो ऐसे श्रीआचार्यजी महाप्रभून के कृपापात्र भगवदीय है।''[14]

* * *

''और यादवेन्द्रदास ने श्रीनाथजीद्वार कौ कूँआ अपने ही हाथन सो खोद्यौ। सो माटी निकसी ताकी ईंट पकाई। अपने हाथन की कूआ चिन्यो, परि जल खारी निकस्यौ।''[15]

उपर्युक्त चार गद्यांश क्रमशः आख्यान की चार प्रवृत्तियों को रेखांकित करते हैं। आख्यान या कथा कहते हुए घटना–विशेष के समय की निश्चितता का उल्लेख नहीं रहता। इसलिए 'एक समय की बात है' – जैसे कथन कथा के आरम्भ में भी अपनी उपस्थिति दर्ज करते हैं। प्रथम गद्यांश में इसी प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। कथा अथवा आख्यान की एक अन्य प्रवृत्ति कथोपकथन अथवा संवाद ठहरती है। दरअसल संवाद कहानी की भी विशेषता है परन्तु कथा में यह संवाद तीसरे व्यक्ति द्वारा कहे गये होते हैं। जैसा कि द्वितीय गद्यांश में स्पष्ट है। यह संवाद भले ही आचार्य वल्लभ तथा पूरनमल्ल के बीच हैं – परन्तु उसका नियंत्रण गोकुलनाथ के पास है – जो कि द्वितीय गद्यांश में स्पष्ट परिलक्षित होता है। कथा में वक्ता ही कर्ता–धर्ता है। सभी कुछ उसी के द्वारा नियंत्रित है। वह ही पात्रों को प्रसंग में स्थान देता है और स्वयं ही उनका चरित्र–चित्रण करता है। तृतीय गद्यांश में गोकुलनाथ अच्युतदास तथा गुसांईजी के संबंधों को सरसरी तौर पर चित्रित करते आगे बढ़ जाते हैं। यह उनके वर्णन में भी स्पष्ट दिखाई देता है। इसके अलावा कई बार इतिवृत्त रचते हुए वह वातावरण या स्थिति को भी रचता है, जो कि कथा की प्रवृत्ति है। उपर्युक्त संदर्भों से एक बात तो स्पष्ट है कि वार्ता–साहित्य में आख्यान अथवा कथात्मकता उसके बाह्य रूप को निर्मित करती है। बाह्य रूप से अभिप्राय उसके पाठकों के समक्ष अभिव्यक्त लेखन से है।

गोकुलनाथदास कृत वार्ता–द्वै का आंतरिक स्वरूप ऐतिहासिक है। यह ऐतिहासिकता मध्यकालीन पुष्टिमार्गीय भक्तों के उल्लेख से आती है। 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' के नाम से स्पष्ट है कि इसमें 84 भक्तों का उल्लेख किया गया है। जबकि सही मायने में इसमें 92 भक्तों की वार्ताएँ संकलित है। इन 92 भक्तों को 84 अंक में सीमित किया गया है। 84 अंक तक सीमित करने के पीछे भी दार्शनिक चिंतन मौजूद है। इसका स्पष्टीकरण हरिराय जी ने 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' की टीका लिखते हुए किया है। वह कहते हैं –

---

[14] वही, पृ.सं. 121

[15] वही, पृ.सं. 67

''चौरासी वैष्णवन को कारन यह है जो दैवी जीव चौरासी लक्ष योनि में परे हैं, तिनमें ते निकासिवे के अर्थ चौरासी वैष्णवन किये। सो जीव चौरासी प्रकार के हैं। राजसी, तामसी, सात्विकी, निर्गुण, ये चार प्रकार के (भूतल में) गिरे। तामें ते गुणमय राजसी, तामसी, सात्विकी रहन दिये, सो श्री गुसांईजी उद्धार करेंगे। श्री आचार्यजी बिना श्रीगोवर्द्धनधर रहि न सके, तातें अपने अंतरंगी निर्गुण पक्ष वारे चौरासी वैष्णवन (प्रगट) किये। सो एक–एक लक्ष योनि में तें एक–एक वैष्णव निर्गुण वारे को उद्धार इन वैष्णवन द्वारा किये।''[16]

इसी दर्शन को प्रगट करने के लिए गोकुलनाथ ग्रन्थ का नामकरण 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' करते हैं। इन 92 भक्तों को सीमित करने के लिए वह पद्मनाभदास, पुरूषोत्तमदास तथा जगन्नाथ जोसी के परिवार में हुए भक्तों को एक ही वार्ता में सम्मिलित करते हैं। परन्तु लिखते हुए इन्हें अलग–अलग शीर्षक के अंतर्गत स्थान देते हैं। उदाहरण के लिए 'पुरूषोत्तमदासक्षत्री बनारस में रहते तिनकी वार्ता', 'पुरूषोत्तमदास की बेटी रुक्मिनी की वार्ता' तथा 'पुरूषोत्तमदास को बेटा गोपालदास की वार्ता'। यह तीनों भक्त एक ही परिवार के अंतर्गत आते हैं, परन्तु संप्रदाय में इनका स्वतंत्र अस्तित्व है। यह स्वतंत्र अस्तित्व उनकी भक्ति के कारण ही निर्मित होता है। यदि ग्रन्थ–शीर्षक के अनुसार विचार करें तो इन तीनों को एक ही वार्ता माना गया है। ऐसा ही शेष दोनों भक्तों की वार्ताओं में भी हुआ है। बहरहाल उपर्युक्त संदर्भ से इतिहास तथा दर्शन के बीच के संबंधों को भी समझने में सहायता मिलती है। भारतीय इतिहास की आत्मा भारतीय–दर्शन में बसती है। इतिहास का शरीर दर्शन की आत्मा द्वारा चालित होता है। वार्ताओं के प्रत्येक प्रसंग एवं घटना का लौकिक अभिप्राय के साथ–साथ दार्शनिक प्रयोजन भी है। दरअसल यही दार्शनिक प्रयोजन मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में सहायक होता है।

'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में उल्लिखित भक्त ऐतिहासिक हैं – समकालीन इतिहास–दृष्टि के अनुसार यह कहना संगत नहीं है। समकालीन इतिहास–लेखन ग्रन्थ की प्रमाणिकता के साथ–साथ भक्तों की प्रमाणिकता का प्रश्न भी सामने रखता है। इसके लिए वह स्थाई स्रोतों जैसे लिखित प्रमाण, पुरातत्व आदि को महत्वपूर्ण मानता है। लोक–मानस तथ्यों की ऐतिहासिकता को जीवित रखने में अक्षम होता है। जबकि भारतीय इतिहास ऐतिहासिक कथ्य तथा चरित्र की प्रमाणिकता को लोक–स्वीकृति के आधार पर स्वीकार करता है। दरअसल यहाँ लोक स्वतः कसौटी बन जाता है, जिस पर कसकर कोई भी कथ्य अपनी ऐतिहासिकता को प्राप्त करता है। परन्तु चौरासी वैष्णवों के संबंध में लोक–स्वीकृति से कहीं अधिक आचार्य वल्लभ के अनुभव इनकी प्रमाणिकता का निर्धारण करते हैं। इन सभी भक्तों का साक्षात्कार आचार्य से कभी–न–कभी जरूर हुआ है। यदि पूरे ग्रन्थ पर विचार करें तो आचार्य की उपस्थिति सभी वार्ताओं में है। अर्थात् यह सभी

---

[16] टण्डन, डॉ. हरिहरनाथ, वार्ता साहित्य : एक वृहत् अध्ययन, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, 1960 (भूमिका), पृ.सं. 48

प्रसंग वल्लभाचार्य के सामने हुए या उन्हें इनका भान था। इन्ही भक्तों के प्रसंगात्मक अनुभव को वह दामोदरदास के समक्ष कहते थे।[17] अतः चौरासी वैष्णव की वार्ता की प्रमाणिकता की कसौटी आचार्य वल्लभ स्वयं हो जाते हैं।

'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में 92 भक्तों का वर्णन किया गया है। जैसा कि स्पष्ट भी है कि यह सभी भक्त आचार्य वल्लभ के शिष्य हैं। इन्हें संप्रदाय में नाम–दीक्षा स्वयं आचार्य वल्लभ ने दी थी। अतः इन सभी वार्ताओं में आचार्य महाप्रभु (वल्लभाचार्य) की उपस्थिति सहज ही दिखाई देती है। वहीं कुछेक भक्त–वार्ताओं में आचार्य वल्लभ तथा गुसांई विट्ठलनाथ की उपस्थिति साथ–साथ दिखाई पड़ती है तो कुछेक में आचार्य वल्लभ के पुत्र विट्ठलनाथ या गोपीनाथ की भेंट उन भक्तों से होना वर्णित हुआ है। इससे एक बात तो स्पष्ट है कि इन तीनों चरणों का संबंध आचार्य वल्लभ के जीवन से जुड़ता है। आरम्भ में जब वह संप्रदाय को स्थापित तथा उसका प्रचार करते हैं। उस समय विट्ठलनाथ की उपस्थिति वार्ताओं में नहीं होती। बाद की वार्ताओं में वल्लभ और विट्ठलनाथ का साथ–साथ उपस्थित होना संप्रदाय में विट्ठलनाथ के प्रभाव विस्तार की ओर संकेत करता है। अर्थात् यह भक्त बाद में आचार्य वल्लभ के संपर्क में आये। वहीं तीसरे चरण में वह भक्त आते हैं जिन्होंने नाम–दीक्षा तो आचार्य वल्लभ से ली परन्तु अधिक समय तक उनका सान्निध्य प्राप्त नहीं कर सके। ऐसी वार्ताओं में विट्ठलनाथ तथा आचार्य वल्लभ के अन्य पुत्रों का इन भक्तों से भेंट होना मिलता है। बहरहाल इससे एक बात तो स्पष्ट है कि पुष्टि संप्रदाय के आचार्यों (कहा जाये तो आचार्य वल्लभ के वंशज) की उपस्थिति सभी वार्ताओं में नजर आती है। अतः इन वार्ताओं की प्रमाणिकता का आधार वल्लभाचार्य का परिवार है। यही इन वार्ताओं की ऐतिहासिकता के निर्धारक हैं। सरल शब्दों में कहा जाये तो पुष्टिमार्गीय वार्ताओं की धुरी वल्लभ–परिवार है।

गोकुलनाथ कृत वार्ताओं की धुरी वल्लभ–परिवार होने से सम्पूर्ण कृति को एक केन्द्र प्राप्त होता है। कहा जाये तो आचार्य वल्लभ तथा उनके पुत्र इन वार्ताओं के द्रष्टा होने के कारण इतिहास की प्रमाणिकता के केन्द्र बनते हैं। समकालीन इतिहास जिस वस्तुनिष्ठता की मांग करता है वह उन्हें स्थूल तत्वों पर निर्मित करती है। यह स्थूल तत्व कोई व्यक्ति, स्थान, साहित्य आदि कुछ भी हो सकती है, जिसके माध्यम से वह कथ्य को प्रमाणिकता प्रदान करता है। इन्हें ही वह प्रमाणिकता का आधार मानते हैं। जबकि वार्ता–साहित्य का स्वरूप लोक को दृष्टिगत तथा वस्तुगत स्रोत बनाता है। समकालीन दृष्टि इसी रूप में भारतीय इतिहास को प्रश्नांकित करती है। यदि गोकुलनाथ कृत वार्ता–द्वै पर विचार करें तो वल्लभ–परिवार की 'द्रष्टा' रूप में

---

[17] ''और श्रीआचार्यजी महाप्रभून ने दामोदरदास सों कछू गोप्य न राखते और श्रीआचार्यजी महाप्रभू श्रीभागवत अहर्निस देखते कथा कहते और मार्ग कौ सिद्धांत भगवतलीला रहस्य श्रीआचार्यजी महाप्रभू आप दामोदरदास के हृदय में स्थापन कीयो।।'' दामोदरदास हरसानी की वार्ता, प्रसंग क्रमांक 2

उपस्थिति समकालीन इतिहास की मांग के अनुरूप ठहरती है। कथ्य की प्रमाणिकता का आधार वल्लभ–परिवार होता है। वह लोक–प्रक्रिया से प्राप्त वार्ताएँ नहीं है, अपितु वल्लभ–परिवार के समक्ष घटित वार्ताएँ हैं।

इसके अतिरिक्त भी पुष्टिमार्गीय वार्ताएँ अन्य वार्ता–साहित्य (भक्तमाल एवं उसकी टीका, भक्तनामावली तथा परचयी साहित्य) से कुछ भिन्न तथा अधिक ऐतिहासिक रूप में दिखाई देती है। इसका कारण वार्ताओं का गद्यात्मक होना है। गद्य में लिखित होने के कारण वार्ताकार को विस्तृत वर्णन का अवसर प्राप्त होता है। छंद की सीमाएँ उसे बाँधती नहीं है। ऐसे में वार्ता के मूल उद्देश्य के साथ–साथ स्थूल तथ्यों का समावेश पुष्टिमार्गीय वार्ताओं में सहज ही होता है। इन तथ्यों में भक्त की जाति, वर्ण, स्थान, सहगामी चरित्रों के नामों का उल्लेख आदि प्रमुख हैं। इनमें भी नाम, जति तथा स्थान का परिचय शीर्षक में ही हो जाता है, जिसे पुष्टिमार्गीय वार्ताओं की लेखन प्रवृत्ति के रूप में भी स्थिर कर सकते हैं। भक्त–वार्ता कहने से पूर्व उसका शीर्षक प्रस्तुत करना गोकुलनाथ कृत वार्ता–द्वै की विशेषता है। दरअसल यह उनकी लेखन–पद्धति है, जिसमें नाम, जाति तथा स्थान का उल्लेख होता है। उदाहरण के लिए – 'दामोदरदास सम्बलवारेखत्री कन्नौज के वासी तिनकी वार्ता', 'पद्मनाभदास कन्नौजिया ब्राह्मण कन्नौज में रहते तिनकी वार्ता', 'रजोक्षत्राणी अडेल में रहती तिनकी वार्ता', पुरूषोत्तमदासक्षत्री बनारस में रहते तिनकी वार्ता', 'रामदास सारस्वत ब्राह्मण ताकी वार्ता' आदि। इन शीर्षकों से स्पष्ट है कि भक्त के नाम के साथ–साथ उसकी जाति तथा स्थान विशेष का उल्लेख करना गोकुलनाथ कृत वार्ता–द्वै की विशेषता है। कई बार वार्ता–शीर्षक में जाति आदि का उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु वार्ता के अंतर्गत उनकी जाति, स्थान आदि का वर्णन किया गया होता है। 'अथ वेणीदास माधोदास दोऊ भाई तिनकी वार्ता' – इस वार्ता–शीर्षक में वेणीदास तथा माधोदास के स्थान–विशेष का उल्लेख नहीं हुआ है। परन्तु माधोदास का उल्लेख 'गदाधरदास सारस्वत ब्राह्मण' की वार्ता में होने से उनका स्थान 'कंडा' निश्चित होता है। अतः जिस व्यवस्थित तथ्यों की मांग समकालीन इतिहास–लेखन करता है। वह वार्ता–साहित्य में अदृष्ट है। इसीलिए सत्य के अधिक निकट पहुँचने के लिए वार्ता का संश्लेषण आवश्यक हो जाता है। संश्लेषण बिखरे तथ्यों को जोड़कर एक अखण्ड सत्य को निर्मित करने का प्रयास करता है। इसी प्रकार के तथ्यों का संश्लेषणात्मक अध्ययन भक्तों के संबंध में कई प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत करता है।

भक्तों की जाति विशेष का उल्लेख भी वार्ताओं की लेखन–प्रवृत्ति है। सामान्यतः यह उल्लेख तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में मौजूद जाति–संरचना को भी इंगित करता है। परन्तु प्रस्तुत संदर्भ में यह भक्तों के बीच अंतर करने में सहायक होता है। एक ही नाम के अनेक भक्तों का उल्लेख इतिहास में होता आया है। अतः इनके बीच भेद करना इतिहास की एक बड़ी समस्या है। गोकुलनाथ की वार्ता में इसका समाधान उनकी जाति के उल्लेख के साथ मिलता है। रामदास नाम के चार भक्तों का वर्णन 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में हुआ है। इनके वार्ता–शीर्षक क्रमशः यह हैं – 'रामदास सारस्वत ब्राह्मण ताकी वार्ता', 'रामदास सारस्वत ब्राह्मण

राजनगर में रहते तिनकी वार्ता', 'मीराबाई के पुरोहित रामदास तिनकी वार्ता' तथा 'रामदास चौहान तिनकी वार्ता'। इन तीनों रामदास में दो की जाति समान है, तीसरे का परिचय मीराबाई से जोड़कर तथा चौथे की जाति चौहान बताई गई है। यदि देखा जाये तो पहले तीन रामदास ब्राह्मण है तथा चौथे क्षत्रीय। पहले तीन में भी प्रथम दो सारस्वत ब्राह्मण है। यहाँ सारस्वत उनके पूर्वजों के क्षेत्र विशेष की सूचना देता है। 'सारस्वत ब्राह्मण' ब्राह्मणों की वह शाखा है जो सरस्वती नदी के समीप अवस्थित थी। दूसरे रामदास का स्थान राजनगर बताया गया है। वर्तमान में राजनगर गुजरात का एक गाँव है, वहीं बिहार में इसी नाम की विधानसभा भी है। परन्तु इस वार्ता में यह गुजरात का ही स्थान है, क्योंकि वार्ता में भक्त रामदास का द्वारका जाने का उल्लेख है। साथ ही रामदास का रणछोड़जी (श्रीकृष्ण के रूप से) से बातचीत का वर्णन भी किया गया है।[18] यहाँ वार्ताओं की एक विशेषता का भी परिचय मिलता है। गोकुलनाथ स्थान विशेष के अनुरूप ठाकुरजी के रूप का उल्लेख करते हैं। बिहार, उड़िसा आदि के भक्तों की वार्ताओं में वह जगन्नाथजी का उल्लेख करते हैं। गुजरात के भक्तों के लिए वह द्वारकाधीश तथा रणछोड़जी का नाम लिखते हैं। यह नाम भी भक्त के स्थान–विशेष को चिन्हित करने में सहायक होते हैं। बहरहाल रामदास के साथ रणछोड़जी तथा द्वारका के भ्रमण का उल्लेख 'राजनगर' को गुजरात के स्थान कहने को निर्धारित करता है। इस प्रकार के तथ्यात्मक संबंध भक्त की ऐतिहासिकी के निर्धारण में सहायक होते हैं।

जाति–विशेष का उल्लेख करते हुए उनका परिचय देना ऐतिहासिकता के निर्धारण में सहायक होता है। जाति–संकेतों में स्थान–विशेष की उप–जाति या उप–वर्ग के रूप में सामाजिक स्थिति भी इन तथ्यों की व्याख्या में सहायक होती है। 'सारस्वत ब्राह्मण' के संबंध में उपर्युक्त विचार प्रस्तुत किया जा चुका है। वर्तमान में सारस्वत ब्राह्मणों की उपस्थिति सम्पूर्ण उत्तर भारत में दिखाई पड़ती है, जिसका उल्लेख वह अपने गोत्र के रूप में करते हैं। परन्तु बहुत–से उप–वर्गों की सीमा आज भी स्थान विशेष से संबद्ध है। गोकुलनाथ कृत वार्ता में सचौरा ब्राह्मण का उल्लेख हुआ है। सचौरा ब्राह्मणों की एक बड़ी संख्या 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में दिखाई पड़ती है। 'पद्मरावल सचौरा ब्राह्मण उज्जैन के वासी तिनकी वार्ता', 'पुरूषोत्तम जोसी सचौरा ब्राह्मण तिनकी वार्ता', 'राणाव्यास सचौरा ब्राह्मण गोधरा के वासी की वार्ता', 'गोविंद दुबे सचौरा ब्राह्मण तिनकी वार्ता', 'राजा दुबे माधो दुबे दोऊ भाई सचौरा ब्राह्मण तिनकी वार्ता', 'श्लोकदास सचौरा ब्राह्मण तिनकी वार्ता', 'ईश्वर दुबे सचौरा ब्राह्मण तिनकी वार्ता' – इन सात वार्ताओं में सचौरा ब्राह्मण कहकर भक्तों का परिचय दिया गया है। यदि इन वार्ताओं की क्रम संख्या देखी जाये तो वह क्रमशः 34, 35, 39, 41, 42, 43, 44 हैं। इनमें से कुछेक भक्तों का निवास–स्थान गुजरात है तो कुछ भक्तों का गुजरात में भ्रमण करने का वर्णन है। खासतौर

---

[18] ''तब एक दिन श्रीरणछोड़जी ने रामदास सों कही जो तू अपनी स्त्री को अंगीकार कर। त्याग काहेको करत है? तब रामदास ने कही जो में विरक्त हौं, वेरागी हौं, मेरौ स्त्रीसों कहा काम है? तब श्रीरणछोड़जी ने कह्यौ जो तेनें बिवाह काहै कों कियौ? तू श्रीआचार्यजी महाप्रभून को सेवक है तोका ऐसी निठुरता न चहियै।'' अथ रामदास सारस्वत ब्राह्मण राजनगर में रहते तिनकी वार्ता, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 89

से द्वारका जाने की यात्राओं में। बाकी कुछ भक्तों की वार्ताओं में स्थान–विशेष का उल्लेख नहीं है। परन्तु उनका अन्य भक्त से भेंट–प्रसंगों का होना निर्दिष्ट है जिनके माध्यम से इन भक्तों के स्थान का भी निर्धारण संभव है। कुछ भक्त ऐसे भी है जिनका ना तो स्थान–विशेष ही उल्लिखित है और ना ही उनका भेंट किसी अन्य भक्त से हुआ बताया गया है। परन्तु उनकी जाति 'सचौरा ब्राह्मण' बताई गई है। सामान्यतः 'सचौरा ब्राह्मण' गुजरात का एक ब्राह्मण वर्ग है। यहाँ सचौरा कोई गोत्र नहीं है, क्योंकि सचौरा शब्द राजपूत राजा के साथ भी प्रयोग हुआ है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सचौरा शब्द गुजरात के स्थान विशेष अथवा गुजरात प्रदेश को इंगित करता होगा। वर्तमान 'सन्चोर' नामक नगर राजस्थान के जालौर जिले में स्थित है, जो कि गुजरात की सीमा से 20 कि.मी. से भी कम दूरी पर है। इसीलिए 'सचौरा' शब्द इस स्थान से संबंधित जान पड़ता है। वैसे भारतीय जाति व्यवस्था में स्थान–विशेष को केन्द्र में रखते हुए भी उप–गोत्र बनते हैं। उदाहरण के लिए सरयूपारीय ब्राह्मण, मैथिल ब्राह्मण आदि। ब्राह्मणों में यह नाम गोत्र के रूप में उद्धृत किये जाते हैं। जबकि यह स्थान विशेष में रहने वाले वर्ग थे, जो कि आगे चलकर संज्ञा–शब्द में रूपांतरित होकर समाज में स्थान बनाते हैं। इसी प्रकार यह 'सचौरा' शब्द स्थान विशेष से संबंधित है। अतः वह भक्त जिनका वार्ताओं में स्थान–विशेष का परिचय नहीं मिलता, उनके संबंध में इस प्रकार के जाति–सूचक शब्दों द्वारा एक शोध दिशा भी प्राप्त की जा सकती है।

पूर्व में जिन वार्ताओं का उल्लेख सचौरा ब्राह्मण के रूप में किया गया है, यहाँ क्रमशः उन वार्ताओं का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। वार्ता संख्या 34 में पद्मरावल का उल्लेख है। वह उज्जैन निवासी थे, जो द्वारका भ्रमण के लिए गये थे। वार्ता संख्या 35 में पुरूषोत्तम जोसी की वार्ता कही गई है, परन्तु वार्ता में उनके निवास–स्थान का उल्लेख नहीं है। बल्कि उनका बनारस जाने तथा उज्जैन वासी पद्मरावल के यहाँ रूकने का उल्लेख हुआ है। यदि भारतीय भूगोल को दृष्टि में रखकर विचार करें तो बनारस जाते हुए उज्जैन का बीच में आना पुरूषोत्तम जोसी का गुजरात तथा महाराष्ट्र में होना बताता है। परन्तु निश्चित रूप से कुछ कहना मुश्किल है। लेकिन यदि पुष्टि–संप्रदाय के प्रभाव को देखें तो गुजरात में पुष्टिमार्गीय भक्तों की बहुसंख्या प्राप्त होती है। पुरूषोत्तम जोसी का उल्लेख गुजरात क्षेत्र के भक्तों के क्रम में होने से इनका संबंध भी गुजरात से स्थिर होता है। वार्ता संख्या 39 में राणाव्यास का 'गोधरा' में निवास करना बताया गया है, जो कि वर्तमान गुजरात का हिस्सा है। वार्ता संख्या 41 में गोविंद दुबे का वर्णन हुआ है। उनका परिचय मीराबाई के समकालीन बताते हुए हुआ है। गोकुलनाथ लिखते हैं – ''और एक समय गोविंददुबे मीरांबाई के घर हुते। तहां मीराबाई सो भगवद्वार्ता करत अटके।''[19] इससे एक बात तो स्पष्ट है कि मीराबाई राजशाही का त्याग कर चुकी हैं तथा उनकी प्रशस्ति एक भक्तिन के रूप में हो चुकी है। राजशाही के त्याग के बाद वह वृंदावन

[19] गोकुलनाथ, गोस्वामी, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 90

तथा द्वारका जाती हैं। उनकी मृत्यु भी द्वारका में होती है। इससे उनका निवास भी द्वारका सिद्ध होता है। गोविंददुबे का मीराबाई से मिलना भी उनका मीराबाई के समीप गुजरात में निवास करना संकेत करता है। इनके अन्य प्रसंगों में भी उनका आचार्य वल्लभ के संग द्वारका जाना बताया गया है। इससे एक बात तो स्पष्ट है कि वह गुजरात निवासी थे। वार्ता संख्या 42 में राजादुबे तथा माधोदुबे का उल्लेख हुआ है। इनके निवास–स्थान का परिचय वार्ता में नहीं है। परन्तु प्रसंग में आचार्य वल्लभ का राणाव्यास के घर रूकना तथा दोनों भाईयों का आचार्यजी के दर्शन के लिए सिद्धपुर (राणाव्यास का घर) आना बताया गया है। इससे स्पष्ट है कि इन दोनों भाई का निवास भी राणाव्यास के समीप अथवा गुजरात में ही रहा होगा। वार्ता संख्या 43 तथा 44 में क्रमशः श्लोकदास तथा ईश्वरदुबे का उल्लेख हुआ है। यह दोनों भक्त श्रीनाथजी के रसोईये थे। अतः इनका निवास स्थान वृंदावन ही रहा होगा। परन्तु 'सचौरा' शब्द से उनका अथवा उनके पूर्वजों का गुजरात से होना माना जा सकता है। बहरहाल इन वार्ताओं में भक्तों के स्थान विशेष का उल्लेख करने का एकमात्र कारण 'सचौरा' शब्द के आधार पर उनके स्थान–विशेष का मूल्यांकन करना था। परन्तु यह मूल्यांकन दो तरफा था। पहला, सचौरा शब्द तथा गुजरात के संबंध की प्रमाणिकता की जाँच करना तथा दूसरा, इसी के आधार पर भक्तों के स्थान–विशेष का सामान्य परिचय प्राप्त करना। ताकि जिन भक्तों के स्थान–विशेष का उल्लेख वार्ताओं में नहीं हुआ है उनको प्रमाणित किया जा सके। इससे एक बात तो स्पष्ट है कि लगभग यह सभी भक्त गुजरात के निवासी अथवा इनके पूर्वज गुजरात से थे।

उपर्युक्त वार्ताओं के क्रम में बीच में उल्लिखित भक्त–वार्ता पर भी विचार करना आवश्यक है। बीच की वार्ताओं में 36वीं, 37वीं तथा 38वीं वार्ता जगन्नाथ जोसी एवं उनके परिवार की वार्ता है। जगन्नाथ जोसी की वार्ता में उनका स्थान 'खिरालू' बताया गया है, जो कि वर्तमान में गुजरात का एक शहर है। अतः शेष दोनों वार्ताओं में क्रमशः जगन्नाथ जोसी की माता तथा जगन्नाथ जोसी के भाई का उल्लेख होने के कारण उनका स्थान भी खिरालू निश्चित होता है। वही 40वीं वार्ता रामदास सारस्वत की है, जो कि राजनगर के रहने वाले हैं। इनका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है, जिससे उनका भी गुजरात में निवास होना निश्चित होता है। वार्ता क्रमांक 33 (अथ गोपालदास तिनकी वार्ता) पर भी इसी क्रम में विचार करना आवश्यक है। प्रस्तुत वार्ता में गोपालदास का वर्णन किया गया है। पद्मरावल की वार्ता (वार्ता संख्या 34) में इनका उल्लेख 'गोपालदास वांसवाड़ा' के नाम से दिया गया है। यह 'वांसवाड़ा' वर्तमान राजस्थान में बांसवाड़ा जिले का 'बांसवाड़ा' शहर है। इसीलिए गोपालदास वांसवाड़ा नाम इसी रूप में प्रचलित हुआ। यह शहर भी राजस्थान–गुजरात की सीमा पर स्थित है। तत्कालीन समय में यह सीमाएँ स्थाई नहीं थी। इसीलिए इन्हें गुजरात या राजस्थान से सीधे तथा स्थाई तौर पर जोड़ना संभव नहीं। इसीलिए गोपालदास भी गुजरात–वर्ग के भक्तों में ही सम्मिलित करना सही प्रतीत होता है।

अब तक के अध्ययन से स्पष्ट है कि वार्ता संख्या 33 से 44 तक के भक्त गुजरात–वर्ग के अंतर्गत आते हैं। गुजरात–वर्ग अध्ययन की दृष्टि से किया गया अस्थाई विभाजन है, ताकि वल्लभ–संप्रदाय के गुजरात में विशेष प्रभाव को समझा जा सके। एक ही स्थान के भक्तों के क्रमवार वर्णन की दृष्टि गोकुलनाथ की है। 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में स्थान–विशेष को आधार बनाकर भक्तों का वर्गवार वर्णन किया गया है। यह वर्गवार वर्णन पुष्टि संप्रदाय की भारत में व्यापक उपस्थिति को दर्ज करता है। उपर्युक्त विश्लेषण से गुजरात में पुष्टि–संप्रदाय के प्रभाव को समझना काफी है। लेकिन यह केवल प्रभाव न होकर गुजरात में पुष्टि–संप्रदाय के विकास को सूचित करता है। दूसरी ओर, इन वार्ताओं से समय–समय पर आचार्य वल्लभ का गुजरात–भ्रमण की सूचना भी प्राप्त होती है, जो गुजरात में पुष्टि–संप्रदाय की शाखा के होने को और स्पष्ट करता है। जगन्नाथ जोसी की वार्ता में गोकुलनाथ बताते हैं कि

> ''सो कितनेक दिन पाछे श्रीआचार्यजी महाप्रभू गुजरात पधारे। तब खिरालू में जगन्नाथजोसी के घर उतरे तब श्रीठाकुरजी को दर्शन कीयो।''[20]

यही नहीं पुष्टि संप्रदाय में कुछेक भक्त ऐसे भी हुए है, जो संप्रदाय में शिष्यों को नाम देने का कार्य करते थे। कहा जाये तो आचार्य वल्लभ की अनुपस्थिति में वे ही शिष्यों को नाम–दीक्षा दिया करते थे। राणाव्यास सर्वप्रथम माधौदास सारस्वत से नाम–दीक्षा लेते हैं। उसके बाद वह आचार्य वल्लभ के सेवक बनते हैं। गोकुलनाथ लिखते हैं –

> ''और पहिले राणाव्यास नें माधौदास सारस्वत के पास नाम पायौ हुतौ। पाछें श्रीआचार्यजी महाप्रभून के सेवक भयै। तब परम वैष्णवन भयै।''[21]

ऐसे ही अनेक वार्ताओं में इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं जहाँ आचार्यजी के सेवकों को नाम–दीक्षा देने का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार की प्रक्रिया का अनुगमन संप्रदाय को प्रचारित तथा समृद्ध करने के उद्देश्य से किया गया। अतः गुजरात श्रीकृष्ण के ऐतिहासिक स्रोतों से समृद्ध रहा है। इसलिए कृष्णभक्ति के लिए वहाँ अनुकूल परिस्थिति का निर्माण सहजता से होता है। इसी प्रकार वल्लभाचार्य ने गुजरात में पुष्टि संप्रदाय का प्रचार किया था।

जिस प्रकार गुजरात में भक्तों का एक समूह दिखाई देता है। उसी प्रकार पुष्टिमार्गीय–भक्ति के कुछ ओर केन्द्र भी स्थापित होते हैं, जहाँ पुष्टिमार्ग अपना प्रभुत्व स्थापित करता है। यदि 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में भक्तों के निवास स्थानों को उद्धृत करें तो वह यह हैं – अडेल, महावन, गोवर्द्धन, गोकुल, मथुरा, आगरा,

---

[20] गोकुलनाथ, गोस्वामी, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 80
[21] गोकुलनाथ, गोस्वामी, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 87

कन्नौज, सोरो, बनारस, कंडा, कड़ा, उज्जैन, नरोड़ा, सीहनंद, जगन्नाथपुरी, आन्यौर, शेरगढ़, मोरबी, ठोरा, कश्मीर, ठट्ठे, बाँसवाड़ा, खिरालू, गोधरा, राजनगर, थानेश्वर, द्वारका अम्बाले। यह भक्तों के निवास–स्थान हैं, जिनका उल्लेख 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में हुआ है। इसके अतिरिक्त भी अनेक स्थानों का परिचय वार्ताओं में मिलता है। बहरहाल इन स्थानों में 'अडेल' पुष्टिमार्ग का प्रमुख केन्द्र है। दरअसल यह वल्लभाचार्य का निवास केन्द्र भी रहा। इसकी पुष्टि भक्तों की अनेक वार्ताओं में होती है। यहाँ तक की दूर–दूर के भक्त भी अडेल आकर वल्लभाचार्य से नाम–दीक्षा लिया करते थे। बहरहाल अडेल उनका जीवनपर्यंत केन्द्र रहा। अडेल में रहने वाले भक्तों की बात करें तो आठ भक्तों का वर्णन चौरासी वैष्णव की वार्ता में हुआ है। इन वार्ताओं की संख्या 1, 8, 23, 30, 52, 59, 70, 77, 86 है, जिनमें क्रमशः दामोदरदास हरसानी, रजोक्षत्राणी, दिनकरदास सेठ, यादवेन्द्रदास, कृष्णादासी, भगवानदास, सूतार, कन्हैयासाल, मावजीपटेल तथा उनकी पत्नी बिरजो का वर्णन किया गया है। इनमें रजोक्षत्राणी (रजोक्षत्राणी अडेल में रहती तिनकी वार्ता) तथा सूतार (सूतार कारीगर अडेल में रहते तिनकी वार्ता) की वार्ताओं में शीर्षक के अंतर्गत ही उनका स्थान अडेल बताया गया है। जबकि अन्य भक्तों का अडेल का होना प्रसंगों पर निर्भर करता है। अडेल के भक्तों में दामोदरदास हरसानी वल्लभाचार्य के प्रमुख सेवक है, जिनकी चर्चा पहले भी की जा चुकी है। उन्हें आचार्य वल्लभ और गुसांई विट्ठलनाथ दोनों का सान्निध्य प्राप्त हुआ। आचार्य जहाँ भी जाते दामोदरदास उनके साथ रहते। इसलिए जब वह पृथ्वीपरिक्रमा के लिए गये तब भी दामोदरदास उनके साथ थे।

> ''एक समय श्रीआचार्यजी महाप्रभू पृथ्वीपरिक्रमा कौं पधारे हुते। तब तहां दामोदरदास श्रीआचार्यजी महाप्रभून के साथ है।''[22]

गुसांई जी को पुष्टि–मत का ज्ञान दामोदरदास से ही प्राप्त हुआ। इसीलिए इनका निवास भी वहीं रहा जहाँ आचार्य वल्लभ रहे। इसलिए इनका स्थान भी अडेल निश्चित होता है। लेकिन यह भी सत्य है कि आचार्य वल्लभ के बाद इनका साथ गुसांई जी को भी प्राप्त हुआ। जबकि गुसांई जी का केन्द्र गोकुल रहा। ऐसा संभव जान पड़ता है कि आचार्य वल्लभ के समय इनका निवास अडेल रहा तथा बाद में गोकुल हो गया हो। स्थान–विशेष के निर्धारण में ऐसा ही संकट यादवेन्द्रदास के साथ भी प्रकट होता है। गोकुलनाथ इनका परिचय यादवेन्द्रदास कुम्हार के रूप में देते हैं। (अथ यादवेन्द्र दास कुम्हार तिनकी वार्ता) अतः यह कर्म से कुम्हार थे। लेकिन इन्हें आचार्य वल्लभ तथा गुसांई विट्ठलनाथ का सेवक कहा जा सकता है। इनके संबंध में गोकुलनाथ बताते हैं कि जब भी आचार्य जी तथा गुसांई जी परदेश (अर्थात् गृह स्थान से दूर) जाते थे, तब यादवेन्द्रदास इनके साथ होते थे।

---

[22] गोकुलनाथ, गोस्वामी, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 1

''सो श्रीआचार्यजी महाप्रभू तथा श्रीगुसांईजी जब परदेसी कों पधारते तब यादवेन्द्रनाथ इनके साथ सामग्री लेकै चलते। हड़वाई कनात, बिनाबांस की छोटी रावटी तथा एक दिन को सीधौ सामग्री इतनो बोझ लेके संग चलते और रसोई की चाकरी सब करते, रात्रि को पहरौ देते।''[23]

उपर्युक्त अंश से स्पष्ट है कि यादवेन्द्रदास परदेश गमन के दौरान उनके सेवक रहते थे, जो कि सामान को लेकर चलते थे। वार्ता में उन्हें आचार्यजी तथा गुसांई जी दोनों के साथ भ्रमण में जाना बताया गया है। अतः स्पष्ट है कि यह संप्रदाय के आश्रम में ही रहते होंगे। इसीलिए आचार्य वल्लभ के समय इनका निवास अडेल तथा गुसांई के साथ गोकुल रहा होगा।

कुछ भक्तों के अडेल में निवास करने का उल्लेख वार्ता–शीर्षक के अंतर्गत नहीं हुआ है लेकिन प्रसंग के अंतर्गत स्पष्ट तौर पर उनका स्थान अडेल ही निश्चित होता है। दिनकरदास मूलतः सेठ थे। अर्थात् वह आर्थिक रूप से समृद्ध थे। इनका अडेल में निवास करना इससे पता लगता है कि जब कभी आचार्य वल्लभ कथा कहते थे तब वह उसे अवश्य सुनते थे। गोकुलनाथ लिखते हैं –

''सो दिनकरदास कों कथा के ऊपर बहुते रुचि हुती। सो श्रीआचायी महाप्रभू आप आडेल में कथा कहते तहां दिनकरदास नित्य सुनते।''[24]

इससे स्पष्ट है कि दिनकरदास अडेल के निवासी थे। उनका आचार्य से नजदीक संबंध था। कहा जाये तो वह आचार्य वल्लभ के प्रिय थे। इसीलिए एक बार कथा सुनने की जल्दबाजी में वह कच्चा भोजन ही ग्रहण करके आ गये और इसका पता आचार्य वल्लभ को चल गया। तब से आचार्य वल्लभ उनके आगमन के उपरांत ही कथा कहना आरम्भ करते थे।[25] इसी प्रकार कृष्णादासी का परिचय देते हुए उन्हें रुक्मनी बहूजी की सेविका बताया गया है। उनका वर्णन करते हुए गोकुलनाथ लिखते हैं – ''सो कृष्णादास अडेल में श्रीरुक्मनी बहूजी की खवासी करती।''[26] इस वाक्य में उनका स्थान अडेल ही बताया गया है। एक अन्य भक्त कन्हैया साल (अथ कन्हैया साल क्षत्री तिनकी वार्ता) अडेल वासी थे। इनके स्थान–विशेष के संबंध में ना तो वार्ता–शीर्षक के अंतर्गत और ना ही उनके प्रसंग विशेष में स्पष्ट तौर पर उल्लेख किया गया है। बल्कि इनकी वार्ता में अडेल नाम भी नहीं आया है। हाँ यह अवश्य है कि आचार्य महाप्रभू के साथ उनके ग्रन्थों का अध्ययन

---

[23] वही, पृ.सं. 66

[24] गोकुलनाथ, गोस्वामी, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 54

[25] ''तब दिनकरदास सों श्रीआचार्यजी महाप्रभूनने कही जो तू काची अंगा करी क्यों खाय आयौ है। तब दिनकरदासने कही जो महाराज! टगाकरी तौ नित्य लेउंगौ, परि यह अमृतकथा कब सुनूंगो। तब श्रीआचार्यजी महाप्रभून नें कह्यौ जो अब ते त रसोई करि श्रीठाकुरजी को भोग समर्पि प्रसाद लेय। पहुँच के जब आवैगो तब पोथी खोलूंगो। तेरे आए बिना कथा न कहैंगे। आज ते हमारी कथा का श्रोता तू।'' वही, पृ.सं. 54

[26] वही, पृ.सं. 112

कन्हैयासाल ने किया था। बाद में गुसांई जी ने इनके साथ उन ग्रन्थों का अध्ययन किया। इसका स्पष्ट उल्लेख गोकुलनाथ करते हैं –

> ''सो उन कन्हैया साल क्षत्री के ऊपर श्रीआचार्यजी महाप्रभू बहुत प्रसन्न रहते, बड़ी कृपा करते। श्रीआचार्यजी महाप्रभून नें आप कृपा करिकें अपने ग्रन्थ कन्हैया साल को पढ़ायै। सोइ ग्रन्थ कन्हैयासाल के पास ते श्रीगुसांईजी ने पढे।''[27]

उपर्युक्त कथनांश के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि आचार्य वल्लभ से ग्रन्थों के अध्ययन तथा विट्ठलनाथ जी को अध्ययन कराने के दौरान यह उनके साथ ही रहे होंगे। बाद में वह विट्ठलनाथ के साथ रहे इसका कोई संकेत वार्ता में नहीं हुआ है। संभव है कि गुसांई जी का अध्ययन अडेल में ही हुआ होगा। संप्रदाय के मत का सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के उपरांत वह गोकुल प्रवास करते हैं। यदि उपर्युक्त वर्णन को देखें तो एक बात और स्पष्ट होगी कि इन्होंने आचार्य वल्लभ के साथ अधिक समय व्यतीत किया था। अतः इनकी आयु का अधिकांश अडेल में ही व्यतीत हुआ होगा। इसीलिए इनका स्थान निर्धारित करते हुए इनकी परिगणना अडेल भक्तों में की गई है।

इनके अतिरिक्त भी कुछेक भक्तों के स्थान विशेष का निर्धारण करने में 'सेवक' शब्द का प्रयोग भी सहायक होता है। सामान्यतः 'आचार्य वल्लभ के सेवक' ऐसा कहते हुए उनके अंतरंग सेवकों की बात होती है। लेकिन कभी–कभी गोकुलनाथ वार्ता के अंत में 'यह (कोई भी भक्त) आचार्य महाप्रभू के सेवक भये' वाक्य भी लिखते हैं। वार्ता के अंत में इस प्रकार के कथन में सेवक शब्द 'शिष्य' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जबकि वार्ता में प्रसंगों के अंतर्गत सीधे तौर पर किसी भक्त को आचार्य वल्लभ का सेवक कहना उनके 'अंतरंग सेवक' का अर्थ ग्रहण करता है। 'मावजी पटैल तथा उनकी पत्नी बिरजौ' की वार्ता में उनके निवास–स्थान का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। संकेतक रूप में बस एक वाक्य प्राप्त होता है –

> ''सामग्री भली भांति सों करते श्रीमहाप्रभूजी के सेवक दस कोस पर रहते तिनकों प्रसाद लिवावते ऐसे भली भांति सों सेवा करी।''[28]

यहाँ सेवक शब्द विशिष्ट अर्थ (अंतरंग सेवक) के रूप में प्रयोग हुआ है। गोकुलनाथ 'महाप्रभूजी के सेवक' कहकर उन्हें सामान्य भक्त अथवा शिष्य से अलग खड़ा कर देते हैं। संप्रदाय तथा वल्लभाचार्य के अंतरंग सेवक होने के कारण इनका निवास अडेल निश्चित होता है। इसी आधार पर अडेल से दस कोस की दूरी अर्थात् 15 कि.मी. के लगभग मावजी पटैल का निवास करना निश्चित होता है। लेकिन इस निष्कर्ष पर पहुँचने

---

[27] वही, पृ.सं. 132

[28] गोकुलनाथ, गोस्वामी, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 145

पर भी इसे पूर्णतः प्रमाणिक नहीं माना जा सकता। अतः इन निष्कर्षों के आधार पर उनके संबंध में शोध–दिशा अवश्य निर्धारित की जा सकती है।

उपर्युक्त तथ्यों के संश्लेषणात्मक अध्ययन से यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि चौरासी वैष्णव की वार्ता में बहुत–से सूचनात्मक तथ्य संकलित हैं, जिन्हें जोड़कर भक्त की ऐतिहासिकता का निर्धारण किया जा सकता है। यह प्रक्रिया उसकी ऐतिहासिकता के निर्धारण में सहायक है। लेकिन इन निष्कर्षों का समकालीन दृष्टि से प्रमाणिकरण संभव नहीं। इन तथ्यों में वस्तुनिष्ठ गुण सामान्यतः कम है। इसका कारण वार्ताओं का मूल उद्देश्य तथा उसका प्रयोजन है, जिसकी चर्चा पूर्व अध्यायों में की गई है।

इनके अतिरिक्त भी यदि हम वार्ता–लेखन की तात्विक विशेषताओं को समझने का प्रयास करें तो कुछ विशेषताएँ और दिखाई देती हैं। लेकिन उन्हें वार्ता–साहित्य की स्थायी प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता। यदि कुछ वस्तुनिष्ठ सूचनाएँ बड़ी संख्या में प्राप्त होती हैं तो वह वल्लभाचार्य से संबंधित हैं। उनकी पृथ्वी परिक्रमा (भारत भ्रमण) हो या पुष्टिमार्ग का प्रचार, नाम–दीक्षा देने वाले शिष्यों की उपस्थिति हो या उनके खुद के लिखे पुष्टिमार्गीय ग्रन्थ। 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में आचार्य वल्लभ के शिष्यों को स्थान दिया गया है, जिस कारण आचार्य की उपस्थिति सहजता से दिखाई देती है। इसीलिए सम्पूर्ण ग्रन्थ को पढ़ने के बाद आचार्य वल्लभ की ऐतिहासिकता, संप्रदाय मतावलम्बी ग्रन्थों की रचना, उनका व्यक्तित्व आदि का एक सुस्पष्ट चित्र निर्मित होता है, जो कि भक्त–वार्ताओं में बिखरे होते हुए भी एक रूपाकार लेता है। उदाहरणार्थ – आचार्य वल्लभ द्वारा पुष्टिमार्ग की स्थापना का समय 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में मिलता है। दामोदरदास हरसानी की वार्ता में गोकुलनाथ लिखते हैं –

> ''तब श्रीठाकुजरजी आप कहैं जो तुम जीवन को ब्रह्मसंबन्ध करावोगे तिनकौ हौं अंगीकार करूँगो तुम जीवनकौं नाम देउगे तिनके सकल दोष निवर्त होंयगे। ये बातैं श्रावणशुदि 11 के दिन अद्धरात्रि कौं भईं। प्रातकाल पवित्राद्वादशी हुती। ताते पवित्रा सूतकौ करिराख्यो हुतो सो पवित्रा श्री पुरूषोत्तमजी कौं पहरायौ। मिश्री भोग धरी तो समय के ये अक्षर हुते ताकों श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप सिद्धांतरहस्य ग्रन्थ कीये हैं।
>
> श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
>
> साक्षाद्भगवताप्रोक्तमेतदक्षरमुच्यते।।''[29]

[29] गोकुलनाथ, गोस्वामी, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 2

गोकुलनाथ दामोदरदास तथा आचार्य वल्लभ के प्रसंग को लिखते हुए 'सिद्धांत रहस्य' लिखे जाने की तिथि तथा पुष्टिमार्ग के आरम्भ को सूचित करते हैं। देखा जाये तो यह 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में प्रथम वार्ता का प्रथम प्रसंग है। अतः इससे एक बात और स्पष्ट होती है कि गोकुलनाथ कृत वार्ता–द्वै संप्रदाय के इतिहास को ही प्रस्तुत करने के उद्देश्य से लिखे गये हैं। इस प्रकार के समय–विशेष का सटीक उल्लेख होने से गोकुलनाथ की सजग भूमिका भी रेखांकित होती है। बहरहाल गोकुलनाथ द्वारा उद्धृत समय किस संवत् का है, यह कहना मुश्किल है। इसके लिए भारतीय ज्योतिष का ज्ञान होना आवश्यक है। अतः इसी प्रकार 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में वल्लभाचार्य के जीवन से जुड़े महत्वपूर्ण उल्लेख हुए हैं।

वल्लभाचार्य की पृथ्वी परिक्रमा अर्थात् भारत भ्रमण की सूचना भी कृष्णदास मेघनछत्री की वार्ता में मिलती है। जहाँ वल्लभाचार्य का बद्री नारायण (संभवतः बद्रीनाथ) में होने का उल्लेख हुआ है। इसी वार्ता के छठें प्रसंग के अंतर्गत बद्रीनाथ के मन्दिर में आचार्य वल्लभ तथा व्यासजी की दोबारा भेंट होने का वर्णन हुआ है। ''और एक समय श्रीआचार्यजी महाप्रभू श्रीबद्रीनाथजी के मन्दिर में पधारे। तब वेदव्यासजी साथ हैं।''[30] बद्रीनाथ में ही किरनीनाम पर्वत का भी उल्लेख हुआ है। 'किरनीनाम' पर्वत का नाम स्थानीय प्रयोग के अनुरूप जान पड़ता है। यदि इस नाम की ऐतिहासिकता का निर्धारण किया जा सके तो स्थान विशेष की पुष्टि करना सहज हो जायेगा। इसी वार्ता में उनका गंगासागर जाना भी लिखा है। (बहुर एक समय श्रीआचार्यजी महाप्रभू गांसागर पधारे।) वहाँ भी वह कृष्णदास मेघनछत्री के साथ थे। इससे एक बात तो स्पष्ट है कि कृष्णदास आचार्य वल्लभ के अंतरंग सेवकों में से एक थे और भारत भ्रमण के दौरान साथ ही रहे। इन्होंने भी आचार्य वल्लभ के साथ भारत भ्रमण किया। आधुनिक काल में हुए शोधों तथा पुष्टिमार्गीय ग्रन्थों के आधार पर आचार्य वल्लभ का तीन बार भारत–भ्रमण करना बताया गया है। इन तीन बार के संकेत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में स्पष्ट रूप से मिलते हैं। इसी वार्ता में गोकुलनाथ ऐतिहासिक प्रसंगों के साथ–साथ कुछ अलौकिक घटनाओं का भी वर्णन करते हैं। जैसा कि बद्रीनाथ में आचार्य वल्लभ की भेंट वेदव्यास जी से होना। सामान्यतः वेदव्यास एक पद माना गया है, जिसके अनुसार वेद का पठन–पाठन करने वाला वेदव्यास कहलाता है। लेकिन महाभारत के रचयिता 'वेदव्यास' एक संज्ञा–नाम रूप में भी विख्यात हैं। प्रस्तुत वार्ता में 'वेदव्यास' महाभारत के रचयिता के लिए प्रयोग हुआ है, जिस कारण वार्ता–साहित्य की ऐतिहासिकता पर समकालीन विद्वान शंका करते हैं। दरअसल वार्ता–साहित्य का 'इतिहास' के रूप में अध्ययन करते हुए इस प्रकार के अति–अलौकिक वर्णनों से दूरी बनाना आवश्यक हो जाता है। परन्तु इनसे दूरी बनाने से उस प्रसंग में उल्लिखित ऐतिहासिक संकेतों अथवा वर्णनों को पूरी तरह छोड़ा नहीं जा सकता। वार्ता–साहित्य इन्हीं ऐतिहासिक भूमि पर अलौकिकता

---

[30] वही, पृ.सं. 9

का जामा पहनाता है, जो कि मध्यकाल की विशेषता है। ताकि अधिक–से–अधिक लोगों पर प्रभाव जमाया जा सके।

भक्त वार्ताओं के साथ–साथ आचार्य वल्लभ की उपस्थिति सहज रूप में भी दिखाई देती है। उनके श्लोकों को उद्धृत कर गोकुलनाथ इन प्रसंगों को ऐतिहासिक बनाने का प्रयास भी करते हैं। जैसे कि आचार्य वल्लभ तथा वेदव्यास जी की भेंट होने पर आचार्य जुगलगीत के अध्याय का एक श्लोक उद्धृत करते हैं –

वमबाहुकृतवामकपोलोवलितरभ्रूधरार्पित वेणुं।

कोमलांगुलिनिराश्रितमार्गगोप्यईरयतियत्रमुकुन्दः।।1।।[31]

कृष्णदास मेघनछत्री की ही वार्ता में प्रसंग संख्या 6 में गोकुलनाथ वेदव्यास जी के एक श्लोक को उद्धृत करते हैं[32], जिसकी टीका वल्लभाचार्य ने की है। गोकुलनाथ उस दिन की तिथि वामन द्वादशी बताते हैं। शायद इस प्रकार के उल्लेख प्रसंगों की ऐतिहासिकता को आभासित कराने के उद्देश्य से उद्धृत किये गये हो। बहरहाल यदि इन उल्लेखों पर विचार करें तो कुछ महत्वपूर्ण दृष्टियाँ स्पष्ट होती हैं, जैसे कि इस प्रकार के उल्लेख वल्लभाचार्य के ग्रन्थों की ऐतिहासिकी के निर्धारण में सहायक होते हैं। समय विशेष का उल्लेख उनके ग्रन्थों के रचना–समय को सूचित करता है। शब्दशः उद्धृत होने के कारण वल्लभ–साहित्य में इन्हें खोजना भी संभव है। संस्कृत के श्लोकों की यहाँ उपस्थिति लोक–भाषा में लिखे वार्ता–साहित्य को लोक में प्रमाणिक बनाती है। ताकि लोक पर प्रभाव जमाया जा सके। इस उद्देश्य से भी इन श्लोकों की उपस्थिति वार्ता–साहित्य में होती दिखाई पड़ती है। यह मध्यकाल की एक सामान्य प्रवृत्ति थी। जिस प्रकार मध्यकाल में नवीन संप्रदाय की स्थापना से पूर्व दार्शनिक मत प्रस्तुत करने के लिए गीता, उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र पर टीका लिखना आवश्यक माना गया था। उसी प्रकार वार्ता–साहित्य में संस्कृत के श्लोकों को वार्ताओं को प्रमाणिक दिखाने के उद्देश्य से उद्धृत किया जाता था। अतः भक्त–वार्ताओं में आचार्य वल्लभ की उपस्थिति के साथ–साथ उनके गन्थों के श्लोकों को उद्धृत करने का कार्य गोकुलनाथ ने इसी उद्देश्य से किया है।

भक्त–वार्ताओं में वल्लभाचार्य की उपस्थिति का एक कारण पुष्टिमार्ग के मत को स्थापित करना भी रहा है। इसीलिए कई बार प्रसंगों में वल्लभाचार्य के कथन वार्ता के विषयों को प्रमाणित करने के उद्देश्य से आते हैं। परंतु यह कथन सीधे तौर पर पुष्टिमत को स्पष्ट नहीं करते लेकिन पुष्टिमत के मूल भाव को जरूर

---

[31] गोकुलनाथ, गोस्वामी, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 6

[32] आत्मत्वाद्भक्तवत्सलात् सतवक्तात् स्वभावतः।। वही, पृ.सं. 9

बताते दिखते हैं। माधोदास भट्ट की वार्ता में उनकी दुर्गतिपूर्ण मृत्यु को देखकर एक वैष्णव के प्रश्न के उत्तर में आचार्य वल्लभ कहते हैं –

> ''यह बड़ा भगवदीय हो पर इनसो एक भगवदपराध पर्‌यौ है। तब वैष्णवनमें पूछी जो महाराज ऐसो कहा अपराध पर्‌यौ हौ? तब श्रीआचार्यजी महाप्रभून ने कह्‌यो जो यह पहिले अपने सेव्य श्रीठाकुरजी को सेया ऊपर फूल बिछावत हौ। सो एक दिन बिना जाने फूल में सुई रह गई। सो माधोभट्ट नाहीं बीना। सो वा सुई को श्रीठाकुरजीके अंग में स्पर्श भयौ सो ता अपराध ते ऐसें भयौ, परि याकी देह सावधानता सो छूटी है।''[33]

इस प्रतिउत्तर में वह केवल माधोदास की दुर्गतिपूर्ण मृत्यु को स्पष्ट नहीं कर रहे बल्कि ठाकुरजी की सेवा में सावधानी को रेखांकित कर रहे हैं। यह रेखांकन वार्ता के माध्यम से कृष्णभक्तों द्वारा अनुकरणीय होता है। अतः इस प्रकार के कथन अनेक वार्ताओं में मिलते हैं जिनके माध्यम से पुष्टिमत स्पष्ट ही नहीं होता बल्कि आचार्य वल्लभ द्वारा ऐसा कहा जाना उसे प्रमाणिक बना देता है। यही वह क्षण भी है जब पुष्टिमत की सैद्धांतिकी व्यावहारिक भूमि ग्रहण करती दिखती है। वैसे तो गोकुलनाथ कृत वार्ता–द्वै पुष्टिमार्ग की सैद्धांतिकी का व्यावहारिक रूपांतरण है। परन्तु आचार्य वल्लभ के इस प्रकार के कथन वार्ताओं में अलग से ही रेखांकित करने के लिए आवश्यक है।

वल्लभाचार्य गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में एक धागे के समान हैं जो कि भक्त रूपी मोती को बाँधने का कारण बनते हैं। अन्य किसी भक्त का उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं हुआ है। बल्कि वल्लभाचार्य से इतर गुसाँई विट्ठलनाथ भी कुछ अंश तक इन भक्तों की उपस्थिति के कारण रूप में दिखाई देते हैं। परन्तु ऐसे भक्त जिनका संपर्क वार्ता के अंतर्गत गुसाँई जी के साथ दिखाई देते हैं वह भी पूर्व में आचार्य के शिष्यत्व को ग्रहण कर चुके है, जो कि वल्लभाचार्य के परलोकगमन के उपरांत विट्ठलनाथ से नाम–दीक्षा प्राप्त करते हैं। वल्लभाचार्य के बाद विट्ठलनाथ ही आचार्य पद पर आसीन होते हैं। इसका स्पष्ट उल्लेख 'भगवानदास श्रीनाथजी के भितरिया' की वार्ता में हुआ है। वह लिखते हैं –

> ''तब अच्युतदास ने श्रीगुसाँईजी सों कह्‌यौ जो महाराज! श्रीआचार्यजी महाप्रभून को तौ श्रीनाथजी ने आज्ञा दीनी है जो तुम जीवन को ब्रह्म संबंध करावो। सो साठलाख जीवन को तुम द्वारा अंगीकार करनो है। और श्रीआचार्यजी महाप्रभू ने तो तुमसो सोंपे है।''[34]

---

[33] गोकुलनाथ, गोस्वामी, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 71

[34] गोकुलनाथ, गोस्वामी, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 120

अतः स्पष्ट है कि वल्लभाचार्य के उपरांत विट्ठलनाथ ही संप्रदायाचार्य के पद पर आसीन होते हैं। गोकुलनाथ उपर्युक्त अंश में साठ लाख जीवन का उल्लेख करते हैं अर्थात् साठ लाख लोग। यह संख्या कितनी सटीक है यह कहना मुश्किल है क्योंकि बहुत–सी अतिश्योक्तियाँ चौरासी वैष्णव की वार्ता में भरी पड़ी है। परन्तु इसके आधार पर पुष्टिमार्ग के प्रभाव तथा उनके अनुकरणीय शिष्य–प्रशिष्यों की बड़ी भारी संख्या का आभास हो जाता है। अतः गोकुलनाथ कृत वार्ता–द्वै के लक्षित–पाठक प्रमुख रूप से यही शिष्य हैं, जो कि इन वार्ताओं का अध्ययन कर भक्ति तथा पुष्टिमार्ग में ओर दृढ़ होते हैं। परन्तु पुष्टिमार्ग में श्रीआचार्य से दीक्षित भक्त उनके ही शिष्य कहे जायेंगे ना कि विट्ठलनाथ के। विट्ठलनाथ को गुरु बनाने के लिए उन्हें उनसे अलग नाम–दीक्षा ग्रहण करनी होगी। तभी तो गोपालदास नरोडा की वार्ता में विट्ठलनाथ कहते हैं –

> ''जो गोपालदास! तुम्हारौ अंगीकार श्रीआचार्यजी महाप्रभून ने कियो है सो तो दृढ़ भयौ है परि जिननें तुम्हारे पास नाम पायो है सो तौ हमारे कबहूं न होयंगे। सो श्रीगुसांईजी ने क्षोभ करिकें गोपादास सों कह्यौ पाछें गोपालदास नें जितनेन को नाम दियौ हुतौ तिन सबन कों फिर सबन को गुसांईंजी के पास नाम दिवायौ तब वे सब कृतार्थ भये।''[35]

इस अंश से पुष्टि–संप्रदाय में नाम–दीक्षा देने की व्यवस्था के साथ–साथ उस व्यवस्था में गुरु–शिष्य का निर्धारण किस प्रकार होगा, इसको भी समझा जा सकता है। देखा जाये तो 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' तथा 'दो सौ वैष्णवन की वार्ता' में आचार्य वल्लभ तथा गुसांई विट्ठलनाथ के भक्तों का विभाजन इस दृष्टिगत भूमि पर संभव होता है।

आचार्य वल्लभ के अलावा भी कुछ धूरियाँ है जिसमें अनेक भक्त जुड़ते दिखाई देते हैं। इनमें ठाकुरजी के प्रतिरूपों की सेवा प्रमुख है। पुष्टिसंप्रदाय एक सगुणवादी संप्रदाय है, जो कि ठाकुरजी के प्रतिरूपों की सेवा पर जोर देता है। इन्हीं प्रतिरूपों में कुछ ऐतिहासिक प्रतिरूप भी है जिनका उल्लेख 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में भी हुआ है और उनकी उपस्थिति वर्तमान में भी दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए श्रीनाथ जी। श्रीनाथजी का मंन्दिर वृंदावन का केन्द्र है, जिसका निर्माण पूरनमल्ल द्वारा किया गया।

> ''सो पूरनमल्ल की गांठि में द्रव्य बहुत हुतौ। सो पूरनमल्ल कों श्रीनाथजी की आज्ञा भई हुती जो तू मेरो मन्दिर समराउ।''[36]

श्रीनाथजी केवल ठाकुरजी के नाम भिन्नता को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से उद्धृत नहीं हुए है बल्कि यह उस विशिष्ट प्रतिमा के लिए प्रयुक्त संज्ञा वाचक शब्द है। इसी प्रकार अन्य प्रतिमाओं का भी उल्लेख चौरासी

---

[35] वही, पृ.सं. 148

[36] गोकुलनाथ, गोस्वामी, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 65

वैष्णव की वार्ता में हुआ है। द्वारकानाथ, मथुरानाथ, मदनमोहन, नवनीतप्रिया, मदनमोहन, गोवर्द्धननाथ, बालकृष्णदास, गोकुलचन्द्रमा जी, लाडले जी, ललित त्रिभंगी जी आदि प्रमुख प्रतिरूप है, जिनकी सेवा का अपना अलग इतिहास प्रस्तुत वार्ताओं में मिलता है। इतिहास कहना इसलिए अभिष्ट है क्योंकि भक्त से भक्त तक इन प्रतिरूपों की सेवा हस्तांतरित होती रही है, जिस कारण भक्तों के आपसी संबंध को भी देखा जा सकता है। वहीं इन वार्ताओं में इन प्रतिरूपों के स्थान–विशेष में प्रगट होने की कथा भी प्राप्त होती है। वर्तमान दृष्टि से कहा जाये तो यह प्रतिरूप उस स्थान–विशेष में पुरातात्विक रूप से मिले होंगे, जिन्हें पुष्टिमार्ग ने सेवा–भक्ति के लिए शिष्यों में विभाजित किया। उदाहरण के लिए जीयदास क्षत्री की वार्ता द्रष्टव्य है :–

> ''सो जीयदास के माथे श्रीआचार्यजी महाप्रभून ने श्रीलाडलेजी की सेवा दीनी। सो जीयदास के पास श्रीलाडलेजी ने चार पहर सेवा करवाई। सोजीयदास के चार बेटा हुते। तिनमें पुरूषोत्तमदास, छबीलदास इन दोऊ भाईन ने कोई एक दिन सेवा कीनी। पाछें दोऊ भाईन के संतति न भई। तब इनके पाछें इनके मामा कृष्णदास चौपड़ा हुते तिनके माथे श्रीलाडलेजी पधारे। सो कितेक दिनतांई कृष्णदास चौपड़ा सो सेवा करवाई। सो भली भांति सों सेवा कीनी। सो एकसमय महामारी आई। सोकृष्णदास के घर के सब कुटुम्बकी देह छुटी। तब कृष्णदास अकेले रहै। तब कृष्णदास के मित्र हर जी तथा मथुरा मल्ल क्षत्री हुते, सो कृष्णदास तहां आय रहै, सो कितेक दिनतांई कृष्णदास और हरजी दोऊ मिलकें सेवा कीनी। पाछें कृष्णदास की देह छूटी। तब हरजी भाई नें डेढ़ वर्षलों सेवा कीनी। पाछें श्रीगुसांईजी के घर पधारे सो श्रीलाडलेजी अब बिराजत हैं।''[37]

उपर्युक्त जीयदास की वार्ता से प्रतिरूपों की सेवा का इतिहास तो स्पष्ट है ही साथ ही पुष्टिमार्ग में ठाकुरजी के 'प्रतिमा' की महत्ता का भी अंदाजा लगाया जा सकता है। इसी प्रकार देवा क्षत्री कपूर की वार्ता में ललितत्रिभंगी जी का इतिहास मिलता है। दरअसल यह दोनों प्रतिमाएँ और नवनीतप्रिया जी एवं गोकुलचन्द्रमा जी के स्वरूप महावन की एक क्षत्राणी के पास मिलते हैं, जिन्हें वह आचार्य वल्लभ को समर्पित करती हैं। और वल्लभाचार्य इन प्रतिरूपों की सेवा अपने शिष्यों को देते हैं। इन प्रतिरूपों का उल्लेख एक से अधिक भक्तों में होता हुआ दिखाई पड़ता है, जिनके माध्यम से वल्लभाचार्य के प्रभाव–क्षेत्र का अंदाजा उन भक्तों के स्थान–विशेष के आधार पर लगाया जा सकता है। परन्तु वर्तमान में अस्तित्ववान प्रतिरूपों के संबंध में ऐतिहासिक परिचय इन वार्ताओं से प्राप्त किया जा सकता है।

---

[37] गोकुलनाथ, गोस्वामी, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, संपादक – डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ.सं. 53

वल्लभाचार्य के प्रभाव क्षेत्र का आकलन उनके द्वारा निर्धारित भक्तों से भी हो सकता है, जो संप्रदाय के नाम पर शिष्यों को दीक्षित किया करते थे। इन भक्तों में पुरूषोत्तमदास क्षत्री बनारसवासी, गोपाालदास नरोडा,

'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में तथ्य बिखरे हुए हैं, जिनके आधार पर भक्तों की ऐतिहासिकता का परिचय मिलता है। यह तथ्य खण्डित रूप में मिलते हैं, इसीलिए पुष्टिमार्गीय वार्ताओं में लेखक की कोई निश्चित प्रवृत्तियों को चिंह्ति नहीं किया जा सकता। लेखन में यह प्रवृत्ति इसलिए निश्चित नहीं होती क्योंकि वार्ताकार का उद्देश्य इतिहास–लिखना ना होकर इतिहास–कथा को कहना है। वह इतिहास को पुरूषार्थ चतुष्ट्य के उपदेश से संवलित कर कथात्मक रूप में कहता है। भक्तियुगीन परिस्थितियों में वार्ता–साहित्य भक्ति की स्थापना, प्रचार तथा स्पष्टीकरण पर जोर देने के लिए लिखा गया है। चौरासी वैष्णव की वार्ता के विषयगत विश्लेषण द्वारा यह स्पष्ट है। उपर्युक्त सारणी में प्रत्येक वार्ता के विषय को भी रेखांकित किया गया है। यदि इन विषयों को सामान्यीकृत कर विचार करें तो कुछ प्रमुख विषय स्पष्ट होते हैं। यह विषय

निम्न हैं –

1	ईश्वर भक्ति	16	सेवा प्रणाली
2	गुरु भक्ति	17	सेवा भावना
3	वैष्णव भक्ति	18	लोक धर्म
4	दास्य भावना	19	वेद धर्म
5	शरण भावना	20	पुष्टिमार्ग के आधार ग्रन्थ
6	सख्य भावना	21	आचार महत्व
7	आश्रय, अनाश्रय	22	पुष्टिमार्गीय त्याग–भावना
8	लीला भावना	23	वैराग्य
9	असमर्पित त्याग	24	पुष्टि–भक्ति स्वरूप
10	निवेदन पुकार	25	पुष्टिमार्गीय व्यवहार

11	ब्रजभूमि	26	विचार शैली
12	श्रीयमुनाजी का महात्म्य	27	यात्रा
13	गिरिराज महात्म्य	28	गृहस्थ धर्म
14	सत्संग	29	भाव भावना
15	दुस्संग	30	स्वरूप भावना

उपर्युक्त सारणी में प्रत्येक वार्ताओं का विषयगत विश्लेषण कर सामान्यीकृत रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह विषय ही चौरासी वैष्णव की वार्ता के मूल प्रयोजन के अनुरूप है। यह विषय या तो भक्ति के निरपेक्ष चिंतन को प्रस्तुत करते हैं या फिर पुष्टिमार्ग में प्रचलित भक्ति–मत, सेवा–पद्धति, भगवद् एवं भक्त का स्वरूप, भक्त–भगवंत–संबंध आदि को स्पष्ट करते हैं। यह वार्ताएँ अखण्ड रूप से इन्हीं विषयों को प्रस्तुत करती हैं। यही वार्ताओं का अखण्ड सत्य है, जिसे ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से वार्ताकार प्रस्तुत करता है। यही वार्ताओं का मूल है। इसीलिए ऐतिहासिकता इन विषयों की प्रस्तुति के क्रम में निर्मित होती है। लेकिन यह समझने की आवश्यकता है कि वार्ता–साहित्य (इतिहास) का मूल प्रयोजन आध्यात्मिक उत्थान है। मध्यकालीन संदर्भों की सापेक्षता में विचार करें तो आध्यात्मिक उत्थान का कार्य भक्ति का अनुकरण कर संभव होता है। इसीलिए वार्ता–साहित्य के यह विषय उसके प्रयोजनात्मक लक्ष्य हैं। देखा जाये तो भक्ति ही वार्ता–साहित्य की तात्विक विशेषता है, जो कि वार्ता–लेखन की भूमि को निर्मित करती है।

5.3 गोकुलनाथ कृत 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

'पुष्टिमार्गीय–वार्ताएँ' पुष्टि संप्रदाय की धार्मिक धरोहर हैं। जैसाकि पहले भी कहा गया है कि वार्ता–साहित्य की मूल चेतना ही 'धार्मिक' है, अर्थात् धार्मिक चेतना की आधारभूमि पर भक्त–वर्णन रूपाकार लेता है। इसीलिए इन वार्ताओं में भक्तों के प्रति श्रद्धाभाव प्रबल रूप से दिखता है। यह भक्त ऐतिहासिक हैं, जबकि साहित्य में इनके वर्णन की मूल चेतना धार्मिक। इसीलिए पुष्टिमार्गीय–वार्ताओं का स्वरूप संश्लिष्ट विकास करता है। वह एक ओर इतिहास है तो दूसरी ओर भक्ति। एक ओर मूल्य–व्यवस्था है तो दूसरी ओर संप्रदाय–मत। एक तरफ धर्म का आचार–पक्ष है तो दूसरी ओर दर्शन। वार्ता–साहित्य (भारतीय वाङ्मय) के स्वरूप पर विचार करें तो यह संश्लिष्टता ही उसकी विशेषता है। उसके आंतरिक तत्वों तथा बाह्य स्वरूप

के संश्लेषण से इतिहास रूप में अध्ययन संबंधी समस्याएँ पैदा होती हैं। बिना स्वरूप–ज्ञान के कृति की गहन–भूमि की पहचान करना कठिन है। पुष्टिमार्गीय–वार्ताओं के संबंध में भी यही समस्या पैदा होती है। वार्ता–साहित्य को एक ओर साहित्य–कोटि में स्थान दिया जाता है तो दूसरी ओर हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते हुए वह अतीत का स्रोत–साहित्य है। अर्थात् साहित्य–कोटि के ग्रन्थ के आधार पर इतिहास–ग्रन्थ तैयार किया जाता है। ऐसे में वार्ता–साहित्य को लेकर कई प्रकार के द्वंद्व भी खड़े होते हैं। क्यों वार्ता–साहित्य को इतिहास–ग्रन्थ के रूप में नहीं देखा जाता जबकि उसमें मौजूद तथ्य इतिहास–लेखन में सहायक हैं? इसीलिए शोध में सम्मिलित सभी आधार ग्रन्थों का उद्देश्य मध्यकालीन हिन्दी में मौजूद भारतीय इतिहास–धारा का संश्लेषणात्मक अध्ययन करना है। ताकि संश्लेषणात्मक अध्ययन द्वारा वार्ता–साहित्य के मूल स्वरूप की सही पहचान की जा सके।

गोकुलनाथ कृत 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' पुष्टिमार्ग में विशेष स्थान रखती है। पूर्व कृति 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' गोकुलनाथ द्वारा रचित है। इसीलिए प्रस्तुत कृति में केवल नवीन तथ्यों का ही विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है, जो कि पूर्व में छूट गए थे। आचार्य वल्लभ तथा गुसाँई विट्ठलनाथ पुष्टि–संप्रदाय के शीर्ष हैं। इसीलिए गोकुलनाथ इन दोनों आचार्यों को केन्द्र में रखकर वार्ता–साहित्य की रचना करते हैं। आचार्य वल्लभ के शिष्यों का वर्णन 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में हुआ है तो 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' में गुसाँई विट्ठलनाथ के शिष्यों का। 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें 252 भक्तों का उल्लेख किया गया है। अतः यह स्पष्ट होना आवश्यक है कि यह सभी भक्त गुँसाई विट्ठलनाथ का शिष्यत्व ग्रहण करते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है कि इन भक्तों ने आचार्य वल्लभ का शिष्यत्व ग्रहण नहीं किया। कुछेक भक्त ऐसे भी मिलते हैं, जिन्होंने पूर्व में आचार्य वल्लभ से दीक्षा प्राप्त की थी तथा उनके देहावसान के बाद गुसांई विट्ठलनाथ का शिष्यत्व पाया। मूल पाठ का अध्ययन करते हुए कुछ सामान्य संकेत भी स्पष्ट होना आवश्यक है। मूल पाठ में जगह–जगह विट्ठलनाथ के लिए 'गुसाँई' तथा वल्लभाचार्य के लिए 'आचार्य' शब्द संकेतार्थ प्रयोग हुआ है। इसीलिए 'गुसाँई' शब्द से अभिप्राय विट्ठलनाथ तथा 'आचार्य' से वल्लभाचार्य होगा। वार्ताओं में इन्हीं संकेतों का प्रयोग बहुलता में हुआ है।

'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' के अंतर्गत विट्ठलनाथ के 252 शिष्यों की वार्ता कही गई है। इन शिष्यों को ऐतिहासिकता की कसौटी पर सतही विभाजन कर अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। पहला, इन वार्ताओं में आधे भक्त ऐसे हैं जिनके नाम, स्थान, जाति आदि के माध्यम से उनके परिचय दिये गये हैं। अतः उनके अस्तित्व को निश्चित रूप से स्वीकार किया जा सकता है। इनके नाम, जाति, स्थान आदि तथ्यों की उपस्थिति से उनके अस्तित्व का निर्धारण संभव है। दूसरा, 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' में कुछ वार्ताएँ ऐसी भी हैं जहाँ केवल भक्त–प्रसंगों का ही उल्लेख हुआ है। अर्थात् उनकी ऐतिहासिकता को निर्धारित करने

वाले तथ्य वहाँ उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी 117 वार्ताएँ हैं, जिनमें भक्त का नामोल्लेख भी नहीं है। इन वार्ताओं की महत्ता भी कम नहीं है। बल्कि उन प्रसंगों के माध्यम से प्रस्तुत उपदेश उसे बहुमूल्य बनाते हैं, जो कि भारतीय इतिहास–लेखन का कर्तव्य भी है। समकालीन इतिहास–चिंतन में ऐसी वार्ताएँ इतिहास कहे जाने से कोसों दूर होंगी लेकिन भारतीय इतिहास–चिंतन के अनुसार वह अपने प्रयोजन को पूर्ण करती हैं।

दरअसल नाम, जाति एवं स्थान के उल्लेख से इन चरित्रों को काल्पनिक श्रेणी से इतर ऐतिहासिकता की एक आधारभूमि मिलती है। कहा जाये तो इन्हें अस्तित्ववान रूप प्रदान करने में यह सूचनाएँ सहायक होती हैं। कल्पना और ऐतिहासिकता के बीच के भ्रम का निराकरण इन्ही सूचनाओं के द्वारा होता है। इसीलिए इन्हें दो विभाजनों के साथ स्थान दिया गया है। ऐसे भक्त, जिनके नाम, जाति एवं स्थान की सूचना वार्ताओं में दी गई हैं। उनकी ऐतिहासिक उपस्थिति को सहज ही स्वीकार किया गया है। इन भक्तों का ऐतिहासिकता की कसौटियों के आधार पर मूल्यांकन किया जा सकता है। जबकि वह भक्त, जिनके संबंध में यह सूचनाएँ नहीं मिलती, उनके अस्तित्व को निर्धारित करने वाली अन्य प्रक्रियाओं का अनुसरण विश्लेषण के दौरान आवश्यक है।

प्रथम श्रेणी में आने वाले भक्तों में ऐतिहासिक सूचनाएँ बहुलता से मिलती हैं। इनमें भी अष्टछाप के अंतर्गत आने वाले भक्त–कवियों का वर्णन ऐतिहासिक सूचनाओं से भरा हुआ है। साहित्य–जगत में विट्ठलनाथ की प्रशस्ति अष्टछाप की स्थापना के कारण है। गुसाँई विट्ठलनाथ ने अष्टछाप में आचार्य वल्लभ के चार शिष्य (कुंभनदास, सूरदास, परमानंददास तथा कृष्णदास) तथा स्वयं के चार शिष्यों (गोविंदस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास तथा नंददास) को स्थान दिया है। प्रथम चार भक्तों का उल्लेख गोकुलनाथ ने 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में किया है तथा बाद के चार भक्तों का उल्लेख 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' में। यह आठों भक्त कृष्णभक्ति पदों की रचना कर लोक–प्रसिद्धि पाते हैं। भक्तिकाल में यह कवि उत्तर–भारत को भावमयी–भक्ति से सराबोर करते हैं। इसीलिए गोकुलनाथ इनका विस्तृत वर्णन करते हैं। अतः इन वार्ताओं के माध्यम से गोकुलनाथ के इतिहास–लेखन को ओर गहनता से समझा जा सकता है।

अष्टछाप कवियों का उल्लेख करते हुए गोकुलनाथ इनके नाम, जाति, निवास स्थान तथा इनसे जुड़े परिवार (जो कि भक्त थे) का उल्लेख करते हैं। सामान्यतः यह सूचनाएँ पुष्टिमार्गीय–वार्ताओं में सहज रूप से उपलब्ध होती हैं। बल्कि उनकी जाति तथा निवास स्थान की सूचना प्रसंगों के अंतर्गत या तो सीधे तौर पर या फिर किसी संसर्ग के साथ स्पष्ट होती दिखती है। अष्टछाप कवियों में गोकुलनाथ गोविन्दस्वामी को सनाढ्य ब्राह्मण, जन्मतः आंतरी ग्रामवासी और प्रवास के बाद महावनवासी बताते हैं; ऐसे ही छीतस्वामी को चौबे (पूर्वनाम छीतचौबे) तथा मथुरावासी बताया गया है; चतुर्भुजदास को कुंभनदास के बेटे तथा गोपालपुरवासी कहा गया है; और नंददास को तुलसीदास के छोटे भ्राता (काशीवासी) के रूप में सूचित किया गया है। इन

सूचनाओं में गोविन्दस्वामी के संबंध में तो सीधे–सीधे तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं। लेकिन नंददास को तुलसीदास के भ्राता के रूप में कहकर गोकुलनाथ सीमित हो जाते हैं। यह अवश्य है कि वह नंददास का कुरूक्षेत्र के आडीसी नंदग्राम में भ्रमण करना लिखते हैं। परन्तु उनके निवास स्थान का सीधे–सीधे कोई परिचय वह नहीं देते। अतः इनके कृष्णभक्त होने से पूर्व तुलसीदास के निवासस्थान के आधार पर ही इनका निवासस्थान भी काशी ठहरता है। लेकिन कृष्णभक्त होने के बाद वह ब्रजक्षेत्र में ही निवास करते हैं। इसी प्रकार चतुर्भुजदास को कुंभनदास का बेटा कहते ही बहुत–से ऐतिहासिक तथ्य कुंभनदास की वार्ता से सहज ही ग्रहण हो जाते हैं। जैसाकि उनकी जाति, निवास स्थान, व्यवसाय आदि। इसीलिए गोकुलनाथ चतुर्भुजदास की वार्ता में ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत करने में अधिक रूचि नहीं दिखाते। छीतस्वामी की भी जाति का उल्लेख गोकुलनाथ ने नहीं किया है जबकि उन्हें बीरबल का पुरोहित और उनका पूर्व नाम छीतचौबे बताया गया है। यह दोनों तथ्य उनका ब्राह्मण होना सिद्ध करते हैं। अतः नाम की स्थाई प्रवृत्ति के अतिरिक्त भक्तों की जाति एवं उनके निवास स्थान का परिचय देना 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' की सामान्य प्रवृत्ति है। अन्य सूचनाओं में इनके परिवार में हुए कृष्णभक्तों का उल्लेख गोकुलनाथ करते हैं। कुछ सदस्यों की स्वतंत्र वार्ता भी गोकुलनाथ ने लिखी हैं। उदाहरण के लिए गोविन्दस्वामी की बहन कान्हाबाई (वार्ता सं. 1), हरिदास की बेटी (वार्ता सं. 16) आदि। तो अधिकतर मुख्य वार्ता के अंतर्गत ही उनका अलग प्रसंग में वर्णन कर दिया गया है।

कुछ अन्य भक्तों एवं राजशाही का नामोल्लेख भी प्रसंगों में दिखाई देता है। जैसेकि गोविन्दस्वामी की वार्ता में 'मदन गोपाल कायस्थ' द्वारा कीर्तन के पदों को लिखना बताया गया है। इसी वार्ता में गुसांईजी के भाई बालकृष्ण, गोकुलनाथ तथा रघुनाथ का भी उल्लेख एक प्रसंग के अंतर्गत हुआ है। अपछराकुण्ड में गोपिनाथदास ग्वाल से उनकी भेट का वर्णन हुआ है। वैसे गोकुलनाथ गोपीनाथदास ग्वाल की अलग वार्ता (वार्ता क्र. 37) भी लिखते हैं। अतः इस प्रकार गोपीनाथ ग्वाल की ऐतिहासिकता गुसांईजी के भ्राताओं से भेट के आधार पर निश्चित होती है। बहरहाल गोविन्दस्वामी की वार्ता में अकबर का उल्लेख भी हुआ है, जिसके माध्यम से उनके समय विशेष को निश्चित करना थोड़ा सरल होता है। यही नहीं अकबर और बीरबल का उल्लेख छीतस्वामी की वार्ता में भी हुआ है। वार्ता के अंतर्गत छीतस्वामी को बीरबल का पुरोहित बताया गया है। इसी क्रम में अकबर और छीतस्वामी का एक–दूसरे परिचित होने का भी पता चलता है। ऐसे बहुत से भक्त इन वार्ताओं में मिलते हैं, जो या तो राजा हैं, या फिर किसी राजा के आश्रित हैं अथवा किसी परगने के अधिकारी हैं या कहा जाये तो राजाश्रित अधिकारी हैं। वार्ताओं में वैष्णवभक्तों का राजा एवं उनके अधिकारियों से संपर्क का बारम्बार उल्लेख को देखते हुए बजरंग बिहारी तिवारी 'भक्ति संवेदना और सत्ता प्रतिष्ठान (पुष्टिमार्गीय साहित्य के संदर्भ में)' विषय पर शोध करते हैं। ऐसे बहुत से ऐतिहासिक भक्त का उल्लेख इन वार्ताओं में हुआ है, जिनका आपसी संपर्क एक–दूसरे की ऐतिहासिकता को पुष्ट करता है।

ऐतिहासिक तथ्यों के प्रमाणिकरण में पुरातत्व अहम भूमिका अदा करता है। परन्तु वार्ता–साहित्य की ऐतिहासिकता के निर्धारण में 'पुरातात्विक अध्ययन' सहायक नहीं हो पाता। इसका कारण इन भक्तों का राजशाही, धार्मिक, सामाजिक व्यवस्था में प्रभावशाली ना होना है। इनका प्रभाव इनकी भक्ति ही है, जो कि साहित्यिक प्रमाण तो उपलब्ध कराती है लेकिन पुरातात्विक साक्ष्य नहीं देती। इसीलिए भी पुष्टिमार्गीय–वार्ताएँ इतिहास–च्युत ही अधिक दिखाई पड़ती हैं। यदि ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त भी होते हैं तो वह साहित्यिक–लेखन के साथ ही आते हैं।

गद्यात्मक होने के कारण पुष्टिमार्गीय वार्ताओं में ऐतिहासिक सूचनाओं का संरक्षण अधिक हुआ है। इन वार्ताओं से जो तथ्य प्राप्त होते हैं, उनसे भक्त का ऐतिहासिक परिचय जरूर निश्चित होता है। यह ऐतिहासिकता साहित्यिक–कल्पना तथा ऐतिहासिक–वस्तुनिष्ठता के बीच के द्वंद्व को समाप्त कर देती है। लेकिन इसका निर्धारण वार्ताओं के स्वरूप की पहचान द्वारा ही संभव है।

पाश्चात्य इतिहास–लेखन परंपरा में राजनीति ही प्रमुख केन्द्र रही है। इसीलिए एक समय तक इतिहास से अभिप्राय राजनीतिक इतिहास से ही लिया जाता था। इसका कारण शासकीय व्यवस्था का लोक पर प्रभाव है। शासक तथा शासकीय व्यवस्था से जुड़े व्यक्तियों का प्रभाव समाज एवं लोक पर कानून व्यवस्था के कारण पड़ता है। शासन की क्रियात्मक भूमिका आमजन को प्रभावित करती है। जबकि भक्तों की उपस्थिति लोक में भावमयी अधिक है, बरक्स क्रियात्मक के। शासन से जुड़े निर्णयों आदि के लिए पुरातात्विक स्रोतों (जैसे स्तंभ, ताम्रपत्र आदि) का प्रयोग किया जाता है। अतः इतिहासकारों का विश्वास पुरातात्विक स्रोतों पर अधिक रहा है। साहित्यिक प्रमाणों को भी वह इतिहास–लेखन में स्थान देते हैं। परन्तु समयांतराल के कारण साहित्यिक–तथ्यों में आये बदलाव के कारण भी इतिहासकार प्रमाणिकता के लिए पुरातत्व पर आश्रित होते हैं। वार्ता–साहित्य जैसे साहित्यिक प्रमाणों से गुजरते हुए भी उनका केन्द्र राजशाही ही रहता है। अतः शासन व्यवस्था का विस्तृत क्षेत्र पर प्रभाव होने से इतिहासकार व्यापक प्रभाव की घटनाओं को महत्व देता है। जबकि भक्तों की उपस्थिति किसी निर्णायक मोड़ को उत्पन्न नहीं करती। उनका प्रभाव लघु है या कहा जाये तो क्षेत्रीय है। बल्कि उनकी भावमयी प्रगतिशील दृष्टि मध्यकाल में वायवीय प्रभाव डालती है। या कहा जाये तो वह 'युग–संवेदना' को निर्मित करती है। यह संवेदनात्मक दृष्टि ही भक्तों के अनुकरणीय चरित्र को लोक के द्वारा ग्रहण करने योग्य बनाती है। इसलिए वार्ता–साहित्य आधुनिक विद्वानों द्वारा इतिहास–कोटि में स्थान नहीं देता।

गोकुलनाथ कृत 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' भक्त–कवियों के संबंध में ऐतिहासिक सूचनाओं के साथ–साथ उनके साहित्यिक योगदान को भी गहराई से रेखांकित करती है। भक्त–कवि द्वारा रचित पदों का

उल्लेख वह बीच–बीच में करते हैं। उदाहरण के लिए छीतस्वामी जब गुसांई जी से भेट कर कृष्णभक्ति को प्राप्त करते हैं तब वह एक पद गाते हैं।

भई अब गिरिधरसों पहेचान।

कपटरूप धरि छलवेआयो पुरूषोत्तम नहि जान।।1।।

छोटो बडो कछू नहि जान्यो छायरह्योअज्ञान।।

छीतस्वामि देखत अपनायौ श्रीविट्ठलकृपानिधान।।2।।

दरअसल यह पूरा प्रसंग पद की ऐतिहासिकता को बताता है। ऐसे ही अन्य वार्ताओं में भी भक्त–कवियों द्वारा रचित पदों का उल्लेख हुआ है। कई बार तो ऐसा प्रतीत होता है कि इन पदों के द्वारा ही प्रसंगों को लिखा गया है। अतः प्रसंगों के लोक–प्रचारित होने के साथ–साथ ऐसे पदों का गायन भी एक पद्धति थी। वक्ता इस प्रकार के प्रसंग कहकर पद–गायन की एक भूमिका का निर्माण करते थे और बाद में पद गाते थे। बहरहाल इस प्रकार के पदों का गोकुलनाथ केवल संकेत भर करते हैं। उसको पूरा उद्धृत नहीं करते। उदाहरण के लिए चतुर्भुजदास द्वारा रचित निम्न प्रसंग द्रष्टव्य है :–

> ''और एक दिन श्रीगोवर्धननाथजीके श्रृंगारके दर्शन चतुर्भुजदासजीने कीने और श्रीगुसांईजी आरसी दिखावतेहते तासमें चतुर्भुजदासजीने ये पद गायो –
>
> सुभग श्रृंगार निरख मोहन को ले दर्पण कर पियहि दिखावे।
>
> आपु न नेक निहारिये बलि जाऊं आज की छबि कछू कहत न आवें।।''[38]

गोकुलनाथ यहाँ केवल दो पंक्तियों का उल्लेख करते हैं ताकि इन दो पंक्तियों के माध्यम से सम्पूर्ण पद की पहचान की जा सके।

कई पदों में भक्त–कवि से जुड़ी घटनाओं का उल्लेख हुआ है। ऐसे पदों में तथा गोकुलनाथ द्वारा उद्धृत प्रसंगों में साम्य बिठाना सरल है। लेकिन कुछ स्थानों पर भक्त–कवि द्वारा रचित पद का उल्लेख कर केवल उस प्रसंग–विशेष (रचना का समय) को इंगित कर देने से उसकी ऐतिहासिकता प्रश्नांकित होती है। इस प्रकार के उल्लेखों को गोकुलनाथ का रचनाकर्म ही कहा जा सकता है, जो कि प्रसंगों के साथ पद की साम्यता दिखाकर वार्ताओं को रचते हैं। बहरहाल गोकुलनाथ कई बार पदों के माध्यम से उनकी दृष्टि

---

[38] गोकुलनाथ, दो सौ बावन वैष्णव की वर्ता, प्रकाशक – खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, संस्करण 2018, पृ.सं. 27

(भक्ति–दर्शन) को भी स्पष्ट करते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए निम्न प्रसंग द्रष्टव्य है। चतुर्भुजदास के पद–वर्णन के उपरांत एक वैष्णव गुसांई जी से प्रश्न करते हुए कहता है :–

> ''ता पीछे गोविन्दकुण्डऊपर श्रीगुसाँईजी पधारे तब एकवैष्णवनें पूछयो जो महाराज चतुर्भुजदासजीने आजकी छबि कछु बरनिन जावै ऐसे गायो और आपतो नित्य श्रृंगार करे है और आरसी दिखावें है सो आजके पदको अभिप्राय कछु समझमें नहीं आयो जब श्रीगुसांईजीने कही सो चतुर्भुजदाससों पूंछियो तब वा वैष्णवने चतुर्भुजदाससों पूछो जब चतुर्भुजदास जीने औरभी पद गायो सो पद –
>
> माई री आज और काल और छिनछिन प्रति और और
>
> ये पद सुनिके वा वैष्णवने श्रीगुसांईजीसो पूंछयो जो भगवल्लीला तो नित्य है और सर्वत्र है जब चतुर्भुजदासजीनें और और क्यों कही तब श्रीगुसांईजीनें आज्ञाकरी भगवल्लीलामें विलक्षणपणो येईहै जो नित्य है क्षणक्षणमें नूतन लागत है और लीलास्थ जीवनकूं और लीलाके दर्शनकरवेवारेनकूं क्षणक्षणनूतन लगत है और नूतन रुचि उपजे है सो गोपालदासजीनें गायो है। चौथे आख्यानमें पांचमी तुक –
>
> एक रसना किम कहूं गुण प्रकट विविध विहार।
>
> नित्यलीला नित्य नूतन श्रुति न पामे पार।।''[39]

अतः उपर्युक्त प्रसंग में गोकुलनाथ पदों के माध्यम से भक्ति में भगवान का नित नूतनता को स्पष्ट करते हैं। दरअसल इस प्रकार के वर्णनों के माध्यम से गोकुलनाथ संप्रदाय के दर्शन को भी स्पष्ट करते हैं।

वार्ता–साहित्य मूलतः भक्ति–चेतना की उपज है और मौखिक परंपरा की देन। वार्ताकार अपने कथ्य, तथ्य और कहन–रूप को मौखिक परंपरा के अनुकरण पर ही पुष्ट करता है। मौखिकता उसकी दृष्टि तथा उसकी अभिव्यक्ति दोनों को प्रभावित करती है। 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' में भक्ति को प्रदर्शित करने के लिए गोकुलनाथ संप्रदाय में प्रचलित उन भक्त–प्रसंगों का भी उल्लेख करने से नहीं चुकते, जिनकी ऐतिहासिकता का निर्धारण असंभव है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे बहुत–सी वार्ताएँ गोकुलनाथ ने लिखी हैं, जिनमें भक्त–विशेष का नाम भी उल्लेख नहीं है। परन्तु उनका किसी अन्य तीसरे ऐतिहासिक चरित्र से संपर्क होने की सूचना है। ऐसे में भक्त की ऐतिहासिकता को निर्धारित करके उसके अस्तित्व को निश्चित करना मुश्किल है परन्तु अन्य ऐतिहासिक व्यक्तियों से संपर्क होने से उसके अस्तित्व को अनैतिहासिक कह देना संभव नहीं। बहरहाल ऐसे चरित्रों को गौण–भक्त की श्रेणी बनाकर ही स्थान देना चाहिए। बल्कि ग्रन्थ में उनकी भूमिका किसी और रूप में देख जाने की आवश्यकता है। 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' में इस

---

[39] गोकुलनाथ, दो सौ बावन वैष्णव की वर्ता, प्रकाशक – खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, संस्करण 2018, पृ.सं. 28

प्रकार के भक्तों की संख्या सौ से भी अधिक हैं, जिनको केवल उनकी जाति अथवा पति–पत्नी आदि के रूप में ही सूचित किया गया है। उदाहरण के लिए कुछ वार्ताओं के शीर्षक द्रष्टव्य है – कायस्थ पिता पुत्र; एक ब्रजवासी की बहू; दो भाई; एक ब्राह्मण; दिल्ली वाला; एक कुनबी पटेल; एक साहूकार के बेटा; एक वेश्या की बेटी; एक कुंजरी; प्रेत हतीत पतीत; एक कुणबी गुजरातवासी; एक बाई क्षत्राणी आदि। ऐसे अनेक वार्ताएँ है जिसमें भक्त की उपस्थिति तो है पर उसकी पहचान का कोई स्रोत नहीं दिया गया है। देखा जाये तो यह सामान्यतः पुष्टि–संप्रदाय में गुसाँई जी के शिष्य थे। इसीलिए इनका उल्लेख गोकुलनाथ ने ग्रन्थ में किया है।

इनके नामोल्लेख न होने पर भी इनके संबंध में कुछेक तथ्य गोकुलनाथ अवश्य उद्धृत कर देते है। यह तथ्य सामान्य तौर पर या तो किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के संपर्क में आने का होता है; या फिर उनके स्थान विशेष से परिचय का होता है; या फिर उनके कार्य अथवा व्यवसाय की सूचना देता है। तथ्य चाहे जो भी प्राप्त हो लेकिन यह वार्ताएँ भक्ति के किसी–न–किसी पक्ष को अवश्य प्रस्तुत करती है। साथ–ही–साथ इन वार्ताओं से गुसाँई विट्ठलनाथ के प्रभुत्व को भी स्थापित करने का कार्य किया गया है। यहाँ तक की उनका सीधा संपर्क अकबर के राजदरबार से बताया गया है। कायस्थ पितापुत्र (वार्ता 12) की वार्ता में पिता–पुत्र को पातशाह अकबर के अधिकारी जेल में डाल देते हैं। तब गुसाँई जी बीरबल की सहायता से उन्हें जेल से छुड़ाते हैं। इस वार्ता में बीरबल को गुसाँई जी के प्रति नतमस्तक होता हुआ भी दिखाया गया है।

> ''चाचाजी बीरबल सों कहि जो श्रीगुसांईजी बीस हजार रुपैयाके जामिन पड़ेंगे इन बापबेटानकुं छुडाय देवो तब बीरबलनें कहि मैं श्रीगुसांईजीको दास हूं मेरे पास द्रब्य है सो श्रीगुसांईजीको है मैं जामिन पडुंगो तब बीरबल ने पातशाहकों कहकें छुडाय दीये।''[40]

इस वार्ता में कायस्थ पिता–पुत्र को एक परगने का अधिकारी बताया गया है। साथ–ही–साथ इन्हें वैष्णव भी कहा गया है, जिनकी सहायता गुसांई विट्ठलनाथ करते हैं। इस सहायता से बीरबल का भी गुसांईजी के आगे समर्पण भाव होना तथा गुसांई के प्रभाव की व्यापकता को निर्दिष्ट करता है। अतः भले ही इन कायस्थ पिता–पुत्र की पहचान संभव नहीं परन्तु वार्ता में कई ऐसे तथ्य उपस्थित हैं जो उनकी ऐतिहासिकता को स्वीकारने में सहायक हैं। इसी प्रकार की वार्ताएँ 'दो सो बावन वैष्णव की वार्ता' में मिलती है।

विट्ठलनाथ 1565 ई. में अष्टछाप की स्थापना करते हैं। अष्टछाप में वह स्वयं के चार शिष्यों को भी स्थान देते हैं। गोकुलनाथ 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' लिखते हुए इन्हीं चार शिष्यों के साथ कृति का

---

[40] गोकुलनाथ, 252 वैष्णव की वार्ता, संपादक – रामदास, खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन, बम्बई, संस्करण 2018, पृ.सं. 78

आरम्भ करते हैं। क्रमवार वर्णन में गोविंदस्वामी (1505ई.–1585ई.), छीतस्वामी (1515ई.–1585ई.), चतुर्भुजदास (1530ई.–1585ई.) तथा नंददास (1533ई.–1583ई.) का उल्लेख हुआ है। कृष्ण भक्तिधारा में इन अष्टछाप कवियों को विशेष सम्मान प्राप्त है। अतः इनके संबंध में उपलब्ध ऐतिहासिकता का निदर्शन आवश्यक हो जाता है। इसीलिए गोविन्दस्वामी की वार्ता के आधार पर 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

गोविन्द स्वामी के साथ रचना का आरम्भ होता है। वार्ता में इनकी ऐतिहासिकता को निश्चित करने वाली सूचनाओं का उल्लेख हुआ है। गोकुलनाथ इन्हें आंतरी ग्राम में रहने वाला बताते हैं। (वर्तमान में ग्राम पंचायत आंतरी राजस्थान में उदयपुर से 90 कि.मी. की दूरी पर स्थित है।) दरअसल इनका नाम 'गोविन्ददास' था, लेकिन वह गोविंदस्वामी नाम से प्रशस्ति पाते हैं। संभव है यह नाम उन्हें संप्रदाय में दीक्षित होने के बाद प्राप्त हुआ हो। (*प्रथम गोविन्ददास आंतरी ग्राम में रहते, तहां गोविंदस्वामी कहावते*) आंतरी ग्राम में वह ठाकुरजी की सेवा करते हुए सदा भगवद्भक्ति में रमे रहते। नित्य सेवा में मग्न रहते हुए वह एक ही प्रश्न का उत्तर खोजते रहते कि *'जो श्रीभगवत् चरणारविंदकी प्राप्ति कैसें होय?'* इसी का उत्तर खोजते हुए वह ब्रज क्षेत्र में आकर महावन में रहने लगे। इस प्रकार के प्रश्न ही वार्ताओं को दार्शनिक बनाते हैं। दरअसल दर्शन में ब्रह्म तथा जीव के संबंध पर विचार किया गया है। दार्शनिक–चिंतन ब्रह्म तथा जीव के मिलन को ही मोक्ष मानता है। इस संबंध–स्थापना के लिए भारतीय आचार्यों ने विशद चिंतन किया है, जो कि अति–गूढ़ है। गोविन्दस्वामी इसी दार्शनिक–चिंतन को सहज शब्दों में पिरोते हैं। दर्शन की गूढ़ता के स्थान पर यह प्रश्न लोक को सहजता से ब्रह्म–आत्म–संबंध को समझाता है। इसी प्रकार का दार्शनिक निरूपण वार्ताओं का गुण है। वह इसी प्रश्न का उत्तर खोजते हुए ब्रज आये थे। वह ब्रज ही क्यों आये? इसका उत्तर देते हुए गोकुलनाथ लिखते हैं – *'जो यह ब्रज धाम है इहां भगवत् चरणारबिंद की प्राप्ति होयगी'*। दरअसल ऐसा कहने के पीछे कृष्ण भक्ति में ब्रज के दार्शनिक पक्ष का होना है। इसीलिए ब्रज ऐतिहासिक स्थान के कारण उद्धृत नहीं होता, बल्कि कृष्ण भक्ति–दर्शन में विशिष्ट होने के कारण होता है। इसी क्रम में दर्शन वार्ताओं में ऐतिहासिकता का कारण बनती है।

दर्शन की संश्लिष्टता के साथ–साथ गोकुलनाथ वस्तुनिष्ठ तथ्य भी प्रस्तुत करते हैं। इन वार्ताओं में गोविंदस्वामी का वर्णन ऐतिहासिक सूचनाओं के साथ होता है। वार्ताओं में कई ऐतिहासिक सूचनाएँ दार्शनिक महत्ता के कारण स्थान पाती हैं तो कुछ लोक–महत्व के कारण। उदाहरण के लिए गोविन्दस्वामी का कवि–कर्म उन्हें लोक में महत्व दिलाता है। गोविंदस्वामी भक्त–कवि के रूप में लोक–स्वीकृति पाते हैं। इसे स्वयं गोकुलनाथ ने भी स्वीकार किया है और उनके द्वारा महावन में रहते हुए पदों की रचना करना बताया है (*गोविन्ददास कवि हते सो आप पद कर्ते*)। इनके पदों की प्रशस्ति गुसांई विट्ठलनाथ तक भी पहुँच चुकी

थी। बाद में एक वैष्णव द्वारा गोविंदस्वामी का मिलाप गुसांईजी से होता है। गोकुल में ठकुरानी घाट पर वह पहली बार गुसांईजी के दर्शन प्राप्त करते हैं। उसी दिन वह गुसांईजी नाम–दीक्षा भी लेते हैं। गोकुलनाथ लिखते हैं –

> ''हे महाप्रभु! मोकूं कृपाकरिके शरण लेओ तब श्रीगुसांईजीनें कही न्हाय आवो। तब वे न्हाय आये तब श्रीनवनीतप्रियाजीके संनिधि में नाम निवेदन करायो तब गोविंदस्वामीकुं साक्षात् पूर्णपुरूषोत्तम कोटिकंदर्पलावण्यके दर्शन भये और सब लीलानको अनुभव भयो।''[41]

उपर्युक्त अंश में एक ओर गोविंदस्वामी का विट्ठलनाथ से दीक्षा लेने की ऐतिहासिक सूचना का उल्लेख हुआ है। वहीं साथ–ही–साथ गुसांई विट्ठलनाथ को 'पूर्णपुरूषोत्तम कोटिकंदर्पलावण्य' कहकर प्रभुत्वपूर्ण दिखाने का प्रयास है। दरअसल प्रस्तुत कृति में गुसांई जी को अलग–अलग प्रसंगों में इसी रूप में दिखाया गया है। यह रूप भगवान का है, जिसे गोविन्दस्वामी गुसांई जी में देखते हैं। इस प्रकार के कथन द्वारा गुसांई विट्ठलनाथ का महिमा मण्डन भी किया गया है। सम्पूर्ण कृति को पढ़ने के उपरांत गुसांई जी ऐतिहासिकता की भूमि से ऊपर अलौकिक रूप में स्थापित होते है। 'नाम निवेदन करने पर ही गोविंदस्वामी को पूर्णपुरूषोत्तम के दर्शन हुए' ऐसा कहते हुए गोकुलनाथ इन्हीं वाक्–कौशल का प्रयोग करते हैं। संप्रदाय केन्द्र में होने के कारण 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' संप्रदाय–ग्रन्थ हैं।

पुष्टिमार्गीय वार्ताओं की एक विशेषता संप्रदाय–दर्शन की व्याख्या भी है। प्रथम प्रसंग के अंतर्गत ही गोविंदस्वामी गुसांईजी के समक्ष कर्ममार्ग तथा भक्तिमार्ग संबंधी अपने द्वंद को सामने रखते हैं। *(श्रीगुसांईजी श्रीनवनीतप्रियाजीकी सेवा करके बाहिर पधारे तब गोविंदस्वामीनें बीनती करी, जो आपतौ कपटरूप दिखावत हो साक्षात् पूर्णपुरूषोत्तमरूप होयके वेदोक्त कर्म करत हो सो हम जैसेनकूं मोह होय है)* उनकी इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए गुसांई जी भक्तिमार्ग को फूल का वृक्ष तथा कर्ममार्ग को कांटों की बारी कहते हैं।[42] गोविंदस्वामी और गुसांई विट्ठलनाथ की बातचीत के माध्यम से आम मानस के तत्कालीन द्वंद (लोक का सहज प्रश्न – कर्ममार्ग तथा भक्तिमार्ग में संबंध?) का समाधान होता है। दरअसल यही वार्ता–साहित्य की प्रक्रिया भी है जिसमें जटिल दार्शनिकता को 'लोक–सहजता' प्राप्त होती है। अर्थात् लोक इन जटिल दार्शनिकता को सहज रूप से समझ पाता है।

---

[41] गोकुलनाथ, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, संपा. रामदास, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, संस्करण 2018, पृ.सं. 3

[42] ''जब श्रीगुसांईजीने आज्ञा करी जो भक्तिमार्ग है सो फूलको वृक्ष है और कर्ममार्ग है सो कांटनकी बारहै।। तासूं कर्ममार्ग की बारविना भक्तिमार्ग जो फूलको वृक्ष वाकी रक्षा न होय ये सुनके गोविन्दस्वामी प्रसन्न भये।'' गोकुलनाथ, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, संपा. रामदास, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, संस्करण 2018, पृ.सं. 3

इस वार्ता में गोविंदस्वामी से संबंधित कई ऐतिहासिक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, जिनका प्रमाणिकरण करना संभव है। उदाहरण के लिए गोविंदस्वामी का महावन के टेकरा पर निवास करना बताया गया है। महावन में ही पदों की रचना कर वह उन्हें गाया करते थे। यदि वार्ता में उपलब्ध विवरण को देखें तो इनके पदों को लिखने का कार्य मदनगोपालदास कायस्थ ने किया। *(सो गोविंददास महावन के टेकरापर रहते हते और नये कीर्तन करके गावते हते और उहां श्रीठाकुरजी सुनवेकुं पधारते हते, जब उहां मदनगोपालदास कायथ कीर्तन लिखवेकुं आवते हते)* इन सूचनाओं के साथ–साथ भक्ति की प्रगाढ़ता को दिखाने के लिए ठाकुरजी का उनके पदों को सुनने के लिए आना कहा गया है। यह अतिश्योक्ति है। इसका उद्देश्य भक्त का महिमामण्डन करना है। यह महिमामण्डन अधिक–से–अधिक लोगों को संप्रदाय की ओर आकर्षित करता है। इसीलिए इस प्रकार का अतिश्योक्ति वर्णन पुष्टिमार्गीय वार्ताओं में हुआ है।

पूर्व विश्लेषण में कुछ संकेतों का भी उल्लेख किया गया है, जिनसे भक्तों के आपसी संबंध का परिचय मिलता है। इन संबंधों में नाम–दीक्षा देने वाला गुरु–शिष्य–संबंध भी एक है। लोक में 'स्वामी' उपाधि नाम–दीक्षा देने वाले व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो कि अपने सेवक अर्थात् शिष्य बनाता है। पुष्टि–संप्रदाय में भी ऐसे ही व्यक्ति दिखाई देते हैं, जो कि नाम–दीक्षा देकर संप्रदाय के सेवक बनाया करते थे। दरअसल 'स्वामी' वाचक प्रयोग उन व्यक्तियों के साथ जुड़ता था जो कि पुष्टिमार्ग के प्रतिनिधि बनकर यह कार्य किया करते थे। उनका उद्देश्य अधिक–से–अधिक संख्या में लोगों को संप्रदाय में दीक्षित करना था। पुष्टि–संप्रदाय में यह व्यक्ति एक कड़ी के रूप में दिखाई देते हैं, जिनके माध्यम से पुष्टि–संप्रदाय दूरस्थ क्षेत्रों तक अपना प्रभाव जमाता है। गुजरात प्रदेश ऐसा ही क्षेत्र है, जहाँ पुष्टिमार्ग का प्रभाव व्यापक रूप से फैलता है। गोविंदस्वामी भी नाम–दीक्षा देकर अपने सेवक बनाया करते थे। परन्तु यह कार्य वह पुष्टिमार्ग में आने से पूर्व किया करते थे। विट्ठलनाथ का शिष्यत्व स्वीकार करने के उपरांत उन्होंने सेवक बनाना छोड़ दिया। गोकुलनाथ लिखते हैं –

> *''उहां आंतरिगाममें पहले गोविंदस्वामीके सेवक हते सो श्रीगोकुंल आये सो पूछत पूछत विनके पास गये, जायके पूंछी जो गोविंदस्वामी कहां है? तब विनने कही गोविंदस्वामी मरगये तब तिनमेंसूं एक पहचानतो हतो जब वान कही आप क्यों हमारी हाँसी करोहो। जब गोविंदस्वामीने कही हमने स्वामीपनो छोडदियो जासूं तुम ऐसे समझो जो मरगये हैं।'*[43]

गोविंदस्वामी बाद में अपने सेवकों को गुसांईजी का शिष्यत्व ग्रहण करवाते हैं। बहरहाल यह स्पष्ट है कि इन वार्ताओं में 'स्वामी' शब्द का प्रयोग विशेष व्यक्ति के लिए ही हुआ करता था, जो कि धार्मिक रूप से सेवक

---

[43] गोकुलनाथ, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, संपा. रामदास, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, संस्करण 2018, पृ.सं. 5

या शिष्य बनाया करते थे। दरअसल इससे मध्यकाल की संप्रदाय व्यवस्था के संगठनात्मक विकास को भी समझा जा सकता है। संप्रदायों की भूमिका भक्ति को आन्दोलन के रूप में खड़ा करने में महत्वपूर्ण रही है। अतः वार्ता–साहित्य मध्यकाल के इस पक्ष पर प्रकाश डालता है। यह संप्रदाय भक्ति–आन्दोलन के स्तम्भों के रूप में दिखाई पड़ते हैं। इनमें कुछ का प्रभाव विस्तृत है तो कुछ का क्षेत्रीय। यह क्षेत्रीय प्रभाव केन्द्र ही विस्तृत केन्द्र में सहायक होते हैं। जैसा कि गोविन्दस्वामी की वार्ता में द्रष्टव्य है। वह वल्लभ–संप्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व क्षेत्रीय प्रभाव पैदा करते हैं जबकि बाद में उनका यह प्रभाव वल्लभ–संप्रदाय में जुड़कर उसे मजबूत करता है। इसी प्रकार के क्षेत्रीय प्रभाव मध्यकाल में उभरते हैं। ऐसे ही संकेत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में भी मिलते हैं। यह संबंध मध्यकाल में लोक की संश्लिष्ट संरचना के अंग है। इसीलिए भक्तिकालीन काव्य में मौजूद गुरू–महिमा लोक–संरचना का प्रतिरूपण है।

इन वार्ताओं का एक पक्ष वल्लभाचार्य के दार्शनिक मत का स्पष्टीकरण (लोक के लिए सहज बनाना) है, तो दूसरी ओर पुष्टिमार्गीय भक्तों का महिमा मण्डन। वार्ता में बताया गया है कि गोविंदस्वामी यमुनाजी को साक्षात् श्रीस्वामिनीजी (राधाजी) के रूप में देखते थे। दरअसल वल्लभाचार्य 'यमुनाष्टक' में यमुना को श्रीस्वामिनीजी के रूप में वर्णित करते हैं। गोविंदस्वामी इसी स्वरूप को आत्मसात् करते हैं। अतः गोविन्दस्वामी की यह दृष्टि लोक के समक्ष यमुना की दार्शनिक–महत्ता को रखती है। यह वार्ताएँ इसी रूप में पुष्टिमत को लोक में स्थापित करते हैं।

'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' की एक प्रमुख विशेषता उसका प्रमाणिक लेखन है, क्योंकि इनमें उद्धृत वैष्णवों में से गोकुलनाथ का संपर्क अधिकतर भक्तों के साथ हुआ। कहा जाये तो अधिकतर भक्त गोकुलनाथ के समकालीन थे। यही नहीं गोविंदस्वामी का परिचय बालकृष्ण जी तथा रघुनाथ जी (गोकुलनाथ के भ्राता) के साथ भी था। इन तीनों भ्राताओं का परिचय एवं सम्मान विट्ठलनाथ के पुत्र एवं आचार्य वल्लभ के पौत्र के कारण भी था। अतः बहुत–से प्रसंगों की वस्तुनिष्ठता सत्य प्रतीत होती है। बहुत–से भक्तों का गोकुलनाथ के समकालीन होने के कारण वह प्रमाणिक होते हैं। जैसे कि गोकुलनाथ गोविंदस्वामी का वर्णन करते हुए बीच–बीच में श्लोकों को भी उद्धृत करते हैं। दरअसल यह श्लोक प्रसंगात् उपस्थित हुए हैं। उदाहरण के लिए : एक श्लोक को उद्धृत करते हुए गोकुलनाथ लिखते हैं –

> ''या श्लोकाको व्याख्यान श्रीगुसांईजी गोविंदस्वामीके आगे कहने लगे जब कहते कहते अर्धरात्र बीती तब श्रीगुसांईजी पौढे''[44]

[44] गोकुलनाथ, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, संपा. रामदास, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, संस्करण 2018, पृ.सं. 6

गोकुलनाथ प्रसंगात् जिन श्लोकों को उद्धृत करते है वह उनके स्वयं द्रष्टा है। अर्थात् गोविंदस्वामी का परिचय गोकुलनाथ से था। बल्कि इसी प्रसंग में गोकुलनाथ और गोविंदस्वामी के बीच वार्तालाप होती हुई दिखाई देती है। यह स्पष्ट था कि गोकुलनाथ और गोविंदस्वामी एक–दूसरे से परिचित थे। इसीलिए उनके व्यक्तित्व को प्रदर्शित करने वाले तथ्य प्रमाणित जान पड़ते हैं। अर्थात् कहा जाये तो गोकुलनाथ द्रष्टा होने के साथ समकालीन भक्त–वार्ताओं की प्रमाणिकता स्वीकारी जा सकती है।

गोविंदस्वामी की भक्ति तथा भगवान से उनके संबंध का उल्लेख करते हुए उनकी महत्ता स्थापित करने का कार्य वार्ताओं में हुआ है। भगवद्–भक्त–संबंध की व्याख्या इन वार्ताओं से हो जाती है। सम्पूर्ण कृति के आधार पर इस संबंध की पुष्टिमार्गीय व्याख्या की जा सकती है। खासतौर से पुष्टिमार्ग में भगवद्–अनुग्रह को कृष्ण एवं उनके भक्तों की क्रीडाओं में देखा जा सकता है। दरअसल पुष्टिमत में कृष्ण की लीलाओं का दर्शन ही भक्त का अंतिम लक्ष्य जान पड़ता है। लोक की रूचि दर्शन की बंजरभूमि से इतर लीलाओं की रसात्मक भूमि पर विचरण करने में रहती है। यह वार्ताएँ भक्ति–रस को उपजाने का कार्य भी करती है। इसीलिए कृष्ण का सामान्य मनुष्य के रूप में क्रीडाएँ करना तथा भक्त का उन क्रीडाओं में सम्मिलित होना, लोक को सहज ही पुष्टि–संप्रदाय की ओर आकर्षित कर लेता है। चाचा हरिवंश की वार्ता में एक लघु प्रसंग के अंतर्गत इन लीलाओं को देख सकते हैं –

> ''एक दिन चाचाजी गिरिराज ऊपर गए और शंखनादकी तैयारी हती। चाचाहरिवंशजीकुं ऐंसो अनुभव भयो की श्रीनाथजी निर्भर निद्रामें हैं तब शंखनाद होने न दियो सा भीतरिया ठाढे रहे दो घडी पीछे श्रीगुसांईजी पधारे जब शंखनाद कराए तोहूं श्रीनाथजी जागे नही तब सूरदासजीनें कीर्तन गायो सो पद –
>
> कौन परी नंदलालें बान।
>
> प्रात समय जागनकी बिरियां सोवत है पीतांबरमान।।
>
> ये पद सुनके श्रीनाथजी जागे सो चाचाजी ऐसे कुपापात्र हते।''[45]

दरअसल इस प्रकार के अनैतिहासिक वर्णन भी इन वार्ताओं को सार्वकालिक बनाते हैं, जिनका संबंध सीधे–सीधे लोक की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्था से नहीं होता। बल्कि इनका संबंध तो आम मानस से है। लोक इन वार्ताओं से भक्ति–रस का आनन्द प्राप्त करता है। भाषिक परिनिष्ठता भले ही इन वार्ताओं में नजर

[45] गोकुलनाथ, दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता, खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन, मुम्बई, संस्करण 2018,

नहीं आती, परन्तु संवेदनात्मक प्रौढ़ता इन वार्ताओं की विशेषता है। इसीलिए पुष्टि–संप्रदाय में इन वार्ताओं को विशेष सम्मान दिया गया है।

उपर्युक्त प्रसंग के आधार पर वार्ताओं की एक ओर प्रवृत्ति को रेखांकित किया जा सकता है। दरअसल भक्त–कवियों का वर्णन करते हुए गोकुलनाथ उनके पदों का भी उल्लेख करते हैं। गोकुलनाथ पद के मूल विषय के अनुरूप अलौकिक प्रसंगों को लिखते हैं। श्रीकृष्ण की उपस्थिति ऐसे पदों में सहज ही दिखाई देती है। अतः ऐसे प्रसंग संदेहास्पद हो जाते हैं। अधिकतर इन प्रसंगों में ऐतिहासिक तथ्यों की उपस्थिति ना के बराबर होती है। गोकुलनाथ केवल ऐतिहासिक स्थलों एवं समय का प्रयोग इन प्रसंगों के ऐतिहासिक दिखने के लिए करते हैं। ताकि लोक इन प्रसंगों की सत्यता पर विश्वास कर सके। अतः कई बार यह प्रसंग पदों की व्याख्या प्रतीत होते हैं, जिससे गोकुलनाथ के व्याख्या–कर्म पर भी प्रकाश पड़ता है। परन्तु इस व्याख्या कर्म को इतिहास–लेखन के रूप में स्वीकृत नहीं किया जा सकता। साथ–ही ऐसे प्रसंगों में इतिहास की खोज भी व्यर्थ है। यह प्रसंग केवल भक्ति–रस के उद्देश्य से लिखे गये हैं।

वार्ताओं की एक विशेषता यह भी है कि एक ही समय में हुए भक्तों का एक–दूसरे की वार्ताओं में उल्लेख हुआ है, जिनसे कई तरह की ऐतिहासिक तथ्यों का स्पष्टीकरण भी होता है। जैसा कि नारायणदास की वार्ता (वार्ता क्रमांक 9) में गोपीनाथ की बेटी सत्यभामा का उल्लेख हुआ है। गोपीनाथ वल्लभाचार्य के पुत्र तथा विट्ठलनाथ के भ्राता थे। इस आधार पर सत्यभामा भी प्रमाणिक चरित्र हैं। नारायणदास की प्रमाणिकता इसी संपर्क के साथ सिद्ध होती है। इसी वार्ता में नारायणदास को पादशाह का दिवान भी कहा गया है। गोकुलनाथ लिखते हैं कि सत्यभामा के आग्रह पर इन्होंने सभी कैदियों को मुक्त कर दिया था।

वहीं कुछ अन्य भक्तों का भी उल्लेख प्रस्तुत वार्ता में हुआ है। इन नामों में कान्हाबाई भी है। कान्हाबाई गोविंदस्वामी की बहन है। इनकी भी वार्ता गोकुलनाथ ने कही है। वार्ता में कुंभनदास और गोपिनाथदास ग्वाल का उल्लेख श्रीनाथजी के एकांत सखा के रूप में हुआ है। इसके अतिरिक्त लोक में गोविंदस्वामी के धमार पदों को साढ़े बारह कहा जाता था। इसके पीछे भी गोकुलनाथ श्रीकृष्ण एवं गोविंदस्वामी के एक प्रसंग को बताते हैं। (प्रसंग संख्या 10) यह प्रसंग भले ही अतिश्योक्तिपूर्ण लगे। परन्तु उनके धमार पदों के संबंध में लोक–प्रचलित दृष्टि का परिचय इन्हीं अतिश्योक्तियों के बीच प्राप्त होता है। वहीं अष्टछाप का परिचय गोविंदस्वामी की वार्ता में भी प्राप्त होता है। गोकुलनाथ लिखते हैं – *'वे गोविंदस्वामी भगवल्लीला में अष्ट सखानमें हते।'* उनके पद गान की प्रशस्ति इतनी अधिक थी कि स्वयं अकबर का भी उनके गान को सुनने की इच्छा हुई थी। ऐसा उल्लेख एक प्रसंग के अंतर्गत गोकुलनाथ करते हैं।

गोविंदस्वामी की वार्ता में ही कान्हाबाई की वार्ता सम्मिलित की गई है। दरअसल एक ही परिवार के सदस्यों को एक वार्ता के अंतर्गत स्थान दिया गया है। यही पद्धति 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में भी दिखाई देती है। नवनीतप्रियाजी के स्वरूप की सेवा कान्हाबाई के जिम्मे रही थी। वह सेवा–भक्ति के द्वारा ईश्वर–अराधना में लीन रहती थी। देखा जाये तो कृष्णभक्ति में सेवा–भक्ति मध्यकाल में सबसे ऊपर दिखाई देती है। इसी सेवा–भक्ति को पुष्टिमार्गीयवार्ताओं में सबसे अधिक महत्व दिया गया है।

निष्कर्ष : गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' के विश्लेषण से पुष्टिमार्गीय–वार्ताओं का स्वरूप स्पष्ट होता है। प्रस्तुत शोध के आधार ग्रन्थों में यही कृतियाँ ऐसी है जो कि गद्य में लिखी गई हैं। गद्यात्मक होने के कारण वार्ताकार पर भक्त–वर्णन की सीमा नहीं रहती, जो कि भक्तमाल तथा भक्तनामावली में छंदबद्ध होने के कारण निर्मित होती है। इसी कारण ऐतिहासिक तथ्यों की उपस्थिति भी पुष्टिमार्गीय–वार्ताओं में अधिक हुई है। लेखन की सीमा नहीं होने के कारण इन वार्ताओं की इतिहास–लेखन संबंधी प्रवृत्तियों को आसानी से रेखांकित किया जा सका है। बल्कि इन प्रवृत्तियों के साथ ही यह वार्ताएँ और स्पष्टता के साथ वस्तुनिष्ठ इतिहास का मार्ग प्रस्तुत करती है। दूसरी ओर वस्तुनिष्ठ तथ्यों की उपस्थिति का एक कारण पुष्टि–संप्रदाय का दबाव भी है। कहने का अभिप्राय यह है कि गोकुलनाथ जिन भक्तों का वर्णन करते हैं, उन्हें वह लोक–स्मृतियों से नहीं उठाते। बल्कि संप्रदाय में प्रचलित वार्ताओं से ही लेते हैं। पुष्टि–संप्रदाय इन वार्ताओं का निरंतर स्मरण करता है। यह स्मरण संप्रदाय में एक व्यवस्था का रूप लेता है, जिसकी शुरूआत स्वयं वल्लभाचार्य ही करते हैं। वह समय–समय पर शिष्यों के समक्ष इस प्रकार की वार्ताएँ कहते हैं। दरअसल यह वार्ताएँ उनके समकालीन भक्तों के प्रसंगों के साथ आती हैं। वह इन भक्त–प्रसंगों में पुष्टिमत को स्थापित कर प्रचारित करते हैं। इस प्रक्रिया में भक्त–वार्ताएँ पुष्टिमत को लोक में प्रचारित करने का माध्यम हो जाती है। इन वार्ताओं में ही वह कृष्ण–लीलाओं के समान भक्त–लीलाओं को भी कहते हैं। यह लीलाएँ अलौकिक होने के कारण अनैतिहासिक होने का भ्रम भी पैदा करती है। इसीलिए गोकुलनाथ स्थूल तथ्यों के साथ भक्त–वर्णन करते हैं। दोनों कृतियों के समग्र अध्ययन के उपरांत पुष्टि–संप्रदाय के दबाव को सरलता से महसूस किया जा सकता है। पुष्टिमत की स्थापना के साथ–साथ आचार्य वल्लभ तथा गुसांई विट्ठलनाथ को भी अलौकिक दिखाने का प्रयास इन वार्ताओं में स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसीलिए संप्रदाय ही गोकुलनाथ की दृष्टि, कथ्य तथा प्रयोजन होता है। वह दर्शन की जटिलता के स्थान पर भाव की सहजता रखते हैं। भगवद्–अनुग्रह के अनादि लक्ष्य को वह इन वार्ताओं के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। अन्य वार्ताओं के मुकाबले पुष्टिमार्गीय–वार्ताओं में ऐतिहासिकता और अलौकिकता गहन रूप से संश्लिष्ट हुई हैं। इस गहनता के बावजूद इन वार्ताओं में मौजूद ऐतिहासिक तथ्य इतिहास–लेखन को स्पष्ट करने में सहायक हैं। यह तथ्य भी वल्लभाचार्य तथा विट्ठलनाथ के समकालीन होने के कारण और प्रमाणिक होते हैं। इसीलिए अन्य वार्ताओं के मुकाबले वार्ता–द्वै अधिक प्रमाणित जान पड़ता है।

षष्ठ अध्याय

वार्ता–रूप 'भक्तनामावली' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

6.1 ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' तथा देवकीनन्दन ठाकुर कृत 'भक्तनामावली' का सामान्य परिचय

6.2 ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

6.3 देवकीनंदनदास ठाकुर कृत 'भक्तनामावली' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

षष्ठ अध्याय : वार्ता–रूप 'भक्तनामावली' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

मध्यकालीन हिंदी वार्ता–साहित्य में वार्ता–रूप 'भक्तनामावली' स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। देखा जाये तो वार्ता–रूप 'भक्तमाल' तथा 'पुष्टिमार्गीय वार्ताओं' से अलग 'भक्तनामावली' लघुत्तम आकार की कृति है, जिसमें मध्यकालीन भक्तों के नामों को लक्ष्य किया गया है। दोहे जैसे लघु आकार के छंद में होने के कारण ऐतिहासिक तथ्यों का अवकाश भी भक्तनामावली में कम रहता है, लेकिन ऐतिहासिकता का अंश जरूर रहता है। खासतौर से भक्तनामावली में नामों का इतिहास प्राप्त होता है। यह नाम लोक में बारम्बार स्मृत होते हैं। इसीलिए इन नामों को लोक–मानस में स्थान मिलता है। भक्तनामावली लोक मानस के इसी हिस्से का रचनात्मक प्रस्तुतिकरण है।

6.1 ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' का सामान्य परिचय

वार्ता–रूप 'भक्तनामावली–परंपरा' में ध्रुवदास का स्थान अविस्मरणीय है। ध्रुवदास राधावल्लभ संप्रदाय में दीक्षित थे। संप्रदाय के भक्ति–मत को इन्होंने गहन रूप में अपनाया था। इसीलिए राधावल्लभ संप्रदाय के भक्त–कवियों में साम्प्रदायिक सिद्धांतों का जैसा विवेचन ध्रुवदास ने किया वैसा और कोई ना कर सका। विजयेन्द्र स्नातक इनके संबंध में लिखते हैं कि

> ''ध्रुवदास जी ने राधावल्लभीय भक्ति–तत्व को जितनी समग्रता और व्यापकता के साथ अपनी वाणी में पल्लवित किया वह इस तथ्य का प्रमाण है कि वे हितहरिवंश की भक्ति–पद्धति के भाष्यकार व्याख्याता थे।''[1]

ध्रुवदास ने संप्रदाय–मत के अनुरूप साहित्य का सृजन किया था। इनकी रचनाओं में स्वतंत्र रूप से मत की व्याख्या और भाष्य प्रस्तुत किया गया है। दरअसल यह रचनाएँ संप्रदाय–मत का शास्त्रीय–चिंतन प्रस्तुत नहीं करती। यही राधावल्लभ संप्रदाय की विशेषता भी है। संप्रदायाचार्य हित हरिवंश ने भी दर्शन–स्थापना का प्रयास नहीं किया है। बल्कि वह संप्रदाय स्थापन की शास्त्रीय पद्धति के विपरीत जाते हैं। मध्यकाल में संप्रदाय की स्थापना से पूर्व प्रस्थानत्रयी (गीता, उपनिषद् तथा ब्रह्सूत्र) पर भाष्य लिखकर नवीन दर्शन को प्रस्तुत

[1] स्नातक, विजयेन्द्र, राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.सं. 411

करना आवश्यक माना जाता था। परन्तु हितहरिवंश ने प्रस्थानत्रयी पर शास्त्रीय चिंतन–मनन का कोई ग्रन्थ नहीं लिखा।

> ''राधावल्लभ संप्रदाय के भक्ति–सिद्धांत द्वैत या अद्वैत परक किसी विशिष्ट दर्शन–मार्ग पर आधृत नहीं है। इस संप्रदाय का मूलाधार प्रेम–तत्व है, अतः प्रेम–लक्षणा भक्ति के उपर्युक्त उपकरणों का ही वर्णन आचार्यों ने किया है।''[2]

संप्रदाय प्रवर्तक हित हरिवंश के दार्शनिक–भूमि को समझने के लिए उनकी 'वाणी' को ही आधार बनाया जाता है। यह वाणी हृदय की रसस्निग्ध भावनाओं की सहज स्वीकृति और सरस अभिव्यक्ति है। यही राधावल्लभ संप्रदाय की नींव और रसोपासना का आधार भी है। ध्रुवदास भी सहज सरल कवित्वपूर्ण वर्णनों के माध्यम से संप्रदाय मत की व्याख्या करते हैं।

ध्रुवदास के जन्म संवत् के विषय में हिंदी साहित्येतिहास कोई प्रमाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं कराते। बल्कि इनके संबंध में भगवतमुदित और गोस्वामी जतनलाल कृत 'रसिक अनन्यमाल' ही सूचनाएँ प्रस्तुत करता है। भगवत मुदित इनके संबंध में लिखते हैं –

काइथ कुल देवन केवासी परंपराइ अनन्य उपासी।

श्रीगोपीनाथ के शिष्यन श्रेष्ठ सेवत राधावल्लभ इष्ट।।

ध्रुवदास देवबन्द में कायस्थ–परिवार में जन्मे थे। इनके परिवार में पहले से ही भगवत्–भक्ति की परंपरा वर्तमान थी। अतः बाल्यकाल से ही इन्हें भगवत्–भक्ति का परिवेश प्राप्त हुआ था। यह गोपीनाथ के शिष्य थे। इन्होने राधावल्लभ को इष्ट मानकर उनकी सेवा की। इनके समय की सूचना भगवतमुदित नहीं करते हैं। बल्कि प्रियादास शुक्ल ने 'राधावल्लभ भक्तमाल' में इनका जन्म संवत् 1622 दिया गया है। किन्तु इनकी रचनाओं में समयोल्लेख के द्वारा यह अनुमानित ही प्रतीत होता है। ध्रुवदास 'रामानन्द लीला' नामक ग्रन्थ में कृति का रचना काल संवत् 1650 लिखते हैं –

सम्वत् सोलह सै पंचासा, वरनत हित ध्रुव जुगल विलासा।

वहीं एक अन्य कृति 'रहस्य–मंजरी लीला' में रचनाकाल संवत् 1698 दिया गया है। इन दोनों संवत् के पूर्व और बाद में कोई काल–सूचना नहीं मिलती। अतः इनका रचनाकाल संवत् 1950 से 1998 ठहरता है। यदि संवत् 1950 को पहली कृति भी स्वीकारें तो इनका जन्म समय संभवतः बीस वर्ष पूर्व 1930 अनुमानित होता

---

[2] स्नातक, विजयेन्द्र, राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.सं. 119

है, जो कि राधावल्लभ भक्तमाल के निकट भी नहीं है। और संभवतः 1698 के कुछ वर्षों उपरांत इनका मृत्यु काल रहा हो। प्रियादास शुक्ल इनका मृत्यु समय भी संवत् 1740 अनुमानित करते हैं। इसके पीछे का कारण बताते हुए उनका मानना है कि भक्तनामावली में संवत् 1735 तक के भक्तों का उल्लेख हुआ है। जबकि विजयेन्द्र स्नातक भक्तनामावली में किसी भी ऐसे भक्त का उल्लेख नहीं पाते जो कि संवत् 1735 में उत्पन्न हुआ हो। उनका मानना है कि भक्तनामावली में केवल उन्हीं भक्तों का वर्णन हुआ है जो कि संवत् 1700 के आसपास विख्यात थे। इसी आधार पर वह ध्रुवदास का मृत्यु समय संवत् 1700 स्थिर करते हैं।

विजयेन्द्र स्नातक इनके वंश–परंपरा का भी परिचय उपलब्ध कराते हैं। वह वीठलदास को ध्रुवदास का पितामह बताते हैं, जो कि हितहरिवंश जी के शिष्य और जूनागढ़ स्टेट में दीवान थे। इनके पिता श्यामदास भी परम भक्त थे। इन्होंने हितहरिवंश जी के पुत्र गोपीनाथ जी से दीक्षा ली थी। 'राधावल्लभ भक्तमाल' में इन्हें बिजनौर के राजा सोमदेव के यहाँ नौकर लिखा गया है। अतः ध्रुवदास को राधावल्लभ भक्ति पूर्वजों से ही प्राप्त हुई थी। विजयेन्द्र स्नातक इनकी भक्ति के संदर्भ में प्रचलित किंवदन्ती का उल्लेख करते हैं –

> ''यह भी किंवदन्ती है कि ध्रुवदास जी परंपरा से राधावल्लभी थे अतः जन्मगत संस्कारों के प्रभाव के कारण शैशव में ही विरक्त हो गये और दस वर्ष की अल्पायु में वृंदावन चले आये।''[3]

यदि इस किंवदन्ती में आंशिक सत्यता है भी तो इससे ध्रुवदास का अल्पायु में ही राधावल्लभ भक्ति का गहन प्रभाव परिलक्षित होता है। पिता एवं पितामह के समान यह भी राधावल्लभ संप्रदाय में दीक्षित हुए थे। कहा जाता है कि हितहरिवंश जी ने इन्हें स्वप्न में दीक्षा दी थी। परन्तु मर्यादा–रक्षा के विचार से इन्होंने बाद में गोस्वामी गोपीनाथ जी से विधिवत् दीक्षा ग्रहण की। इन्होंने गोपीनाथ का गुरु–रूप में उल्लेख किया है –

श्री गोपीनाथ पद उर धरै महागोप्य रस सार।

बिनु विलम आवै हियै अद्भुत जुगल विहार।।

भगवतमुदित तथा जतनलाल ने भी गोपीनाथ को इनका गुरु लिखा है। अतः इनके गुरु को लेकर सभी विद्वान निर्विवादित हैं।

विजयेन्द्र स्नातक इनका वृंदावन में निवास करना बताते हैं। वह रामचन्द्र शुक्ल की पूर्व उद्धृत किंवदन्ती का ही आश्रय लेते हैं कि ध्रुवदास अल्पायु में वृंदावन आ गये थे और फिर कभी वृंदावन के बाहर नहीं गये। वहीं रहकर इन्होंने वाणी–रचना की। कहा जाता है कि वह भजन–कीर्तन में ऐसे लीन हुए कि इन्हें अपने चारों ओर के संसार का कोई बोध नहीं रहा। इसी अवस्था में इन्होंने वाणी–रचना की। वाणी–रचना में

---

[3] स्नातक, विजयेन्द्र, राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.सं. 413

इन्होंने तत्कालीन प्रचलित सभी पद्धतियों का समावेश किया है। यद्यपि समस्त रचना मुक्तकों में लिखी मिलती है। विजयेन्द्र स्नातक इनकी भाषा को आत्मा की भाषा कहते हैं। वह लिखते हैं –

> ''जिस विषय को इन्होंने स्वीकार किया उसके अंतरतम में पैठकर पूर्णरूपेण मर्मोद्‌घाटन करके ही छोड़ा है। आत्मा की भाषा ही इनकी काव्य–भाषा है, अर्थात् रस परिपाटी को ग्रहण करने के बाद शुद्ध रसात्मक काव्य–रचना ही इनका ध्येय था।''[4]

इसीलिए इनकी वाणी में शुष्कता, रस–विहीनता, क्लिष्टता, दुरूहता आदि नहीं दिखती। इन्होने कुल बयालीस ग्रन्थों की रचना की। इन्हें ध्रुवदास ने 'लीला' नाम दिया। अतः इनकी बयालीस रचनाओं का संकलन 'बयालीस लीला' नाम से प्रकाशित हुआ है। लीला शब्द का प्रयोग भी रस–पद्धति के कारण हुआ है। कहने को भले ही यह बयालीस रचनाएँ हैं लेकिन यह लघु–रूप कृतियाँ हैं। इन ग्रन्थों में विविध शास्त्र, स्मृति, पुराण आदि का सारतत्व संकलित किया गया है। इन कृतियों में राधावल्लभ संप्रदाय का तात्विक–विवेचन भी सहजता से स्पष्ट हो जाता है।

बयालीस लीला में ही 'भक्तनामावली' को सम्मिलित किया गया है। ध्रुवदास का 'भक्तनामावली' को लिखे जाने का उद्देश्य राधावल्लभ संप्रदाय के भक्तों का स्मरण करना था। परन्तु इन भक्तों के साथ–साथ अन्य कृष्णाभक्तों का भी उल्लेख उन्होंने किया है। इस कृति में उन्होंने भक्तों का नाम, धाम तथा विशिष्ट गुणों को ही अभिव्यक्त किया है। लेकिन कहीं–कहीं उनकी उपासना–पद्धति और उपासना तत्व का भी वर्णन मिलता है। दोहे में लिखित होने के कारण भक्तनामावली का उद्देश्य केवल नाम–स्मरण करना भर ही रहा। भक्तनामावली में कुल 126 भक्तों के नामों का उल्लेख हुआ है। इन भक्तों में हितहरिवंश के वंशजों का उल्लेख भी क्रमवार हुआ है। अतः लघु–रूप होने के कारण इन भक्तों का संक्षिप्त परिचय ही ध्रुवदास ने लिखा है। भक्तनामावली का रचना–समय ध्रुवदास ने नहीं दिया है। इसीलिए संकलित भक्तों के समय के आधार पर ही कृति का समय निश्चित किया गया है। वियोगी हरि कृति में संवत् 1735 तक के भक्तों का उल्लेख मानते हैं। इसीलिए 'भक्तनामावली' का समय संवत् 1740 के आसपास अनुमानित होता है। परन्तु संवत् 1735 के समीप हुए भक्त का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। इसके अतिरिक्त विजयेन्द्र स्नातक संवत् 1700 तक के प्रशस्ति प्राप्त भक्तों को 'भक्तनामावली' में सम्मिलित होने की बात कहते हैं। अतः वियोगी हरि के मत को वह संदिग्ध श्रेणी में स्वीकार करते हैं।

जैसा कि स्पष्ट है कि ध्रुवदास राधावल्लभ संप्रदाय में दीक्षित थे। इसीलिए भक्त–वर्णन के दौरान उनकी उत्कृष्टता के पैमाने भी वह संप्रदाय–दर्शन से ही ग्रहण करते हैं। राधावल्लभ संप्रदाय में हितहरिवंश

---

[4] स्नातक, विजयेन्द्र, राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.सं. 415

जी की वाणी को ही सबसे ऊँचा सम्मान प्राप्त है। हितहरिवंश की वाणी मूलतः भावमूलक अभिव्यक्ति है, जिसके आधार पर बाद के आचार्यों ने एक मत बनाने का प्रयास किया। इसीलिए बहुत–से मत जो कि हितहरिवंश की वाणी में अनुपस्थित हैं वह बाद के आचार्यों द्वारा जुड़े दिखाई देते हैं। द्वैत–अद्वैत के द्वंद्व के बीच राधावल्लभ संप्रदाय के दार्शनिक दृष्टिकोण के बीच एक सहज जिज्ञासा भी उत्पन्न हुई। इस जिज्ञासा के समाधान के लिए ब्रह्म और जीव के अभेद संबंधों की स्थापना में राधाकृष्ण का अभेद बताकर उस दर्शन को 'सिद्धाद्वैत' कहा गया। ब्रह्म संप्रदाय में इसका परिगणन किया गया और चतुःसंप्रदाय की परंपरा में स्थिर करने का प्रयास रहा। लेकिन इसके बावजूद राधावल्लभ संप्रदाय का मूल–दर्शन प्रेमाभक्ति ही है। वहाँ गूढ़ दार्शनिक चिंतन–मनन का कोई स्थान नहीं है। भावमूलकता ही भगवत्–प्राप्ति का साधन है। संप्रदाय में उनकी वाणी वेद–समान है। संप्रदाय का भक्ति–दर्शन उनकी वाणी को ही आधार बनाकर अलग–अलग रूप में व्याख्यायित करता है। वाणी के आधार पर ही राधावल्लभ संप्रदाय के भक्ति–स्वरूप को समझा जा सकता है। राधावल्लभ संप्रदाय का केन्द्र प्रेमलक्षणा भक्ति है। इसीलिए बाह्य कर्मकाण्ड को संप्रदाय में स्थान नहीं दिया गया है। हितहरिवंशजी ने लौकिक कर्मों के प्रति कहीं भी आस्था नहीं दिखाई बल्कि जो कुछ उन्हें कर्तव्य कर्म लगा उसे भी सहज रूप में कहा। इसीलिए राधावल्लभ का रस–दर्शन बाह्याचार की रूढ़ियों में भक्ति की स्थिति पाता है। भक्ति–सिद्धांत का मूलाधार प्रेम या हित तत्व है। नाम के आगे 'हित' प्रेम तत्व को ही सूचित करता है। अतः प्रेम–तत्व को हृदयंगम किये बिना राधावल्लभीय भावना का बोध असंभव माना गया है। हित हरिवंश जी ने दर्शन के ऊहापोह के स्थान पर 'नित्य–विहार' का वर्णन किया है और उसी को 'रस–दर्शन' कहा है। कहीं–कहीं इसे ही वृंदावन–रस भी कह दिया गया है। अतः यह रस ही जीवात्मा का परम ध्येय है। विजयेन्द्र स्नातक लिखते हैं कि ''प्रेम की व्यापक परिधि को समझ लेने के बाद ही इस रस–क्षेत्र में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त होता है।''[5] अतः दार्शनिक निरसता से हटकर हितहरिवंश जी ने इसी रस–दर्शन की स्थापना की।

हितहरिवंश जी ने भक्ति–विधायक तत्वों में प्रेमतत्व की मीमांसा करते हुए तत्संबद्ध भावों और विषयों का ही उल्लेख किया है। रस–दर्शन में नित्य विहार के संपादक राधा, कृष्ण, सहचरी और वृंदावन का स्वरूप हितहरिवंश ने विस्तार से प्रदर्शित किया। राधावल्लभ संप्रदाय में प्रेम का स्वरूप विलक्षण है। यह प्रेम सहज और असीम होने के कारण नित्य माना गया है। राधा–कृष्ण के नित्यविहार में जो अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है, उसी को रस संज्ञा दी जाती है। 'हित' शब्द प्रेम की पारिभाषिक व्याख्या करता है। हित और प्रेम शब्द में भाव–व्यंजनामूलक व्यावर्तक रेखा खींचना सरल नहीं, किन्तु प्रेम की विशिष्ट भावना के उद्देश्य से हित शब्द का व्यवहार आचार्य हितहरिवंश ने किया है। दार्शनिक शब्दावली में ब्रह्म और जीव की एकता

[5] स्नातक, विजयेन्द्र, राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.सं.126

प्रतिपादन करने के लिए 'ज्ञानदशा' शब्द का प्रयोग किया जाता है परन्तु यहाँ 'ज्ञानदशा' के स्थान पर 'प्रेमदशा' को ही ऐक्य भावना का स्रष्टा कहा गया है। ब्रह्म और जीव के मिलन से मोक्ष–प्राप्ति की स्थिति स्वीकारी गई है। जबकि राधावल्लभ संप्रदाय में न तो मुक्ति की कामना ही है और न ज्ञान या साधनापरक भक्तिमार्ग का ही कोई विधान है। बल्कि नित्य–विहार का दर्शन ही सहचरी (जीवात्मा) का उपास्यभाव है और उसकी प्राप्ति प्रेमतत्व में होती है। नित्य विहार के विधायक चार तत्वों में यह प्रेम तत्व ही समान रूप से अनुस्यूत है और यही विहार–भावना का पोषक भी है। इस प्रेम को विलक्षण रूप देने के लिए उसे शाश्वत कहा गया है, जो कि संसार के संयोग–वियोग से सर्वथा रहित है। तात्विक दृष्टि से इस संप्रदाय में प्रेम नित्य मिलन के साथ अभिन्न संबंध रखने वाला स्थाई भाव है। जबकि सांसारिक प्रेम क्षणिक होता है। प्रेम के शाश्वत स्वरूप के समान ही वृंदावन को भी नित्य स्वरूप में वर्णित किया गया है। हितहरिवंश जी वृंदावन को सांसारिक वृंदावन से इतर नित्य–विहार के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए नित्य–विहार के विधायक तत्वों में वृंदावन को भी सम्मिलित किया गया है। राधावल्लभीय भक्त वृंदावन की प्राप्ति को ही अपना अंतिम लक्ष्य बनाते हैं।

ध्रुवदास का भक्ति–दर्शन उनकी वस्तुनिष्ठ इतिहास–दृष्टि की पहचान में सहायक होता है। राधावल्लभ संप्रदाय का भक्ति–दर्शन उनकी मूल्यांकनपरक कसौटी को निर्मित करता है। लेकिन सही रूप में कहा जाये तो वह भक्तों का मूल्यांकन ना कर उनका भावमूलक वर्णन करते हैं। इन भक्तों के प्रति श्रद्धाभाव की निर्मिति उनकी भक्ति के कारण होती है। इसीलिए वह उन्हें भक्तनामावली में स्थान देते हैं। इसी क्रम में वह उन ऐतिहासिक चरित्रों का भी संरक्षण करते हैं, जिनकी वस्तुनिष्ठ सत्य की पहचान भक्तनामावली के स्वरूप अध्ययन के बिना असंभव है। इसीलिए 'भक्तनामावली' में मौजूद इतिहास तक पहुँच के लिए उसके स्वरूप की पहचान आवश्यक है।

6.2 ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

'वार्ता–साहित्य' भक्तिकालीन परिस्थिति एवं युगीन चेतना की उपज है, जिसका विकास रीतिकाल में भी होता है। ध्रुवदास का समय रीतिकालीन है, परन्तु उसके मूल में 'भक्ति–चेतना' ही गतिमान है। ध्रुवदास के परिचयात्मक विवरण में बताया गया है कि वह राधावल्लभ संप्रदाय में दीक्षित थे। इसीलिए वह मूलतः कृष्णभक्त थे। लेकिन हिन्दूधर्म के अवतारवाद के अनुरूप वह कृष्णभक्त होते हुए भी सगुणवादी थे। वह विष्णु के चौबीस अवतारों में कृष्ण को अराध्यरूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह बाकी अवतारों के प्रति श्रद्धा नहीं रखते। इसका स्पष्ट प्रमाण हम इसी में देख सकते हैं कि ध्रुवदास पर नाभादास

कृत 'भक्तमाल' का प्रभाव है। जबकि नाभादास रामभक्तिधारा के अंतर्गत आते हैं। राम एवं कृष्ण भक्तों के बीच द्वेषवादी दृष्टि न तो साहित्य में पनपती है ओर ना ही समाज में। बल्कि यह दोनों धाराएँ समानांतर आगे बढ़ती है। परन्तु वह 'भक्तनामावली' में कृष्णभक्तों का ही अधिक उल्लेख करते हैं। उनकी कृष्णभक्ति इतिहास–दृष्टि को भी निर्मित करती है। वह कृष्णभक्ति के पूर्व–पुरूषों का स्मरण श्रद्धानत होकर करते हैं। भारतीय इतिहास–चेतना में पूर्व–पुरूषों को सम्मान देने की दृष्टि रही है। इसी चेतना के साथ ध्रुवदास की इतिहास–दृष्टि भी परिपक्व होती है। अतः पूर्व–पुरूषों में भी कृष्णभक्ति उनकी आधारभूत कसौटी बनती है। यही दृष्टि भक्तों के चयन में दिखाई देती है। यदि कृष्णभक्तों से इतर कुछ प्रशस्ति प्राप्त भक्त दिखाई भी देते हैं तो वह रामानन्द के शिष्य हैं। मध्यकाल में रामानन्द का चरित्र आकाशधर्मी रहा है। संभवतः इसीलिए वह उन्हें वह उन्हें एवं उनके शिष्यों को भक्तनामावली में स्थान देते हैं। लेकिन कृष्णभक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य भगवद्भक्त का उल्लेख कृति में नहीं है। वह नाभादास कृत 'भक्तमाल' उतनी स्वच्छंदता ध्रुवदास के यहाँ नहीं दिखती। इसका कारण उनकी संप्रदाय–दृष्टि हैं, जिसका उल्लेख परिचय में दिया गया है। बहरहाल कहा जाये तो 'भगवद् भक्ति' केवल उनकी भावना अथवा ईश्वर के प्रति उनका समर्पण नहीं है, बल्कि उनकी इतिहास–दृष्टि भी है। यह दृष्टि उन्हें ऐतिहासिक चरित्रों का चयन करने में सहायक होती है। लेकिन यह भी स्मरण रखना जरूरी है कि वह मूलतः भक्त ही हैं। इसीलिए उनका उद्देश्य इतिहास की रचना ना होकर भक्ति है। इसका स्पष्टीकरण ध्रुवदास के आत्मकथन से हो जाता है। वह इन ऐतिहासिक चरित्रों के वर्णन को भक्ति ही मानते हैं। वह लिखते हैं –

हरि को निज जस ते अधिक, भक्तनि जस को प्यार।

तातें यह माला रची, करि ध्रुव कंठ सिंगार।।110।।

अतः भक्ति उनका साधन तथा साध्य दोनों है। सरलीकृत किया जाये तो 'भक्ति' उनकी दृष्टि, उनका उद्देश्य तथा उनका कथ्य तीनों है। वह उपर्युक्त दोहे में लिखते हैं कि भक्त–चरित्रों के यश से स्वयं भगवान भी प्रेम करते हैं। अतः इसी क्रम में वह अप्रत्यक्ष रूप से इतिहास–लेखन करते हैं। वार्ता–साहित्य अप्रत्यक्षीय इतिहास–लेखन ही है।

जैसा कि इतिहास–पुराण के संदर्भ में ज्ञात है कि वह वेद की व्याख्या है। वेद का दर्शन इतिहास–पुराण की आत्मा है। उसी प्रकार वार्ता–साहित्य में भी 'भक्ति' उसका मूल दर्शन है, जिसकी व्याख्या वार्ताकार ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से करता है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो 'भक्ति' वार्ता–साहित्य की आत्मा है। मध्यकाल में भक्ति–दर्शन के विविध रूप की स्थापना भिन्न–भिन्न संप्रदायों ने की है। वार्ताकार उन्हीं संप्रदायों से भक्ति–दर्शन को प्राप्त करता है। अतः ध्रुवदास भी 'राधावल्लभ संप्रदाय' के भक्ति–दर्शन की भूमि पर

इतिहास–लेखन करता है। भक्ति–दर्शन का योग इतिहास–दर्शन में होता है। भक्ति–दर्शन से प्रभावित होने का कारण भी है। ध्रुवदास मूलतः भक्त है। पूर्व निर्दिष्ट है कि वार्ता–साहित्य में भक्त–वर्णन एक ओर ध्रुवदास की भक्ति है तो दूसरी ओर भक्तों का यशगान। इसीलिए 'भक्तनामावली' इतिहास की प्रस्तुति के साथ–साथ भक्ति की स्थापना भी है। बल्कि 'भक्ति' की स्थापना ही उसका प्रथम उद्देश्य है। भक्ति तथा भक्तों के यशगान से इतर लोक में भक्ति को उपजाना ही 'भक्तनामावली' का तीसरा उद्देश्य है। ध्रुवदास कहते हैं –

भक्तनि की नामावली, जो सुनि है चित लाइ।

ताके भक्ति बढ़े घनी, अरु हरि सोइ सहाइ।।111।।

इस प्रकार उनका उद्देश्य दो तरफा है। पहला, भक्तों का यशगान करते हुए भगवद्–भक्ति में लीन होना तथा दूसरा, लोक में भक्ति का प्रचार–प्रसार करना। भक्तों का यशगान ही ध्रुवदास की इतिहास–चेतना है। नाभादास हो या गोकुलनाथ सभी इसी चेतनाभूमि पर पूर्व–पुरूषों का स्मरण कर उन्हें जनस्मृति में अमर करना चाहते हैं। इतिहास की यही चेतना मध्यकाल से पूर्व भी रही है। अंतर केवल उसकी मूल–दृष्टि में आता है। मध्यकाल में 'भक्ति' युगबोध के साथ इन भक्त–चरित्रों को स्मरण करने की प्रेरणा बनती है। बहरहाल जिन भक्तों का वर्णन भक्तनामावली में हुआ है वह प्रमाणिक चरित्र हैं, ना कि काल्पनिक। इसे ध्रुवदास भी स्वीकारते हैं –

रसिक भक्तन भूतल घने, लघु मति क्यों कहे जाहिं।

बुद्धि प्रमान गाये कछु, जो आये उर माँहि।।109।।

ध्रुवदास केवल उन्हीं भक्तों का चयन करते हैं जो कि उनके हृदय में स्थान बनते हैं। लेकिन 'बुद्धि प्रमान गाये' से उनके ऐतिहासिक होने की भी सूचना मिलती है, अर्थात् भक्तनामावली में ऐसे ही भक्तों को स्थान दिया गया है। जिनके अस्तित्व को बुद्धि ने भी स्वीकार किया है।

प्रश्न उनके हृदय में स्थान बनाने से पूर्व की स्थूल प्रक्रिया का है। अर्थात् इन भक्तों के प्रसंगों से वह आत्मसात् किस प्रकार होते हैं? यदि देखा जाये तो 'भक्तनामावली' में राधावल्लभ संप्रदाय, चैतन्य–संप्रदाय, पुष्टि संप्रदाय, सखी संप्रदाय के भक्त प्रमुख रूप से आये हैं। यह चारों संप्रदाय कृष्णभक्तिधारा के अंतर्गत आते हैं। इनकी श्रद्धा मूलतः वृंदावन, गोकुल, मथुरा के प्रति है। मध्यकाल तथा वर्तमान में भी यह स्थान कृष्णभक्ति के गढ़ हैं। ध्रुवदास का निवास स्थान भी वृंदावन कहा गया है। अतः ब्रजक्षेत्र 'भक्तनामावली' के कथ्य का स्रोत है। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि राधावल्लभ संप्रदाय में वृंदावन का केवल लौकिक महत्व नहीं है बल्कि वह संप्रदाय में पारलौकिक जगत के रूप में भी व्याख्यायित हुआ है। दरअसल वृंदावन को हितहरिवंश नित्य रूप में दिखाते हैं, जहाँ श्रीकृष्ण सदा विचरते हैं और नित्य रासलीला करते हैं। उनकी

दृष्टि में कृष्णभक्तों का अन्तिम लक्ष्य उसी नित्यवृंदावन की प्राप्ति है। इस भाव–दृष्टि को स्वीकार करते हुए वह वृंदावन की पारलौकिक रूप में स्थापना करते हैं। इसीलिए भी वृंदावन में विचरने वाले भक्तों के प्रति ध्रुवदास का अधिक झुकाव है। यह भी एक पक्ष है जो ध्रुवदास को कृष्ण–भक्तों के लिए वृंदावन में केन्द्रित करता है। परन्तु यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि भक्तनामावली में आये सभी भक्त ध्रुवदास के समकालीन नहीं है। इसीलिए आवश्यक है कि लोक से ध्रुवदास तक इन प्रसंगों की पहुँच की व्यवस्था को समझा जाये। मध्यकाल में वृंदावन वह स्थान है जहाँ कृष्णभक्तों का नित्य आना–जाना लगा रहता था। बल्कि बहुत–से ऐसे भक्त जो कि अपना घर–गृहस्थी छोड़कर वहीं निवास करते थे, उनकी नित्य सत्संग एवं कीर्तन मण्डली विचरण किया करती थी। इन्हीं सत्संग एवं कीर्तन मण्डली में भक्तों के चरित्रों एवं प्रसंगों की भी चर्चा हुआ करती थी। यही वह स्थान था जहाँ से भक्तों को लोक–प्रशस्ति प्राप्त होती थी। ध्रुवदास इन्हीं लोक–प्रशस्तियों के माध्यम से ऐतिहासिक कथ्य को प्राप्त करते हैं। उनका इन स्रोतों पर पूर्ण विश्वास था। इसीलिए वह उन्हें बुद्धि द्वारा प्रमाणित मानते हैं। वह इसे 'बुद्धि–प्रमाण गाये कछु' कहकर स्पष्ट करते हैं। दरअसल यह बुद्धि प्रमाणित मानना भक्तों की ऐतिहासिक उपस्थिति के कारण कहा गया है ताकि इनके प्रति कोई भी काल्पनिक धारणा ना बन सके। अतः इससे एक बात तो स्पष्ट है कि भक्तनामावली में आये सभी भक्त अपनी ऐतिहासिकता रखते हैं, वह कोई काल्पनिक चरित्र नहीं है। इसे स्वयं ध्रुवदास के आत्मकथन में देखा जा सकता है। लेकिन इसके बाद भी ध्रुवदास केवल उन्हीं प्रमाणिक चरित्रों का वर्णन करते हैं, जो उनके हृदय में स्थान बनाते हैं।

वार्ता–साहित्य का सामाजिक देय भी स्वीकार किया गया है। वह भक्तों को भक्ति में प्रवृत्त करने में सहायक है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ध्रुवदास इन भक्त–चरित्रों के अनुकरण को लोक–मंगलकारी मानते हैं और जो इनका अनुकरण कर भगवद्–भक्ति में लीन नहीं होते उन्हें ध्रुवदास मतिहीन कहते हैं।

ऐसे प्रभु जिन नहिं भजे, सोई अति मतिहीन।

देखि समुझि या जगत में, बुरौ आपुनों कीन।।113।।

दरअसल भारतीय जीवन का अंतिम लक्ष्य मोक्ष को माना गया है। मोक्ष की प्राप्ति को लेकर शास्त्रीय चिंतन विकसित होता है। परन्तु भक्तिकाल शास्त्रीय एवं कर्मकाण्डीय मार्गों से इतर भक्ति को ही मोक्ष का साधन मानता है। वार्ता–साहित्य लोक में भक्ति का दार्शनिक तथा व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत करता है। इसी अर्थ में वार्ता–साहित्य लोकमंगलकारी माना गया है। इसीलिए ध्रुवदास कहते हैं कि जो ईश्वर की भक्ति नहीं करते वह इस जगत में अपना बुरा ही करते हैं। ऐसा कहते हुए वह उन्हें सचेत भी करते हैं।

अजहूँ सोचि बिचारि के, गहि भक्तनि पद ओट।

हरि कृपालु सब पाछिली, छमि हैं तेरी खोट।।114।।

वह कहते हैं कि 'आज ही सोच विचारकर ईश्वर–भक्ति में लीन हो जाओ। कृपालु भगवान तुम्हारे खोट को क्षमा करके तुम पर अपनी कृपा बनायेंगे।' मध्यकालीन वार्ता–साहित्य में यह सामाजिक देयता भक्ति के आवरण के साथ आती है। 'भक्ति' ही वह तत्व है जो कि मध्यकालीन हिंदी इतिहास–लेखन की देयता है। वार्ता–साहित्य भक्ति की इसी लोक–सापेक्ष दृष्टि को अपनाकर भक्तों के जीवंत चरित्रों को अनुकरणीय रूप में वर्णित करता है। वार्ता–साहित्य के लोकमंगल को 'इतिहास' की समकालीन दृष्टि के साथ रखकर देखे जाने की आवश्यकता है। जहाँ कहा गया है कि 'इतिहास' मनुष्य के भविष्य को उज्ज्वल करता है। इतिहास इसी लक्ष्य के साथ अर्थवान होता है। वार्ता–साहित्य भी जीव के उत्थान की मंगलकामना के साथ उपस्थित होता है। अंतर उनकी दिशाओं में आता है। समकालीन इतिहास अतीत की कमियों से सीख लेकर भविष्य को उज्ज्वल करना चाहता है। जबकि वार्ता–साहित्य अतीत में मौजूद आदर्शों की समकालीन मांग के अनुरूप अभिव्यक्ति करता है।

वार्ता–साहित्य 'भक्ति' को सामाजिक देय बनाने के लिए लोक–मूर्त रूप प्रदान करता है। ऐसा वह भक्तों के चारित्रिक तथा भक्तिपूर्ण प्रसंगों के माध्यम से करता है। वह केवल भक्ति–दर्शन को व्यावहारिक रूप ही नहीं देता अपितु युगीन चेतना को परिलक्षित भी करता है। भक्तिकाल को जागरण–युग भी कहा गया है। मध्यकाल से पूर्व ईश्वर अराधना केवल कुछ विशेष वर्ग (द्विज) तक ही सीमित थी। धार्मिक कर्मकाण्ड पर जोर होने से निम्न वर्ग इससे अछूता था। रुढ़िग्रस्त परिवेश में 'भक्ति' ईश्वर–अराधना को जन–जन का हार बनाती है। शास्त्रीय मार्ग से हटकर वह प्रत्येक व्यक्ति को भगवद्–भक्ति का अधिकारी बनाती है। इस प्रकार प्रत्येक भक्त की अपनी विशिष्ट रीति निर्मित होती है। वार्ता–साहित्य शास्त्रवर्णित नवधा भक्ति का आश्रय लेता अवश्य है परन्तु प्रत्येक भक्त की संवेदनात्मक गहनता उसे विशिष्ट बना देती है। ध्रुवदास उस विशिष्टता के रेखांकन को महत्व देते हैं। ऐतिहासिक चरित्रों के साथ–साथ ध्रुवदास भक्तों की भक्ति–रीति का भी वर्णन करते हैं। ध्रुवदास कहते भी हैं –

भक्त नरायन भक्त सब, धरें हिय दृढ प्रीति।

बरनी आछी भाँति सों, जैसी जाकी रीति।।108।।

भक्तों की विशिष्ट रीति का यह परिचय उनके प्रसंगों के माध्यम से होता है। 'भक्तनामावली' की रूपगत सीमाओं के कारण यह प्रसंग विस्तृत नहीं होते बल्कि 'भक्तनामावली' में इनका संकेत ही हुआ है। यह अवश्य है कि ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' पर नाभादास के भक्तमाल का प्रभाव पड़ा है। इसीलिए बहुत से भक्तों के प्रसंग–संकेत जो कि भक्तनामावली में उद्धृत किये गये हैं वह भक्तमाल तथा प्रियादास की टीका में विस्तृत रूप से वर्णित हुए मिलते हैं। परन्तु दोहे जैसे लघुत्तम रूप के कारण 'भक्तनामावली' का लोक–स्मृति पर

आश्रित अधिक हो जाता है। ध्रुवदास दोहों में जो संकेत करते हैं वह इस आशा से करते हैं कि लोक अपनी स्मृतियों के माध्यम से उस मर्म को समझेगा। इसीलिए वह विस्तार के साथ भक्तों का वर्णन नहीं करते बल्कि उनका नाम–स्मरण कर इतिश्री करते हैं।

'वार्ता–साहित्य' भक्तों के वर्णन, भक्ति की विशिष्ट रीतियों के निरूपण, युगीन बोध के प्रस्तुतिकरण तथा वार्ताकार की भक्ति के अतिरिक्त भक्त एवं भगवान के संबंधों को भी लक्ष्य करता है। भक्त का भगवान् से आत्मसात् होने का उद्वेलन तथा भगवान् का भक्त के प्रति समर्पण इसका सप्रमाण (वार्ता के माध्यम से) चित्रण वार्ताकार का लक्ष्य है। सभी का विश्वास किस प्रकार भगवान् में दृढ़ हो यही वार्ताकार का लक्ष्य होता है। इसीलिए ध्रुवदास भक्त–वार्ताओं से इतर लिखते हैं –

जहाँ तहां भक्तनि को कछु, परत है संकट आनि।

तहां तहां आपुन बीच ह्वे, धरत अभै को पानि।।107।।

यही ध्रुवदास की भक्तनामावली रचने के पीछे की दृष्टि है, जिसे वह अपने शब्दों में व्यक्त करते हैं।

भक्तनामावली का विश्लेषणात्मक अध्ययन :– 'वार्ता–साहित्य' के पाँच रूपों में 'भक्तनामावली' भी एक रूप है। इस रूप–परंपरा में 'ध्रुवदास' की प्रशस्ति सर्वाधिक है। वह राधावल्लभ संप्रदाय में दीक्षित थे। इनकी श्रद्धा संप्रदाय प्रवर्तक हित हरिवंश के प्रति थी। इसीलिए भक्तनामावली का आरम्भ करते हुए वह हरिवंश जी को सबसे पहले स्मरण करते हैं। वह लिखते हैं –

श्री हरिवंश नाम ध्रुव कहत ही, बाढ़े आनंद बेलि।

प्रेम रंग उर जगमगे, जुगल नवल रस केलि।।1।।

यह दोहा ध्रुवदास के संबंध में कुछ ऐतिहासिक सूचनाओं से भी अवगत कराता है। प्रथम पंक्ति से स्पष्ट होता है कि 'ध्रुवदास' नाम हित हरिवंश द्वारा दिया गया है। अतः इनका मूल नाम कुछ ओर था। लेकिन इनकी प्रशस्ति ध्रुवदास के नाम से ही हुई। इसीलिए ध्रुव नाम कहते ही उनके हृदय में प्रेम का रंग जगमगाने लगता है। यह प्रेम राधा–कृष्ण के रस–क्रीड़ा करते युगल स्वरूप को देखकर भी उमड़ता है, जिससे इनका आनंद ओर बढ़ता है। ध्रुवदास का यह दोहा भक्तनामावली का मंगलाचरण भी है। इस दोहे के माध्यम से ध्रुवदास पर संप्रदाय–मत के प्रभाव को भी देखा जा सकता है। दरअसल राधावल्लभ संप्रदाय में हित हरिवंश जी को ही पहला स्थान दिया जाता है। उनकी वाणी अर्थात् उनके रचित पद ही संप्रदाय अनुयायियों के लिए वेद के समान हैं। इसीलिए ध्रुवदास भी मंगलाचरण में हित हरिवंशजी को नमन करते हैं।

मध्यकाल में नूतन संप्रदाय की स्थापना के लिए वेद सम्मत तथा चतुःसंप्रदायाचार्यों (शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य तथा विष्णुस्वामी) के मत से भिन्न दिखना जरूरी माना गया। वहीं इसके साथ–साथ उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर टीका लिखते हुए अपने नवीन मत को स्थापित करना भी आवश्यक था। परन्तु इस दृष्टि के विपरीत कुछ संप्रदाय ऐसे भी स्थापित हुए जिन्होंने संप्रदाय–दर्शन की शास्त्रीय व्याख्या करने का प्रयास नहीं किया। अपितु काव्य में उसका व्यावहारिक रूप ही स्थापित किया। इन संप्रदायों में 'राधावल्लभ संप्रदाय' प्रमुख है।

संप्रदायाचार्य हित हरिवंश ने कहीं भी दार्शनिक चिंतन प्रस्तुत नहीं किया है। उनका दर्शन राधा–कृष्ण के वर्णन में परिलक्षित होता है। वह अपने हृदयोद्गारों को काव्य में रचते हैं और वही काव्य संप्रदाय–भक्तों के लिए मार्गदर्शन करता है। वार्ता–साहित्य भी इन दो धरातलों पर विचरण करता है। पहला, वह वार्ताकार की दृष्टि, हृदयानुभूति, संप्रदाय दृष्टि (जिस संप्रदाय में वार्ताकार दीक्षित है) तथा भक्तों के प्रति सम्मान को प्रदर्शित करता है। दूसरा, समकालीन तथा पूर्व में हुए भक्तों का इतिहासात्मक विवरण प्रस्तुत करता है। इन दोनों ही धरातलों में प्रथम वार्ताकार की मूल–चेतना के बिन्दु हैं। इसी चेतनाभूमि पर वह अपना उद्देश्य (भक्ति) पूर्ण करता है। ऐसा इसलिए भी क्योंकि भक्तों का स्मरण तथा गायन करना भी 'भक्ति' का एक प्रकार माना गया है। वह वार्ता–साहित्य रचते हुए ईश्वर–भक्ति ही करता है। अर्थात् वार्ता–साहित्य की रचना एक प्रकार की साधना है, जिसे वार्ताकार ईश्वर–भक्ति के रूप में करता है। यही वह क्षण है जब वार्ताकार में इतिहास–बोध का जन्म होता है। दरअसल ईश्वर–भक्ति के इस प्रकार में वह उन भक्तों पर दृष्टिपात करता है, जो कि उसके समकालीन या पूर्व में हुए हैं। यहाँ एक पक्ष महत्वपूर्ण है कि यह भक्त ऐतिहासिक हैं। अतः वह उनके प्रेरणास्पद प्रसंगों को जनमानस से लेता भी है और उसका पुनःस्मरण भी कराता है। पूर्व–पुरूषों को स्मरण करने की चेतना ही वह इतिहास–बोध है, जिसे वार्ताकार मध्यकाल में प्राप्त करता है। लेकिन वह उस इतिहास–बोध की ओर 'भक्ति' के कारण प्रस्थान करता है। परन्तु उसका इतिहास–बोध इससे समाप्त नहीं होता। वह ऐतिहासिक चरित्रों को उसी बोध के अनुरूप चयनित करता है। यह चयन केवल वार्ताकार की स्वयं की ही दृष्टि हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। जैसा कि समकालीन इतिहास–चिंतन की माँग भी है कि इतिहास में इतिहासकार की सजग आलोचनात्मक दृष्टि वर्तमान रहती है। अर्थात् उसे भान रहता है कि वह अतीत का पुनर्चित्रण कर रहा है। जबकि वार्ताकार की सजग दृष्टि का केन्द्र 'भक्ति' ही रहता है। परन्तु इसके बावजूद उसका इतिहास–बोध पूर्व–पुरूषों को स्मरण करने पर जोर देता है। बहरहाल उसकी दृष्टि को प्रभावित करने वाले तत्वों में संप्रदाय, लोक, पूर्व वार्ताएँ तथा युग–बोध आदि प्रमुख है।

'भक्तनामावली' वार्ता–साहित्य में एक विशेष स्थान रखता है। यह स्थान स्वरूपगत–वैशिष्ट्य के कारण है, जो कि काव्य तथा इतिहास दोनों है। 'भक्तनामावली' को इतिहास के रूप में स्वीकार किये जाने

का एकमात्र कारण ऐतिहासिक भक्तों का संकलन है। यह भी स्मरण रखना जरूरी है कि वार्ताकारों का उद्देश्य इतिहास रचना नहीं है। वह रीतिकाल की प्रवृत्ति के अनुरूप श्रोताओं को अह्लादित भी करना चाहते हैं। इसीलिए शाब्दिक चमत्कार पैदा करने का प्रयास ध्रुवदास ने भी किया है। उदाहरण के लिए मंगलाचरण द्रष्टव्य है। इस दोहे में ध्रुवदास हित हरिवंश द्वारा ध्रुव नाम दिये जाने की बात कहते हैं। यहाँ ध्रुव शब्द ध्रुवदास के साथ–साथ श्रीकृष्ण का भी लक्षणार्थ रखता है। अतः एक अर्थ यह होगा कि श्रीकृष्ण का स्मरण करते हुए आनन्द बढ़ जाता है। काव्य की व्यंजनात्मक–प्रवृत्ति यहाँ दृष्टिगोचर होती है। इससे स्पष्ट है कि काव्य तथा इतिहास का संश्लिष्ट विकास वार्ता–साहित्य में होता है। परन्तु उसका युगीन बोध भक्तों को महत्वपूर्ण बना देता है। जैसा कि 'भक्तनामावली' के नाम से स्पष्ट है कि वह भक्तों के नामों की एक माला है। नवधा भक्ति में नाम–स्मरण भी एक प्रकार की भक्ति मानी गई है। मध्यकाल में नवधा भक्ति की स्वीकार्यता है। अतः इसी भूमि पर भक्तनामावली का स्वरूप निर्मित होता है। रचनाकार भक्तों के नाम स्मरण के साथ–साथ उसके लोक–प्रचलित प्रसंगों का भी स्मरण करते हैं। परन्तु कई बार काव्य–रूप की सीमाएँ उसे बाँधती है। भक्तनामावली ऐसा ही स्वरूप है जो कि दोहों में लिखा गया है। अतः छंद की सीमा रचनाकार को भक्त–वर्णन को संक्षिप्त करने को बाध्य करती है।

ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' में काव्य–रूप दोहे की सीमाओं के कारण भक्तों का विस्तृत वर्णन नहीं हुआ है। अतः उनका उद्देश्य भी भक्तों का केवल नाम–स्मरण करना ही रहा है। लेकिन छिटपुट रूप में वह उनके प्रसंगों का संकेत भर कर देते हैं। यह प्रसंग नाभादास कृत 'भक्तमाल' में भी मिलते है, केवल उन्हीं भक्तों के जो भक्तनामावली तथा भक्तमाल में समान है। इसीलिए कहा भी गया है कि ध्रुवदास पर नाभादास कृत 'भक्तमाल' का प्रभाव है। अनेक भक्तों के प्रसंगों का संकेत करते हुए वह नाभादास का ही अनुकरण करते हैं। वह राधावल्लभ संप्रदाय के भक्तों का भी स्मरण भक्तनामावली में करते हैं। बहुत से भक्त ऐसे भी है जिनका परिचय भक्तमाल में न होकर भक्तनामावली में ही प्राप्त होता है। इन्हीं कारणों से ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकारा जाता है।

'भक्तनामावली' का आरम्भ करते हुए वह हितहरिवंश तथा उनके वंश का उल्लेख करते हैं। भारतीय काव्य परंपरा के तत्वों पर विचार करे तो संस्कृत से लेकर हिंदी तक मंगलाचरण से काव्य के आरम्भ करने की परंपरा रही है। अधिकतर कवि मंगलाचरण में किसी ईश्वर का स्मरण कर उसकी वन्दना करते है। जबकि ध्रुवदास की भक्तनामावली इस लीक से हटकर राधावल्लभ संप्रदाय के प्रवर्तक हित हरिवंश तथा संप्रदाय के गुरुओं को मंगलाचरण में स्थान देती है। इसका कारण भी संप्रदाय–दृष्टि है। संप्रदाय में हित हरिवंश की वाणी वेद, पुराण, आरण्यक आदि के समान देखी गई है। अर्थात् संप्रदाय के भक्तों का आदिग्रन्थ हितहरिवंश की वाणी है। राधावल्लभ संप्रदाय की यह विशेषता उसे अन्य संप्रदायों से अलग करती है। ध्रुवदास भी इसी

कारण उन्हें सबसे पहले उद्धृत करते हैं। दोहा क्रमांक 1 से 7 तक को मंगलाचरण के रूप में स्थान दिया गया है।[6] आरम्भिक गुरु परंपरा (मंगलाचरण) में श्री हित हरिवंश, श्री वनचंद्र, श्री कृष्णचंद्र, श्री गोपीनाथ एवं श्री मोहनचंद्र का स्मरण किया गया है। यह गुरु परंपरा दरअसल हित हरिवंश जी की वंश–परंपरा है। यह वंशवृक्ष अतिवल्लभ जी की वाणी तथा श्री जयकृष्ण जी की वाणी में भी प्राप्त होती है।[7] हित हरिवंश राधावल्लभ संप्रदाय के प्रवर्तक होने के नाते स्मरण किये गये है तो श्री वनचंद्र का हित हरिवंश के ज्येष्ठ पुत्र तथा संप्रदाय में आचार्य क्रम निर्वाह की दृष्टि से स्मरण किया गया है। शेष श्री कृष्णचंद्र, श्री गोपीनाथ तथा श्री मोहनचन्द्र हित हरिवंश के पुत्र होने के कारण इनका स्मरण हुआ है। श्री सुन्दरवर इसी क्रम में आते है। यह श्री वनचंद्र के ज्येष्ठ पुत्र थे, जिन्होने संप्रदाय की आचार्य परंपरा का निर्वाह किया। इससे एक बात तो स्पष्ट है कि संप्रदाय में प्रर्वत्तक हित हरिवंश के वंशजों को विशेष सम्मान देने की प्रथा थी। शेष भक्तों को इनसे भिन्न रूप में देखा जाता था। इसका स्पष्टीकरण इससे और हो जाता है कि संप्रदाय के भक्तों को दार्शनिक भूमि प्रदान करते हुए बिन्दु तथा नाद में विभाजित किया गया है। विज्येन्द्र स्नातक इस संबंध में लिखते हैं –

> ''श्री गोस्वामी हितहरिवंश जी का समस्त परिवार बिन्दु और नाद नाम से दो परिवारों में विभक्त है। बिन्दु परिवार गोस्वामी–स्वरूप कहाता है। श्री आचार्य हरिवंश जी की वंश परंपरा में उत्पन्न होने वाले गोस्वामी बालक बिन्दु परिवार के होने के कारण पूज्य होते हैं। नाद परिवार में इस संप्रदाय में दीक्षित गृहस्थ एवं विरक्त साधु शिष्यों का स्थान है। शिष्यवर्ग को मंत्र दीक्षा के कारण नादवंशी कहा जाता है।''[8]

इससे स्पष्ट है कि संप्रदाय में हितहरिवंश के वंश को विशेष स्थान दिया गया है। इसके उपरांत ही अन्य भक्तों का वर्णन दोहों में हुआ है।

---

[6] (श्री) वनचंद्र चरन अंबुज भजहि, मन क्रम बचन प्रतीति।
वृंदावन निज प्रेम की, तब पावै रस–रीति।।3।।
(श्री) कृष्णचंद के कहत ही, मन कौ भ्रम मिटि जाइ।
विमल भजन सुख सिंधु में, रहै चित्त ठहराइ।।4।।
(श्री) गोपीनाथ पद उर धरै, महा गोप्य रस–सार।
बिनु विलंब आवै हियैं, अद्भुत जुगल–विहार।।5।।
पति, कुटुंब देखत सबै, घूँघट–पट दिये डारि।
छेह गेह बिसरयौ तिनहिं, (श्री) मोहन रूप निहारि।।6।।
धीर गँभीर समुद्र सम, सील सुभाव अनूप।
सब अँग सुंदर हँसत मुख, अद्भुत सुखद सरूप।।7।।

[7] स्नातक, विज्येन्द्र, राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धांत और साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण वि.सं. 2014, पृ.सं. 602

[8] वही, पृ.सं. 563

बिंदु–वंशीय भक्तों का वर्णन करने के उपरांत ध्रुवदास पूर्व परंपरा में हुए पौराणिक–भक्तों का स्मरण करते हैं। इस दोहे से मंगलाचरण की समाप्ति तथा भक्त–नामस्मरण के आरम्भ होने का पता चल जाता है। वह लिखते हैं –

शुक, नारद, उद्धव, जनक, प्रह्लादिक, सनकादिक।

ज्यों हरि आपुन नित्य हैं, त्यों ये भक्त अनादि।।8।।

यह दोहा किसी भक्त–विशेष के संबंध में उद्धृत न होकर बिंदु–वंशीय परिवार के संबंध में ही लिखा गया है। उनकी प्रशंसा करते हुए वह मध्यकालीन भक्तों की तुलना पुराणकालीन भक्तों से करते हैं। वह कहते हैं – 'जिस प्रकार शुक, नारद, उद्धव, जनक, प्रह्लाद तथा सनकादिक अपनी भक्ति के कारण नित्य हुए अर्थात् लोक में इनका स्मरण इनकी भक्ति के कारण यथावत् रहा उसी प्रकार यह भक्त भी नित्य हैं।' दूसरी तरफ इस दोहे को पुराणकालीन भक्तों को स्मरण करने के रूप में भी देख सकते हैं, जैसाकि भक्तमाल में भी हुआ है। यदि उपर्युक्त दोहे पर विचार करे तो वह जगत् में नित्य होने का मापदण्ड अमरता को नहीं स्वीकारते बल्कि ब्रह्म में लीन होने को मानते हैं। इस दोहे से ध्रुवदास की दृष्टि का भी परिचय हो जाता है। रचनाकार की यह दृष्टि भक्त की आलोचना नहीं करती, जो कि समकालीन इतिहास की मांग भी हैं। वह जिन भक्तों का स्मरण करना चाहते है वह पहले ही उत्कृष्ट भूमि पर है। अतः वार्ताकार उनकी उत्कृष्टता को रेखांकित करता है। इसीलिए भी वार्ताकार का आलोचनात्मक रूप प्रगट नहीं होता। उनकी दृष्टिगत सजगता भक्त के गुणों को प्रस्तुत करती है। हित हरिवंश के संबंध में ध्रुवदास लिखते हैं –

निगम ब्रह्म परसत नहीं, जो रस सब तें दूरि।

कियौ प्रकट हरिवंश जू, रसिकनि जीवन–मूरि।।2।।

इस दोहे में निगम ब्रह्म की आलोचना करते हुए हित हरिवंश द्वारा प्रस्तुत मार्ग को जीवन में रस–संचार करने वाला बताया गया है। साकार तथा निराकार का द्वंद्व मध्यकाल का एक प्रमुख बिंदु है। ध्रुवदास भी इस द्वंद्व में हित हरिवंश के संबंध में लिखते हुए अपना पक्ष प्रस्तुत करते हैं। अतः उनका यह दोहा उनके युगीन–बोध का परिचय देता है। सगुण और निर्गुण का द्वंद्व भी इस बिन्दु का एक पक्ष है। परन्तु यह द्वंद्व ध्रुवदास के यहाँ अतिवाद तक नहीं जाता। इसीलिए सगुणवादी होते हुए भी वह निर्गुण भक्तों का वर्णन भक्तनामावली में करते हैं। सगुण भक्तों में भी वह कृष्णभक्तों का ही उल्लेख अधिक करते हैं। यह कृष्णभक्त राधावल्लभ संप्रदाय, पुष्टि संप्रदाय, निम्बार्क संप्रदाय, चैतन्य–संप्रदाय आदि में दीक्षित हैं।

सम्प्रदाचार्यों (हरिवंश तथा उनके पुत्र) के संबंध में लिखते हुए ध्रुवदास राधावल्लभ संप्रदाय के महत्वपूर्ण स्थलों का संकेत करते हैं। 'प्रेम रंग उर जगमगे, जगुल नवल रस केलि', 'वृंदावन निज प्रेम की, तब पावै रस रीति', 'श्री गोपीनाथ पद उर धरें, महा गोप्य रस सार। बिनु विलंब आवै हिये, अद्‌भुत जुगल विहार' – इनमें राधा–कृष्ण का युगल स्वरूप, वृंदावन का विशेष महत्व, युगल विहार, गोप्य रस आदि का उल्लेख हुआ है। ये शब्द संप्रदाय की दृष्टि से व्याख्येय हैं। कहा जाये तो राधावल्लभ संप्रदाय की दार्शनिक भूमि इन्हीं को महत्व देती है। ध्रुवदास भक्तों के संबंध में लिखते हुए दार्शनिक तत्वों का उल्लेख करते चलते हैं। यही उनकी दृष्टिगत आधारभूमि भी है, जो कि बीच–बीच में नजर आती है। इस आधारभूमि को वह संप्रदाय से प्राप्त करते हैं।

मंगलाचरण के बाद ही मध्यकालीन भक्तों का वर्णन आरम्भ होता है। ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' में प्रथम भक्त जयदेव आते हैं। जबकि भक्तमाल में नाभादास ऐतिहासिक चरित्रों का आरम्भ चतुःसम्प्रदाचार्यों से करते हैं। जयदेव 'भक्तनामावली' की आरम्भिक सीमा है। दरअसल यह उसकी काल–सीमा भी है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'भक्तनामावली' में उद्धृत शेष भक्तों का समय जयदेव के बाद का है। जयदेव का उल्लेख करते हुए वह उनकी रचना 'गीत गोविंद' का परिचय देते हैं[9] तथा उसके कथ्य श्रृंगाररस का उल्लेख भी करते हैं। ध्रुवदास जयदेव की पत्नी 'पद्‌मावति'[10] के साथ–साथ उनकी रचित'अष्टपदी' का भी उल्लेख करते हैं। अर्थात् अष्टपदी की रचना में जयदेव तथा पद्‌मावति दोनों का सहयोग रहा है। दरअसल गीतगोविन्द और अष्टपदी जयदेव की प्रशस्ति का कारण भी है। मध्यकाल में लोक गीतगोविन्द को भक्ति का ही ग्रन्थ स्वीकारता आया है। जबकि आधुनिक विद्वान इसे श्रृंगारिक रचना कहकर भक्ति की सीमा से बाहर कर देते हैं। परन्तु गीतगोविन्द की प्रेरणा से कृष्णभक्ति में श्रृंगारिक रचनाएँ प्राप्त होती है। इसीलिए इन कृतियों का महत्व ऐतिहासिक रूप से ओर बढ़ जाता है। 'भक्ति' केन्द्र में होने से उससे जुड़े ऐतिहासिक तथ्य वार्ताओं में महत्वपूर्ण हो जाते हैं। अतः ध्रुवदास तथा अन्य वार्ताकार भी भक्त के गुणों से जुड़े ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख बीच–बीच में करते हैं। नाभादास भी जयदेव तथा उनकी पत्नी का वर्णन छप्पयों में करते हैं। इसी प्रकार की तथ्यात्मकता भक्तनामावली में अनेक स्थानों पर मिलती हैं। श्रीधर स्वामी के संबंध में लिखते हुए वह 'तिलक भागवत' को उनके द्वारा रचित बताते हैं।[11] कृति–नाम वह ऐतिहासिक तत्व है, जिसका उल्लेख

---

[9] प्रकट भयौ जयदेव मुख, अद्‌भुत गीत गोविंद।
कह्यौ महा सिंगार रस, सहित प्रेम–मकरंद।।9।।

[10] पद्‌मावति जयदेव, प्रेम बस कीने मोहन।
अष्ट पदी जो कहे, सुनत फिरे ताके गोहन।।10।।

[11] श्रीधर स्वामी तो मनों, श्रीधर प्रकटे आनि।
तिलक भागवत कियो रचि, सब तिलकनि परवानि।।11।।

ध्रुवदास करते हैं। इन भक्तों में कुछ ओर कवि हैं, जिनके कविकर्म का उल्लेख भक्तनामावली में हुआ है। इन भक्तों के पद निम्न हैं –

परम भागवत अति भये, भजन माँहि दृढ धीर।

चत्रभुज वैष्णव दास की, बानी अति गम्भीर।।48।।[12]

* * *

लालदास स्वामी सरस्, जाकें भजन अनूप।

बरनयो अति दृढ अक्षरनि, लाल लाडिली रूप।।52।।[13]

* * *

रमनदास अद्भुत हुते, करत कवित सुढार।

बात प्रेम की सुनत ही, छुटत नैन जलधार।।78।।

* * *

कहा कहों मृदुल सुभाव अति, सरस नागरी दास।

बिहारी बिहारिन को सुजस, गायो हरषि हुलास।।80।।

* * *

बीठलदास मुरली धरनि, चरण सेये सब काल।

तेसिहे लाल गोपाल जी, गाये ललना लाल।।58।।

* * *

---

[12] ध्रुवदास आगे लिखते हैं –
सकल देश पावन कियो, भगवत जसिहि बढ़ाइ।
ज्हाँ तहां निजु एक रस, गाई भक्ति लड़ाई।।49।।

[13] ध्रुवदास आगे लिखते हैं –
अधिक प्यार है भजन सों, और न कछु सुहात।
कहत सुनत भगवत जसहि, निसि दिन जाहि बिहात।।53।।

चिंतामनि बातनि सरस, सेवा माँहि प्रवीन।

कहत सुनत जसहि, छिन छिन उपज नवीन।।69।।

उपर्युक्त दोहों में 'बानी अति गम्भीर', 'बरनयो अति दृढ़ अक्षरनि', 'करत कवित्त सुढार', 'गायो हरषि हुलास', 'गाये ललना लाल', 'कहत सुनत जसहि' आदि कथन उनके रचनाकार होने का संकेत करते हैं। मध्यकाल तथा भारतीय वाङ्ंग्मय के संबंध में यह समझना आवश्यक है कि इनमें मौखिक तथा लिखित परंपरा समान महत्व पाती हैं। किसी कथ्य की प्रमाणिकता का निर्धारण उसके लिखित होने से नहीं होता। बल्कि मौखिकता ही भारतीय वाङ्ंग्मय की प्रमुख प्रवृत्ति बनकर साहित्य को सृजित करती है। इसे साहित्य की प्रवृत्तिगत विशेषता के साथ–साथ लोकजीवन की सहज प्रक्रिया के रूप में भी देखने की आवश्यकता है। लोक में मौखिकता के माध्यम से ही ज्ञान–विस्तार होता है। वहीं भारत की शास्त्रीय परंपरा भी मौखिक रूप से विकास करती हुई प्रमाणिकृत और स्थापित होती है। यह प्रमाणिकरण एक लम्बे समयांतराल में होता है। जबकि आधुनिक दृष्टि लिखित साहित्य को ही प्रमाणिकरण की कसौटी बनाता है। मध्यकाल के संबंध में भी वह इसी दृष्टि को लागू करता है। इसीलिए बहुत–सी मध्यकालीन रचनाएँ ओझल हो गई जो कि मौखिक रूप से गाई जाती रही। कबीर के पद भी कहे गये हैं, जिसका संकलन बाद में उनके शिष्यों ने किया। अतः किसी भक्त का कहना, गान आदि उल्लेख उनके रचनाकार होने का ही संकेत करता है। इसे समझकर उन भक्तों की रचनाओं अथवा लोक में प्रचलित उनके पदों को खोजा जा सकता है।

ऐसे ही कुछ ओर भक्त भी हैं। खरगसेन[14], राघोदास[15], कुम्भनदास एवं कृष्णदास[16], परमानंददास और सूरदास[17], माधो एवं रामदास[18], सूरदास[19] – यह वह भक्त हैं जिन्होंने साहित्य रचा। इसकी पुष्टि ध्रुवदास के दोहों से हो जाती है। इनमें से अधिकतर की रचना प्रामाणिक रूप से उपलब्ध है। कुंभनदास, कृष्णदास, परमानंददास, राघोदास तथा सूरदास कृष्णभक्तिधारा के महत्वपूर्ण कवि माने गये हैं। इनकी प्रशस्ति लोक में व्याप्त है। कुछ–कुछ पदों में ध्रुवदास इन भक्तों की रचनागत विशेषताओं को भी इंगित करते हैं।

---

[14] खरगसेन के प्रेम की, बात कही नहिं जात।
लिखत ललित लीला करत, गये प्राण तजि गात।।83।।
[15] तैसेहि राघोदास की, बात सुनी यह कान।
गवत करत धमारि हरि, गये छूटि तन प्रान।।84।।
[16] कुभ्भन कृष्णदास गिरिधरनि सों, कीनी साँची प्रीति।
कर्म धर्म पथ छाँड़िके, गाई निजु रज रीति।।93।।
[17] परमानंद अरु सूर मिलि, गाई सब ब्रज रीति।
भूलि जात विधि भजन की, सुनि गोपिन की प्रीति।।95।।
[18] माधो रामदास बरसानियां, ब्रज विहार की केलि।
गाये नीकी भाँति सों, तेहि रस में रहे झेलि।।96।।
[19] सूरदास अति प्रीति सों, कवित रीति भल कीन।
मदन मोहन अपनाई के, अंगीकृत करि लीन।।97।।

नरसी हू अति सरस हिय, कहा देऊं समतूल।

कह्यो महा सिंगार रस, जानि सुखनि को मूल।।105।।

यही नहीं उन्होंने किस ईश्वर के किस रूप की भक्ति करी इसके संकेत भी ध्रुवदास करते हैं।

रूप सनातन मन बढ्यो, राधा कृष्ण अनुराग।

जानि विश्व नश्वर सबे, तब उपज्यो बैराग।।19।।

* * *

जुगल प्रेम रस अवधि में परयो प्रबोधमन जाइ।

वृंदावन रस माधुरी, गाई अधिक लड़ाइ।।29।।

रूप तथा सनातन गोस्वामी चैतन्य–संप्रदाय में दीक्षित थे। चैतन्य–संप्रदाय में राधा–कृष्ण के युगल स्वरूप की भक्ति प्रचलित है। ध्रुवदास रूप–सनातन का भी राधा–कृष्ण के प्रति अनुराग को वर्णित करते हैं। इसी प्रकार प्रबोधानंद का मन राधा–कृष्ण के युगल प्रेम में ही रमा है। भक्तमाल में इनका उल्लेख वृंदावन माधुरी का आस्वादन करने वाले भक्तों में हुआ है। प्रियादास 'भक्तमाल की टीका' में इनका सविस्तार वर्णन करते हैं तथा इन्हें चैतन्य प्रभु के पार्षदों के रूप में चित्रित करते हैं।[20] इससे एक बात स्पष्ट है कि यह चैतन्य–संप्रदाय में दीक्षित थे और राधा–कृष्ण के युगल स्वरूप की भक्ति करते थे।

मध्यकालीन भक्तों के संबंध में यह पता लगाना अधिक आवश्यक है कि वह किस संप्रदाय–विशेष से संबद्ध हैं। वह इसलिए भी क्योंकि संप्रदाय–दर्शन इनकी भक्ति को पुष्ट करता है। उसी दर्शन का प्रभाव उनकी ईश्वर–स्वरूप की अनुरक्ति में दिखता है। उदाहरण के लिए राधावल्लभ संप्रदाय भी राधा–कृष्ण के युगल स्वरूप की भक्ति करता है। परन्तु उसका दर्शन राधा–कृष्ण को ही ब्रह्म स्वरूप स्वीकार करता है। उनकी लीलाओं का दर्शन ही उसका चरम लक्ष्य है। वृंदावन ही वह लोक है जिसका भक्त साक्षात्कार करना चाहता है। अतः संप्रदाय विशेष में दीक्षित होने से उनकी भक्ति की दृष्टिगत आधारभूमि का परिचय मिल जाता है। दरअसल संप्रदाय की दृष्टि वार्ताकार की इतिहास–दृष्टि को भी प्रभावित करती है।

---

[20] श्री प्रबोधानन्द, बड़े रसिक आनन्दकंद, श्री 'चैतन्यचन्द' जू के पारषद प्यारे हैं।
राधाकृष्ण कुंज केलि, निपट नवेलि कही, झेलि रसरूप, दोऊ किये दृग तारे हैं।।
वृंदावन वास कौ हुलास लै प्रकास कियौ, दियौ सुख सिन्धु, कर्म धर्म सब टारे हैं।
ताहि सुनि सुनि कोटि कोटि जन रङ्ग पायौ, विपिन सुहायौ, बसे तन मन वारे हैं।।612।।

संप्रदाय प्रतीकों एवं भगवद्–स्वरूप भी भक्त के संबंध में जानकारी जुटाने में सहायक हैं। भक्ति का मूल स्वरूप दार्शनिक चिंतन–मनन से इतर भावमूलक है। कृष्णभक्ति उस भावमूलकता को ओर गहन बनाती है। ऐसे अनेक भक्तों का परिचय मिलता है जो भगवद्–भक्ति तथा भगवद्–स्वरूप (प्रतिमा) से क्षण भर की भी दूरी बर्दाश्त नहीं कर सकते। इस प्रकार की गहनता सखी संप्रदाय की विशेषता है। इसके प्रवर्तक हरिदास थे। इस संप्रदाय के भक्त स्वयं को राधा मानकर श्रीकृष्ण की भक्ति करते हैं। इसमें स्त्री तथा पुरूष का कोई भेद नहीं है। संप्रदाय में राधा–कृष्ण को 'लाल–लाड़िली' नाम से स्मरण किया जाता है। इन्हीं कुछ भक्तों का उल्लेख ध्रुवदास भी करते हैं –

महा पुरूष नंदन भये, करि तनु सकल सिंगार।

सखी–रूप चिंतत फिरैं, गौर–श्याम सुकुँवार।।26।।

* * *

नैंन सजल तिहिं रंग में, चित्त पायौ विराम।

विवस वेगि ह्वै जात सुनि, लाल–लाडिली नाम।।27।।

* * *

श्रीकृष्णदास हुते जंगली, तेऊ तैसी भाँति।

तिनके उर झलकत रहे, हेम नील–मनि काँति।।28।।

उपर्युक्त भक्त नंदन और कृष्णदास सखी संप्रदाय में दीक्षित थे। ध्रुवदास द्वारा भक्ति के संबंध में किया गया वर्णन उनका सखी संप्रदाय में दीक्षित होना बताते हैं। संप्रदाय–दर्शन को समझते हुए भी भक्तों की ऐतिहासिकता का निर्धारण संभव होता है। अतः इस प्रक्रिया का अनुसरण कर एक ओर भक्त की ऐतिहासिकता का निर्धारण होता है वहीं संप्रदायों की पद्धति एवं दर्शन का व्यावहारिक निदर्शन प्राप्त होता है।

भगवान के विशेष स्वरूप के (नामकरण के आधार पर) आधार पर भी उनके संप्रदाय को निश्चित किया जा सकता। कुछ विशेष संदर्भों में ही इसे लागू किया जा सकता है। इसका कारण संप्रदाय में श्रीकृष्ण का विशिष्ट स्वरूप है। पुष्टि–संप्रदाय में श्रीकृष्ण के नौ स्वरूपों की ऐतिहासिक उपस्थिति मध्यकाल में दिखाई देती है। गोकुलनाथ कृत वार्ताओं में इन स्वरूपों की सेवा–भक्ति का विकास स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इन स्वरूपों की पहचान इनके अलग–अलग नामों से हो जाती है। लेकिन शेष संप्रदायों में यह द्रष्टव्य

नहीं है। 'काव्य' अभिधा से अधिक लक्षणा तथा व्यंजना को महत्व देता है। वहीं नित नूतन होने की विशेषता भी राधा–कृष्ण को अलग–अलग नामों से अभिहित करने को प्रेरित करती है। इसीलिए श्रीकृष्ण के स्वरूप–नाम के आधार पर कभी–कभार उक्त भक्त के किसी संप्रदाय–विशेष से जुड़े होने का भ्रम भी उत्पन्न होता है। परन्तु उसके लिए मध्यकालीन संप्रदायों का अध्ययन, संप्रदाय में प्रचलित शब्दों की ऐतिहासिकता एवं प्रचलन (सामान्य तथा संप्रदाय विशेष में), काव्य के लाक्षणिक संकेत आदि की सजग दृष्टि आवश्यक है। उदाहरण के लिए 'लाल–लाडिली' शब्द का प्रयोग, सखी रूप की भक्ति तथा राधा–कृष्ण के विरह की अति–विकलता आदि सखी संप्रदाय की प्रमुख विशेषताएँ हैं। ऐसे ही एक भक्त 'विट्ठल विपुल' हैं। ध्रुवदास इनके संबंध में लिखते हैं –

विट्ठल विपुल विनोद रस, गाई अद्भुत केलि।

बिलसत लाड़िली–लाल सुख, अंसनि पर भुज मेलि।।38।।

इनका सखी संप्रदाय में दीक्षित होना सर्वज्ञात है। इन्होने काव्य–रचना की, जिनमें लाडिली–लाल की क्रीडाओं का वर्णन है। उपर्युक्त दोहे में उन्हें सखी संप्रदाय में दीक्षित नहीं बताया गया है। परन्तु लाड़िली–लाल का प्रयोग उनके सखी संप्रदाय से संबद्ध होने की सूचना देता है। छंदों में भक्त–वर्णन की यही संश्लिष्टता सत्य तक पहुँचने में अवरोधक बनती है। अतः ऐतिहासिक यथार्थ तक पहुँच 'संश्लेषात्मकता' द्वारा ही सम्भव है। कहने का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त दोहों में प्रस्तुत यही खण्डित सत्य उस पूर्ण अर्थ की प्राप्ति में सहायक होता है।

उपर्युक्त दोहों में भक्तनामावली की लेखन–प्रवृत्ति का भी परिचय मिलता है। वार्ताकार भक्तों का उद्धरण उनके संप्रदाय–विशेष क्रम में भी करता है। परंतु यह लेखन की स्थायी प्रवृत्ति नहीं है। उपर्युक्त दोहों में कृष्णदास का वर्णन करते हुए वह 'तेऊ तैसी भाँति' कहकर उन्हें पिछले भक्त से संबद्ध कर देते हैं। ऐसा करते हुए वह दोनों भक्तों की एक–सी पद्धति की ओर संकेत करते हैं। इसी प्रकार एक ही भक्त का वर्णन दो दोहों में हुआ है। इससे एक बात तो स्पष्ट है कि भक्तनामावली भले ही मुक्तकों में लिखी गई है। परंतु उसका क्रम का निर्धारण भी आवश्यक है। किसी भी दोहे को पूर्व में अथवा बाद में नहीं लिखा जा सकता, क्योंकि ऐसा करने पर भक्तों के संबंध में गलत अर्थ प्राप्त होगा।

कई दोहों में भक्तों की संप्रदाय–विशेष में दीक्षित होने की सूचना भी मिलती है। भक्त हरिराम–व्यास के संबंध में लिखते हुए ध्रुवदास उन्हें राधावल्लभ संप्रदाय से जोड़ते हैं। वह लिखते हैं कि

भर किसोर दोउ लाडिले, नवल प्रिया नव पीय।

प्रकट देखियत जगमगे, रसिक व्यास के हीय।।41।

कहनी करनी करि गयौ, एक व्यास इहि काल।

लोक वेद तजि कै भजे, (श्री) राधावल्लभ लाल।।42।।

प्रेम मगन नहि गन्यौ कछु, वरनावरन बिचार।

सबनिं मध्य पायौ प्रगट, लै प्रसाद रस सार।।43।।

उपर्युक्त तीनों दोहे हरिराम व्यास का वर्णन करते हैं। यहाँ केवल 'व्यास' शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु दोहे में उन्हें राधावल्लभ लाल की भक्ति करने वाला बताया गया है। वहीं सामान्यतः लोक में हित हरिवंश के प्रमुख शिष्यों में हरिराम व्यास का परिचय प्राप्त होता है। नाभादास भी भक्तमाल में हरिराम व्यास का वर्णन करते हैं।[21] प्रियादास की टीका में यह वर्णन और विस्तृति पाता है। प्रियादास उनके वंशजों का भी वर्णन करते हैं। अन्य ग्रन्थों के यह वर्णन भक्तनामावली के उपर्युक्त पद को व्याख्यायित करने के लिए काफी हैं। उपर्युक्त दोहे में 'लोक वेद तजि कै भजे, (श्री) राधावल्लभ लाल' का कथन प्रसंग विशेष के संदर्भ में कहा गया है। भक्तमाल में यह प्रसंग 'नै गुन तोरि नूपुर गुह्यो महत सभा मधि रास कें' में उद्धृत हुआ है। 'एक समय रासलीला के दौरान नृत्य करते हुए लाड़िली जी के नुपूर का धागा टूट जाने के कारण बिखर गया। तब व्यास जी ने अपने यज्ञोपवीत को तोड़कर उससे प्रियाजी के पायजेब को गूँथा था।' इसी प्रसंग के निमित्त ध्रुवदास उन्हें लोक–वेद तजकर राधावल्लभ लाल की भक्ति करने वाला बताते हैं। इसी प्रकार के अनेक संकेत 'भक्तनामावली' में संकेतित किये गये हैं, जिनकी विस्तृति नाभादास के भक्तमाल तथा प्रियादास की टीका में होती है।

यह स्पष्ट है कि भक्तनामावली में रूपगत सीमा होने के कारण उसका अध्ययन पूरकता में ही संभव है। अर्थात् भक्तनामावली स्वतंत्र कृति होते हुए भी अन्य ग्रन्थों का अवलंबन लेती है। भक्तनामावली का अध्ययन करने के लिए अन्य वार्ता–ग्रन्थों का अवलंबन भी आवश्यक है। वार्ता–ग्रन्थों के साथ–साथ संप्रदाय में परंपरा से चली आती हुई कथाएँ, लोक में प्रचलित प्रसंग आदि भी महत्व रखते हैं। इसे 'वार्ता' शब्द के माध्यम से समझा जा सकता है। 'वार्ता' का शाब्दिक अर्थ बातचीत है। अतः यह सभी ग्रन्थ रचनाकार तथा

---

[21] काहू के आराध्य मच्छ कछ नरहरि सूकर।
बामन फरसाधरन सेतबंधन जु सैल कर।।
एकन के यह रीति नेम नवधा सों लाएँ।
स्कुल सुमोखन सुवन अच्युत गोत्री जु लड़ाएँ।।
नै गुन तोरि नूपुर गुह्यो महत सभा मधि रास कें।
उतकर्ष तिलक अरु दाम को भक्त इष्ट अति ब्यास कें।।92।। नाभादास, भक्तमाल

लोक के बीच की बातचीत ही है। इसीलिए ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से लोक स्वतः प्रामाणिकरण की कसौटी बन जाता है।

भारतीय इतिहास की आलोचना वस्तुनिष्ठ–तथ्यों के न होने के कारण प्रमुख रूप से होती है। समकालीन इतिहास इन वस्तुनिष्ठ तथ्यों में देश तथा काल को महत्व देता है। वह मानता है कि इन्हीं वस्तुनिष्ठ तथ्यों से विषयवस्तु की ऐतिहासिकता का निर्धारण संभव है। अतीत के यथार्थ तक पहुँचने के लिए 'तथ्यात्मकता' इतिहास का एक गुण है, जो कि भारतीय इतिहास में अदृष्ट है। जैसा कि पहले भी कहा है कि भारतीय इतिहास सर्वकालिक होने में विश्वास रखता है। इसीलिए वह घटना–विशेष से इतर उसे सार्वभौमिक स्थिति में रूपांतरित करता है। समकालीन इतिहास भी अतीत की स्थितियों को समझने का प्रयास करता है परन्तु उसका आधार स्थूल तथ्य हैं। जबकि भारतीय इतिहासकार उन स्थितियों को समझते हुए उसके निदान को अपना लक्ष्य बनाता है। समाधान ही लक्ष्य होने पर स्थितियों का तथ्यात्मक निरूपण केवल आवश्यकता के समय ही होता है। या फिर तथ्य का विशेष महत्व होने के कारण वह उद्धृत होता है। तथ्यात्मक निरूपण 'इतिहास' को शाश्वत होने से रोकता है। इसीलिए वार्ता–साहित्य में भी ऐतिहासिक तथ्यों का प्रयोग कम मिलता है।

ध्रुवदास ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख अनेक भक्त–वर्णनों में करते हैं। इन तथ्यों में स्थान–विशेष का उल्लेख करना वार्ता–साहित्य की एक प्रवृत्ति है। परन्तु यह स्थायी प्रवृत्ति हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। जबकि समकालीन इतिहास–चिंतन स्थान–विशेष का उल्लेख स्थायी तत्व के रूप में करता है। भक्तनामावली में यह उल्लेख उनके निवास तथा भक्ति के कारण हुआ है। रघुनाथ गोस्वामी[22] के संबंध में ध्रुवदास लिखते है –

भजन रसिक रघुनाथजी, राधा–कुण्ड स्थान।

राधा–कुण्ड का संबंध अनेक कृष्णभक्तों से रहा है। यह वृंदावन का एक स्थान है, जिसकी महत्ता भक्तों के कारण निर्मित होती है। भक्तों से जुड़े होने के कारण यह स्थान अपनी ऐतिहासिक महत्ता भी रखता है। राधाकुण्ड के महत्व को अन्य भक्त–वर्णन से भी समझ सकते हैं, जिनका वहाँ निवास करना बताया गया है। राधाकुण्ड में निवास करने वाले भक्तों में हरिदास भी एक हैं।[23] यह राधा–कुण्ड में रहकर प्रतिदिन भगवद्–भजन

---

[22] भजन रसिक रघुनाथ जी, राधा कुंड स्थान।
लौंन तक्र ब्रज को लियो, परसयों नहिं कछु आन।।23।।
वंदन करिके चिंतवन, गौर श्याम अभिराम।
सोवतहू रसना रटे, राधा कृष्ण सुनाम।।24।।

[23] हुते उपासक अधिक ही, या रस में हरिदास।
निसिदिन बीतै भजन में, राधाकुण्ड निवास।।75।।

में लीन रहते थे। देखा जाये तो राधा–कुण्ड वृंदावन का केन्द्र था जहाँ कृष्णभक्त सत्संग करने के लिए इकट्ठा होते थे। सामान्यतः यह भक्त वैरागी थे, जो कि दान–दक्षिणा पर जीवन व्यतीत करते थे।

ब्रज–क्षेत्र की महत्ता श्रीकृष्ण के निवास करने के कारण है। कृष्णभक्तों का विश्वास है कि यह स्थान स्वयं श्रीकृष्ण ने बसाया था। यह उन्हें अतिप्रिय हैं इसीलिए वह आज भी वहाँ विचरण के लिए आते हैं। यही कारण है कि वृंदावन के कण–कण को श्रीकृष्ण का स्वरूप माना गया है। इसका प्रभाव यह रहा कि सम्पूर्ण ब्रज–क्षेत्र और खासतौर से वृंदावन भक्त–मण्डलियों से भरा रहा। यह भक्त केवल वृंदावन के निवासी नहीं थे अपितु एक बड़ी संख्या बाहर से आने वाले भक्तों की थी। बाहर से आये यह भक्त मूलतः वैरागी अथवा तीर्थ यात्री थे। ऐसे ही भक्तों में मुकुन्द भी हैं। ध्रुवदास लिखते हैं –

अति अनन्य निजु धर्म में, नाइक रसिक मुकुंद।

बसे विपिन रस भजन कै, छाँड़ि जगत दुख–द्वंद्व।।47।।

भक्त मुकुंद उन्हीं भक्तों में से एक थे, जिन्होंने गृह त्याग कर वृंदावन में निवास कर राधा–कृष्ण की भक्ति की। इसीलिए वृंदावन के अंदर ही कुछ केन्द्र विकसित हुए। यहाँ भक्त एवं संत की मण्डलियाँ सत्संग के लिए जमा होती थी। वार्ता का स्वरूप इन्हीं सत्संग मण्डलियों की देन है। ऐसी ही अन्य केन्द्रों का उल्लेख भी ध्रुवदास ने किया है। घमण्डदेवाचार्य[24] के दोहे में ध्रुवदास उनके वृंदावन में वंशीवट में निवास करना बताते हैं। यह भी ईश्वर भक्ति में लीन रहकर राधा–श्याम का गायन करते थे। इन्हीं सत्संग मण्डलियों ने भक्तों का प्रचार भी किया। दूर–दूर से आये भ्रमणकर्ता इनकी भक्ति पर मोहित होकर इनकी प्रशस्ति जगह–जगह किया करते थे। इसीलिए इनका प्रचार केवल वृंदावन तक ही सीमित न होकर सम्पूर्ण भारत में (खासकर उत्तर भारत में) होता है। भट्ट नारायण[25] भी कवि थे जिन्होंने ब्रज में रहकर विविध स्थलों के अनुरूप श्रीकृष्ण–लीलाओं की रचना की थी। ब्रज में रहने वाले ओर भी भक्त थे, जिनका उल्लेख ध्रुवदास ने किया है। इनमें वर्धमान, श्रीभट्ट तथा गंगल भी है। ध्रुवदास लिखते हैं –

वर्धमान श्रीभट्ट अरु गंगल ब्रज वृन्दावन गायो।

करि प्रतीति सरवोपरि जान्यो, तातें चित लगायो।।33।।

---

[24] घमंडी रस में घमड़ि रहयौ, वृंदावन निज धाम।
बंशीवट–वट वास किय, गाये स्यामा–स्याम।।31।।

[25] भट्ट नारायन अति सरस, ब्रज मंडल सौं हेत।
ठौर–ठौर रचना करी, प्रकट कियौ संकेत।।32।।

इससे एक बात तो स्पष्ट है कि भक्तनामावली में ऐतिहासिक नामों के साथ–साथ अन्य ऐतिहासिक तथ्य भी संकलित मिलते है। यह तथ्य शोध की दिशा तय करने में सहायक हैं। लेकिन यह याद रखना भी जरूरी है कि इस प्रकार के स्थूल तथ्यों का कारण वार्ता–लेखन की प्रवृत्ति नहीं है।

ब्रज के यह भक्त वृंदावन की भक्ति में विश्वास करते थे। वृंदावन की भक्ति उनके लिए भगवद् प्राप्ति का एक माध्यम थी। बल्कि उनकी दृष्टि में वृंदावन ही वह परलोक है, जिसकी प्राप्ति के लिए वह भगवद्भक्ति में लीन है – परब्रह्म की प्राप्ति। वृंदावन में ही श्रीकृष्ण ने लीलाएँ की थी। इसीलिए वृंदावन का महत्व कृष्णभक्तों के लिए ओर बढ़ जाता है। यह कृष्णभक्त केवल ब्रज में रहते ही नहीं बल्कि उसको जीते हैं। वह ब्रज के स्थानों को अपने साथ इतिहास बना देते हैं। यही कारण है कि ब्रज के देशज नामों का स्पष्ट उल्लेख वार्ता–साहित्य में मिलता है। यह नाम आज भी यथावत बने हुए हैं। वृन्दावन में निवास करने वाले भक्तों में परमानंद, किशोर, संतदास, मनोहरदास तथा खेमदास का उल्लेख एक ही दोहे में हुआ हैं।[26] वह इनके संबंध में लिखते हैं कि यह भक्त भजन के नियम को भली भाँति जानते थे। मोह, अभिमान त्यागकर इन्होंने भक्तों के प्रति दीन भाव रखा तथा वृंदावन में आकर बसने के बाद इनका बाहर जाने का मन नहीं हुआ। ऐसे ही एक ओर भक्त नेही नागरीदास[27] थे, जिन्होंने वृंदावन से ही प्रेम किया तथा वहीं निवास किया। उनकी भक्ति इतनी अधिक थी कि उन्होंने अपने संग–साथियों को छोड़कर वृंदावन में निवास किया। दोहे जैसे रूप की सीमितता होते हुए भी उनके स्थान को उद्धृत करने का उद्देश्य उनकी भक्ति तथा वृंदावन की महत्ता है। यह स्मरण रखना वृंदावन को कृष्णभक्तों के साथ वर्णित करने के पीछे का उद्देश्य उसकी महिमा का गान भी है।

अतः इससे यह स्पष्ट है कि मध्यकालीन हिंदी इतिहास में तथ्यों की उपस्थिति का कारण उसकी इतिहास–लेखन की प्रवृत्ति नहीं है। बल्कि स्थान–विशेष की लोक में विशेष महत्ता है। जिस प्रकार भक्त लोक–प्रशस्ति के कारण भक्तनामावली में स्थान पाते हैं उसी प्रकार यह स्थान भी तत्कालीन समय में प्रचारित होने के कारण विशेष महत्व रखते हैं। वृंदावन केवल भक्त–केन्द्र या कृष्ण से जुड़ा ऐतिहासिक स्थान ही नहीं है। अपितु उसका दार्शनिक महत्व भी कृष्ण भक्तिधारा ने स्वीकार किया है। राधावल्लभ संप्रदाय के अनुसार वृंदावन नित्य है। वह उसे पारलौकिक भूमि पर ले जाते हुए उसी की प्राप्ति को मनुष्य का आदि लक्ष्य स्वीकार करते हैं। इसीलिए भक्तों ने केवल वहाँ निवास ही नहीं किया बल्कि उसकी महिमा का गायन भी किया।

---

[26] परमानन्द किसोर दोउ, संत मनोहर खेम।
निर्वाह्यो नीकें सबनि, सुंदर भजन की नेम।।50।।
छाँड़ि मोह, अभिमान सब, भक्तन सों अति दीन।
वृंदावन बसिके तिन्हीं, फिरि मन अनत न कीन।।51।।

[27] व्यासनंद पद कमल सौं, जाके दृढ़ विस्वास।
जेहि प्रताप यह रस कह्यौ, अरु वृंदावन वास।।63।।
भली भांति सेयो विपिन, तजि बंधुनि सों हेत।
सूर भजन में एक रस, छांडयो नाँहिन खेत।।64।।

वृंदावन की महिमा का गान दोहा क्रमांक 65 में होता है। इस दोहे में बिहारीदास, दंपत्तिदास, जुगलदास, माधवदास तथा परमानंददास का उल्लेख हुआ है। इन भक्तों में लोक–लाज को समाप्त करने में वृंदावन की विशेष भूमिका है। ध्रुवदास लिखते हैं –

बिहारी दास दम्पति जुगल, माधौ परमानंद।

वृंदावन नीके रहे, काटि लाज को फंद।।65।।

मुकुंददास के बारे में वर्णन करते हुए ध्रुवदास दोहे में लिखते हैं कि श्रीकृष्ण पर मन, कर्म से विश्वास करते हुए अपने हुदय की कामनाओं का त्याग किया और माता–पिता को छोड़कर वृदावन धाम में निवास किया।

मन–बच करि बिस्वास धरि, मारि हिये के काम।

मात, पिता, तिय छाँड़ि कै, बस्यौ वृंदावन धाम।।67।।

वृंदावन कृष्णभक्तों के लिए साधना स्थली है। जैसा कि आरम्भ में भी राधावल्लभ संप्रदाय के संबंध में कहा गया कि वृंदावन उनकी दृष्टि में साधन नहीं बल्कि साध्य है। अतः वृंदावन का वर्णन करते हुए ध्रुवदास उसे साधन तथा साध्य दोनों रूप में प्रस्तुत करते हैं। वृंदावन के प्रति इनका प्रेम संसारिक मोह को छोड़ने का कारण बनता है। वैष्णव भक्त जिस प्रकार विष्णुधाम या विष्णुलोक को ही अपना लक्ष्य मानते है उसी प्रकार कृष्णभक्त वृंदावन को मानते हैं। ध्रुवदास लिखते हैं –

चतुरदास वृंदाविपिन, पायौ आछी भाँति।

अर्थात् 'चतुरदास को अंतकाल के बाद वृंदावन की प्राप्ति हुई।' यह कथन वृंदावन की महिमा को जानने के लिए है। नागरीदास तथा हरिदास के संबंध में ध्रुवदास लिखते हैं –

नागर अरु हरिदास मिलि, सेये नित हरि–दास।

वृंदावन पायो दुहिनि, पूजी मन की आस।।70।।

वृंदावन पाने का अर्थ भ्रमण करते हुए वहाँ पहुँचना नहीं है। बल्कि वृंदावन पाकर भक्त को मोक्ष की प्राप्ति हुई, जो कि उसकी मन की आस थी। वृंदावन के कण–कण पर जो विश्वास है वहीं अभिलाषा भक्त वरन की भी थी। ध्रुवदास लिखते हैं –

इहि बरन भक्त अद्‌भुत भयौ, और न कछू सुहात।

अंगनि की छवि माधुरी, चिंतत ताहि बिहात।।85।।

* * *

रोमांचित तन पुलकि ह्वै, नैन रहे जल पूरि।

जाके आसा एक ही, (श्री) वृंदावन की धूरि।।86।।

ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' मूलतः कृष्ण भक्तों की माला है। वह स्वयं राधाकृष्ण संप्रदाय में दीक्षित थे। अतः राधाकृष्ण–भक्ति के प्रतीकों की उपस्थिति कहीं तो ध्रुवदास की दृष्टि के कारण होती है तो कहीं भक्तों के वर्णन में आती है। वृंदावन ऐसे ही प्रतीकों में प्रमुख है, जिसकी उपस्थिति ऐतिहासिक तथा दार्शनिक दोनों भूमि पर नजर आती है।

भक्तनामावली मूलतः भक्तों का नाम–स्मरण करने के उद्देश्य से लिखी गई है। इसीलिए काव्यत्व–आग्रह के बाद भी वह सहज परिचयात्मक रूप ही ग्रहण करती है। आलंकारिकता पर जोर यहाँ नहीं दिखता। उसका उद्देश्य भक्त के जीवन को प्रस्तुत करना है। ध्रुवदास स्वामी हरिदास के संबंध में लिखते हुए सहज ही बने रहते हैं –

रसिक अनन्य हरिदास जू, गायौ नित्य विहार।

सेवा हू में दूरि किए, विधि–निषेध जंजार।।12।।

सघन निकुंजनि रहत दिन, बाढयौ अधिक सनेह।

एक बिहारी हेत लगि छाँड़ि दिये सुख–गेह।।13।।

रंक छत्र–पति काहु की, धरी न मन परवाह।

रहे भीजि रस भजन में, लीने कर करुवाह।।14।।

'स्वामी हरिदास ने कृष्ण–भक्ति करते हुए नित्य विहार का गायन किया। इसी में उन्हें आनंद की प्राप्ति होती थी। इसीलिए ध्रुवदास उन्हें 'रसिक अनन्य' विशेषण लगाकर संबोधित करते हैं। इन्होंने भगवद्–सेवा करते हुए स्वयं को विधि–निषेधों के जाल से मुक्त किया। जब इन्हें बिहारी जी अर्थात् श्रीकृष्ण से प्रेम हुआ तब इन्होंने सभी सुख–साधन छोकर गहन वन में निवास किया। इनकी भक्ति ठाकुरजी के प्रति इतनी अधिक थी कि इन्हें राजा और सामंतों की कोई परवाह नहीं थी। वह सदा भजन रस में ही भीगे रहते थे।' उपर्युक्त दोहे में कहीं भी अलंकारों की लाक्षणिकता अथवा रसानुभूति पैदा करने की कोशिश नहीं की गई है। उपर्युक्त दोहा

छंदबद्ध होने के बाद भी काव्यत्व के उद्देश्य से नहीं लिखा गया। उसका केवल एकमात्र लक्ष्य भक्त का परिचय देना है। इसी प्रकार के सामान्य वर्णन अन्य दोहों में भी दिखाई देते हैं।

वल्लभ सुत विठ्ल भये, अति प्रसिद्ध संसार।

सेवा विधि जिहिं समय की, कीनी तिहि व्योहार।।15।।

राग–भोग अद्भुत विविध, जो चाहियै जिहि काल।

दिनहिं लड़ाये हेत सौं गिरधर श्री गोपाल।।16।।

* * *

गौड़ देस सब उद्धरयो, प्रकट कृष्ण चैतन्य।

तेसिहे नित्यानन्दहू, रस में भये अनन्य।।17।।

पावत ही तिनकौ दरस, उपजै भजनानंद।

बिनु ही श्रम छुटि जाहिं सब, जे माया के फंद।।18।।

वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ, कृष्ण चैतन्य (चैतन्य महाप्रभु) और नित्यानंद मध्यकाल के प्रमुख संप्रदायाचार्य थे। विट्ठलनाथ जहाँ पुष्टिमार्ग में दीक्षित थे। वहीं कृष्ण चैतन्य तथा नित्यानंद चैतन्य–संप्रदाय के आचार्य थे। इन आचार्यों ने भक्ति को संगठित रूप से प्रचारित किया। इन्हें गौड़ देश का उद्धारकर्ता रूप में लिखा गया है। मध्यकाल में बंगाल को गौड़–देश भी कहा जाता था। चैतन्य–संप्रदाय का प्रचार–क्षेत्र यही गौड़–देश है। ऐसे ही विट्ठलनाथ हुए जिन्होंने पुष्टिमार्ग की सेवा–भक्ति को लोक के समक्ष प्रस्तुत किया। यह भक्ति मूलतः अष्टयाम सेवा–भक्ति थी, जिसका विट्ठलनाथ ने समय तथा पूर्ण–रीति से अनुपालन किया। 'उत्तमोत्तम प्रकार के विविध व्यंजन एवं राग–भोग जब जैसे और जिस समय अर्पित करने चाहिये, वह सब उन्होंने किये और इस प्रकार अपने आराध्य श्री गिरिधर गोपाल को जीवन पर्यन्त बड़े प्रेम से दुलराया।' दरअसल विट्ठलनाथ से संबंधित वर्णन पुष्टिमार्ग की रीति का परिचय कराता है। पुष्टिमार्गीय वार्ताओं में इसका स्पष्ट निरूपण हुआ है।

ध्रुवदास का मूल उद्देश्य भक्तों के नाम–स्मरण के साथ–साथ उनकी रीतियों को भी प्रस्तुत करना था। जैसा कि उपर्युकत विट्ठलनाथ के पद से स्पष्ट भी है। इसी प्रकार रूप–सनातन का वर्णन करते हुए वह लिखते हैं –

वंदन करिकै चिंतवन, गौर–श्याम अभिराम। सोवतहू रसना रटै, राधा–कृष्ण सुनाम।।24।।

इनका प्रेम इतना प्रबल था कि वह सोते हुए भी राधा–कृष्ण के नाम–रस को रटते थे। इसी प्रकार भक्त नंदन हुए जो कि सखी–रूप–श्रृंगार करके राधा–कृष्ण का चिंतन करते विचरते थे।[28] एक अन्य भक्त प्रबोधानंद हुए जिनकी भक्ति वृंदावन–रस का गायन थी, जिसे उन्होंने बड़े लाड़–प्यार से गाया।[29] ऐसे भक्त जो काव्य–कुशल थे, उन्होंने राधाकृष्ण की भक्ति काव्य रचकर की। इनमें बहुत से नाम है जिनका पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है। उदाहरण के लिए एक दोहा द्रष्टव्य है। गोविंद स्वामी और गंग का परिचय राधा–कृष्ण के यश एवं रसपूर्ण पदों की रचना के कारण है।[30] गोविंद स्वामी अष्टछाप कवियों में से एक हैं। इन्होंने काव्य–रचना भक्ति के निमित्त की। सखी–संप्रदाय की भी विशिष्ट रीति का उल्लेख अनेक भक्तों के वर्णन में हुआ है। इसका उल्लेख भी पूर्व में किया जा चुका है। अतः भक्तनामावली में संप्रदाय की विशेष–रीति के साथ–साथ प्रत्येक भक्त–विशेष की प्रेमाकुलता के कारण उनकी भक्ति को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इनमें बहुत सी समानताएँ भले ही हो परन्तु प्रसंग–विशेष में इनका महत्व भिन्न हो जाता है। जैसा कि पहले भी कहा है कि भक्तनामावली की रूपगत–सीमा उसे प्रसंगात्मक वर्णन से विमुख करती है। अतः ऐसे में ध्रुवदास उन प्रसंग के मूल अर्थात् भक्तों की प्रेमाकुलता, भगवद्–विह्वलता, देह और जगत की निसारता तथा उनका भगवद्–विश्वास का वर्णन करते हैं।

6.3 देवकीनन्दन ठाकुर कृत 'वैष्णववंदना' का वृंदावनदास अनुदित 'भक्तनामावली का सामान्य परिचय

'भक्तनामावली' लिखने की एक विस्तृत परंपरा भारत में मौजूद रही है। इसी परंपरा में बंगभाषा में देवकीनंछंदास ठाकुर कृत 'वैष्णव वंदना' तथा ब्रजभाषा में वृंदावनदास द्वारा अनुदित 'भक्तनामावली' का परिचय प्राप्त होता है। यहाँ एक स्पष्टीकरण आवश्यक है कि यह प्रसिद्ध हित वृंदावनदास नहीं हैं, जो कि राधावल्लभ संप्रदाय में दीक्षित थे। बल्कि ये कोई और वृंदावनदास हैं, जिनके संबंध में शोध के दौरान कोई प्रमाणित जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी। संपादित कृति की भूमिका में इन्हें श्रीअद्वैतप्रभु (चैतन्य महाप्रभु) की शाखांतर्गत स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत शोध में जिन कृतियों को सम्मिलित किया गया है, उनमें एक यही ऐसी कृति

---

[28] महा पुरूष नंदन भये, करि तनु सकल सिंगार।
सखी–रूप चिंतत फिरैं, गौर–श्याम सुकुँवार।।26।।
[29] जुगल प्रेम–रस अवधि में परयौ प्रबोध मन जाइ।
वृंदावन–रस माधुरी, गाई अधिक लड़ाइ।।29।।
[30]गोविंद स्वामी गंग अरु, बिष्नु विचित्र बनाइ।
पिय–प्यारी कौ जस कहयौ, राग रंग सौं छाइ।। 35।।

है जिसकी प्रमाणिकता सिद्ध नहीं है। इसे आधार–ग्रन्थों में सम्मिलित करने का उद्देश्य भक्तनामावली के स्वरूप को समझना था। साथ ही इस कृति का संबंध बंगाल तथा बंगभाषा से भी है, जिसके माध्यम से वार्ता–साहित्य की व्यापकता का परिचय मिलता है। यहाँ तक कि संस्कृत में भी कवि–विशेष को केन्द्रित करके वार्ता–साहित्य का सृजन किया गया है, जो कि वार्ता–साहित्य की व्यापक स्वीकृति को दर्शाता है। बहरहाल प्रस्तुत कृति बंगभाषा में रचित 'वैष्णवन वन्दना' का ब्रजभाषा में अनुवाद है। इसकी सूचना बाबा कृष्णदास द्वारा लिखित प्राक्कथन से मिलती है। वह लिखते हैं –

> ''मूल ग्रन्थकार श्रीदेवकीनन्दन दास ठाकुर श्रीमन् महाप्रभु के पार्षद श्री सदाशिव कविराज के पुत्र श्रीपुरूषोत्तम ज के शिष्य थे, इनने संस्कृत में 'वैष्णवाभिधान' तथा बंगभाषा में उसका प्रतिरूप 'वैष्णव वन्दना' नाम से रचा था।... यह भक्तनामावली बंग भाषा में विरचित 'वैष्णव–वन्दना' का ज्यों का त्यों उल्था रूप है।''[31]

मोनियार विलियम्स के संस्कृत–अंग्रेजी–कोश में भी 'वैष्णवाभिधान' का उल्लेख चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों की नाममाला के रूप में हुआ है।[32] अतः स्पष्ट है कि वृंदावनदास अनुदित 'भक्तनामावली' चैतन्य–संप्रदाय के भक्तों का ऐतिहासिक उल्लेख करती है। संस्कृत तथा बंगभाषा की कृति देवकीनन्दन दास ठाकुर द्वारा रचित है, जबकि ब्रजभाषा अनुवाद वृंदावनदास द्वारा किया गया है। यह तथ्य वार्ता–साहित्य की व्यापकता को समझने में सहायक हैं। वार्ता–रूप केवल हिंदी की विशेषता ना होकर मध्यकाल का साहित्यिक रूप है, जो भक्तिधारा के साथ अनेक भाषाओं में प्रचारित होता है। परन्तु इस प्रचार का आधार 'भक्ति' ही है। कृष्णभक्ति के कारण 'भक्तनामावली' संस्कृत, बांग्ला तथा ब्रज में अनुवादित होती है। बंगाल कृष्णभक्ति का एक गढ़ है, वहीं ब्रज–क्षेत्र भी कृष्ण की स्मृतियों का ऐतिहासिक स्थल है। ऐसे में कृष्णभक्ति तथा उनके भक्तों से संबंधित ग्रन्थों का भाषानुवाद एक सहज परिणाम है। अतः मध्यकाल में भाषाओं का यह मेल भी 'भक्ति' के परिणामस्वरूप सिद्ध हो रहा था। देखा जाये तो बंगाल और हिंदी को जोड़ने में चैतन्य महाप्रभु की उपस्थिति ऐतिहासिक रूप में दिखाई देती है। बंगाल में कृष्णभक्ति को प्रचारित एवं प्रसारित करने में चैतन्य महाप्रभु तथा नित्यानंद की अहम भूमिका रही है। भक्ति के यह दो केन्द्र बांग्ला और हिंदी के बीच पुल का काम करते हैं।

वृंदावनदास अनुदित 'भक्तनामावली' चैतन्य–संप्रदाय से प्रभावित है। मूल ग्रन्थ 'वैष्णववन्दना' के रचयिता देवकीनन्छंदास चैतन्य महाप्रभु के पार्षद श्री सदाशिव कविराज के पुत्र श्रीपुरूषोत्तम जी के शिष्य थे। इसीलिए वैष्णव वन्दना में चैतन्य–संप्रदाय के भक्तों का ही अधिक उल्लेख हुआ है। इसी आधार पर 'भक्तनामावली' पर भी चैतन्य–संप्रदाय के प्रभाव को निश्चित किया जा सकता है। वृंदावनदास का परिचय

---

[31] वृंदावनदास, भक्तनामावली, प्रकाशक एवं प्राक्कथन – बाबा कृष्णदास, कुसुम सरोवर गोवर्द्धन, संवत् 2006, पृ. सं. ख

[32] https://sanskrit.inria.fr/MW/251.html, 04 फरवरी 2021

देते हुए बाबा कृष्णदास इन्हें वृंदावन में यमुना तट पर 'भ्रमरकुंज' पर रहकर लिखना बताते हैं। इसके लिए वह दो अन्य ग्रन्थ 'प्रेमभक्तिचन्द्रिका' तथा 'विलापकुसुमांजली' का उल्लेख करते हुए उसे भी वृंदावनदास रचित बताते हैं। विलाप कुसुमांजली में रचित एक पद के आधार पर वह वैष्णव वन्दना को वृंदावन में रचित मानते हैं। उनका मानना है कि

> ''हमारी खोज में विलाप–कुसुमांजली, प्रेमभक्तिचन्द्रिका तथा यह वैष्णववन्दना व श्रीमन्महाप्रभु के विषय में कुछ फुटकर पदावली देखने को मिली है उससे जान पड़ता है कि लेखक श्री अद्वैतप्रभु के शाखान्तर्गत हुए हैं। यथा इस ग्रन्थ के आरम्भ में 'अस मम नाथ कृपाल सीतापति अद्वैतवर' तथा इन ग्रन्थों को उनने वृंदावन में यमुना तट पर भ्रमरकुंज पै बैठ कर लिखा था जो वर्तमान में भ्रमरघाट नाम से अनुमान किया जाता है।''[33]

इन रचनाओं के रचना–समय के आधार पर ही वह भक्तनामावली के समय का अनुमान लगाते हैं। वह 'प्रेमभक्तिचन्द्रिका' का रचना समय संवत् 1813[34] तथा 'विलाप कुसुमांजली' का संवत् 1814[35] बताते हुए भक्तनामावली का रचना–समय भी इसी के पास का मानते हैं। प्राक्कथन में इन कृतियों का वृंदावनदास द्वारा रचित होना, उनकी ऐतिहासिकता, प्रमाणिकता जैसे प्रश्नों पर कोई विचार नहीं किया गया है। जबकि इन्हीं नामों से पूर्व में कुछ कृतियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। 'प्रेमभक्तिचंद्रिका' पूर्व में नरोत्तम ठाकुर तथा 'विलाप कुसुमांजली' श्रीरधुनाथदास गोस्वामी द्वारा रचित बताई गई है। साथ ही यह दोनों रचनाकार भी चैतन्य–संप्रदाय में दीक्षित हैं। अतः बाबा कृष्णदास के प्राक्कथन के आधार पर भक्तनामावली का समय निर्धारित नहीं किया जा सकता। यह अवश्य है कि शोध संभावनाओं के साथ आगे बढ़ने पर शुरूआत यहाँ से की जा सकती है। अतः प्रस्तुत कृति का अध्ययन भक्तनामावली के रूप तथा उनमें मौजूद इतिहासात्मक वर्णनों को देखने के उद्देश्य से किया गया है।

प्रस्तुत शोध में 'भक्तनामावली' के रूप को समझने के लिए दो कृतियों को सम्मिलित किया गया है– ध्रुवदास कृत 'भक्तनामालवी' तथा वृंदावनदास अनुदित 'भक्तनामावली'। इनकी स्वरूपगत अध्ययन की पृष्ठभूमि भारतीय इतिहास से जुड़ती है। इनमें ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' सर्वसम्मति से प्रमाणित मानी गई है। जबकि वृंदावनदास की प्रमाणिकता संदेहास्पद है। परन्तु यहाँ इस कृति के अध्ययन का उद्देश्य भक्तनामावली की सामान्य विशेषताओं को चिंह्ति करना रहा है। जैसा कि पहले भी कहा गया है कि इतिहास अतीतात्मक–सत्य

---

[33] वृंदावनदास, भक्तनामावली, प्रकाशक एवं प्राक्कथन – बाबा कृष्णदास, कुसुम सरोवर गोवर्द्धन, संवत् 2006, पृ. सं. क

[34] अधिक त्रयोदस आनि सम्वत् शत दस आठ महि।
पूरण अन्य सुमानि पूस विदिस सित पंचमी।।

[35] सम्वत शत दश आठ अरु बरस चतुर्दश जानि।
पूस सरस सित पंचमी पूरण अन्थ बखानि।।

से साक्षात्कार है। यह साक्षात्कार अतीत का स्थूल दर्शन है। कहने का तात्पर्य यह है कि इतिहास अतीत में हुई महतीय घटनाओं, स्थितियों, देश–काल–वातावरण तथा परिवर्तन आदि का दर्शन है। अतः समकालीन दृष्टि में 'सत्य' से अभिप्राय यथार्थ से साक्षात्कार है। इतिहास भौतिक मनुष्य के यथार्थ–अतीत से साक्षात्कार है। जबकि भारतीय संदर्भ में सत्य को परिभाषित करते हुए उसके सूक्ष्म अर्थ पर चिंतन किया जाता है। भारतीय चिंतन परंपरा के अनुसार यह सूक्ष्म सत्य 'ब्रह्म का साक्षात्कार' है। भक्तिकालीन दृष्टि भी भक्ति के माध्यम से ब्रह्म प्राप्ति के लक्ष्य को सामने रखती है। पुरूषार्थ चतुष्ट्य में मोक्ष की प्राप्ति को ब्रह्म में लीन होना ही माना गया है। इसी ब्रह्मलीन होने को विभिन्न दार्शनिक परिभाषित करते है। भक्ति का यह सूक्ष्म सत्य ही 'भक्तनामावली' का प्रयोजन है। यह प्रयोजन ही 'भक्तनामावली' को अर्थगर्भित करता है।

6.4 देवकीनंदनदास ठाकुर कृत 'वैष्णव वन्दना' का वृंदावनदास द्वारा अनुदित 'भक्तनामावली' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

वार्ता–साहित्य का कथ्य 'भक्त–चरित्र' है, उसकी मूल दृष्टि 'भक्ति' और उसका प्रयोजन 'भगवद्–प्राप्ति' (मोक्ष) है। 'भक्तनामावली' के नाम से ही स्पष्ट है कि यह भक्तों के नामों की माला है। समकालीन दृष्टि 'भक्तनामावली' को साहित्यिक–कृति ही मानती आई है। साहित्यिक–कृति मानते हुए इसे भक्ति का ग्रन्थ स्वीकार किया गया है। इसीलिए भक्ति के आवरण में मौजूद मध्यकालीन–इतिहास के संकेतों को विद्वतगण भुलाते ही आये है। 'भक्तनामावली' को केवल नाममाला कहते हुए वह आगे बढ़ जाते हैं। संभव है कि भक्तों का नाम–स्मरण होने के कारण इसे 'ऐतिहासिक कोश' कहा जाये। परन्तु दोहों में बहुत–से भक्त ऐसे हैं, जिनके जीवन–प्रसंगों के संकेत भी इनमें हुए है। या फिर कही–कही उनकी भक्ति–रीति का परिचय रचनाकार देता है। भक्त–नामों के इतिहास की दृष्टि से इसके स्वरूप–अध्ययन की आवश्यकता है। ताकि इन नामों को अन्य वार्ता–साहित्य की पूरकता में शोध–दिशा दी जा सके। परन्तु जिस सूक्ष्म सत्य तक पहुँचने का प्रयास भक्तनामावली का प्रयोजन है, वह स्थूल तात्विकता को प्रश्रय नहीं देता। इसीलिए अनुवादित भक्तनामावली में भी स्थूल तत्व के रूप में केवल भक्तों के नाम ही दिखाई पड़ते हैं। वह भी इसीलिए ताकि भक्त–विशेष से संबंधित प्रसंग को एक स्थायित्व दिया जा सके।

यह नाम–उद्धरण लोक–सापेक्षता की मांग रखते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इनकी व्याख्या लोक–स्मृति में संभव है। अर्थात् यह भक्त लोक–मानस में एक अलग स्थान रखते हैं, 'भक्तनामावली' इसी लोक–मानस में व्याख्यायित होती है। देखा जाये तो भक्तनामावली एक प्रकार का संक्षिप्त कोश है, जिनके संकेतों के माध्यम से लोक–मानस पुनःस्मृत होता जाता है और भक्तों के जीवन–प्रसंग को समकाल में पुनः

परिभाषित करने लगता है। लोक–मानस में स्मृत होने के कारण यह ऐतिहासिक–चरित्र प्रमाणिकता से दूर हो जाते हैं। समकालीन इतिहास के समान उनको प्रमाणित होने के लिए किसी पुरातात्विक–स्रोत की आवश्यकता नहीं होती। बल्कि लोक–मानस ही उनकी प्रमाणिकता की कसौटी बनता है।

वृंदावनदास अनुदित 'भक्तनामावली' दोहा–सोरठा में लिखा गया है। प्रत्येक दोहे में स्वतंत्र भक्त–वर्णन के साथ–साथ एक तथा एक से अधिक भक्तों का भी स्मरण किया गया है। इससे 'भक्तनामावली' की लेखन–सीमाएँ ओर बढ़ जाती हैं। परन्तु भक्तनामावली लोकोन्मुख होती है। पाठक जब भक्तनामावली को पढ़ता है तब उसे भक्तों के नाम ही दिखाई देते हैं। इन नामों के साथ लोक में बहुत कहानियाँ प्रचलित रहती है, जिन्हें लोक सत्संग के दौरान सुनाया करता है। यह कहानियाँ लोक में इतनी प्रचलित हो जाती है कि लोकोक्तियों, मुहावरों, किवदंतियों, कहावतों में भी रच बस जाता है। भक्तनामावली का रूप इस लोक–पूरकता में निर्मित होता है। इसीलिए प्रस्तुत कृति में भी भक्तों के नाम ही दिखाई देते हैं।

वृंदावनदास अनुदित 'भक्तनामावली' की दृष्टि :– आधार ग्रन्थ में सम्मिलित वृंदावनदास अनुदित 'भक्तनामावली' मूलतः देवकीनन्छंदास ठाकुर कृत 'वैष्णव वन्दना' का अनुवाद है। शोध के क्रम में 'वैष्णव वन्दना' की कृति प्राप्त ना हो सकी। इसी कारण वृंदावनदास अनुदित 'भक्तनामावली' के आधार पर देवकीनंछंदास ठाकुर की इतिहास–दृष्टि की परख प्रस्तुत अध्ययन में की गई है। प्रस्तुत शोध में वृंदावनदास अनुदित 'भक्तनामावली' लघुत्तम आकार के वार्ता–साहित्य में आती है, जिसके आरम्भ एवं अंत में स्वतंत्र पद संकलित हैं। यह पद देवकीनन्दन की दृष्टि को समझने में सहायक हैं। लेकिन यह भी स्मरण रखना जरूरी है कि यह कृति साहित्यिक रचना है इसीलिए आधुनिक अनुवाद के समान यह अनुवाद भी यथावत् नहीं रहा होगा। बल्कि इसमें वृंदावनदास की दृष्टि भी संश्लिष्ट हुई होगी। अतः देवकीनन्दन और वृंदावनदास के बीच दृष्टिगत–भेद को दोनों दृष्टियों के अध्ययन के उपरांत ही रेखांकित किया जा सकता है। बहरहाल भक्तनामावली में विनय प्रार्थना करते हुए स्वतंत्र पद सम्मिलित करने की परंपरा रही है। ध्रुवदास और नाभादास भी इस प्रकार के पद रचते हैं, जिनमें वह भक्तों की विस्तृत संख्या तक ना पहुँच पाने की अपनी मानवी–सीमाओं की बात कहते हैं। वृंदावनदास (मूल रचयिता) लिखते हैं –

अनगन गनपति जो कहूँ जुरि बैठें इक साथ।

एक एक के जो कहूँ प्रगटैं अनगन हाथ।।144।।

उनकी दृष्टि में प्रत्येक भक्त एक गणपति है अर्थात् भक्ति का एक प्रतिनिधि है। एक–एक के बारे में कहा जायेगा तो अनेक हाथ प्रगट हो जायेंगे अर्थात् इनकी संख्या अनगिनत है। जो कि भक्तनामावली जैसी लघुआकार–कृति में संभव नहीं।

हाथ हाथ मैं जौ कहूँ अनगन लिखन धरंत।

अनगन प्रभु परिवार कौ क्यौं हूँ मिलै न अंत।।145।।

बहरहाल प्रत्येक भक्त को एक–एक भक्ति–पद्धति का प्रतिनिधित्व मानने की दृष्टि वार्ता–साहित्य की सहज परिणति है। 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में चौरासी भक्तों को चौरासी कोटि योनियों के उद्धारकर्त्ता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसीलिए 92 भक्तों को 84 अंक में सीमित किया गया है। दरअसल मध्यकालीन 'भक्ति' का स्वरूप बाह्य कर्मकाण्ड पर आश्रित नहीं है। बल्कि यह तो प्रत्येक व्यक्ति का आंतरिक विषय है। इसीलिए प्रत्येक भक्त की रीति वैशिष्ट्यपूर्ण है। वार्ताकार इसी वैशिष्ट्य को भक्ति की एक धारा के रूप में लिखते हैं। इस दृष्टि का एक दूसरा कारण भी है। सामान्यतः यह भक्त लोक–मानस में घर कर चुके हैं। इन्हीं की देखा–देखी बहुत–से लोगों ने भक्ति–रीति को अपनाया है। इसीलिए भी इन्हें एक–एक का गण–अधिपति कहकर उनकी रीति को लोक में एक धारा बहाने वाली बताया गया है। अर्थात् इन भक्तों का प्रभाव अपने क्षेत्र–विशेष पर था। इसी कारण यह लोक–स्मृति का हिस्सा बनते है। यदि 'भक्तनामावली' को दृष्टिगत करके कहा जाये तो इन भक्तों का प्रभाव एवं प्रशस्ति बंगाल में थी। भाषिक सीमाओं (बंगाली भाषा के सीमित क्षेत्र में विस्तार) के कारण इनमें अधिकतर भक्त बंगदेश तक ही सीमित रहते है और जो प्रचारित होते भी हैं तो चैतन्य संप्रदाय में नाम कमाने के कारण। अतः वार्ता–साहित्य का इतिहास इन्हीं प्रक्रियाओं से होकर कथ्य को प्राप्त करता है।

भक्ति के जिस आंतरिक विषय को ऊपर कहा गया है। उसी ओर वृंदावनदास भी संकेत करते हैं। वह भगवान के अनगिनत रूप में प्रत्येक भक्त के निज–ईश की बात करते हैं। वह लिखते हैं –

अनगन प्रभु परिकर निकर जानि सबनि निज ईस।

उन सब ईश एवं भक्तों के आगे नतमस्तक होकर वृंदावनदास विनयभाव ही प्रदर्शित करते हैं। दरअसल यह विनयभाव भारतीय वाङ्ग्मय का लक्षण है। स्वयं के कर्मों के कारण अहं भाव न पैदा हो इसीलिए इस प्रकार की परंपरा चली, जो साहित्य का भी अभिन्न अंग बनती है।

इसके उपरांत वह भक्तनामावली की आंतरिक संरचना पर भी संकेत करते चलते हैं। वह बताते हैं कि उन्होंने इस कृति में कुछ स्थानों पर सच्चे क्रम का निर्वाह किया है।

कछुक सचे क्रम संग अरु कछुक रचे क्रम भंग।।147।।

अर्थात् भक्तों का जो ऐतिहासिक क्रम था उन्हें उसी क्रम में उद्धृत करने का प्रयास किया है। परन्तु इस ऐतिहासिक क्रम के निर्वाह में उनकी दृष्टि क्या है? क्या वह दृष्टि काल है? अथवा संप्रदाय में नाम–दीक्षा?

या गुरु–शिष्य क्रम? या फिर कोई ओर? यह शोध का विषय है। अग्रिम पद में वह क्रम–भंग होने से अपनी सफाई प्रस्तुत करते हैं। वह कहते हैं कि उनके लिए तो सभी समान है और उनकी मांग भी इसी रूप में क्रम–भंग को देखने की है। (जानि सबनि सम महिम अरु मांनि काव्य अनुरोध।) इसी पद में लघु–गुरु अर्थात् छोटे–बड़े भक्तों के क्रम–निर्वाह ना कर पाने के लिए भी क्रोध ना करने को कहा है। (लघु गुरु के क्रम भंग तैं सुमति करहु जिनि क्रोध।) ऐसा कहते हुए वह भगवान द्वारा सभी को समान मानने की बात कहते हैं। (लघु गुरु हरिबल्लभ प्रगट सम प्रभाव सुखकंद।) दरअसल इस प्रकार का स्पष्टीकरण तत्कालीन समाज–दृष्टि को दिखाता है। मध्यकाल में किसी भक्त अथवा कवि को बदनाम तथा उसकी कृति को अस्वीकार्यता देने के लिए बहुत–से लोग तत्पर रहते थे। अतः उनका काम इसी प्रकार के नुक्स निकालकर बदनाम करना था। इन्ही झंझटों से बचने के लिए इस प्रकार का स्पष्टीकरण देवकीनंछंदास देते हैं। वार्ता–साहित्य में इस क्रम–भंग के लिए माफी मांगना तथा सबको समान रूप में देखने की दृष्टि विनय–भाव के पदों में सहज है।

भक्तों का स्मरण भी भक्ति का एक प्रकार माना गया है। उसमें भक्त की महत्ता भगवान से ऊपर बताई गई है। भक्त के वश में भगवान होने से भक्तों की महिमा अपरमपार कही गई है। यह दृष्टि ही मध्यकालीन वार्ता–साहित्य में इतिहास–चेतना को उपजाति है तथा लोक में पूर्व–पुरूषों का वर्णन करने पर जोर देती है। लेकिन ऐतिहासिक चरित्रों के वर्णन से पूर्व वह भक्त–भगवान के जटिल संबंध को सहजता से बताते हैं। इस प्रकार वृंदावनदास भक्त और भगवान के संबंधों के साथ–साथ भक्तों की महत्ता को स्थापित करते हैं। दोहे की प्रथम पंक्ति में वह निष्कर्षात्मक कथन लिखते हैं तथा दूसरी पंक्ति में उनसे संबंधित किसी उदाहरण को पेश करते हैं। उदाहरण के लिए

भक्त विमुख कौ भक्त बिन नाहिन रछक कोय।

अंबरीष आख्यान महि दुरवासा रिषि जोय।।152।।

ऐसे ही निष्कर्षात्मक कथनों को निम्न उद्धृत किया जा रहा है ताकि भक्त के संबंध में मध्यकालीन दृष्टि को समझा जा सके।

अगतिनि के गति जगतपति करुनालय भगवान।

भक्त विमुख मुख निरखि पुन तुरत धरहि करकांन।।150।।

* * *

भक्त बड़ाई सुनत में सुकृत करैं उपहास।

सुकृत रासि को नास अरु गर्भवास कौ त्रास।।153।।

* * *

भक्त बिना भगवंत की भक्ति काहु किन टेर।

भगवान भक्त के वश हैं। इसीलिए भक्तों का परिहास, उनके बारे में बुरे विचार लाने वाले भक्त–द्वेषी के लिए भगवान के पास कोई स्थान नहीं है। बल्कि उन्हें कई प्रकार के त्रासों को भोगना पड़ता है। मध्यकाल में ईश्वर वह शक्ति है जो नियंता है। इसीलिए उनके प्रति श्रद्धा होते हुए भी एक प्रकार का भय लोकमानस का हिस्सा है। रचनाकार इसी भय को भक्त–द्वेषी से जोड़कर भक्तों के सम्मान की बात कहता है। भक्त के संबंध में वृंदावनदास की दृष्टि उनकी इतिहास–दृष्टि का आधार बनती है। इसी आधार पर 'भक्तनामावली' की रचना की गई है।

देवकीनंछंदास ठाकुर कृत 'भक्तनामावली' में भक्त–चरित्रों का अध्ययन :– 'भक्तनामावली' का आरम्भ करते हुए देवकीनन्दन चैतन्य महाप्रभु तथा नित्यानंद का स्मरण करते हैं। इसी आधार पर बाबा कृष्णदास उन्हें 'चैतन्य–संप्रदाय' में दीक्षित मानते हैं। दरअसल यह लेखन–परंपरा की विशेषता भी है, जिसमें कृति के आरम्भ में संप्रदाय प्रवर्तकों को स्मरण किया जाता है। प्रथम दो दोहे मंगलाचरण रूप में ही लिखे गये हैं।

प्रनमहुँ नव गोविन्द नव राधा कुवरि अनूप।

नवद्वीप मधि नित लसैं गौर गदाधर रूप।।1।।

'नवद्वीप' बंगाल का एक स्थान है। पौराणिक भूगोल में भी नवद्वीप बंगाल–क्षेत्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। यदि देखा जाये तो चैतन्य–संप्रदाय भी बंगाल में अधिक प्रचारित होता है। इसीलिए उसे 'गौड़ संप्रदाय' (बंगाल का दूसरा नाम गौड़–देश भी है) के नाम से भी जाना जाता है। उपर्युक्त दोहे में सर्वप्रथम वह राधा–कृष्ण के नवरूप को प्रणाम करते हैं और उन्हीं के मूल रूप भगवान विष्णु को बंगाल में रमने की बात कहते हैं। इससे एक बात तो स्पष्ट है कि वह भले ही राधा–कृष्ण की भक्ति करते हो लेकिन उनकी दृष्टि विष्णु अवतारों का भी उतना ही सम्मान करती थी। उनकी यही दृष्टि अग्रिम चार सोरठाओं में भी दिखाई देती है। दरअसल यह सोरठा भक्तनामावली आरम्भ करने से पहले एक पूर्वपीठिका बनाने के लिए लिखे गये हैं। बहरहाल पद क्रमांक 3 और 4 में भगवान राम का स्मरण किया गया है।

जग महि संत अनंत अंत न होइ अनन्त मुख।

को वरनैं बुधिवंत विन प्रसाद सियकंत के।।3।।

अर्थात् इस जगत में अनेक संत है तथा उन संतों का स्मरण करने वाले अनेक मुख। परन्तु इनका वर्णन केवल बुधिवंत अर्थात् विद्वान ही कर सकता है और उसमें भी वह जिसपर सियापति अर्थात् राम की कृपा हो। उनकी कृपा से गूँगा बोलने लगता है और लंगड़ा पर्वत भी लांघ जाता है।

मूक हौंइ वाचाल गिरिवर लांघै पंगु जहाँ।

अस मम नाथ कृपाल सीतापति अद्वैतवर।।4।।

ये पद भगवान की कृपा तथा 'भक्त' की भक्ति दोनों की महत्ता स्थापित करते हैं। 'दुरगम सुगम सुहोय दुस्कर निकर सुकर जहैं। अस मम प्रभु पद जोय दुर्घट घटन समर्थ वर।।' – यह पद भी भगवान की महिमा का गान करता है। देखा जाये तो धार्मिक सौहाद्रता भक्तिकाल की प्रगतिशील विशेषता रही है। इस प्रगतिशीलता के निर्माण में 'भक्ति' का मूल स्वरूप ही क्रियांवित होता है।

आरम्भ के दोहा–सोरठा में एक भूमिका बनाने के बाद पद क्रमांक 7 से 18 में वृंदावनदास चैतन्य महाप्रभु तथा नित्यानंद का स्मरण करते हुए भक्त–वर्णन के पीछे की दृष्टि को कहते हैं। वैसे तो उनकी 'भक्तनामावली' लिखने की दृष्टि विनय के पदों में दिखाई देती है। परन्तु इनसे वार्ता–साहित्य के कुछ तात्विक पहलुओं को समझने में सहायता मिलती है। इन दोहों में नित्यानंद और चैतन्य महाप्रभु को भजने वाले भक्तों को केन्द्र में रखा गया है। वह लिखते हैं कि 'नित्यानंद और चैतन्य को भजने वाले अनेक संत है, जो शुद्ध अनुरागी, विमल मति और रसवंत हैं। यह बड़े भाग्यशाली हैं।'[36] इन्हीं संतों के जीवन को कलियुग की कालिमा को खत्म करने वाला कहा गया है।[37] अतः इससे कृति में आये भक्तों का एक वर्ग निश्चित होता है, जो कि चैतन्य–संप्रदाय में दीक्षित हैं। पिछले अध्यायों में कहा भी गया है कि वार्ता–साहित्य को लिखे जाने के पीछे लोक–संबद्धता के साथ–साथ रचनाकार की व्यक्तिगत–रूचि (भक्ति) भी रही है। देवकीनन्दन का भक्त–वर्णन के साथ–साथ उनके प्रति चाह का बढ़ना इसी व्यक्तिगत–रूचि को निर्दिष्ट करता है।[38]

भक्तों के जीवन–प्रसंगों को लेकर सत्संगों में चर्चा करने का उद्देश्य उनकी विविध लौकिक रीतियों को निर्दिष्ट करना था। इनकी रीति तो लौकिक है परन्तु उन रीतियों के पीछे का कारण अलौकिक है। इसी ओर देवकीनंदन का निम्न दोहा भी निर्दिष्ट है –

सो संतनि के विगत मत जातें लोकिक रीति।

---

[36] नित्यानंद चैतन्य के भ्राजहिं अनगन संत।
अनुरागी सुठि अमल मति वड भागी रसवंत।।7।।
[37] एक एक के चरित जिमि सुर सरिता सतधार।
कन परसत जाके नसैं कलि कलमस निरधार।।8।।
[38] तिहि वरनन हित जास के वाढै चित महि चाइ।

काज अलोकिक माँहि पुन कारण लोकातीति।।12।।

इसी अलौकिक कारण के लिए उनके कार्य भी अलौकिक श्रेणी में ही आते हैं। इसीलिए वार्ता–साहित्य में भक्तों के चरित्र को बताते हुए प्रसंगों का भी उल्लेख किया जाता रहा है। इन्हीं दोहों में मध्यकाल की एक सामान्य दृष्टि का भी परिचय मिलता है। नाभादास भक्तमाल के मंगलाचरण में भक्त, भक्ति, भगवंत तथा गुरु के ही वंदन को मध्यकाल की महत्तीय विषयवस्तु मानते हैं। इसी प्रकार का वर्णन वृंदावनदास भी करते हैं। वह लिखते हैं –

हरि गुरु हरिबल्लभ कृपा कारन सुठि तहँ जोइ।

कारन लोकातीति बिनु वरन फुरै नहि कोइ।।14।।

वृंदावनदास भी हरि, गुरु और हरिबल्लभ अर्थात् भक्त की कृपा को उस लौकातीत के वर्णन में सहायक मानते हैं। भक्त के प्रसाद का बल भी सुखदायक होता है। इसी सुख को प्राप्त करने के लिए देवकीनन्दन 'वैष्णववंदना' की रचना करते हैं।[39] अतः यह देखा जाये तो भगवान, भक्त और गुरु यह तीन अस्तित्ववान (मध्यकालीन दृष्टि में) काव्य के विषय हैं। जबकि 'भक्ति' संबंधवाचक शब्द है। मध्यकाल में भक्त और भगवान के बीच 'भक्ति' ही वह संबंध है, जो उन्हें जोड़ता है। बल्कि देखा जाये तो उस समय इनके बीच का बाह्य संबंध पूर्णतः समाप्त हो जाता है। दृश्यमान जगत के कर्मकाण्ड, वस्तु आदि कोई भी भगवान और भक्त के संबंध को निर्मित नहीं करता बल्कि भक्ति ही वह मानसिक–बौद्धिक–संबंध है, जो इन दोनों के संबंधों को व्याख्यायित करता है। भक्ति के इसी स्वरूप के कारण वह असीम दिशाओं में व्याख्यायित होने की संभावना भी रखता है। वार्ता–साहित्य इसी असीम संभावनाओं के साथ अनेक भक्तों की भक्ति–रीति को प्रस्तुत करता है, जिसे कथा–वाचक लोक में व्याख्यायित करता है।

'गुरु' भक्तिकाल में एक महत्वपूर्ण व्यक्ति है। भक्तिकाल की दृष्टि है कि बिना गुरु के ईश्वर की प्राप्ति संभव नहीं। गुरु वह मार्गदर्शक है जो भक्त को भगवान की ओर जाने का मार्ग दिखाता है। गुरु क्यों भक्तिकाल में महत्वपूर्ण होता है? देखा जाये तो मध्यकाल की बहुसंख्य जनता अशिक्षित है और भक्तिकाल लोक का आन्दोलन है। लोक शास्त्रज्ञाता नहीं सहृदय है। अतः किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता मध्यकाल में महसूस होती है, जो शास्त्रज्ञान को लोक के समक्ष व्याख्यायित कर उनका मार्गदर्शन कर सके। इसीलिए गुरु मध्यकाल में महत्वपूर्ण हो जाता है। गुरु के महत्वपूर्ण होने का प्रभाव रचनाकर्म में भी परिलक्षित होता है। मंगलाचरण के अंतर्गत गुरु–परंपरा का स्मरण करना भी मध्यकाल की साहित्यिक प्रवृत्ति का अंग बन

[39] हरिवल्लभ परसाद वल सुखद देवकीनन्द।
रची सु वैष्णवबंदना सरस सुरस सुखकंद।।15।।

जाता है। वार्ता–साहित्य में इसे स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं। नाभादास भी श्रीसंप्रदाय के आदि से अग्रदास तक की अपनी गुरु–परंपरा का स्मरण कर आरम्भ करते हैं। परन्तु वहाँ यह मंगलाचरण का अंग ना होकर कृति का आरम्भ है। यही वह आरम्भ है जहाँ से ऐतिहासिक चरित्रों का वर्णन शुरू होता है। प्रस्तुत कृति में भी ऐतिहासिक चरित्रों का आरम्भ गुरू को स्मरण करने के साथ होता है। दोहा क्रमांक 19[40], 20[41] और 21[42] में क्रमशः चैतन्य महाप्रभु के पिता, उनके अग्रज भ्राता तथा तीसरे में स्वयं उनका वर्णन किया गया है। यह सूचना दोहे में ही दी गई है। प्रथम दोहे में जगन्नाथ मिश्र का वर्णन किया गया है, जिन्हें दोहे में चैतन्य महाप्रभु का पिता बताया गया है। दोहे में दूसरी पंक्ति 'विश्वरूप रसरुप अरु गौरचंद जिहिँ नंद' है। गौरचंद सामान्यतः चैतन्य महाप्रभु के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अतः 'गौरचंद जिहिँ नंद' का अर्थ होगा 'जो कि नंद है गौरचंद के' होगा। इस पद में विश्वरूप तथा रसरूप जैसे गुणवाचक शब्द जगन्नाथ मिश्र के लिए प्रयोग ना होकर गौरचंद अर्थात् चैतन्य महाप्रभु के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसीलिए यह दोहा जगन्नाथ मिश्र के चैतन्य महाप्रभु के संबंध की सूचना देकर आगे बढ़ जाता है। दरअसल यही संक्षिप्त सूचनात्मकता 'भक्तनामावली' (वार्ता–रूप) की प्रवृत्तिगत विशिष्टता है। इसी प्रकार की संक्षिप्तता आगे के पदों में भी दिखाई देती है। अगले पद में देवकीनन्दन कृष्ण चैतन्य (चैतन्य महाप्रभु) के अग्रज भ्राता संकरारन्य का उल्लेख करते हैं। इसकी सूचना देते हुए वह लिखते हैं –

अति अनन्य गति जाचि हौं विश्वरूप पद धन्य।

अग्रज श्री चैतन्य सुभ नाम संकरारन्य।।20।।

चैतन्य महाप्रभु के बड़े भाई भी ज्ञानी थे। इसका आभास 'अति अनन्य गति' कहने से हो जाता है। दरअसल इसकी व्याख्या बहुविध रूप में संभव है। परन्तु भक्ति के परिदृश्य में देखा जाये तो इसका अर्थ यही लिया जा सकता है कि उन्हें भगवद्–स्वरूप का गहन ज्ञान था। ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से संकरारन्य का चैतन्य महाप्रभु का भाई होना ही उन्हें महत्वपूर्ण बना देता है।

भक्तिकाल में गुरु के साथ–साथ उनके परिवार को भी उतना ही सम्मान दिया गया है, जितना की गुरु को। राधावल्लभ संप्रदाय में शिष्य–परंपरा को नाद और बिंदु के आधार पर दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। नाद–वंश के अंतर्गत हित हरिवंश (राधावल्लभ संप्रदाय के प्रवर्तक) के परिवार के सदस्यों को स्थान

---

[40] नमहुँ सची पुन मिश्रवर जगन्नाथ सुखकंद।
विश्वरूप रसरुप अरु गौरचंद जिहिँ नंद।।19।।
[41] अति अनन्य गति जाचि हौं विश्वरुप पद धन्य।
अग्रज श्री चैतन्य सुभ नाम संकरारन्य।।20।।
[42] नमहुँ कृष्णचैतन्य प्रभु करि बिनती जु अपार।
अगम निगम दुर्गम प्रगट करुणालय अवतार।।21।।

दिया जाता है। संप्रदाय में नाद–वंश के शिष्यों का विशेष सम्मान है। देखा जाये तो उन्हें हितहरिवंश के समान सम्मानित किया गया है। इसी प्रकार पुष्टिसंप्रदाय में भी वल्लभाचार्य तथा उनके वंशजों को विशेष सम्मान दिया गया है। अतः मध्यकाल में संप्रदाय प्रवर्तक के साथ–साथ उनके परिवार को भी विशिष्ट सम्मान दिया जाता था। इसीलिए वार्ता–साहित्य में संप्रदाय आचार्यों के साथ–साथ उनके पूर्वज तथा वंशजों को विशेष स्थान दिया गया है। इसी दृष्टि का अनुकरण 'भक्तनामावली' में भी दृष्टिगोचर होता है। नाभादास कृत 'भक्तमाल' इस नजरिये से अपवाद है। नाभादास केवल संप्रदाय के आचार्यों तथा अपनी विस्तृत गुरु परंपरा का ही स्मरण करते हैं, ना कि उनके परिवार की प्रशस्तिपूर्ण उपस्थिति दर्ज करते हैं। इन कृतियों के अध्ययन से यह तो स्पष्ट है कि जिन वार्ताकारों पर संप्रदाय का गहन प्रभाव है उन कृतियों में संप्रदायाचार्यों के वंश का भी उल्लेख हुआ है, जबकि इसके विपरीत संप्रदाय–दृष्टि से निरपेक्ष वार्ताओं में इस प्रकार की वंश–परंपरा नहीं दिखाई देती। बहरहाल कहा जाये कि गुरु और उनके परिवार को मध्यकाल में विशेष सम्मान दिया जाता था। इसी दृष्टि का अनुकरण वार्ता–साहित्य के ऐतिहासिक वर्णन में दिखाई देता है।

पिता जगन्नाथ मिश्र तथा भाई संकरारन्य का वर्णन करने के बाद देवकीनन्दन ठाकुर कृष्ण चैतन्य (चैतन्य महाप्रभु) का वर्णन अग्रिम पद में करते है।[43] चैतन्य महाप्रभु बंगाल में कृष्णभक्ति का प्रचार–प्रसार करते हैं। इसीलिए इन्हें वृंदावनदास आगम–निगम के शास्त्रार्थ से इतर भक्ति का सुगम मार्ग प्रस्तुत करने वाला बताते हैं। यही नहीं वह उन्हें करुणालय अवतार भी कहते हैं। संभवतः ऐसा कहने में कोई–न–कोई प्रसंग अवश्य लोक मानस में प्रचलित रहा होगा, जिसका संकेत यहाँ हुआ है। वार्ताओं में भक्त को इस प्रकार के गुणों से युक्त–दिखाने के पीछे लोक में विख्यात कोई प्रसंग ही होते थे। लघुत्तम रूप होने के कारण 'भक्तनामावली' में प्रसंग को कहने का विस्तार नहीं रहता। इसीलिए इस प्रकार की गुणवाचक पंक्तियाँ वार्ताकार उद्धृत करता है। दोहा क्रमांक 22[44] में भी कृष्ण चैतन्य की जीवनसाथी तथा उनके एक शिष्य का उल्लेख हुआ है। इनकी दो पत्नियाँ थी पहली, लक्ष्मी तथा दूसरी, विष्णुप्रिया। लक्ष्मी ने भक्ति–पदों की रचना की थी, वहीं विष्णुप्रिया का उल्लेख भक्ति–गुण गाने के लिए किया गया है। इनके साथ–साथ वृंदावनदास गदाधर पंडित के आगे भी शीश नवाने की बात करते हैं।

चैतन्य–संप्रदाय में नित्यानंद प्रभु का भी विशेष सम्मान है। इनका सम्मानीय स्थान चैतन्य महाप्रभु के समकक्ष ही है। निताई–निमाई (नित्यानंद प्रभु–चैतन्य महाप्रभु) नामों की प्रशस्ति इन्हीं दो संप्रदायाचार्यों को लेकर होती है। बहरहाल भक्तनामावली में चैतन्य–संप्रदाय के भक्तों को प्रमुख रूप से उद्धृत किया गया है।

---

[43] नमहु कृष्णचैतन्य प्रभु करि विनती जु अपार।
अगम निगम दुर्गम प्रगट करुणालय अवतार।।21।।

[44] लछमी पद रज जाचि हों विष्णुप्रिया गुन गाइ।
सुघर गदाधर पंडित हि सीस नाइ भरि भाइ।।22।।

साथ–ही–साथ कृष्णभक्ति के अन्य संप्रदायों को भी इस कृति में स्थान प्राप्त है। दोहा क्रमांक 52 में वल्लभाचार्य का उल्लेख हुआ है, जहाँ उनकी दुर्लभ रीति बताई गई है। (आचारज वल्लभ नमहु दुल्लभ जिनकी रीति।) दरअसल इन सभी भक्तों की भक्ति और उनकी रीतियों का संकेत भर कर पाना ही भक्तनामावली की सीमा है। परन्तु नामों के इतिहास के मद्देनजर इनका प्रयोग अन्य वार्ता–रूपों की पूरक सूची के रूप में किया जा सकता है। या फिर संप्रदाय के ही ग्रन्थों में इन सूचियों की पुष्टि संभव है। यही भक्तनामावली का स्वरूप और उसकी मांग है।

वृंदावनदास अनुदित 'भक्तनामावली' का मूल रूप (देवकीनंछंदास कृत 'वैष्णव वन्दना') बंगाल में लिखी गई है। इसीलिए पूर्वांचल के वैशिष्ट्य का संश्लिष्ट होना भी सहज है। इस कृति की एक प्रवृत्ति का संकेत भी आवश्यक है। किसी भक्त आदि का नामोल्लेख करने से पहले 'पुरी' लगाने की प्रवृत्ति 'भक्तनामावली' में मिलती है। उदाहरण के लिए 'पुरी राघवानन्द', 'पुरी माधवेंद्र', 'पुरी रामचंद', 'पुरी सुपरमानन्द'। जिस प्रकार हम नाम के आगे आदरसूचक 'श्री' लगाते हैं, वैसे ही 'पुरी' उसी आदरसूचक रूप में लिखा गया है। देखा जाये तो कृष्णभक्ति के प्रमुख स्थलों में 'पुरी' एक प्रमुख स्थान है, जो कि भारत में चार धामों में से एक है। पूर्वांचल में जगन्नाथ पुरी का विशेष स्थान है। शायद इसीलिए पुरी शब्द आदरसूचक प्रयोग होता है। बहरहाल यह शोध का विषय है। ध्रुवदास की 'भक्तनामावली' में इस प्रकार का आदरसूचक शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है। इसीलिए इसे बंगाल और पूर्वांचल की विशिष्ट परंपरा के रूप में ही चिन्हित कर सकते हैं।

भक्तनामावली की सीमाएँ उन्हें संक्षिप्त बनाती हैं। लेकिन यही संक्षिप्तता भक्त–वर्णन में सटीकता भी लाती है। उदाहरणार्थ रूप–सनातन का उल्लेख करते हुए वृंदावनदास लिखते हैं –

रूप सनातन वरनि हौं जानि सनातन रूप।

झूमि प्रेम ब्रज–भूमि महि जिनकौ निलय अनूप।।65।।

अर्थात् 'रूप एवं सनातन को वृंदावनदास सनातन (पौराणिक चरित्र) के रूप में देखते हैं। इन्होंने प्रेम में रमते हुए ब्रज–क्षेत्र में निवास किया। भारत में मौजूद इतिहास–पुराण परंपराओं का विकास वार्ता–साहित्य में होता है। इसीलिए वार्ताकार भक्तों की तुलना पौराणिक–चरित्रों से करते हैं। यह पौराणिक–चरित्र वार्ताकार की दृष्टि को भी निर्मित करता है। आदर्श भक्तों की दृष्टि इन्हीं पौराणिक चरित्रों के उदाहरणों से पुष्ट होती है। बहरहाल कृष्णभक्ति परंपरा में ब्रज–क्षेत्र का सम्मान श्रीकृष्ण के वहाँ निवास करने के कारण है। इसीलिए ब्रजभूमि को वृंदावनदास 'निलय अनूप' कहते हैं अर्थात् 'ऐसा घर जो अनूपम है'। दरअसल यही भक्तनामावली की विशेषता है कि वह ज्यादा ना कहकर सटीक कहने का प्रयास करती है। इस सटीकता में ऐतिहासिक

तथ्यों का भी परिचय मिलता है। ऐसा ही एक अन्य पद द्रष्टव्य है। इस दोहे में भट्ट गोपाल का वर्णन किया गया है।

नमहुँ भट्टगोपाल पद अति उमंग भरि रंग।

वृन्दावन मधि नित लसैं रूप सनातन संग।।68।।

इस दोहे में भट्टगोपाल के पदों को अति उमंग से भरे हुए बताया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि भट्ट गोपाल रचनाकार थे। वहीं उन्हें वृंदावन में रूप–सनातन के संग रहने की बात भी कही गई है। अतः इनका समय रूप–सनातन के ही समकालीन ठहरता है।

इसी प्रकार की सटीकता भक्तनामावली का गुण है, परन्तु इस सटीकता में केवल एक या दो तथ्य ही स्थान पा पाते हैं। इसीलिए भक्तनामावली से अतीत के तथ्यों को खोजने की आशा करना गलत होगा। परन्तु इसके माध्यम से ऐतिहासिक चरित्रों के नामों को परिचय अवश्य मिल जाता है। जिसके माध्यम से उनकी खोज मध्यकाल के संप्रदाय ग्रन्थों अथवा कृतियों में किया जा सकता है।

निष्कर्ष : उपर्युक्त विश्लेषण से भक्तनामावली का ऐतिहासिक स्वरूप स्पष्ट होता है। वार्ता–साहित्य में 'भक्तनामावली' लघुत्तम आकार की कृतियों में सम्मिलित है। यही वैशिष्ट्य भक्तनामावली को अन्य वार्ताओं से अलग करता है। वार्ता–रूप 'भक्तनामावली' का लघुत्तम–रूप छंदबद्धता का परिणाम है। दोहा–सोरठा जैसे लघु छंद में रचित होने के कारण इसका रूप भी लघुत्तम श्रेणी में आता है। वैसे तो लघु छंदों की विशेषता उनकी सटीकता है। साहित्यिक–सौष्ठव के रूप में यह छंद कथ्य को गठन के साथ अभिव्यक्ति देते हैं। इसीलिए लघु या वृहत् रूप में भक्तनामावली को प्रस्तुत करना असंगत प्रतीत होता है। भक्तनामावली लघुत्तम–रूप होने के बावजूद भारतीय इतिहास–लेखन के अनुरूप पूर्ण है। यहाँ भक्तनामावली का लघुत्तम–रूप वस्तुनिष्ठ इतिहास–लेखन के मद्देनजर कहा गया है। देखा जाये तो छंद की सीमा अतीत के कथ्य को कम स्थान देती है। परन्तु वह उन चरित्रों को लेकर पुरूषार्थ चतुष्ट्य के भारतीय प्रयोजन को पूर्ण करती है। इस दृष्टि से यह दोहा–सोरठा इतिहास–लेखन के लक्ष्य को प्राप्त करते हैं। परन्तु वस्तुनिष्ठ दृष्टि से यह लघुत्तम आकार की श्रेणी में आते हैं, जिनमें ऐतिहासिक तथ्य की उपस्थिति अल्प होती है। दरअसल यही सीमा भारतीय इतिहास तथा पाश्चात्य इतिहास के बीच भी है। भारतीय इतिहास का लक्ष्य 'आदर्श–स्थापना' होने के कारण कथ्य का लघु आकार भी अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। जबकि पाश्चात्य इतिहास में अतीत का यथावत् चित्रण होने से तथ्यों की आवश्यकता निरंतर बनी रहती है। इसीलिए भक्तनामावली जैसे लघुत्तम–रूप को भी भारतीय इतिहास में स्थान दिया गया है।

नाम के अनुरूप 'भक्तनामावली' मध्यकालीन भक्तों के नामों का स्मरण है। दरअसल यह नाम–श्रृंखला कोई ऐतिहासिक कोश प्रस्तुत करने के उद्देश्य नहीं लिखी गयी है। ना ही इन्हें केवल नाम–कोश कहकर आगे बढ़ा जा सकता है। बल्कि इन भक्त–नामों का जगत में वायवीय प्रभाव है, जिस कारण इन्हें 'भक्तनामावली' में स्थान दिया गया है। यह वायवीय प्रभाव उनकी 'भक्ति' के कारण निर्मित होता है। भक्तनामावली इन नामों से जुड़े इसी वायवीय प्रभाव को दोबारा उपजाति है। 'भक्तनामावली' लोक–मानस में मौजूद उस प्रभाव को चित्रित नहीं करती बल्कि नाम–स्मरण द्वारा झंकृत करती है। इन भक्तों के प्रसंग लोकमानस में संरक्षित रहे हैं, जिन्हें लोक बारम्बार स्मृत करता आया है। भक्तनामावली नामों का स्मरण करवाकर इन्हीं स्मृतियों को लोकमानस में स्मृत करता है। लोक मानस से इतर भक्तनामावली की विशेषता उन्हें प्रतीकात्मक रूप से भक्ति–दर्शन को प्रस्तुत करने में भी है। वार्ताकार भक्त–वर्णन को दर्शन से संवलित कर अभिव्यक्ति देता है। एक ओर लोक इन वर्णनों से भक्ति की ओर उन्मुख होता है तो दूसरी ओर भक्त–प्रसंग भक्ति–दर्शन के व्यावहारिक पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। अतः लोक–स्मृति 'भक्तनामावली' के माध्यम से इन नामों तथा उनसे जुड़े प्रसंगों का पुनःस्मरण करती है। लोक इन चरित्रों को संवेदनात्मक रूप से अनुभूत करता है। समकालीन इतिहास के समान 'लोक' स्मृतियों से तटस्थ संबंध स्थापित नहीं करता, बल्कि वह उन स्मृतियों से जुड़कर उन्हें संरक्षित करता है। मौखिक रूप से दोहराव या स्मरण ही इन ऐतिहासिक भक्तों को संरक्षित करने की प्रक्रिया है।

मध्यकालीन हिन्दी इतिहास–लेखन इतिहास तथा युगीन चेतना का परिणाम है। मध्यकाल में 'भक्ति' ही वह चेतना–भूमि है, जिसपर 'भक्तनामावली' की रचना हुई है। भक्ति को केन्द्र मानकर ऐतिहासिक नामों की रचनात्मक अभिव्यक्ति ही 'भक्तनामावली' का आंतरिक स्वरूप है। लोक इन नामों को स्मरण करने की एक धार्मिक व्यवस्था भी बनाता है। यह व्यवस्था 'सत्संग' के रूप में देखी जा सकती है। मध्यकाल तथा वर्तमान में भी धार्मिक कृत्य के रूप में सत्संग का आयोजन किया जाता है। इन्हीं सत्संगों में भक्तों को स्मरण करने की परंपरा रही है। सत्संग में सम्मिलित लोक पूर्व–पुरूषों का स्मरण एवं मनन करता था, जिससे भक्त–चरित्रों को लोकमानस में संरक्षण प्राप्त होता। वार्ता–रूप 'भक्तनामावली' इसी व्यवस्था की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। लेकिन पूर्व–पुरूष कहते हुए अतीत में असीम तक जाने का उद्देश्य 'भक्तनामावली' में नहीं दिखता। बल्कि भक्तिकालीन युगबोध ही इसकी समयसीमा है। 'भक्ति' युगीन चेतना होने के कारण भक्तनामावली की समयसीमा इसी चेतना द्वारा निर्धारित होती है। इसलिए 'भक्तमाल' में इसकी आरम्भिक सीमा चतुःसंप्रदायाचार्य (रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य तथा वल्लभाचार्य) ठहरते हैं। लेकिन ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' में यह सीमा 'राधावल्लभ संप्रदाय' बनती है। संपदाय का प्रभाव होने से इनमें संप्रदाय के भक्तों का ही अधिक उल्लेख मिलता है।

संप्रदाय को केन्द्र बनाते हुए वार्ताओं की रचना मध्यकाल में सामान्य रूप से दिखती है। ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' राधावल्लभ संप्रदाय को केन्द्र बनाकर कृष्णभक्तों का नामोल्लेख करती है, तो वृंदावनदास अनुदित 'भक्तनामावली' चैतन्य संप्रदाय को केन्द्र बनाती है। दरअसल ध्रुवदास ने संप्रदाय को केन्द्र बनाते हुए अन्य कृष्ण भक्तों का भी उल्लेख किया है। इसीलिए उनका केन्द्र कृष्णभक्त ठहरते हैं। जबकि वृंदावनदास कृत 'भक्तनामावली' में चैतन्य संप्रदाय ही उसका केन्द्र ठहरता है। देखा जाये तो दोनों कृतियों पर रचनाकार के संप्रदाय का प्रभाव रहा है। कथ्य को प्राप्त करने का उनका स्रोत यह संप्रदाय ही ठहरते हैं। ऐतिहासिकता का संरक्षण इन संप्रदायों में लोक–स्मृति से कहीं अधिक होता है। इसीलिए संप्रदाय–केन्द्रीत कृतियों में वस्तुनिष्ठ तथ्य अधिक दिखाई पड़ते हैं। भक्तनामावली के लघुत्तम रूप के कारण यह संभव नहीं हो पाता। लेकिन संप्रदायों की मध्यकालीन हिन्दी इतिहास–लेखन में इस भूमिका को रेखांकित अवश्य किया जा सकता है।

लघुत्तम रूप की सीमा के अनुरूप 'भक्तनामावली' ऐतिहासिक चरित्रों के वर्णन की सटीकता रखती है। ध्रुवदास तथा वृंदावनदास कृष्णभक्ति को केन्द्र में रखते हुए चरित्र–वर्णन करते हैं। ध्रुवदास के साहित्य–कर्म को देखें तो उनके ग्रन्थ हितहरिवंश द्वारा प्रस्तुत दर्शन को व्याख्यायित करते हैं। वह संप्रदाय–मत (राधावल्लभ संप्रदाय) को रचनात्मकता द्वारा प्रचारित करते हैं। ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' भी बयालीस कृतियों में से एक है, जिसके माध्यम से वह राधावल्लभ–भक्तों का वर्णन करते हैं। इन कृतियों के आधार पर स्पष्ट होता है कि वह मूलतः भक्त हैं। वृंदावनदास भी चैतन्य–मत का अनुकरण करने वाले भक्तों का वर्णन करते हैं। ध्रुवदास तथा वृंदावनदास इन चरित्रों से ऐतिहासिक होने के कारण नहीं जुड़ते, बल्कि वह उनकी भक्ति से आत्मसात् होने के कारण जुड़ते हैं। भक्ति के कारण वह इन चरित्रों से एकात्म स्थापित करते हैं। यह एकात्मता ही इन ऐतिहासिक–चरित्रों को लोक में जीवित रखती है और 'भक्तनामावली' में जगह देती है। इसीलिए ध्रुवदास तथा वृंदावनदास 'भक्तनामावली' की रचना भक्ति के उद्देश्य से करते हैं, ना कि इतिहास लिखने के उद्देश्य से। लेकिन इस आधार पर उनमें इतिहास–बोध ना होने की बात नहीं कही जा सकती। उनका इतिहास–बोध भक्ति के साथ संश्लिष्ट होता है। जबकि समकालीन इतिहास–चिंतन स्वतंत्र इतिहास–दृष्टि की मांग करता है। वह इतिहास के सजग–लेखन पर जोर देता है। जबकि 'भक्तनामावली' अप्रत्यक्ष इतिहास–लेखन है। ध्रुवदास तथा वृंदावनदास 'भक्ति' के निमित्त 'भक्तनामावली' की रचना करते हैं। इसीलिए 'भक्तनामावली' को अप्रत्यक्ष इतिहास–लेखन कहना संगत है।

उपसंहार

''भारतीय इतिहास–लेखन परंपरा तथा मध्यकालीन हिन्दी वार्ता–साहित्य'' का उद्देश्य वार्ता–साहित्य में मौजूद इतिहास के स्वरूप को समझना है। वार्ता–साहित्य का ऐतिहासिक स्वरूप भारतीय इतिहास–चिंतन का विकास है। जबकि वर्तमान इतिहासकारों की दृष्टि भारत में इतिहास–लेखन को अस्वीकार करती है, परन्तु वह भारत में इतिहास–चेतना को स्वीकारती आयी है। दरअसल आधुनिक इतिहास–चिंतन पाश्चात्य जगत् की देन है। कहा जाये तो पश्चिमी जगत् की राजनीतिक, सामाजिक, भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थिति में इतिहास अवधारणा का विकास होता है। अतः अकादमिक जगत् जिन कसौटियों पर इतिहास–चिंतन का विकास करता है, वह समय की एक लम्बी अवधि का परिणाम है। जबकि भारत की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, भोगौलिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक परिस्थितियाँ पश्चिम से भिन्न रही हैं। यह परिस्थितियाँ पाश्चात्य तथा भारत की जीवनदृष्टि को भिन्न रूप में विकसित करती हैं। यही जीवनदृष्टि इतिहास के स्वरूप को भी प्रभावित करती है। पश्चिम की दृष्टि भौतिकतावादी है, जबकि भारतीय दृष्टि अध्यात्म को महत्व देती है। इसी का प्रभाव है कि पाश्चात्य इतिहास की वस्तुवादी दृष्टि अतीत का क्षणबद्ध वर्णन करती है, जबकि भारतीय इतिहास की आध्यात्मिक–दृष्टि अतीत का शाश्वतमयी लेखन करती है। इसे ही क्रमशः स्थूल इतिहास तथा सूक्ष्म इतिहास भी कहा जा सकता है। अतीत के स्थूल लेखन के आधार पर इतिहासकार लेखन–कला का तात्विक विश्लेषण करते हैं। सूक्ष्म इतिहास में अतीत की लेखन–कला के तत्वों का निर्धारण असंभव है, जबकि इतिहास की सूक्ष्मता का तात्विक विवेचन संभव। सूक्ष्म इतिहास का लक्ष्य आध्यात्म होने के कारण उसका जोर कथ्य पर रहता है। यही कारण है कि भारतीय इतिहास क्षण विशेष में आबद्ध होने के विपरीत शाश्वत होता है। यह भी स्पष्ट होना आवश्यक है कि आध्यात्मिक विकास से अभिप्राय मनोवैज्ञानिक विकास नहीं है, बल्कि यहाँ 'अध्यात्म' दार्शनिक शब्दावली है।

इतिहास में अतीत की ओर जाने की दिशा भी भारत तथा पश्चिम में भिन्न रही है। 'इतिहास' (आधुनिक इतिहास–चिंतन) का लक्ष्य अतीत की कमियों से सीखते हुए वर्तमान तथा भविष्य को उज्ज्वल करना है। इसीलिए वह अतीत का यथावत् चित्रण करता है। वर्तमान इतिहास–चिंतन के अनुरूप भारतीय इतिहास भी अतीत की ओर वर्तमान एवं भविष्य को उज्ज्वल करने के उद्देश्य से ही जाता है। परन्तु भारतीय इतिहास में भूत, वर्तमान और भविष्य दर्शन के अनुसार व्याख्यायित होते हैं। भारतीय दर्शन 'ब्रह्म' को नित्य मानते हुए 'जीव' को ब्रह्मांश मानता है। वह जीव की मुक्ति ब्रह्म में लीन होने को स्वीकार करता है। ब्रह्मालीन होने की इस प्रक्रिया को भारतीय–दर्शन कई जन्मों का परिणाम मानता है। अतः वह प्रत्येक जन्म के कर्मों को अगले जन्म से जोड़कर देखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य (जीव) के वर्तमान जन्म में घटित स्थितियाँ

पूर्व जन्म का परिणाम है तथा उसके वर्तमान कर्म अगले जन्म को प्रभावित करेंगे। अतः इस दृष्टि से मनुष्य वर्तमान जीवन में व्यतीत हो चुकी घटनाओं एवं स्थितियों पर गौर नहीं करता। (जैसाकि पाश्चात्य इतिहास की दृष्टि है, जोकि यह स्वीकारती है कि मनुष्य का केवल एक ही जन्म होता है। इसीलिए मनुष्य अपने अतीत की कमियों से सीखता है।) बल्कि उसका ध्यान अपने वर्तमान कर्मों को अच्छा करने की ओर रहता है। इसीलिए वह अपने वर्तमान कर्मों पर ध्यान देता है। भारतीय दर्शन अतीत तथा भविष्य की व्याख्या इसी रूप में करता है। इसीलिए भारतीय चिंतकों का विश्वास पुनर्जन्म पर स्थिर होता है। इसी दृष्टि के आलोक में भारतीय इतिहास व्याख्येय होता है। 'भारतीय इतिहास' अतीत में अनुकरणीय आदर्शों की खोज और सृजन करता है। वार्ताकार भी अतीत तथा समकालीन भक्त–चरित्रों के माध्यम से आदर्श की स्थापना करता है। वार्ताकार आदर्श का निर्माण नहीं करता (अर्थात् वह आदर्श कल्पना द्वारा निर्मित नहीं है।), बल्कि उसका संधान करता है (वह अतीत से चरित्रों को चुनता और उन्हें आदर्श की स्थिति तक ले जाता है)। इस संधान में वार्ताकार तथा लोक दोनों अहम भूमिका अदा करते हैं। परन्तु यह स्मरण रखना भी आवश्यक है कि यह आदर्श किसी घटना अथवा स्थिति की सापेक्षता नहीं रखते। बल्कि यह काल तथा स्थान से स्वतंत्र हैं। इनका लक्ष्य 'जीव मुक्ति' है। इसीलिए भी वार्ता–साहित्य का स्वरूप शाश्वत होता है।

'वार्ता–साहित्य' में भी उपर्युक्त चिंतन दृष्टि का क्रमिक विकास होता है। इसीलिए मध्यकालीन हिन्दी वार्ता–साहित्य का स्वरूप भी शाश्वतता को प्राप्त करता है। समकालीन इतिहास–चिंतन तथा भारतीय इतिहास–चिंतन का दृष्टि–भेद ही वार्ता–साहित्य की समस्या बनता है। इसीलिए भारतीय इतिहास का स्वरूपगत अध्ययन वार्ता–साहित्य का स्वरूपगत स्पष्टीकरण भी है। दरअसल वार्ता–साहित्य इतिहास–पुराण परंपरा का क्रमिक विकास है। इसीलिए इतिहास–पुराण का स्वरूप ही वार्ता–साहित्य को रूपाकार देता है। यही वह शास्त्रीय संबंध है जो भारतीय चिंतन–दृष्टि का विकास वार्ता–साहित्य में करता है। परन्तु यह स्मरण रखना आवश्यक भी है कि वार्ता–साहित्य मध्यकाल की विशिष्ट परिस्थितयों में विकसित होता है। उसकी आंतरिक चेतना भले ही भारतीय इतिहास का अनुकरण करती है, परन्तु उसका बाह्य कलेवर मध्यकालीन परिस्थितियों का परिणाम है। मूलतः वार्ता–साहित्य मध्यकाल में उपस्थित भक्त, संत एवं कवियों का परिचयात्मक विवरण है। यह परिचयात्मक विवरण 'भक्ति' को केन्द्र में रखता है। इसीलिए वार्ताओं में उपस्थित चरित्र कोई राजा–महाराजा या शासकीय अधिकारी ना होकर 'भक्त' हैं। यही नहीं इन वार्ताओं का लेखक या वार्ताकार भी 'भक्त' ही हैं। आधुनिक शब्दावली में कहे तो वह कोई 'इतिहासकार' नहीं। महाभारत में मौजूद इतिहास की परिभाषा भी 'आर्ष आदि' (ऋषि–मुनि) को इतिहास–लेखक के रूप में निर्दिष्ट करती है। दरअसल ऋषि–मुनि या शास्त्र ज्ञाता ही इतिहास–लेखक भी है। इसीलिए अतीत–लेखक का मुख्य कर्म शास्त्रीय–कर्म ही है। इसीलिए वार्ताकार आधुनिक शब्दावली के समान 'इतिहासकार' नहीं है, बल्कि वह साधक है। भारतीय ज्ञान परंपरा में वह ज्ञान का द्रष्टा है। अतः दार्शनिक ज्ञान का निरूपण ही भारतीय इतिहास का लक्ष्य है।

इतिहास–पुराण जिस प्रकार वेद–दर्शन की व्याख्या है। उसी प्रकार वार्ता–साहित्य भी 'भक्ति–दर्शन' की स्थापना है। अतीत को चित्रित करते हुए इतिहास उसकी मूल समस्या को भी रेखांकित करता है। जबकि वार्ता–साहित्य की मूल समस्या दार्शनिक है और वह है 'जीव मुक्ति'। अर्थात् 'जीव' की मुक्ति कैसे संभव है? इसी उत्तर की खोज इतिहास–पुराण का भी लक्ष्य है। वार्ता–साहित्य भी इसी समस्या का समाधान 'भक्ति' में देखता है। अतः भारतीय इतिहास दार्शनिक समस्या का समाधान अतीत के निरूपण के साथ करता है। दार्शनिक सूक्ष्मता भी सूक्ष्म वार्ता–साहित्य की पृष्ठभूमि बनती है। इसीलिए वार्ताओं में ऐतिहासिक चरित्र–वर्णन के साथ–साथ दार्शनिक सूक्ष्मता संश्लिष्ट होती है।

'दार्शनिक समस्या' भारतीय इतिहास का कारण भी है। देखा जाये तो इस समस्या का समाधान ही इतिहास का प्रयोजन भी है। दरअसल इतिहास का प्रयोजन लोकमंगल है। इस धूरि पर भी पाश्चात्य तथा भारतीय इतिहास विपरीत दिखाई देते हैं। पाश्चात्य इतिहास मनुष्य की स्थितियों एवं घटनाओं को केन्द्र में रखते हुए स्थूल कर्मों को महत्व देता है। पाश्चात्य चिंतकों की भौतिकतावादी दृष्टि दृश्य जगत् को ही सत्य मानती है। इसीलिए इतिहास का लक्ष्य जीवन में आये परिवर्तन को लक्षित करना हो जाता है। इतिहास उन वृहत् प्रभावों को खोजता है, जिसने मानवीय सभ्यता को गहराई से प्रभावित किया है। इसीलिए वह सभ्यता के व्यवस्थापक स्तम्भों (राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक आदि) के आधार पर उस परिवर्तन को रेखांकित करता है। सभ्यता को केन्द्र में रखते हुए वह व्यवस्थागत परिवर्तन के आधार पर लोकमंगल को खोजता है। वह अतीत का क्रमबद्ध तथा इतिवृत्तात्मक वर्णन करता है। व्यवस्था में आये आंशिक बदलावों को भी वह इतिहास में स्थान देता है। अतः सभ्यतामूलक दृष्टि इतिहास के माध्यम से व्यवस्थागत समाधान प्रस्तुत करती है। यही पाश्चात्य इतिहास का लक्ष्य भी है। जबकि भारतीय इतिहास का संकट 'जीव–मुक्ति' का संकट है। वह जीव के इन्द्रिय सुखों से ऊपर आध्यात्मिक उत्थान को लक्ष्य करता है। इसीलिए इतिहास का प्रयोजन 'पुरूषार्थ–चतुष्ट्य' (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की स्थापना में स्वीकार किया गया है। देखा जाये तो यह दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली है। लेकिन इसकी व्याख्या मनुष्य के ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियों के साथ भौतिक जगत् का भी समाधान प्रस्तुत करती है। इसीलिए अतीत के दार्शनिक–निरूपण के साथ–साथ मानवीय व्यवहार के आदर्श व्यवस्था की खोज भी इतिहास में दिखाई देती है। अतः भारतीय इतिहास अतीत के माध्यम से पुरूषार्थ–चतुष्ट्य की स्थापना पर जोर देता है। यही भारतीय इतिहास का लोकमंगल है। वार्ता–साहित्य भी भक्त–चरित्रों के माध्यम से भक्ति–दर्शन की स्थापना करता है। परन्तु भक्ति के दार्शनिक पक्ष के साथ–साथ वह आचार–पक्ष को भी प्रस्तुत करता है। इसीलिए वार्ताओं में दर्शन के सरलीकृत वर्णन के साथ–साथ भक्त–भक्त–संबंध, मनुष्य–मनुष्य–संबंध, भक्त–भगवंत–संबंध आदि में होने वाले व्यवहार का आदर्श भी निरूपित किया गया है। दरअसल भक्ति के मार्ग को प्रशस्त करना ही वार्ता–साहित्य की दृष्टि में लोकमंगल है। भगवद्–प्राप्ति अर्थात् ब्रह्मालीन होने की मुक्ति–दशा 'भक्ति' द्वारा संभव है। इसीलिए मध्यकालीन हिन्दी

वार्ता–साहित्य का लोकमंगल भगवद्–भक्ति में लीन होने में ही है। इसीलिए ऐतिहासिक व्यक्तियों का भक्ति–चरित्र ही वार्ता–साहित्य का कथ्य बनता है।

वार्ता–साहित्य मूलतः मध्यकालीन ऐतिहासिक भक्तों का परिचयात्मक वर्णन है। यह वर्णन साहित्य–शैली में सृजित हैं। वार्ताकार पद्य तथा गद्य में भक्तों का ऐतिहासिक चित्रण करता है, लेकिन इनमें पद्यात्मक रचनाएँ ही अधिक लिखी गई हैं। इन रचनाओं को छंदबद्धता के साथ प्रस्तुत किया गया है। दरअसल चरित्रों के वर्णन की पृष्ठभूमि इतिहास–पुराण परंपरा से जुड़ती है। इतिहास–पुराण के पंचलक्षणों में वंशावली तथा वंशानुचरित भी आते हैं। वार्ता–साहित्य की कड़ी इन्हीं दो लक्षणों से जुड़ती है। इन लक्षणों का यथावत् विकास वार्ता–साहित्य में नहीं होता, बल्कि यह वार्ताएँ मध्यकालीन परिस्थितियों की धरोहर हैं। इसीलिए भारतीय इतिहास परंपरा में होते हुए भी वह विशिष्ट हैं। कहा जाये तो वार्ता–साहित्य मध्यकालीन परिस्थितियों में सृजित युग–विशिष्ट साहित्य है, जिसका विकास भारतीय इतिहास–चेतना की भूमि पर होता है। भारतीय इतिहास–चेतना तथा वर्तमान इतिहास–चिंतन से संबंधित द्वंद्व वार्ता–साहित्य के भी अंग बनते हैं, जिनका निदान भारतीय इतिहास–चेतना को समझते हुए हो जाता है। परन्तु इसके बावजूद इन वार्ताओं की इतिहास–लेखन की समस्या स्वरूपगत भी है।

वार्ता–साहित्य की समस्या उसके ऐतिहासिक कथ्य तथा साहित्यिक प्रस्तुति के बीच पनपे द्वंद्व से भी खड़ी होती है। हिन्दी साहित्येतिहास के अंतर्गत वार्ताओं को साहित्य–कोटि में स्थान दिया गया है। इसका प्रमुख कारण लेखनकला के आधार पर विषय–विभाजन की आधुनिक दृष्टि का होना है। आधुनिक चिंतन ने ज्ञान के विविध विषयों का विशद विवेचन किया है। यह चिंतन विषय–विशेष की अवधारणा को स्थिर करते हुए उसके लेखन–तत्वों को भी स्थिर करती है। इसी आधार पर इतिहास और साहित्य के बीच लेखन के भूमि पर भी तात्विक भेद निर्धारित किया गया है। अतः यह दृष्टि वार्ताओं को साहित्य–कोटि का ग्रन्थ तो स्वीकार करती है, लेकिन इतिहास–कोटि में उसे स्थान नहीं देती। दरअसल वार्ता–साहित्य इतिहास एवं साहित्य की संश्लिष्टता का परिणाम है। भारतीय इतिहास–चेतना तथा साहित्यिक प्रवृत्तियाँ वार्ता–साहित्य के स्वरूप को निर्मित करती हैं। यह संश्लिष्टता इतिहास और साहित्य के विरोधाभासी चरित्र में साम्यता स्थापित नहीं करती, जैसाकि आधुनिक चिंतन इन्हें विरोधाभासी स्वीकारता आया है। बल्कि साहित्य और इतिहास की संश्लिष्टता भारतीय इतिहास का गुण है। इसका कारण भारतीय ज्ञान का मौखिक परंपरा पर अवलंबित होना है। वेद का निर्माण भी श्रुत परंपरा में होता है। इसी श्रुत परंपरा पर संस्कृत शास्त्रों का निर्माण भी हुआ है। अतः आधुनिककाल में मौखिक तथा लिखित के बीच जो भेदक दृष्टि पनपती है, वह भी वार्ता–साहित्य के ऐतिहासिक–स्वरूप को समझने में बाधक सिद्ध होती है। सामान्य दृष्टि लिखित का संबंध शास्त्र से तथा मौखिक को लोक–साहित्य से जोड़ती आयी है, जो कि मध्यकाल की मूल चेतना से दूर ठहरती है। देखा

जाये तो वार्ता–साहित्य शास्त्रीय परंपरा में ही आती है, क्योंकि वह शास्त्रीय चिंतन का ही अनुकरण करती है। इसीलिए संस्कृत साहित्य की सापेक्षता तथा समकालीनता में लोक–साहित्य पनपता है। कहने का अभिप्राय यह है कि मध्यकाल में संस्कृत साहित्य भी प्रचुर मात्रा में लिखा गया है, जिनमें युग–चेतना स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। अतः मध्यकालीन हिन्दी साहित्य को लोक–साहित्य की श्रेणी में स्थान देते हुए शास्त्र परंपरा से अलग खड़ा करना संगत नहीं। हिन्दी साहित्येतिहास भी मध्यकालीन साहित्य को लोक–परंपरा में स्थान देते हुए उसे शास्त्रीय परंपरा का विरोधाभासी स्वीकारती आयी है। जबकि लोकभाषाओं में होते हुए भी वह परिनिष्ठित साहित्य है। वह ना तो आमजन की अपरिनिष्ठित बोली है और ना ही शास्त्रीय संस्कृत भाषा, बल्कि वह तो परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा है। अतः लोक और शास्त्र को मौखिक और लिखित के आधार पर विभाजित करने वाली आधुनिक दृष्टि से अलग मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर विचार किये जाने की आवश्यकता है।

भारत में लोक–साहित्य और शास्त्र दोनों की निर्माण–प्रक्रिया 'मौखिकता' पर आश्रित रही है। वार्ता–साहित्य का उपजीव्य भी यही मौखिकता है। दरअसल 'लोक' मध्यकालीन हिन्दी वार्ता–साहित्य की केन्द्रीय धूरी है। वार्ताओं की दृष्टि, कथ्य, लक्ष्य आदि सभी कुछ 'लोक' ही है। दरअसल ऐसा कहने के पीछे वार्ताओं का मूल स्वरूप ही है। वार्ताकार मूलतः इतिहासकार नहीं है, वह भक्त है। इसीलिए वह ऐतिहासिक तथ्यों की खोज की ओर प्रवृत्त नहीं होता, बल्कि लोक द्वारा प्रस्तुत ऐतिहासिक चरित्र ही उसका विषय बनते हैं। कई बार वार्ताकार को ऐतिहासिक चरित्र की प्राप्ति संप्रदाय के अंदर से भी होती है, या कहा जाये तो अधिकतर वार्ताओं में ऐतिहासिक कथ्य का स्रोत संप्रदाय ही ठहरता है। नाभादास कृत 'भक्तमाल' में लोक वह स्रोत है तो शेष सभी आधारग्रन्थों में संप्रदाय की भूमिका अहम रही है। यहाँ तक कि पुष्टिमार्गीय वार्ताओं की भूमि ही पुष्टि–संप्रदाय के भक्तों का वर्णन करने की रही है। अतः लोक या संप्रदाय में प्रशस्ति प्राप्त भक्त ही वार्ताओं में अभिव्यक्ति पाते हैं। इन प्रशस्ति प्राप्त भक्तों को लेकर एक सामूहिक दृष्टि ही वार्ताओं में दृष्टिगत होती है। अर्थात् वार्ताकार इनके संबंध में प्रचलित लोक–दृष्टि या संप्रदाय–दृष्टि को ही प्रचलित प्रसंगों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। इस तरह वार्ताकार की रचनात्मक भूमिका निष्क्रिय प्रतीत होती है, जबकि ऐसा नहीं है। वार्ताकार लोक में विख्यात ऐतिहासिक चरित्रों को चुनता है और उन्हें आदर्श की भूमि पर स्थापित करता है। वह चरित्र–चित्रण के माध्यम से 'भक्ति–दर्शन' को भी प्रस्तुत करता है। भक्ति–दर्शन के साथ–साथ वार्ताकार आचार–पक्ष को भी दृष्टिगत रखता है। अतः इन चरित्रों की मूल चेतना वार्ताकार की दृष्टि से बहुलतः स्थिर होती है। लोक–दृष्टि और वार्ताकार की दृष्टि का सामंजस्य इन वार्ताओं को निर्मित करता है। अतः वार्ता–साहित्य लोक–चरित्रों को लोक–दृष्टि से प्रस्तुत करते हुए भक्ति को प्रचारित करता है। इसीलिए वार्ता–साहित्य को जनचेतना का इतिहास कहा जाये तो गलत नहीं होगा।

वार्ता–साहित्य का स्वरूप शाश्वतता को प्राप्त करता है। परन्तु इसके बावजूद इनमें वस्तुनिष्ठ तथ्यों की उपस्थिति सहज ही दिखाई देती है। इन तथ्यों की उपस्थिति उनकी रूपगत सीमा से भी प्रभावित होती है। उदाहरण के लिए वार्ता–रूप 'भक्तनामावली' दोहा–सोरठा में लिखित होने के कारण लघुत्तम आकार की कृति है। वही वार्ता–रूप 'भक्तमाल' छप्पय छंद में होने के कारण लघु आकार की रचना है। तो पुष्टिमार्गीय वार्ताएँ गद्यात्मक होने के कारण वृहत् आकार का ग्रन्थ हैं। अतः इनकी यह सीमाएँ तथ्यों की उपस्थिति को भी प्रभावित करती है। भक्तनामावली में जहाँ भक्त–नाम ही वस्तुनिष्ठ सूचना के रूप में दिखाई देती है, वही भक्तमाल में उनके स्थान, प्रसंग, भक्ति–रीति का संकेत मिलता है। पुष्टिमार्गीय वार्ताओं में ऐतिहासिक तथ्यों के साथ इतिहास–लेखन की स्थाई प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। बहरहाल ऐतिहासिक तथ्यों के साथ उपस्थित होते हुए भी वार्ता–साहित्य अपने प्रयोजन (भक्ति–दर्शन की स्थापना) को पूर्ण करता है। यदि वस्तुनिष्ठ तथ्यों की बात करें तो इन भक्तों की विशिष्ट भक्ति–रीति का परिचय वार्ताओं की प्रमुख विशेषता भी है, जो कि तत्कालीन प्रगतिशील दृष्टि को भी निर्मित करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि भक्ति की भावमयी धारा रूढ़िग्रस्त सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था की सापेक्षता में एक विकल्प के साथ उपस्थित होती है। दरअसल यह विकल्प ही प्रगतिशीलता है, जिसे भक्ति के माध्यम से आधुनिक विद्वान रेखांकित भी करते हैं। अतः यह प्रगतिशीलता किस प्रकार भक्तों की रीतियों का अंग बनती है। इसे भी वार्ता–साहित्य के विश्लेषण द्वारा देखा जा सकता है।

लोक की मौखिक परंपरा में विख्यात भक्त–चरित्र साहित्य के अधिक निकट पड़ते हैं, जबकि उनका अस्तित्व उन्हें ऐतिहासिकता प्रदान करता है। इसका एक कारण मध्यकाल में प्रचलित धार्मिक व्यवस्था का अंग होना भी है। दरअसल यह वार्ताएँ लोक में प्रचलित सत्संग व्यवस्था को आत्मसात् करते हैं। लोक में भक्तमाल–कथा का आयोजन इसी व्यवस्था को प्रदर्शित करता है। यह धार्मिक व्यवस्था भक्ति–आन्दोलन के व्यापक प्रवाह को निर्मित करने में अहम भूमिका अदा करती है। यही नहीं इस व्यवस्था के साथ–साथ मध्यकाल की सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्थिति का भी परिचय इन वार्ताओं में मिलता है। बहरहाल इसी कड़ी के कारण वार्ता–साहित्य लोक में स्थायित्व प्राप्त करते हैं। इन वार्ताओं की साहित्यिकता भी लोक–जुड़ाव में सहायक होती है। छंदबद्धता वार्ताओं को लोक से जोड़ने में सहायक होती हैं। छंदों की उपस्थिति लयात्मकता को निर्मित करती है। यह लयात्मकता इन वर्णनों को लोक में गेयता प्रदान करती है। दरअसल भारतीय ज्ञान–परंपरा का संरक्षण इसी गेय–परंपरा में होता है। छंद–व्यवस्था को अपनाने का कारण भी यही रहा है। अतः इतिहास के साथ साहित्य की संश्लिष्टता इसी रूप में पूरक होती है। यही नहीं साहित्य भी कालजयी होने के उद्देश्य से सृजित होता है। इसीलिए साहित्य जैसे शाश्वत माध्यम के साथ इतिहास की शाश्वतता निर्मित होती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

आधार ग्रन्थ सूची

1. नाभादास, भक्तमाल, (सं.) राधेश्याम खेमका, गीताप्रेस गोरखपुर
2. ध्रुवदास, भक्तनामावली, बयालीस लीला, हित साहित्य प्रकाशन, वृंदावन
3. गोकुलनाथ, चौरासी वैष्णव की वार्ता, संपादक – कमलाशंकर त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, संस्करण 2008
4. गोकुलनाथ, दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता, (सं.) कमलाशंकर त्रिपाठी, खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन, बम्बई, संस्करण 2018
5. देवकीनन्छंदास ठाकुर, भक्तनामावली, अनुवादक – वृंदावनदास, बाबा कृष्णदास, मथुरा, संस्करण संवत् 2006
6. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, उत्तरार्द्ध भक्तमाल, कल्याण भक्ता–चरितांक, गीताप्रेस, गोरखपुर, संस्करण – संवत् 2073

सहायक ग्रन्थ सूची

1. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला छात्र संस्करण 2012
2. अवस्थी, देवीशंकर, आलोचना और आलोचना, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1975
3. अवस्थी, देवीशंकर, भक्ति का संदर्भ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2005
4. अवस्थी, देवीशंकर, भक्तिकाव्य का उत्तरार्ध, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2015
5. अज्ञेय, संकलन – कृष्णदत्त पालीवाल, प्रतिनिधि संकलन, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास भारत, पहला संस्करण 2011
6. उपाध्याय, कृष्णदेव, लोक संस्कृति की रूपरेखा, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, संस्करण 2014
7. उपाध्याय, बलदेव, पुराण–विमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण 2015
8. उपाध्याय, बलदेव, भागवत संप्रदाय, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण संवत् 2010

9. काणे, पी.वी., संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, अनुवादक इंद्रचंद्र शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1966
10. कार, ई.एच., इतिहास क्या है, दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम हिंदी संस्करण 1976
11. कोसंबी, दामोदर धर्मानंद, भारतीय इतिहास के अध्ययन की भूमिका, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, प्रथम हिंदी संस्करण 2017
12. कोसंबी, दामोदर धर्मानंद, मिथक और यथार्थ, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, दूसरा हिंदी संस्करण 2001
13. खन्ना, मीनाक्षी, मध्यकालीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, हैदराबाद, प्रथम संस्करण 2012
14. गणेशन, एस.एन., अनुसंधान प्रविधि सिद्धांत और प्रक्रिया, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, संस्करण 2009
15. गुप्त, दीनदयालु, अष्टदाप और वल्लभ–संप्रदाय (भाग–1), हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीय संस्करण 1970
16. गुप्त, दीनदयालु, अष्टदाप और वल्लभ–संप्रदाय (भाग–2), हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीय संस्करण 1970
17. गोयल, उषा, चैतन्य–संप्रदाय का ब्रजभाषा–काव्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1990
18. गोस्वामी, ललिताचरण, श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, वेणु प्रकाशन, वृंदावन, संस्करण संवत् 2014
19. चतुर्वेदी, पण्डित गिरिधर शर्मा, पुराण–परिशीलन, बिहार–राष्ट्रभाषा–परिषद्, पटना, द्वितीय संस्करण 1998
20. चतुर्वेदी, परशुराम, उत्तरी भारत की संत परंपरा, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, संस्करण 2019
21. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, काव्य भाषा पर तीन निबंध, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, चतुर्थ संस्करण 2008
22. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, मध्यकालीन हिंदी काव्यभाषा, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, संस्करण 2010
23. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिंदी काव्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, संस्करण 2012
24. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिंदी गद्य विन्यास और विकास, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, तृतीय संस्करण 2006
25. चन्द्र, सतीश, मध्यकालीन भारत : राजनीति, समाज और संस्कृति, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009

26. झारी, कृष्णदेव, हितहरिवंश गोस्वामी, चिल्ड्रन बुक सोसाइटी, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1972
27. टण्डन, हरिहरनाथ, वार्ता–साहित्य : एक वृहत् अध्ययन, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, संस्करण 1960
28. टैगोर, रवीन्द्रनाथ, अनुवादक – सौमित्र मोहन, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, पहला संस्करण 2003
29. डॉ. नगेन्द्र, भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण 1989
30. तिवारी, नित्यानंद, साहित्य का शास्त्र, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2013
31. तुंग, माओत्से, (सं.) शिवकुमार मिश्र, कला साहित्य और संस्कृति, पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, संस्करण 1983
32. त्रिपाठी, राममूर्ति, काव्य तत्व विमर्श, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008
33. त्रिपाठी, विश्वनाथ, हिंदी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला छात्र संस्करण 1992
34. त्रिपाठी, विश्वनाथ, हिंदी साहित्य का सरल इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010
35. थापर, रोमिला, इतिहास, काल और आदिकालीन भारत, ऑक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, द्वितीय हिंदी संस्करण 2018
36. दत्त, गीता (सं.), इतिहास लेखन चुनौतियाँ एवं नये प्रतिमान, ज्ञानभारती पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010
37. दत्त, गोपाल, स्वामी हरिदास का संप्रदाय और उसका वाणी साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण 1977
38. दीक्षित, त्रिलोकी नारायण, परिचयी साहित्य, विश्वविद्यालय हिंदी प्रकाशन, लखनऊ विश्वविद्यालय
39. दीक्षित, प्रकाशनारायण, नाभादास कृत भक्तमाल : एक अध्ययन, साहित्य भवन, इलाहाबाद, संस्करण 1961
40. दुबे, लालता प्रसाद, हिंदी भक्त–वार्ता साहित्य, साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1968
41. दुबे, श्यामसुन्दर, लोक परंपरा, पहचान एवं प्रवाह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण 2003
42. द्विवेदी, कपिलदेव, भाषा–विज्ञान एवं भाषा–शास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, षोडशः संस्करण 2019
43. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, कबीर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, उन्नीसवीं आवृत्ति 2014
44. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, मध्यकालीन बोध का स्वरूप, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2015

45. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिंदी साहित्य उद्‌भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, छठा राजकमल संस्करण 1990
46. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिंदी साहित्य का आदिकाल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2012
47. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2016
48. नरसिंहाचारी, एस.टी., सौन्दर्य तत्व निरुपण, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1977
49. नारायण, बद्री, लोक संस्कृति और इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, पहला संशोधित संस्करण 2010
50. पचौरी, सुधीश, उत्तर–आधुनिक साहित्यिक विमर्श, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1996
51. पचौरी, सुधीश, उत्तर–यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2004
52. पचौरी, सुधीश, रीतिकाल सेक्सुअलिटी का समारोह, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017
53. पाठक, विश्वंभर शरण, भारत के प्राचीन इतिहासकार, अनुवादक – प्रदीप कांत चौधरी, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, प्रथम हिंदी संस्करण 2007
54. पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण 1990
55. पाण्डेय, मैनेजर, भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण 2003
56. पाण्डेय, मैनेजर, शब्द और कर्म, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, परिवर्द्धित संस्करण 1997
57. पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य और इतिहास दृष्टि, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2013
58. पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि, आधार प्रकाशन, पंचकूला, द्वितीय संस्करण 2018
59. पाण्डेय, राजकिशोर, हिंदी साहित्य का उत्तर मध्ययुग, हिंदी साहित्य भंडार, लखनऊ, संस्करण 1971
60. फॉक्स, रैल्फ, उपन्यास और लोक जीवन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, चौथा संस्करण 2008
61. बाशम, ए.एल., अद्‌भुत भारत, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, नवीनतम संस्करण
62. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिंदी समिति, उत्तर प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968
63. भ्रमर, रवीन्द्र, हिंदी भक्ति–साहित्य में लोक–तत्व, भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1965
64. मजुमदार, रमेशचन्द्र, रायचौधरी, हेमचन्द्र, दत्त, कालिकिंकर, भारत का वृहत् इतिहास (भाग–2), मैकमिलन पब्लिशर्स, गुरुग्राम, तृतीय संस्करण 1970
65. मजुमदार, रमेशचन्द्र, रायचौधरी, हेमचन्द्र, दत्त, कालिकिंकर, भारत का वृहत् इतिहास (भाग–1), मैकमिलन पब्लिशर्स, गुरुग्राम, संस्करण 1970
66. माचवे, प्रभाकर, कबीर (मोनोग्राफ), साहित्य अकादेमी, प्रथम संस्करण 1984

67. मारविक, आर्थर, इतिहास का स्वरूप, अनुवादक – लालबहादुर शर्मा, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, प्रथम हिंदी संस्करण 2003
68. मारू, पुखराज, हिंदी साहित्य का इतिहास : पुनर्लेखन की आवश्यकता, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण 2013
69. मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद, हिंदी साहित्य का अतीत (भाग – 1), वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2006
70. मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद, हिंदी साहित्य का अतीत (भाग – 2), वाणी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2008
71. मिश्र, विद्यानिवास, इतिहास, परंपरा और आधुनिकता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015
72. मिश्र, विद्यानिवास, हिन्दू धर्म, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, संस्करण 2016
73. मिश्र, विद्यानिवास, लोक और शास्त्र अन्वय और समन्वय, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015
74. मिश्र, शिवकुमार, भक्ति–आन्दोलन और भक्ति–काव्य, लाकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, प्रथम लोकभारती संस्करण 2010
75. मिश्र, शिवकुमार, भक्तिकाव्य और लोकजीवन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2013
76. मिश्र, शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009
77. मिश्रबंधु, मिश्रबंधु विनोद (भाग–1 एवं 2), दुलारेलाल भार्गव, लखनऊ, नवीन संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण 1971
78. मुक्तिबोध, गजानन माधव, भारत इतिहास ओर संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण 2009
79. मेघ, रमेश कुंतल, मिथक से आधुनिकता तक, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2008
80. मेघ, रमेश कुंतल, मिथक और स्वप्न, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2007
81. मेनारिया, मोतीलाल, राजस्थान का पिंगल साहित्य, हिंदी ग्रन्थ रत्नाकर प्राइवेट लिमिटेड, द्वितीय संशोधित संस्करण 1958
82. मोहम्मद, मलिक, वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, संस्करण 1971
83. रंजन, भारतेन्दु युगीन काव्य में भक्तिधारा, रचना प्रकाशन, प्रयागराज, प्रथम संस्करण 1975
84. राकेश, विष्णुदत्त, उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास, साहित्य भवन प्रा. लिमिटेड, इलाहाबाद, संस्करण 1975
85. राजे, सुमन, हिंदी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, छठा संस्करण 2017
86. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन (भाग – 1), राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, संस्करण 2017
87. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन (भाग – 2), राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, संस्करण 2016

88. राय, कुसुम, हिंदी साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास, खण्ड–1, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण 2014
89. राय, कुसुम, हिंदी साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास, खण्ड–2, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण 2012
90. राय, कुसुम, हिंदी साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास, खण्ड–3, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण 2015
91. वर्मा, निर्मल, आदि, अन्त और आरम्भ, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010
92. वर्मा, निर्मल, कला का जोखिम, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, तीसरा संस्करण 2001
93. वर्मा, निर्मल, भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2001
94. वर्मा, रामकुमार, हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, आठवाँ संस्करण 2010
95. वर्मा, लालबहादुर, यूरोप का इतिहास (भाग–1), प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, चतुर्थ संशोधित संस्करण 1998
96. वर्मा, लालबहादुर, यूरोप का इतिहास (भाग–2), प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, चतुर्थ संशोधित संस्करण 1998
97. वर्मा, हरिश्चन्द्र (संपादक), मध्यकालीन भारत (भाग–2), हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण 1993
98. व्यासशिष्य, कुंवरलाल, पुराणों में इतिहास, इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1988
99. शर्मा, कैलाशचन्द, भक्तमाल और हिंदी काव्य में उसकी परंपरा, मंथन पब्लिकेशन्स, रोहतक, प्रथम संस्करण 1983
100. शर्मा, चन्द्रधर, पाश्चात्य दर्शन, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, नवम् संशोधित संस्करण 1992
101. शर्मा, चन्द्रधर, भारतीय दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1995
102. शर्मा, डॉ. उमाशंकर, संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी, पुनर्मुद्रित 2017
103. शर्मा, नलिनविलोचन, संकलित निबंध, संकलन – गोपेश्वर सिंह, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, पहला संस्करण 2010
104. शर्मा, नलिनविलोचन, साहित्य का इतिहास–दर्शन, बिहार–राष्ट्रभाषा–परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण 1959
105. शर्मा, रामविलास शर्मा, इतिहास दर्शन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2007

106. शर्मा, रामविलास, परंपरा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, छात्र संस्करण 2016
107. शर्मा, रामविलास, भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2002
108. शर्मा, रामविलास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम छात्र संस्करण 2012
109. शर्मा, रामविलास, संकलित निबंध, संकलन – अजय तिवारी, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, पहला संस्करण 2013
110. शर्मा, रामशरण, प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, द्वितीय संस्करण 1993
111. शर्मा, रामशरण, भारतीय इतिहास एक पुनर्विचार, अनुवादक अनिल राजिमवाले, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण 2011
112. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामंतवाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण 1993
113. शर्मा, (सं.) देवेन्द्रनाथ, स्नातक, विजयेन्द्र, हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास (पंचम खण्ड), नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण संवत् 2031
114. शास्त्री, (सं.) कण्ठमणि, अष्टछाप की वार्ता, संवत् 1697 की लिखित, विद्या–विभाग, कांकरोली, संस्करण संवत् 2009
115. शुक्ल, प्रभात कुमार (संपादक), इतिहास लेखन की विभिन्न दृष्टियाँ, अनुवादक – रामकिशन गुप्ता, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012
116. शुक्ल, रामचन्द्र, त्रिवेणी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2016
117. शुक्ल, रामचन्द्र, संपादक – निर्मला जैन, प्रतिनिधि संकलन, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, पहला संस्करण 2003
118. शुक्ल, रामचन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, कमल प्रकाशन, दिल्ली, नवीनतम संस्करण
119. शुन, लू, कला, साहित्य और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1994
120. सक्सेना, आर.के., मुगलकालीन इतिहासकार व इतिहास लेखन, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, संस्करण 1987
121. सक्सेना, (सं.) प्रदीप, नवजागरण की इतिहास–चेतना, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017
122. सतीशचंद्र, मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखन, धर्म और राज्य का स्वरूप, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, प्रथम हिंदी संस्करण 1999
123. सत्येन्द्र (संपादक), निबंध निलय, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2011

124. सरकार, सुमित, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, बाईसवाँ संस्करण 2018
125. सराओ, के.टी.एस., प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्म : उद्‌भव, स्वरूप एवं पतन, प्रथम संस्करण दिल्ली विश्वविद्यालय 2004
126. सिंह, नामवर, कविता की जमीन और जमीन की कविता, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2010
127. सिंह, नामवर, दूसरी परंपरा की खोज, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2008
128. सिंह, नामवर, पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली
129. सिंह, नामवर, हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, वर्तमान संस्करण 2010
130. सिंह, गोपेश्वर, भक्ति आन्दोलन और काव्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017
131. सिंह, (सं.) गोपेश्वर, भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधार, भारतीय प्रकाशन संस्थान, प्रथम संस्करण 2002
132. सिंह, गोपेश्वर, साहित्य से संवाद, मेधाबुक्स, प्रथम संस्करण 2005
133. सिंह, परमानन्द, इतिहास दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005
134. सिंह, बच्चन, आधुनिक हिंदी आलोचना के बीच शब्द, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015
135. सिंह, बच्चन, आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, संस्करण 2013
136. सिंह, बच्चन, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, नौवाँ संस्करण 2017
137. सिंह, बद्रीनाथ, प्रमाण–मीमांसा, आशा प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 1999
138. सिंह, भगवतीप्रसाद, रामभक्ति में रसिक संप्रदाय, अवध साहित्य मन्दिर, बलरामपुर, प्रथम संस्करण संवत् 2014
139. सिंह, शान्ता, नाभादास कृत भक्तमाल : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, अभिनवभारती, इलाहाबाद, संस्करण 1978
140. सेन, अमर्त्य, अतीत का वर्तमान, अनुवादक अरविंद मोहन, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, प्रथम हिंदी संस्करण 2002
141. स्नातक, विजयेन्द्र, राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1968
142. हबीब, इरफान, मध्यकालीन भारत का आर्थिक इतिहास : एक सर्वेक्षण, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पाँचवा संस्करण 2017
143. हबीब, इरफान, मध्यकालीन भारत में प्रौद्योगिकी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण 2016

144. हबीब, इरफान, सं. रमेश रावत, इतिहास और विचारधारा, प्रकाशन – ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, प्रथम हिंदी संस्करण 2005
145. हबीब, इरफान (संपादन), अकबर और तत्कालीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा संस्करण 2016
146. हरिराय, गोस्वामी, (सं.) प्रभुदयाल मीतल, सूरदास की वार्ता, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, संस्करण संवत् 2008
147. हरिश्चन्द्र, भारतेन्दु, संपादक – कमला प्रसाद, प्रतिनिधि संकलन, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, पहला संस्करण 1996
148. हॉब्सबाम, एरिक, इतिहासकार की चिंता, अनुवादक – कृष्ण चैतन्य, गोपाल प्रधान, ग्रन्थशिल्पी, दिल्ली, प्रथम हिंदी संस्करण 2007
149. श्रीधरन, ई., इतिहास–लेख एक पाठ्यपुस्तक, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011
150. श्रीवास्तव, मीरा, मध्ययुगीन हिंदी कृष्ण–भक्तिधारा और चैतन्य–संप्रदाय, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, संस्करण 1968
122. Bhattacharya, Sabyasachi; Approaches to history; Primus Books, Delhi; First Published 2011
123. Cheng, Eileen Ka-May; Historiography : An Introductory Guide; Continuum International Publishing Group, London; First Published, 2012
124. Collingwood, R.G.; The Idea of History; Oxford University Press, London; 1946
125. Devahuti]Ed.); Problems of Indian Historiography; D.K. Publications, Delhi; First Published, 1979
126. Hegel, G.W.F.; The Philosophy of History; Translated by J. Sibree; Our Open Media, Toronto; 2017
127. Koli, L.N., Research Methodology, Y.K.Publishers, Agra, Edition 2006
128. Macdonell, Arthur A., A History of Sanskrit Literature, D. Appleton and Company, New York, Edition 1900
129. Macrindle, J.W., Ancient India : As described in Classical Literature, Archibald Constable and Co. Ltd., Edition 1901
130. Pargiter, F.E., Ancient India Historical Tradition, Oxford University, London, Edition 1922

131. Sarkar, Jagadish Narayan; History of History-Writing in Medieval India : Contemporary Historians; Ratna Prakashan, Calcutta; First Published, 1977
132. Warder, A.K.; An Introduction to Indian Historiography; Popular Prakashan, Bombay; First Published, 1972

पत्र–पत्रिकाएँ :–

(क) इतिहास दर्पण

1. वर्मा, सं. गणेशीलाल, इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 1, अंक 2, युगाब्ध 5096
2. वर्मा, सं. गणेशीलाल, इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 2, अंक 1 व 2, 1995
3. वर्मा, सं. गणेशीलाल, इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 3, अंक 1, 1996
4. वर्मा, सं. गणेशीलाल, इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 3, अंक 2, दिसम्बर 1996
5. वर्मा, सं. गणेशीलाल, इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 4, अंक 1, जून 1997
6. वर्मा, सं. गणेशीलाल, इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना, दिल्ली समिति, वर्ष 4, अंक 2, अप्रैल 1998
7. वर्मा, सं. गणेशीलाल, इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 5, अंक 1, अक्टूबर 1998

8. वर्मा, सं. गणेशीलाल, इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 5, अंक 2, अप्रैल 1998
9. वर्मा, सं. गणेशीलाल, इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 6, अंक 1, नवम्बर 1999
10. वर्मा, सं. गणेशीलाल, इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 9, अंक 1, अक्टूबर 2002
11. कुशवाहा, सं. राजेन्द्र सिंह, गणेशीलाल, इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 9, अंक 2, जुलाई 2003
12. कुशवाहा, सं. राजेन्द्र सिंह, गणेशीलाल, इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 10, अंक 1–2, जुलाई 2003–04
13. कुशवाहा, सं. राजेन्द्र सिंह, गणेशीलाल, इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 11, अंक 1, 2005
14. चंद्रा, सं. सतीश, गणेशीलाल, इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 11, अंक 2, मार्च 2006
15. चंद्रा, सं. सतीश, गणेशीलाल, इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 12, अंक 1–2, मार्च 2007
16. वर्मा, सं. टी.पी., इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 13, अंक 1, 2008
17. वर्मा, सं. टी.पी., इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 13, अंक 2, मार्च 2008
18. वर्मा, सं. टी.पी., इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 14, अंक 2, मार्च 2009

19. वर्मा, सं. टी.पी., इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 15, अंक 1, मार्च 2010
20. वर्मा, सं. टी.पी., इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 15, अंक 2, मार्च 2010
21. वर्मा, सं. टी.पी., इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 16, अंक 1, मार्च 2011
22. वर्मा, सं. टी.पी., इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 16, अंक 2, मार्च 2011
23. वर्मा, सं. टी.पी., इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 17, अंक 1, मार्च 2012
24. वर्मा, सं. टी.पी., इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 17, अंक 2, मार्च 2012
25. वर्मा, सं. टी.पी., इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 18, अंक 1, मार्च 2013
26. वर्मा, सं. टी.पी., इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 18, अंक 2, मार्च 2013
27. वर्मा, सं. टी.पी., इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 19, अंक 2, 2014
28. वर्मा, सं. टी.पी., कुमार, रविन्द्र, इतिहास दर्पण, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली, वर्ष 20, अंक 1, मार्च 2015

(ख) मध्यकालीन भारत

1. हबीब, सं. इरफान, मध्यकालीन भारत, अंक 1, वाणी प्रकाशन, दसवाँ संस्करण 2016 ई.
2. हबीब, सं. इरफान, मध्यकालीन भारत, अंक 1, वाणी प्रकाशन, दसवाँ संस्करण 2016 ई.
3. हबीब, सं. इरफान, मध्यकालीन भारत, अंक 2, वाणी प्रकाशन, दसवीं आवृत्ति 2014 ई.
4. हबीब, सं. इरफान, मध्यकालीन भारत, अंक 3, वाणी प्रकाशन, नौवीं आवृत्ति 2014 ई.
5. हबीब, सं. इरफान, मध्यकालीन भारत, अंक 4, वाणी प्रकाशन, छठीं आवृत्ति 2014 ई.
6. हबीब, सं. इरफान, मध्यकालीन भारत, अंक 5, वाणी प्रकाशन, छठाँ संस्करण 2016 ई.
7. हबीब, सं. इरफान, मध्यकालीन भारत, अंक 6, वाणी प्रकाशन, तीसरी आवृत्ति 2014 ई.
8. हबीब, सं. इरफान, मध्यकालीन भारत, अंक 7, वाणी प्रकाशन, पाचवाँ संस्करण 2016 ई.
9. हबीब, सं. इरफान, मध्यकालीन भारत, अंक 8, वाणी प्रकाशन, तीसरा संस्करण 2015 ई.
10. हबीब, सं. इरफान, मध्यकालीन भारत, अंक 9, वाणी प्रकाशन, पहला संस्करण 2014 ई.
11. हबीब, सं. इरफान, मध्यकालीन भारत, अंक 10, वाणी प्रकाशन, पहला संस्करण 2015 ई.
12. हबीब, सं. इरफान, मध्यकालीन भारत, अंक 11, वाणी प्रकाशन, पहला संस्करण 2015 ई.

कोश

1. शर्मा, चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, साहित्यिक ब्रजभाषा कोश (खण्ड 1), उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण 1985
2. शर्मा, चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, साहित्यिक ब्रजभाषा कोश (खण्ड 2), उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण 2017
3. शर्मा, चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, साहित्यिक ब्रजभाषा कोश (खण्ड 3), उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण 2017
4. सक्सेना, (सं.) रामप्रकाश, वर्धा हिंदी शब्दकोश, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, तीसरा संस्करण 2018

वेब संदर्भ :–

1. www.britannica.com/Print/article/267436, 29 July 2018
2. www.wikipedia.org/wiki/History, 27 July 2018

P: ISSN NO.: 2394-0344 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-4* ISSUE-2* (Part-2) May- 2019
E: ISSN NO.: 2455-0817 *Remarking An Analisation*

भारतीय इतिहास–लेखन और वार्ता–साहित्य

रजत शर्मा
शोधार्थी,
हिन्दी विभाग,
साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय,
रायसेन, म.प्र., भारत

सारांश

भारतीय इतिहास–लेखन की प्रमुख समस्या उसके अस्तित्व के नकार की है। इतिहास–बोध की स्वीकृति तथा इतिहास–लेखन की अस्वीकृति के भँवर के बीच कई दृष्टियाँ जन्म लेती है। किन दृष्टियों को स्वीकार किया जाये अथवा किन दृष्टियों को अस्वीकार यह महत्वपूर्ण बिन्दू है। प्रत्येक पक्ष दूसरे पक्ष का विरोधाभासी है। तत्व आधारित लेखन का निर्धारण तथा लेखन की प्रवृत्ति के आधार पर विषय–वस्तु का निर्धारण विश्लेषण की सामान्य प्रक्रिया है। इसका अनुकरण भारतीय इतिहास–लेखन के अस्तित्व को स्वीकारने में कई समस्या खड़ी करता है। जिस कारण मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के वार्ता–साहित्य को लेकर विषय–निर्धारण की समस्या सामने आती है। साहित्य की वर्तमान अवधारणा तथा इतिहास के बीच वार्ता–साहित्य का निर्धारण किस ओर किया जाये यह महत्वपूर्ण समस्या है।

मुख्य शब्द : भारतीय इतिहास–लेखन, वार्ता–साहित्य, इतिहास–दर्शन, मध्यकालीन हिन्दी साहित्य।

प्रस्तावना

''प्राचीन भारतीयों ने अपने अतीत का इतिहास प्रस्तुत नहीं किया, उनमें एतिहासिक विवेक था ही नहीं।''[1] मैक्डोनल्ड द्वारा कही गई यह उक्ति कई बार तरह–तरह से भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा उद्धृत की जाती रही है। भारत के पास अपना इतिहास नहीं है। भारतवासी इतिहास–लेखन नहीं जानते थे। उनके पास इतिहास का कोई स्वरूप नहीं था– आदि भारत के संदर्भ में प्रयुक्त सामान्यीकृत कथन है। वहीं दूसरी ओर ए.एल.बाशन कहते है –''भारत के पास इतिहास की कोई अवधारणा थी या नहीं, लेकिन इनके पास अतीत की एक जीवंत भावना जरूर थी।''[2] उपर्युक्त कथन के दो अंश है। पहला संदेहात्मक है तथा दूसरा निश्चयात्मक। निश्चयात्मक कथन मूलतः इतिहास–बोध से संबंधित है। ए.एल.बाशम द्वारा इतिहास–बोध की स्वीकृति भारतीय इतिहास का दूसरा पक्ष सामने लाती है। इस प्रकार भारतीय इतिहास को लेकर दो पक्ष स्पष्ट रूप से नजर आते है। पहला, जो इतिहास के अस्तित्व को स्वीकारता ही नहीं करता और दूसरा, इतिहास के अवधारणात्मक अस्तित्व को अस्वीकारते हुए भी इतिहास–बोध के प्रश्न को जीवित रखता है।मैक्डोनल्ड का कथन मूलतःनस्ल केंद्रित उपनिवेशवादी दृष्टिसे ग्रसित दिखाई पड़ता है,जिसे भारतीय इतिहासकारसंकेत करते हैं। वह भारतीय वाङ्ग्मय में प्रस्तुत इतिहास–चिंतन को साम्प्रदायिक तथा काल्पनिक कहकर अध्ययन के लिए नाकाबिल मान लेते है। इस चिंतन के मूल में उपस्थित दृष्टि कोअपने निबंध में संकेत करते हुए सतीश चन्द्र लिखते है कि –

> ''पश्चिम के इतिहास लेखन पर इतिहास के जातीय केंद्रित विचार के विकास और उसके बने रहने के कई दूसरे प्रभाव भी पड़े हैं। लोगों को विश्वास था कि बुद्धिवाद, व्यक्तिवाद, कानून और स्वंत्रता का सम्मान, तटस्थ वैज्ञानिक भावना इत्यादि पश्चिम के विशेषाधिकार थे। यह विश्वास पूरब के संबंध में इस धारणा के बनने में मददगार साबित हुआ किवह रहस्यवादी, चिंतनशील, धर्म का गुलाम, आध्यात्मिक, आलसी, भौतिक प्रोत्साहनों आदि के प्रति लापरवाह है। पूरब और पश्चिम की परस्पर विरोधी प्रकृति के इस विचार ने दोनों पर लागू होने वाली समान कोटियों अथवा प्रणालियों को विकसित अथवा लागू करने के किसी भी प्रयास को बाधित किया।''[3]

यह दृष्टि भारतीय प्रवृत्तियों को विदेशी दृष्टि से देखने पर जोर देती है। इस प्रकार भारत की मूल चेतना अक्षम दिखाई पड़ती है। भारतीय इतिहास–लेखन इसी दृष्टिकोण का शिकार है। इतिहास–बोध की स्वीकृति परन्तु इतिहास की अवधारणा एवं इतिहास–लेखन की अस्वीकृति– भारतीय इतिहास के

संदर्भ में तटस्थ–चिंतन की कमी को दिखाता है। इतिहास–लेखन मूलतः इतिहास के बाह्य ढ़ाँचे की ओर तथा इतिहास–बोध उसके आत्म से सरोकार रखता है। भारतीय इतिहास के अध्ययन के बिन्दु को समझने के लिए आत्मपक्ष का अध्ययन आवश्यक है।

इतिहास–बोध तथा इतिहास–लेखन का द्वन्द्व भारतीय इतिहास का प्रथम विवादास्पद प्रश्न है। जिसके साथ कई ओर प्रश्न खड़े होते है। भारत में इतिहास–बोध का होना और इतिहास–लेखन का न होना स्वयं में एक विरोधाभास है। इस विरोधाभास के साथ कई ओर प्रश्न भी खड़े होते है।भारतीय इतिहास–लेखन की अनुपस्थिति का निर्णय किन कसौटियों परकिया गया? वह कौन–से मानदण्ड है, जो इतिहास और इतिहास–लेखनके निर्धारकबने?इन मानदण्डों के निर्माण की आधारभूमि क्या रही? क्या इनसे अलग भी सामान्यीकृत नियमों का निर्धारण इतिहास के अंतर्गत किया जा सकता था? – ऐसे कई प्रश्न भारतीय एवं पाश्चात्य इतिहास के द्वन्द्व पर टीके है।'इतिहास के स्वरूप' की समझ इस द्वन्द्व को समझने के लिए आवश्यक है। देखा जाये तो वर्तमान चिंतन में इतिहास का स्वरूप, कसौटियाँ, अवधारणाएँ, लेखन की पद्धतियाँ आदि पाश्चात्य परम्परा में विकास पातीहैं।इसी कारणकई बार तो यह भी कह दिया जाता है कि'इतिहास की अवधारणा ही पश्चिमी है।' जिसके उपरांत अन्य संभावनाओं पर विचार करना भी गलत लगता है। जबकि 'इतिहास' शब्द का प्रयोग एक बड़े कालांतर के साथ वेदों में भी दिखाई पड़ता है।ऋग्वेद में प्रयुक्तइतिहास, पुराण, नाराशंसी तथा गाथाजैसी समानार्थक शब्दावलियों का इतिहास–चिंतन में स्थान निर्धारण– अपने आप में बड़ा प्रश्न है। कहा भी गया है 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्'। अर्थात् वेद के अर्थ का पल्लवन इतिहास और पुराण के द्वारा करना चाहिए।[4] इस रूप में भारतीय इतिहास के स्वरूप का निर्धारण वेदों की कूँजी–निर्माण के समान है। डॉ. उमाशंकर शर्मा लिखते है कि

> ''वैदिक युग में 'इतिहास' का प्रयोग प्राचीन तथा शाश्वत व्यवस्था के अर्थ में था जैसे अथर्ववेद के विराट ब्रह्म, ज्येष्ठ ब्रह्म, इन्द्र आदि के अर्थ में। 'पुराण' का प्रयोग पुरावृत्त तथा पुरातत्व से सम्बद्ध सृष्टि, प्रलय, भूगोल, आकाश–मण्डल आदि के विवरण के लिए किया जाता था। 'गाथा' के अन्तर्गत प्राचीन कथाएँ निहित थीं वे नैतिक हों, वास्तविक हों या काल्पनिक हों।''[5]

विश्व में स्थान बनाते राष्ट्र के रूप में इन तथ्यों को सरसरी निगाहों से छोड़ना सरल नहीं है। अतःइतिहास–बोध तथा परंपरा–बोध की संश्लिष्ट अवधारणा के बीच भारतीय इतिहास–लेखन की सम्भावनाओं पर विचार करना आवश्यक है। इन शब्दावलियों के मूल में गतिमान इतिहास–बोध को देखने की क्या दृष्टि अपनाई जाये?क्या इनके आधार पर भारतीय इतिहास के स्वरूप का निर्धारण सम्भव है? यदि हाँ, तो वह किस प्रकार का स्वरूप होगा?वेद, पुराण आदि में इतिहास और पुराण नाम से संकेतित साहित्य को इतिहास–लेखनके रूप में कहाँ तक देखा जाये? क्या भारतीय इतिहास–लेखन के साथ इतिहास–लेखन को नई सम्भावनाओं के साथ भी देखा जाना चाहिए? ऐसे कई प्रश्न भारतीय इतिहास के संदर्भ में प्रासांगिक है। इन पारिभाषिक शब्दावलियों पर दृष्टिपात किया जाये तो सृष्टि, जगत से लेकर व्यक्ति तक इतिहास–बोध के विषय बन जाते है।[6] यहीं से भारतीय एवं पाश्चात्य इतिहास–लेखन के बीच द्वन्द्व पनपता है। यदि इतिहास की अवधारणा भारत में नहीं थी तो इन शब्दावलियों द्वारा गृहीत अर्थ को कैसे देखा जाये?

इन अवधारणात्मक शब्दावलियों से इतर भी वंशों की सूची देना भारतीय इतिहास–लेखन और खासतौर से लोक की एक प्रमुख विशेषता रही है। वर्तमान समय में भी परिवार विशेष की वंशावलियाँ उनके मूल स्थानों पर प्राप्त होती है। या फिर किसी समीप के तीर्थों पर पीढ़ियों का क्रमबद्ध वर्णन भी मिलता है। यह परम्परापुराणों के अंतर्गत अपने आरम्भिक रूप में मिलती है। जिनमें राजा–महाराजाओं की वंशावलियाँ, ऋषि–मुनियों का वर्णन आदि प्रमुख है। जिन महापुरूषों का प्रभाव लोक पर व्यापक रूप से पड़ा उन्हें ग्रन्थों में स्थान दिया गया है।इसका विकास पालि भाषा के अंतर्गत 'वंश' साहित्य, थेरगाथा–थेरीगाथा में भीहोता दिखता। 'दीपवंश' तो श्रीलंका के इतिहास का ऐतिहासिक दस्तावेज भी माना गया है। भिक्षु धर्मरक्षित वंश शब्द की परिभाषा कुछ इस प्रकार करते है –''वंश' शब्द का अर्थ है इतिहास, अतः बुद्धवंश का अर्थ है 'बुद्धों का इतिहास'।''[7] इन ग्रन्थों का उद्देश्य केवल नामों की सूची उपलब्ध कराना नहीं था और न ही यह राजशाहीकठपुतली बनकर रहना।थेरगाथा–थेरीगाथा बौद्ध धर्म में दीक्षित भिक्षु एवं भिक्षुणियों का परिचयात्मक ग्रन्थ है। यह परिचय घटनाओं के वर्णन के साथ आगे बढ़ता है। इन घटनाओं का उद्देश्य समाज के समक्ष उपदेश तथा शिक्षा देना है। यह शिक्षा व्यक्ति के अनुभवों के वर्णन द्वारा दी जातीहै।

यह परम्परा वंशों के क्रमबद्ध वर्णन से इतर संप्रदाय–विशेष में दीक्षित व्यक्तियों को भी अपने लेखन का विषय बनाती है। मध्यकाल के संदर्भ में इसे अनुभव किया जा सकता है। राजशाही शासन विदेशी आक्रमणकारियों के हाथ में जा चुका था। इन परिस्थितियों में संप्रदायों की लोक में स्थापना भक्ति के प्रचार स्तम्भों का कार्य करते है। इन संप्रदायों की शिष्य–प्रशिष्य परम्परा के क्रम में संप्रदायों का इतिहास लिखा गया। अतः व्यक्ति के विशेष्य होने के लिए किसी राजशाही का संरक्षण ही आवश्यक हो ऐसा नहीं लगता।जबकि पाश्चात्य इतिहास–लेखन की परम्परा राजशाही अथवा किसी संगठनात्मक व्यवस्था के अंग रहे व्यक्ति को ही इतिहास में वर्णित करती है। यूनान का प्राचीन इतिहास हेंल्लास संस्कृति के इतिहास–लेखन'लोगोग्राफी'[8] का अनुकरण करता है। जिसकी सामान्य प्रवृत्तियों में राजतंत्र ही केन्द्र में है। यह एक प्रमुख प्रवृत्ति है जो भारतीय एवं पाश्चात्य इतिहास–लेखन की सीमाओं तथा इसके पीछे गतिमान

चिंतन को दिखाती है। इस रूप में भारतीय इतिहास लोक से जुड़ता है।

भारत में राजवंशों से इतरभक्त–चरित्रों का वर्णन भी रहा है। बौद्ध धर्म में थेरगाथा–थेरीगाथा, संस्कृत में भक्तसहस्त्रनाम और हिन्दी में वार्ता–साहित्य इसी परम्परा का विकासात्मक चरण है।'हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास'में चरित्र–काव्य–परम्परा कास्पष्ट संकेत किया गया है।

> ''भारतीय साहित्य में भक्त–चरित्र–काव्य की परंपरा बहुत प्राचीन है। यद्यपि इस विषय से संबंधित स्वतंत्र कृतियों के प्रणयन की प्रवृत्ति प्राचीन समय में नहीं रही है, फिर भी प्रासंगिक कथाओं और आख्यानों के रूप में वैदिक और पौराणिक साहित्य से लेकर कालांतर में बौद्ध और जैन धाराओं के साहित्य तक में किसी न किसी रूप में भक्त–चरित–काव्य के बीज दृष्टिगोचर होते हैं।''[9]

यह परम्परा हिन्दी में 'वार्ता–साहित्य' के रूप में विकसित होती है। वार्ता–साहित्य की एक विशेषता है कि इसमें स्वतंत्र कृतियों का प्रणयन किया गया है। इस परम्परा में जगा कृत 'भक्तमाल' सबसे प्राचीन ग्रन्थ है, जिसमें 64 चौपाई छंद में दो सौ भक्तों का नाम स्मरण किया गया है। अकादमिक अध्ययन में देखा जाये तो यह हिन्दी साहित्य के अंतर्गत आता है। इसकाप्रमुख कारण भक्तमाल का काव्यात्मक स्वरूप एवं काव्यगत शैली में होना है। जगा दादूपंथ में दीक्षित थे। इसीलिए कलियुग के भक्तों का वर्णन करते हुए वह दादूपंथी भक्तों का परिचयात्मक वर्णन करते है।

अकादमिक अध्ययन इतिहास का अवधारणात्मक विकास करता है। वह इतिहास–लेखन के मानदण्ड निश्चित करता है। इसीलिए वहइतिहास के रूप में विशिष्ट–लेखन की मांग करता है। यह मानदण्ड वार्ता–साहित्य जैसे इतिहास विषयक स्वरूपों को उनके मूल रूप में अध्ययन करने में दृष्टिगत समस्या पैदा करता है। सतीश चन्द्र इसी पाश्चात्य प्रभाव की एकपक्षीय दृष्टि के स्थान पर बहु–ध्रुवता की बात करते हुए लिखते है कि

> ''अनवरत पश्चिमी नस्ल केंद्रीयतावाद, पश्चिम में और उसके साथ बाकी संसार में एक झूठा द्विभाजन स्थापित करके ऐतिहासिक विकास की प्रक्रियाओं को सीमित और विकृत कर देती है।... नस्ल केंद्रीयता नहीं बल्कि बहु–ध्रुवता इतिहास का केंद्रबिन्दु होना चाहिए।''[10]

वार्ता–साहित्य के अंतर्गत इतिहास–लेखन के स्वरूप की खोज इन्हीं परिस्थितियों का परिणाम है। वार्ता–साहित्य में प्रस्तुत इतिहास को देखने तथा सत्य तक पहुँचने के लिए उसका स्वरूप निर्धारण पहली समस्या है। स्वरूप निर्धारण के साथ–साथ भारतीय इतिहास के अध्ययन की दृष्टि का निर्धारण पूरक प्रक्रिया का ही अंग है।

अध्ययन का उद्देश्य

वर्तमान युग चहुमुखी उन्नयन का युग है। वैश्वीकृत व्यवस्था में दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ एक कटु सत्य के रूप में सामने आई है। अतः उन्नति की चहुमुखी विकास करने के लिए अंतर्मुखी होने की प्रवृत्ति वैश्विक परिदृश्य पर परिलक्षित हुई है। इसी प्रवृत्ति का विकास राष्ट्रवाद की आंतरिक धारा के रूप में हुआ है। अपनी जड़ों को खोजने का उनके वैशिष्ट्य का निर्धारण किया जा रहा है। प्रस्तुत शोध–पत्र भी भारतीय इतिहास–लेखन से जुड़ी समस्याओं, दृष्टिगत भेदों को केन्द्र में रखकर लिखा गया है।

निष्कर्ष

भारतीय परम्परा श्रुति–सम्मत परंपरा है। वेदों से लेकर आधुनिक पूर्व तक यह परम्परा विकास करती है। जबकि पाश्चात्य परंपरा लेखन को आधारभूत रूप में स्वीकार करती है। मौखिकता में लेखन के समान एकरूपता, मानकता, निश्चितता आदि को खोजना असम्भव है। इतिहास निश्चित तथ्यों की मांग करता है। लेकिन इस आधार पर श्रुतियों द्वारा संयोजित इतिहास–तत्वों को दरकिनार नहीं किया जा सकता। श्रुति परम्परा पर आधारित इतिहास तथा साहित्य–शैली में लिखित ग्रन्थों में इतिहास के तत्वों की खोज भारतीय इतिहास के अध्ययन के लिए आवश्यक है। मध्यकालीन हिन्दी–साहित्य में वार्ता–साहित्य के अध्ययन के लिए इन प्रश्नों से जुड़ने की आवश्यकता है। वार्ता–साहित्य के विशिष्ट स्वरूप को उसके लेखन, कल्पना अथवा प्रसंगोन्मुख वर्णन के आधार पर साहित्य की सीमा में निश्चित करना सम्भव नहीं। जबकि अनुपात में साहित्यिक तत्वों के साथ इतिहास की विषयवस्तु के संचयन में पलड़ा इतिहास की विषयवस्तु की ओर झुकता है। मध्यकाल के संदर्भ में वार्ता–साहित्य की भूमिका महत्वपूर्ण है। वार्ता साहित्य इन चरित्रात्मक वर्णन द्वारा एक ओर लोक–प्रसिद्धि प्राप्त व्यक्तियों को साहित्यिक सीमाओं में आबद्ध कर दीर्घजीविता प्रदान करता है। वहीं दूसरी ओर तत्कालीन सम्प्रदायिक, धार्मिक तथा वैचारिक इतिहासान्विति को प्रस्तुत करता है। वार्ता–साहित्य की यह परम्परा वर्तमान समय तक दिखाई देती है।

पाद टिप्पणी

1. *शर्मा, नलिन विलोचन, साहित्य का इतिहास–दर्शन, बिहार–राष्ट्रभाषा–परिषद्, प्रथम संस्करण विक्रमाब्द 2016, पृ.स. 1*
2. *ए.एल.बाशम, भूमिका, पाठक, विश्वंभरशरण, भारत के प्राचीन इतिहासकार, अनुवादक प्रदीप कांत चौधरी, प्रकाशन – ग्रंथ शिल्पी, प्रथम हिन्दी संस्करण 2007, पृ.स. 9*
3. *ए.एल.बाशम, 'मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखन,धर्म और राज्य का स्वरूप',लेख – इतिहास का विकेंद्रण, ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम हिन्दी संस्करण 1999, पुनर्मुद्रण 2013, पृ.स. 8*
4. *'ऋषि', डॉ. उमाशंकर शर्मा, संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण 2017, पृ.स. 173*

5. *'ऋषि', डॉ. उमाशंकर शर्मा, संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण 2017, पृ.स. 173*
6. *''स वृहहतीं दिशमनुव्य चलत्।।10।। अथर्ववेद 15.6.10*
''तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्य चलन्।।11।। अथर्ववेद 15.6.11
('वह व्रात्य बृहती दिशा – वृद्धि की दिशा का लक्ष्य करके चला। उस बृहती दिशा में चलने वाले व्रात्य को सृष्टि–उत्पत्ति आदि का नित्य इतिहास और जगदृत्पत्ति आदि का वर्णन रूप पुराण तथा किसी का दृष्टान्तदार्ष्टान्तरूप कथा–प्रसंग कहनारूप गाथाएँ तथा मनुष्य के प्रशंसनीय कर्मों का कहनारूप नाराशंसी अनुकूलता से प्राप्त हुई। इनके द्वारा ही वस्तुतः वह वेद व्याख्यान को सुन्दरता से कर पाया।')
7. *भिक्षु धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहास, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, संस्करण – पुनर्मुद्रण संवत् 2066*
8. *(1) 'इतिहास में वस्तुवाद को प्रमुखता। इसी कारण वंशावलियों, तालिकाओं, लेखों आदि का संग्रह लोगोग्राफी में किया गया। अतः इन संग्रहों में दैविक घटनाओं, संस्मरणों से इतर भौतिकता को महत्व दिया गया। (2) इतिहास की वस्तु के प्रमुख केन्द्र राजशाही अथवा समृद्ध जन ही रहे। (3) इन इतिहासों की रचना नगरों के इर्द–गिर्द ही हुई। (4) उपर्युक्त इतिहासों में ऐतिहासिक दृष्टि प्रेक्षित करने से इतर सूचनाओं के संकलन को प्रमुखता दी गई। (5) इतिहास का निर्माणकर्ता समूह न होकर व्यक्ति है। यह ग्रन्थ इतिहासकारों की स्वतन्त्र कृति है।'–डॉ. बुद्धप्रकाश, इतिहास–दर्शन, हिन्दी समिति, उत्तर–प्रदेश, द्वितीय संस्करण 1968, पृ.स. 65*
9. *सं. डॉ देवेन्द्रनाथ शर्मा एवं डॉ विजयेंद्र स्नातक, हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (भक्तिकाल, सगुण भक्ति), पंचम खण्ड, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण संवत् 2031, पृ.स. 520*
10. *चंद्र, सतीश, मध्यकालीन भारत में इतिहास लेखन, धर्म और राज्य का स्वरूप, लेख – इतिहास का विकेंद्रण, प्रकाशन – ग्रन्थ शिल्पी, प्रथम हिन्दी संस्करण 1999, पुनर्मुद्रण 2013, पृ.स. 16*

ISSN - 2348-2397
UGC CARE LISTED JOURNAL
SIR
शोध सरिता
January-March, 2021
Vol. 8, Issue 29
Page Nos. 1-6
AN INTERNATIONAL BILINGUAL PEER REVIEWED REFEREED RESEARCH JOURNAL

पुनर्जन्म का चिंतन तथा भारतीय इतिहास की अवधारणा

रजत शर्मा*

शोध सारांश

भारतीय इतिहास के संबंध में सामान्य दृष्टि है कि भारतीयों ने इतिहास नहीं लिखा। इस संबंध में पाश्चात्य तथा भारतीय चिंतकों के भिन्न–भिन्न मत है। यह मत भी विरोधाभासी रूप में दिखाई पड़ते हैं। इनके विरोधाभासी होने का एकमात्र कारण भारतीय इतिहास का विशिष्ट स्वरूप का होना है। पाश्चात्य चिंतन इस विशेष स्वरूप को ना देखकर अनेक कारणों के आधार पर भारत में इतिहास परंपरा के अविकास को परिभाषित करते आये हैं। इन्हीं कारणों में 'पुनर्जन्म' का सिद्धांत प्रमुख है। जबकि पुनर्जन्म के सिद्धांत के माध्यम से भारतीय इतिहास के विशिष्ट स्वरूप को समझा जा सकता है। इसी को समझने का प्रयास प्रस्तुत शोध–पत्र में हुआ है।

Keywords : इतिहास–लेखन, भारतीय इतिहास–चिंतन, पाश्चात्य इतिहास–चिंतन, पुनर्जन्म, इतिहासकार, आदर्श, यथार्थ, जीवन–दर्शन, भारतीय–संस्कृति।

भारतीय इतिहास को लेकर मैक्डॉनल्ड का विचार है कि प्राचीन भारतीयों ने अपने अतीत का इतिहास प्रस्तुत नहीं किया, उनमें ऐतिहासिक विवेक था ही नहीं। ऐसा कहते हुए वह भारत में इतिहास–लेखन की अनुपस्थिति को सूचित करते हैं। यही धारणा अन्य विद्वानों के मत में भी दृष्टिगत होती है। पार्जिटर का भी मानना है कि प्राचीन भारत ने हमें इतिहास–ग्रन्थ नहीं दिये हैं। वह लिखते हैं – "Ancient India has bequeathed to us no historical works." 1030 ई. में अरब यात्री अलबरुनी 'तहकीक–ए–हिन्द' में हिन्दूओं का इतिहास–लेखन के प्रति असावधान होने तथा कहानी कहने एवं सुनने के प्रति रूझान होने को कारण रूप में रखते हैं। अलबरुनी की यह दृष्टि साहित्य–शैली को ऐतिहासिक–वस्तुनिष्ठता को खण्डित करने वाली मानती है। 'इतिहासवाद' भी इसी मत को पुष्ट करता है। अलबरुनी के मत को एस.आर.शर्मा आगे बढ़ाते हैं। उनका मानना है कि इतिहास–लेखन के लिए जिन तत्वों की आवश्यकता होती है वह भारतीय वाङ्ग्मय में मौजूद है लेकिन उनमें केवल अल्प ही इतिहास के लक्षणात्मक रूप में दिखाई देते हैं। अतः इस प्रकार वह इतिहास–तत्वों को स्वीकारते हुए भी इतिहास की अनुपस्थिति को रेखांकित करते हैं।

भारतीयों में इतिहास–बोध की अज्ञेयता के कारणों के संबंध में विद्वानों के भिन्न मत हैं। जैसाकि पूर्व में अलबरुनी के मत को उद्धृत किया जा चुका है कि वह भारतीयों की कहानी कहने एवं सुनने की प्रवृत्ति को भारत में इतिहास–लेखन के ना पनपने के कारण रूप में देखता है। वहीं जे.डब्लू.मैक्करींडल ब्राह्मणों के स्वभाव को इतिहास–लेखन के लिए उपयुक्त नहीं मानते। वहीं आर.जी.भटनागर भारतीयों की इतिहास–चेतना को तृप्त करने में मिथकों की अहम भूमिका को स्वीकारते हैं। भारतीय इतिहास के आलोचकों में ए.बी.कीथ प्रमुख हैं। भारतीय इतिहास की आलोचना करते हुए वह भारतीय वाङ्ग्मय में पाश्चात्य–भूमि में विकसित इतिहास की अवधारणा तथा विकास को सापेक्षता में रखते हैं। वह भारत में इतिहास एवं इतिहासकारों के ना होने के पीछे इतिहास–बोध को स्वीकारते हैं। इतिहास–बोध को केन्द्र में रखते हुए वह इतिहास–बोध के ना पनपने के कारणों पर विचार प्रस्तुत करते हैं। वह भारत में राष्ट्रवाद की भावना के ना होने को भी इतिहास–बोध के निर्माण में बाधक मानते है। वह कहते हैं कि जब पर्शियन ग्रीक पर आक्रमण करते है तब हेरोडोतस में इतिहास–बोध जागृत होता है। इस प्रकार कीथ जब भारतीय इतिहास की आलोचना करते है तब वह पाश्चात्य कसौटियों पर भारतीय इतिहास–बोध का मूल्यांकन करते हैं। वह कर्म, पुनर्जन्म तथा नियति के सिद्धांत को इतिहास–बोध के विकास में बाधक मानते हैं। इतिहास में घटनाओं की कालक्रमिकता आवश्यक होती है। घटनाओं के तटस्थ वर्णन के आधार पर ही इतिहास की वस्तुनिष्ठता को बचाने का कार्य इतिहासकार करता है। कीथ विचारकर कहते हैं कि भारतीय विद्वानों में वक्तृता की कमी थी। जोकि घटनाओं का इतिवृत्तात्मक वर्णन कर इतिहास को निर्मित करने के लिए आवश्यक है। उनका मानना था कि भारत के

*पीएच.डी. (हिन्दी) साँची बौद्ध–भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय

प्रचलित सिद्धांत खासतौर से कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धांत घटनाओं के अनुमान में बाधक है। भारतीय जनमानस अपने वर्तमान कर्मों को पूर्वजन्मों का परिणाम मानते हैं, जिस कारण वह अपने वर्तमान कर्मों के कारणों को अतीत में नहीं ढूँढ़ते। बल्कि अपने अतीत कर्मों को नियति रूप में स्वीकार कर आगे बढ़ जाते हैं।

भारतीय इतिहास–बोध को लेकर विद्वानों की यह सामान्य दृष्टि है। विश्व में ऐसे अनेक देश है जहाँ इतिहास–लेखन का विशिष्ट स्वरूप दिखता है। इन इतिहास–लेखनों को स्वीकृति भी प्राप्त है। परन्तु भारत के संबंध में एक सिरे से इतिहास की अनभिज्ञता को रेखांकित किया गया है। इसका एक कारण भारतीय चिंतकों का पाश्चात्य दृष्टि की ओर अधिक झुकाव होना है। उस झुकाव का परिणाम भारतीयों का स्वयं पर से विश्वास का उठ जाना रहा। इसकी पुष्टि नलिन विलोचन शर्मा के कथन से हो जाती है –

''इतिहास–विषयक विभावन से भिन्न, इतिहास–संबंधी आधारभूत सामग्री का भी प्रश्न है? क्या उसपर प्राचीन भारतीयों ने ध्यान दिया था? इस संबंध में भी हमारी ऐसी धारणा हो चली है कि प्राचीन भारतीयों के प्रयत्न अव्यवस्थित, अपूर्ण और सदोश हैं।''

निष्कर्षत : भारतीय इतिहास–बोध को नकारते हुए भी विद्वानों के दो मत दिखाई देते है। पहला, वह मत जो भारत में इतिहास–बोध को पूर्णतः अस्वीकार करता है। दूसरा, वह मत जो भारत में इतिहास–लेखन को अस्वीकारते हुए भी इतिहास–चेतना को स्वीकार करता हैं। ए.एल.बाशम का कथन निष्कर्षात्मक रूप में इसी दृष्टि को पुष्ट करता है – ''भारत के पास इतिहास की कोई अवधारणा थी या नहीं, लेकिन इनके पास अतीत की एक जीवंत भावना जरूर थी।''

ए.बी.कीथ दो भिन्न जीवनदृष्टियों के मध्य केन्द्रीय धूरी पर खड़े होने का प्रयास करते हैं। लेकिन केवल एक जीवनदृष्टि के आधार पर दूसरी का मूल्यांकन करते हैं। यह दो भिन्न दृष्टियाँ भारतीय एवं पाश्चात्य है। यह जीवन दृष्टियाँ चिंतन को प्रभावित ही नही करती, बल्कि चिंतन के आधारभूत मानदण्डों को निर्मित भी करती है। पाश्चात्य चिंतन–दृष्टि भौतिकता को महत्ता देती है तो भारतीय चिंतन आध्यात्मिकता को। पाश्चात्य जीवनदृष्टि को समझाते हुए रविन्द्रनाथ टैगोर कहते हैं –

''यूरोप में जहाँ शुरू से ही इन देशों में नस्लवादी एकता रही है और यहाँ रहने वाले लोगों के लिए प्राकृतिक संसाधनों की कमी रही है – सभ्यता का सहज ही में राजनीतिक व व्यापारिक आक्रामकता वाला चरित्र रहा है।''

पाश्चात्य जगत की भौगोलिक संरचना उसे भौतिकतावादी दृष्टि निर्मित करने में अहम भूमिका अदा करती है। पाश्चात्य मनुष्य का सबसे बड़ा संघर्ष जीवन को बचाये रखने का संकट रहा है। इसीलिए वे प्रकृति से संघर्ष करते हुए सभ्यता का विकास करते हैं। यह दबाव उन्हें प्राकृतिक संसाधनों के अस्तित्व को स्वीकार करने को मजबूर ही नहीं करता, अपितु उनकी दृष्टि को निर्मित भी करता है। यह भौतिकतावादी दृष्टि इतिहास के अवधारणात्मक विकास में वस्तुनिष्ठता को प्रश्रय देती है।

भारत का भूगोल प्राकृतिक रूप से सहज ही साधन सम्पन्न रहा है। ऐसे मे भारतीय दृष्टि आध्यात्मिक प्रश्नों को चिंतन के केन्द्र में स्थापित करती हुई शाश्वत मूल्यों को स्वीकार करती है। यह शाश्वतता मनुश्य को कालबद्ध होने से इतर कालातीत होने के लिए प्रेरित करती है। यहीं कारण है कि इतिहास–प्रक्रिया में अतीत को तथ्यात्मक रूप से विश्लेषित करने की पद्धति भारतीय चिंतन का केन्द्र नहीं बनती। बल्कि मनुष्य का आध्यात्मिक उत्थान ही उसके केन्द्र में दिखाई देता है। यहीं कारण है कि महाभारत में इतिहास की परिभाशा के अंतर्गत पुरूषार्थ चातुष्ट्य को स्थान दिया गया है।

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।।

वहीं भारतीय चिंतन–दृष्टि वर्तमान इतिहास–लेखन की कसौटियाँ से भिन्न रूप में दिखाई देती हैं। इतिहास जहाँ घटनाओं को काल की निश्चित कड़ी में स्थिर करने की मांग करता है, ताकि ऐतिहासिक–वस्तुनिष्ठता को बनाये रखा जा सके। इसके विपरीत भारतीय चिंतन कालातीत होने की बलवती इच्छा को सर्वोपरि रखता है। इसी कारण काल की एकरेखीय अवधारणा के विपरीत चक्रीय अवधारणा का विकास पुराणों में होता है। वहीं इतिहास काल को एकरेखीय विकास के रूप में देखते हुए प्रत्येक घटना के पीछे निश्चित कारण–कार्य संबंध को मौजूद मानता है। इस प्रक्रिया का अनुगमन करते हुए वह मनुष्य के वर्तमान कर्मों को अतीत के कर्मों का परिणाम मानता है। वह ऐतिहासिक–चरित्रों को आदर्शात्मकता के आवरण के साथ शाश्वत मूल्य से संवलित करते हुए उसे कालातीत–चरित्र में बदल देते हैं।

ए.बी.कीथ कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत और सर्वशक्तिमान नियति के विधान का उल्लेख करते हुए भारत में इतिहास–बोध के न होने की व्याख्या करते है। पुनर्जन्म का यह सिद्धांत हिन्दू, बौद्ध तथा जैन तीनों धर्मों में स्वीकृति पाता है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो भारतीय चिंतन और आस्था की तीन प्रणालियों – हिन्दू, बौद्ध और जैन – ने इस सिद्धांत पर गहन चिंतन प्रस्तुत किया है। यह सिद्धांत मनुष्य के वर्तमान जीवन को पूर्व–जन्मों के कर्मों का प्रतिफल मानता है। हिन्दू धर्म इसकी व्याख्या आत्मा का नये रूप में पुनः प्रकटीकरण से जोड़ता है। वहीं बौद्धधर्म 'प्रत्युत्तपय समुत्पाद' के सिद्धांत द्वारा उसे वैज्ञानिक बनाने का प्रयास करता है। पुनर्जन्म के तर्क पर आश्रित कीथ के इतिहास–विरोधी–विचारों को रखते हुए श्रीधरन लिखते है –

''इन सिद्धांतों में विश्वास के प्रभाव अगणित, अबोधगम्य और कल्पनातीत है। यदि मनुष्य के जीवन उनके पिछले जन्मों के क्रियाकलापों के परिणाम होते तो कोई यह नहीं कह सकता था कि सुदूर अतीत का कौन–सा कृत्य अपना अपरिहार्य साध्य निश्चित करने के लिए प्रकट नहीं हो सकता और मनुष्य की योजनाओं तथा क्रियाकलापों के लिए कभी अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करके और कभी उन्हें निरस्त करके नियति उसे आश्चर्यचकित कर सकती थी।''

स्पष्ट है कि पुनर्जन्म के सिद्धांत का अनुकरण करने पर मनुष्य का ध्यान अपने अतीत कर्मों से विमुख होता है। वह अतीत के घटनाकर्म को भविष्य के उद्भव के रूप में नहीं देखेगा। जबकि इतिहास अतीतोन्मुख होकर भविश्य को उज्जवल करने के उद्देश्य से प्रेरित है। इसी उद्देश्य को सामने रखते हुए इतिहास अतीत की घटनाओं को उद्धृत कर शिक्षा प्राप्त करता है ताकि अतीत में हुई गलतियों को पुनः न दोहराये। अतीत के कर्मों द्वारा भविष्य की संभावनाओं को देख सके। परन्तु पुनर्जन्म के सिद्धांत के साथ इतिहास की यह दृष्टि अप्रेशणीय हो जाती है। अतः यह माना गया कि कर्म तथा पुनर्जन्म के चिंतन को प्रधानता देने के कारण इतिहास–बोध नहीं पनपा।

ए.बी.कीथ भारतीय इतिहास–बोध के न पनपने के पीछे इसी तर्क को कारण रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह तर्क इतिहास–बोध के निर्माण की प्रक्रिया को समझने में सहायक है। परन्तु भारतीय–इतिहास के स्वरूप के निर्धारण को इससे समझा नहीं जा सकता। इतिहास सामान्यतः भविष्य को उज्जवल बनाने के लिए वर्तमान कृत्य को महत्व देता है तथा वर्तमान को उज्जवल करने के लिए अतीतोन्मुख होता है। यह सीख वह अपनी कमियों से तथा तत्कालीन समाधानों से लेता है। अपनी कमियों पर दृष्टि रखने के कारण वह अतीत को यथावत् प्रस्तुत करने के उद्देश्य पर जोर देता है। अतीत को यथावत् चित्रित करने का आग्रह ही इतिहास में यथार्थवादिता को महत्व देता है।

भारतीय वाङ्मय के आधारभूत उद्देश्य पर दृष्टिपात करे तो मनुष्य के जीवन को अच्छा करना ही उसकी केन्द्रीय दृष्टि है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को उपदेशात्मक रूप में अभिव्यक्त करना ही इतिहास का उद्देश्य माना गया। यह स्पष्ट है कि मनुष्य जीवन को किस प्रकार उच्च लक्ष्यों की ओर प्रेरित करें। यहीं भारतीय वाङ्मय के समान इतिहास का भी उद्देश्य रहा। अतः इसी उद्देश्य को सामने रखकर भारतीय इतिहास का स्वरूप निर्मित हुआ। परन्तु इसके निर्माण की पूर्व–प्रक्रिया समकालीन इतिहास–बोध से भिन्न रही। जैसाकि पूर्व ही इंगित किया गया है कि समकालीन इतिहास पूर्व की घटनाओं के आधार पर सीख ग्रहण करता है। जबकि भारतीय इतिहास–बोध पुनर्जन्म पर विश्वास करते हुए भी पूर्वपूरूषों अथवा इतिहास–चरित्रों, घटनात्मक कथाओं, उपदेशों, गाथा, पुराण आदि को आदर्शात्मक लक्ष्यों की तरह प्रस्तुत करता है।

यथार्थगत होते हुए कमियों से सीखना तथा आदर्श को अपनाकर उच्च लक्ष्यों तक जाना – यह दो दृष्टिगत भिन्नताएँ है, जोकि इतिहास–बोध को भिन्न रूप में निर्मित करती है। यह इतिहास–बोध इतिहास–लेखन को वैशिष्ट्य प्रदान करता है। यह वैशिष्ट्य ही भारतीय तथा पाश्चात्य इतिहास–लेखन के भिन्न प्रारुपों में विकसित हो भारतीय इतिहास को समझने में अवरोधक बनता है।

निष्कर्ष :–

पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार करे तो वर्तमान कर्म महत्वपूर्ण हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जबकि पूर्व जन्म के कर्म वर्तमान जन्म को प्रभावित करते है और वर्तमान कर्म भावी जन्म को प्रभावित करेंगे। ऐसे में मनुष्य अतीत में हो चुके कर्मों को नियति मानकर वर्तमान की ओर प्रवृत्त होता है। उसका उद्देश्य वर्तमान कर्मों को अच्छा करना होता है ताकि वह भावी जन्म को सार्थक कर सके। अतः स्पष्ट है कि पुनर्जन्म की अवधारणा व्यक्ति को अतीत से विमुख करती है। वह अतीत में हुई गलतियों को भूलकर वर्तमान को अच्छा करने की ओर अग्रसर होता है। लेकिन इस आधार पर यह कहना कि उसमें इतिहास–बोध नहीं पनप सकता, गलत होगा। वर्तमान कर्म को अच्छा करने के लिए वह भी अतीत का सहारा लेता है। परन्तु वह अतीत की गलतियों से सीखने के उद्देश्य से यथावत नहीं देखता। अपितु वह आदर्श स्थितियों की खोज अतीत में करता है। आदर्शात्मकता के निर्वाह में अतीत को यथावत रखने का आग्रह नहीं करता। यहीं कारण है कि यथातथ्यता भारत में मौजूद ऐतिहासिक सामग्री में नहीं दिखाई देता।

सन्दर्भ :–

1. "History is the one weak spot in Indian Literature. It is, in fact, non-existent. The total lack of historical sense is so characteristic that the whole course of Sanskrit Literature is darkened by the shadow of this defect, suffering as it does from an entire absence of exact chronology. In the first place, early India wrote no history because it never made any….. Secondly, the Brahmans whose task it would naturally have been to record the great deeds… have felt but little inclination to chronicle historical events."Macdonell, Arthur A., A History of Sanskrit Literature, D. Appleton and Company, New York, Edition – 1990, Page no. 10
2. Pargiter, F.E., Ancient Indian Historical Tradition, Oxford University Press, London, Edition – 1922, Page no. 2

3. "Version of the lack of historical sense of Indians justify by the paucity of historical works properly so called in our country down from ancient times. Materials from which history can be constructed is undoubtedly available in abundance but very little of it shares the character of regular history."
4. "The Indians themselves did not write history. They produced no doubt, a literature both voluminous and varied… but within its vast range, history is conspicuous by its absence. Their learned men were Brahmins whose modes and habits of thought almost necessarily incapacitated them for the task of historical composition… they allowed events, even those of the greatest public moments, to pass unrecorded, and so to perish from memory and Sanskrit literature if deficient in history and chronology." Kalota, Narain Singh, Introduction, India as Described by Megasthenes, Concept Publishing Company, Delhi, First Edition 1978, Page no. 15
5. "India has no real history… the historical curiosity of the peoples was satisfied by legends what we find of a historical nature in the literature of the country before the arrival of the Mahommedans, can also be disposed of." Bhandarkar, Ramkrishna Gopal, Introductory, Early History of the Dekkan, Chukervertty Chatterjee & Co. Ltd., Calcutta, 1928, Page no. xi
6. "To the old complaint that India has not historians and no historical sense it has recently been objected, doubtless with a measure of truth, that there is certain amount of writing and number of facts attesting a degree of sense for history. In view of the antiquity and the developed character of Indian civilization it would indeed by ridiculous to expect to find India destitute of historical sense…" Keith, A.B., A History of Sanskrit Literature, Oxford University Press, London, First Edition in 1920, page no. 144
7. "It may be that India failed to produce historians because the great political events which affected her during the period up to A.D. 1200 did not call forth popular action in the sense in which the repulse of the Persian attacks on Greece evoked the History of Herodotus." Keith, A.B., A History of Sanskrit Literature, Oxford University Press, London, First Edition in 1920, page no. 145
8. "The prevailing doctrines told distinctly against any such estimate of events. In the strict logical sense of the doctrine of karman all men's actions were the outcome of actions done in previous births; they were, therefor, wholly uncalculable, for no one could tell what deed in the remotest past might not spring up to work out its inevitable end." Keith, A.B., A History of Sanskrit Literature, Oxford University Press, London, First Edition in 1920, page no. 145-146
9. शर्मा, नलिन विलोचन, साहित्य का इतिहास–दर्शन, बिहार–राष्ट्रभाषा–परिषद्, प्रथम संस्करण – विक्रमाब्द 2016, पृ.सं. 1
10. ए.एल.बाशम, भूमिका, पाठक, विश्वंभरशरण, भारत के प्राचीन इतिहासकार, अनुवादक – प्रदीपकांत चौधरी, प्रकाशन – ग्रन्थ शिल्पी /इंडिया/, प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम हिन्दी संस्करण 1999, पुनमुर्द्रण 2013, पृ.सं. 8
11. टैगोर, रवीन्द्रनाथ, राष्ट्रवाद, अनुवाद सौमित्र मोहन, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, पहला संस्करण 2003, पृ.सं. 48
12. ई. श्रीधरन, इतिहास–लेख एक पाठ्यपुस्तक, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, संस्करण 2011, पृ.सं. 279

❐❐❐